

श्री सहजानन्द 'शास्त्रमाला

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

परमपूज्य श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत

समय—सार

एवं उस पर

परमपूज्य श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचित संस्कृत टीका

आत्मख्याति

तथा दोनों पर

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ गुरुवर्य सहजानन्द (मनोहर जी वर्णी) महाराज
द्वारा विरचित

सप्तदशाङ्गी—टीका

प्रकाषक

सहजानन्द शास्त्र माला

185—A रंजीतपुरी—सदर—मेरठ—1

1100 प्रतियां

[Type text]

प्रकाशकीय

धर्मप्रमी बन्धुओं। आज आपके कर-कमलों में समयसार सप्तदषाङ्गी टीका है। अध्यात्म ग्रन्थों में प्रधान ग्रन्थ समय सार है जिसके रचयिता मूल संघनायक परमपूज्य श्रीमत्स्फन्दकुन्दाचार्यदेव हैं। जिनका कि 'मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी, मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो जैन धर्मोस्तु मंगलं' में गौरव के साथ नाम लिया जाता है। समय-सारपर तत्त्वज्ञानामृतपूरित आत्मख्याति टीका है जिसके रचयिता परम पूज्य श्रीमदमृतचन्द्रसूरि हैं जो टीकाकारों में मूर्धन्य हैं जिनकी अद्भुत अनेक संस्कृत ग्रन्थों की रचनायें हैं, जिनके प्रत्येक वचनों में तथ्यामृत भरा पड़ा है। मूल और संस्कृत टीका दोनों पर सप्तदषाङ्गी टीका है जिसके रचयिता अध्यात्मयोगी श्रीमत्सहजानन्द महाराज हैं। इस सप्तदषाङ्गी टीका का निर्माण व प्रकाषण लगातार ही चलता रहा, प्रथम कुछ पृष्ठों में चतुर्दषाङ्गी टीका रची गयी थी, पश्चात् श्री सुमेर चन्द जी जैन 15-प्रेमपुरी, मुजफ्फरनगर जो दर्षन के लिये सरधना आये थे उनके हाथ में एक छोटी प्राकृत पुस्तक देखकर महाराजश्री का भाव हुआ कि इसमें प्राकृत नामसंज्ञ, धातुसंज्ञ व प्राकृत पद विवरण ये 3 अंग और बढ़ा दिये जायें सो इन तीन के बढ़ने पर सप्तदषाङ्गी टीका हो गयी।

सदस्यों का आग्रह, अध्येताओं की रुचि, साहित्य में निष्पक्ष व आगमानुकूल प्रतिपादन, उच्च उच्चतर ग्रन्थों का सुगम विवेचन ज्ञान भण्डार देन इत्यादि प्रेरणाओं के कारण सहजानन्द साहित्य प्रकाषणकी सेवा का सौभाग्य मुझे सन् 1955 से प्राप्त होता चला आ रहा है। पूज्य श्री मुनिराजगण, त्यागीवर्ग, विद्वान, जिज्ञासु बन्धुओं के इस साहित्य के अध्ययन की रुचि और अध्येताओं के हर्षसूचक वचनों से सुविदित हो रहा है कि महाराजश्री के साहित्य से भव्यात्माओं का कल्याण हो रहा है। आत्मकल्याणार्थी अनेक महापुरुषों ने सहजानन्द साहित्य का अध्ययन मनन कर यह भी भाव व्यक्त किया है कि आजके युग में अध्यात्मयोगी गुरुवर्य श्री सहजानन्द (मनोहर जी वर्णी) अद्वितीय ज्ञान भण्डार हैं। जिन पूज्य श्री मुनिराजों को, त्यागीवर्ग को, ब्रह्मचारियों को, श्रावकों को सहजानन्द महाराज से अध्ययन करने का अवसर मिला, उनके हर्षोद्गारों ने मुझे सहजानन्द साहित्य प्रकाषण की सेवा के लिय उत्साहित किया है।

अनेक तत्त्वज्ञ अध्येताओं बताया है कि (1) निष्पक्ष तत्त्वज्ञान, (2) 'जुद्धनय के विषयभूत सहज अखण्ड 'षट्कारण समयसाररूप चैतन्यस्वभाव की दृष्टि के लक्ष्य से प्रतिपादन, (3) वैराग्य पूरक वचन, (4) परमात्मा व सद्गुरुओं के प्रति समयसारोन्मुखी भक्ति की उमङ्ग व (5) प्रयोगमार्ग—इन पञ्चरत्नों से पूरित होने के कारण सहजानन्द साहित्य परमोपकारी साहित्य है। व्यवहारनयके अविरोध से मध्यस्थ होकर 'जुद्धव्यनिरूपक निष्चयनय की मुख्यता से प्रतिपादक होने से इस सहजानन्द साहित्य में कहीं भी रंचमात्र भी सन्मार्ग से स्खलित होने का अवसर नहीं है, प्रत्युत आर्षपरम्परा की भांति सन्मार्ग में निःषंक निर्बाध बढ़ते चले जाने का व सहजात्मस्वरूपके अनुभवन का तथा अलौकिक सहज आनन्द पाते रहने का सुभवितव्य प्राप्त होता है।

श्री सहजानन्द महाराज (मनोहर जी वर्णी) ने गुरुवर्य आध्यात्मिक संत श्री गणेश प्रसाद जी वर्णी जी महाराज के तत्त्वावधान में 7 ।।। वर्षकी आयुमें जैन संस्कृत विद्यालय, सागर में छठी कक्षा में प्रविष्ट होकर 10 वर्ष तक अध्ययन कर सिद्धान्तषास्त्री, न्यायषास्त्री, साहित्यषास्त्री, न्यायतीर्थ परीक्षायें उत्तीर्ण कीं। आप बचपन से ही विरक्त स्वभाव के एवं तीव्रकुषाग्र बुद्धि वाले थे। आप प्रतिदिन का पाठ उसी दिन या समय न मिलने पर दूसरे

दिन सुबह अपने सहपाठियों को पढ़ाते थे। इससे सिद्ध है कि आपके ज्ञान और मौलिक वैराग्य की देन में पूर्वभव का सुसंस्कार भी कारण है। आपके द्वारा आध्यात्मिक-सैद्धान्तिक-दार्शनिक निबन्ध-प्रवचन छोटे-बड़े सब 500 ग्रन्थों का निर्माण हुआ जिसमें 300 ग्रन्थ प्रकाशित हो गये, 200 ग्रन्थ प्रकाशित होने के लिए रखे हैं। इनके अतिरिक्त जिनकी रचना प्रारम्भ की व जिनसे सम्बन्धित ग्रन्थ रचे जाने हैं वे 45 और हैं। आपके द्वारा दिये गये इतने विषाल व सारभूत ज्ञानसाधन से समाज उन्नत नहीं हो सकता।

वर्तमान में जो ग्रन्थ प्रकाशित हैं उनकी पुस्तकों का विवरण इस प्रकार हैं :-

श्री सहजानन्द वर्णी गुरुवे नमः तृतीय संस्करण का प्रकाशकीय

स्वाध्याय प्रेमी भव्य आत्मों के सम्मुख परम् पूज्य श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य देव प्रणीत 'गास्त्रराज समयसार तथा उस पर परम पूज्य श्रीमदमृतचन्द्रसूरि विरचित संस्कृत टीका आत्म ख्याति तथा दोनों पर आध्यात्म योगी न्यायतीर्थ गुरुवर्य स्व० श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज द्वारा विरचित समय-सार सप्तदशांगी टीका का तृतीय संस्करण प्रस्तुत करते हुए मुझे परम हर्ष हो रहा है। इस अपूर्व सप्तदशांगी टीका के तृतीय संस्करण का प्रकाशन तत्त्व जिज्ञासु, सत्संगति वाले तथा मोक्षमार्ग के अभिलाषी एवं स्वाध्याय प्रेमियों के अनुरोध और स्वाध्याय की अभिलाषा एवं जिनवाणी के प्रचार-प्रसार को ध्याय में रख कर किया गया है।

परम् पूज्य गुरुवर श्री मनोहर वर्णी सहजानन्द जी महाराज ने समयसार की चतुर्दशांगी टीका की थी। जब यह टीका प्रकाशित हो रही थी तब श्री सुमेर चन्द्र जी जैन सम्पादक, वर्णी प्रवचन, 15, प्रेमपुरी मुजफ्फर नगर वाले महाराज श्री के दर्शन हेतु आये। उनके हाथ में एक छोटी प्राकृत की व्याकरण पुस्तक देख कर महाराज श्री को विचार आया क्यों न इस टीका में तीन अंग बढ़ा दिये जायें, तब तीन अंग बढ़ने से समय-सार की यह टीका सप्तदशांगी हो गई। प्रथम संस्करण के कुछ प्रारम्भिक पृष्ठों पर तीन अंग कम है। लेकिन यह संस्करण पूर्ण सप्तदशांगी टीका है।

समय-सार सप्तदशांगी टीका के प्रथम संस्करण का विमोचन साहित्य एवं दर्शन के उच्चकोटि के विद्वान भारत के तत्कालीन उपराष्ट्रपति महामहिम श्री बी० डी० जत्ती महोदय के द्वारा दिल्ली विश्वविद्यालय के सभागार में 18 फरवरी 1978 को किया गया था। वहीं पर महाराज श्री के अमूल्य व विपुल साहित्य की प्रदर्शनी भी लगी थी। विमोचन के पश्चात् विद्वानों और मनीषियों की सेमिनार हुई। जिसमें विद्वानों ने अपने विचार रखते हुए पूज्य महाराज श्री के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डाला। विद्वानों के विचार थे कि ऐसे विपुल साहित्य की रचना करने वाले महामनीषि विद्वान को जैन समाज ने कहाँ छिपा रखा था।

परम पूज्य गुरुवर श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज ने सन् 1942 से 1978 तक साहित्य स्रजन का कार्य किया। अपने जीवन के अंतिम क्षणों में भी वो साहित्य स्रजन ही कर रहे थे। महाराज श्री ने लगभग 500 ग्रंथों की रचना एवं टीकाएँ की जिनमें से अधिकांश प्रकाशित हो चुके हैं। महाराज के प्रवचनों पर आधारित 'वर्णी प्रवचन' मासिक पत्रिका का प्रकाशन श्री सुमेर चन्द्र जैन महोदय के द्वारा निर्बाध रूप से किया जा रहा है। 'वर्णी प्रवचन' सन् 2002 में अपने 50वें वर्ष में प्रवेश कर चुकी है।

इसके अतिरिक्त सहजानन्द साहित्य की अनेक पुस्तकें एड्रेस टू सैल्फ, सैल्फ एड्रेशन आदि अंग्रेजी में अनुवादिक होकर प्रकाशित हो चुकी हैं। अध्यात्म सिद्धान्त, द्रव्य संग्रह

प्रज्ञोत्तरी टीका आदि अनेक पुस्तकें गुजराती, मराठी व अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवादित होकर प्रकाशित हो चुकी हैं।

पूज्य महाराज श्री द्वारा रचित भजनों के रिकार्ड तथा आडियो कैसिट भी तैयार हैं।

परम पूज्य गुरुवर श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज अपने विपुल साहित्य स्रजन एवं समय-सार सप्तदशांगी टीका जैसे महान ग्रन्थों के कारण अग्र हो गये हैं। जब तक भगवान महावीर की वाणी तथा श्रीमत् कुन्दकुन्दाचार्य जैसे महान आचार्यों के साहित्य को याद किया जायेगा तब तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज को भी याद किया जायेगा। महाराज श्री ने अपनी लेखनी से प्राकृत एवं संस्कृत साहित्य को इतना सरल तरीके से समझाकर लिखा है कि स्वाध्याय प्रेमी सहजानन्द साहित्य को 'घर का पंडित' की संज्ञा देते हैं अर्थात् जिसे पढ़ने के लिये किसी पंडित की आवश्यकता नहीं है आप स्वयं पढ़ व समझ सकते हैं।

मुझे सहजानन्द साहित्य के प्रकाशन की सेवा करने का सौभाग्य 1955 से मिल रहा है। सहजानन्द साहित्य का पुनः पुनः प्रकाशन आप सभी स्वाध्याय प्रेमी, विद्वानों की पठन पाठन की जिज्ञासा तथा आप सभी की प्रेरणा से हो रहा है। सभी जीव सर्वज्ञ वीतराग कथित विज्ञान का अपनी आत्मा में प्रसार करें इसी लाभ प्रयोजन भूत और अपूर्व होने से मेरी भावना है कि यह सार्थक हो। इस ग्रंथ में प्रत्येक जगह 'अर्थ, आगमार्थ और भावार्थ समझ कर वीतरागता की प्राप्ति करें यही तात्पर्य है।

वर्तमान में प्रकाशित तथा उपलब्ध सहजानन्द साहित्य का विवरण आगामी पृष्ठ में है।

भाद्रपदमास
सन् 2002
'सर्पाफ'

भवदीय
खेम चन्द जैन

सदर मेरठ

अध्यात्म ग्रथ सेट			40.	भावपाहुड प्रवचन	40.00
1.	आत्मसंबोधन	15.00	41.	मोक्षमाहुड प्रवचन	25.00
2.	सहजानन्द गीता	5.00	42.	सुभाषित रत्न संदोह प्रवचन	70.00
3.	अध्यात्म चर्चा एवं तत्व रहस्य	5.00	43.	रयणसार प्रवचन	60.00
4.	अध्यात्मसहस्री	10.00	44.	समयसार प्रवचन (1-2)	50.00
5.	सहजानन्द डायरी 1956	5.00		समयसार प्रवचन (3-5)	30.00
6.	सहजानन्द डायरी 1959	5.00		समयसार प्रवचन (6-9)	20.00
7.	भागवत धर्म	20.00		समयसार प्रवचन (10-12)	25.00
8.	मनोहर पद्यावली	4.00		समयसार प्रवचन (13-15)	50.00
9.	सुबोध पत्रावली	4.00	45.	आत्मकीर्तन प्रवचन	5.00
10.	एकीभावस्तोत्र	10.00	46.	अध्यात्मसहस्री प्रवचन (4-6)	32.00
11.	स्वानुभव	1.00		अध्यात्मसहस्री प्रवचन (दशम)	15.00
12.	धर्म	1.00	47.	सरल आध्यात्मिक प्रवचन	12.00
13.	आत्म-उपासना	1.00	दार्शनिक सेट		
14.	समयसार-सहिमा	1.00			
15.	द्रव्यसंग्रह प्रज्ञोत्तरीटीका	30.00	48.	आत्म परीक्षा	10.00
16.	तत्त्वार्थसूत्र संक्षिप्त टीका	10.00	49.	आप्तमीमांसा प्रवचन (1-2)	5.00
17.	आत्म-परिचयन	22.00		आप्तमीमांसा प्रवचन (3-4)	5.00
18.	सहजानन्द विहार पौरुष	10.00		आप्तमीमांसा प्रवचन (5-6)	5.00
19.	समयसार सप्तदशांगी टीका	75.00		आप्तमीमांसा प्रवचन (7-8)	5.00
20.	सहजानन्द वाणी	20.00		आप्तमीमांसा प्रवचन (9-10)	5.00
अध्यात्म प्रवचन सेट				आप्तमीमांसा प्रवचन (11-12)	5.00
21.	धर्म प्रवचन	30.00	50.	सप्तभंगीतरंगिणी प्रवचन	45.00
22.	सुख कहाँ	10.00	51.	पंचाध्यायी प्रवचन (1-2)	5.00
23.	प्रवचनसार प्रवचन (1-2)	15.00		पंचाध्यायी प्रवचन (3-5)	5.00
	प्रवचनसार प्रवचन (3-5)	15.00		पंचाध्यायी प्रवचन (6-8)	5.00
	प्रवचनसार प्रवचन (6-11)	30.00		पंचाध्यायी प्रवचन (9-10)	15.00
24.	देवपूजा प्रवचन	20.00		पंचाध्यायी प्रवचन (11-12)	15.00
25.	श्रावकष्टकर्म प्रवचन	7.00	52.	युक्त्युनूषासन प्रवचन	5.00
26.	परमात्म प्रकाश प्रवचन	10.00	विज्ञान सेट		
27.	सुख कहाँ (प्रथम व द्वितीय)	75.00			
	सुख कहाँ (तृतीय व चतुर्थ)	55.00	53.	समस्थान सूत्र सार्थ प्रथमस्कन्ध	5.00
28.	भक्तामरस्तोत्र प्रवचन	10.00	54.	व्यनालाप	00.25
29.	ज्ञानार्णव प्रवचन (1-2)	10.00	55.	सात्विक रहन-सहन	00.25
	ज्ञानार्णव प्रवचन (3-5)	25.00	56.	सहजानन्द साहित्य प्रथम स्कन्ध	25.00
	ज्ञानार्णव प्रवचन (6-11)	25.00	विद्या सेट		
30.	सिद्धभक्ति प्रवचन	12.00	57.	षिषु धर्मबोध प्रथम भाग	1.00
31.	‘ान्तिभक्ति प्रवचन	10.00		षिषु धर्मबोध द्वितीय भाग	1.00
32.	इष्टोपदेश प्रवचन	20.00	58.	धर्मबोध पूर्वार्द्ध	3.00
33.	पुरुषार्थ सिद्धयुपाय प्रवचन	20.00		धर्मबोध उत्तरार्द्ध	10.00
34.	स्वरूप सम्बोधन प्रवचन	12.50	59.	छहढाला टीका	4.00
35.	परमात्म आरती प्रवचन	12.50	60.	द्रव्यसंग्रह टीका	3.00
36.	श्री रत्न करण्ड श्रावकाचार प्रवचन	60.00	61.	धार्मिक स्फुट ज्ञान	1.00
37.	मोक्षपास्त्र प्रवचन (1-2)	70.00	62.	सम्यक्त्वलब्धि	1.50
	मोक्षपास्त्र प्रवचन (3-4)	14.00	63.	गुणस्थान दर्पण	1.00
	मोक्षपास्त्र प्रवचन (5-10)	15.00	64.	लघु कर्मस्थान चर्चा	3.00
	मोक्षपास्त्र प्रवचन (11-12)	20.00	65.	कर्मक्षपणदर्पण	1.00
	मोक्षपास्त्र प्रवचन (13-18)	14.00	66.	नयचक्रप्रकाश	1.00
	मोक्षपास्त्र प्रवचन (19-21)	10.00	67.	द्रव्यसंग्रह प्रज्ञोत्तरी टीका	
	मोक्षपास्त्र प्रवचन (22-24)	12.00		(35 वीं गाथा)	2.00
38.	ज्ञानामृत प्रवचन	25.00	68.	ज्ञान और विज्ञान	2.00

39.	सूत्रपाहुड 'गलपाहुड प्रवचन	18.00	69.	लघु जीवस्थान चर्चा
-----	----------------------------	-------	-----	--------------------

यत् किञ्चित्

जून सन् 1976 में सोनीपत में श्री धनपाल सिंह जी जैन सर्राफ, जिन्होंने साहित्य सेटकी प्रायः समस्त पुस्तकों का स्वाध्याय किया है तथा उस सेटकी आध्यात्मिक पुस्तकों का तो अनेक बार स्वाध्याय व मनन किया है, मेरे पास प्रतिदिन करीब 1।। घन्टा दुपहर में बैठकर अपने मनन और स्वाध्याय किये गये पुस्तकों के अपने प्रेरक स्थलों की चर्चा करते थे, मैं भी कुछ सुनाता था। इसी प्रसंग में मेरे भाव हुए कि समयसार ग्रन्थ पर कुछ सुबोध तथ्यप्रकाषक हिन्दी व्याख्या करूँ। तब निर्णय किया कि गाथाओं पर तो हिन्दी पद (पूर्व लिखित), संस्कृत छाया, मूलषब्द, मूलधातु, पद विवरण, अन्वय, अर्थ व तात्पर्य ये आठ बातें लिखूँ और आत्मख्यातिपर टीकार्थ, भावार्थ लिखकर फिर प्रसंग विवरण, तथ्यप्रकाष, सिद्धान्त, दृष्टि व प्रयोग ये सात बातें लिखूँ। अब तथ्यप्रकाष, सिद्धान्त व दृष्टि लिखने के लिये यह आवश्यक हो गया है कि (1) यह बताया जाये कि अध्यात्म ग्रन्थों में प्रयुक्त निष्चयनय, व्यवहारनय, व्यवहार व उपचार ये चार बोल नैगमादि सात नयों में से किस नयमें आते तथा जो नहीं आते उनका आगम में किस प्रकार वर्णन है; (2) अनुक्रम से अनेक दृष्टियों के नाम व लक्षणों पर प्रकाष डाला जाये, ताकि प्रत्येक गाथाओं पर तथ्य, सिद्धान्त व दृष्टि प्रकट करने में सुगमता रहे, एतदर्थ प्रकाष नयचक्र लिखना प्रारम्भ किया।

पश्चात् चातुर्मास्य के दिन अत्यन्त निकट थे। दि० जैन समाज सरधना के आग्रह से सरधना चातुर्मास्य हुआ। सरधना समाज के लिये हमारे वर्षायोग की प्रेरणा श्री विदुषीरत्न वयोवृद्ध पंडिता कैलाषवती जैन न्यायतीर्थ 3 वर्ष से देती आ रही थीं। इस वर्षायोग में समयसार की हिन्दी टीका करने का और इसी टीका के प्रकाषन कार्य का प्रारम्भ हुआ। समयसार का सर्वप्रथम समनन स्वाध्याय सन् 1942 के अन्त में संस्कृत टीकापर से किया था। तब भी भावमिलान करने के लिये श्री पं० जयचन्द जी कृत हिन्दी टीका का सहयोग मिला था और अब भी भावार्थ में प्रारम्भ में क्वचित् पं० जी के भावार्थ के किन्हीं वाक्यों का सहयोग लिया एतदर्थ उनका आभार है। विद्याभ्यास पूज्यश्री बड़े वर्णी जी (श्री 105 क्षु० गणेश प्रसाद जी वर्णी) एवं चाची जी (श्री सिंघेन चिरोंजाबाई जी) के तत्त्वावधान में हुआ था। उनका तो आभार है ही। विष्वपूज्य तीर्थंकर देव व पूज्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य, समन्तभद्राचार्य, अकलंक देव आदि ऋषिजनों का तो अनुपम उपकार है।

इस सन् 1976 के वर्षायोग में कुछ गाथाओं की टीका लिखे जाने के बीच श्री सुमेरचन्द जी जैन 15-प्रेमपुरी, मुजफ्फरनगर वाले हमसे मिलने सरधना आये, उनके हाथ में एक छोटा प्राकृत व्याकरण था, उसे देखकर भावना हुई कि इसमें नामसंज्ञ (प्राकृत मूलषब्द), धातुसंज्ञ (प्राकृत मूलधातु) व प्राकृत पद विवरण ये तीन बातें और बढ़ा दी जावें। तब तक प्रायः 32 पेज छप चुके थे। उसके बाद की कुछ प्रेस कापी मंगवाई। उसमें थोड़ी जगह मिलने से नामसंज्ञ व धातुसंज्ञ बढ़ा दिये गये और बादकी गाथाओं में प्राकृत पद विवरण भी बढ़ा दिया गया इस प्रकार 18 बातें हो गयीं—(1) हिन्दी पद्य, (2) संस्कृत छाया, (3) नामसंज्ञ, (4) धातु संज्ञ, (5) प्रातिपदिक, (6) मूलधातु, (7) प्राकृत पदविवरण, (8) संस्कृत पदविवरण, (9) अन्वय, (10) अर्थ, (11) तात्पर्य, (12) टीकार्थ, (13) भावार्थ, (14) प्रसंग विवरण, (15) तथ्य प्रकाष, (16) सिद्धान्त, (17) दृष्टि, (18) प्रयोग। यह टीका आत्मदृष्टि बार-बार अवसर पाने के लिये लिखी गयी। धर्मप्रेमी बन्धु भी इन्हीं प्रयोजनों से स्वाध्याय करें व इसमें जो सुधार व बढ़ाव उचित समझें उससे हमें सूचित करें तथा स्वाध्याय मनन होने से प्राप्त लाभ की कभी-कभी सूचना दें ताकि मुझे आत्मदृष्टि के लिये और भी प्रेरणा प्राप्त हो।

विज्ञेष्वलमधिकेन।

मनोहर वर्णी 'सहजानन्द'

**अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ परम् पूज्य श्री 105 क्षु० मनोहर जी वर्णी सहजानन्द
महाराज का संक्षिप्त जीवन परिचय**

जन्म नाम	—	मगर लाल
चिरोजा बाई जी द्वारा दिया प्रचलित नाम	—	मनोहर लाल
जन्म तिथि	—	कार्तिक कृष्ण दशमी ब्रह्ममुहूर्त संवत् 1972, सन् 1915 ई०
जन्म स्थान	—	ग्राम दुमदुमा, जिला टीकम गढ़ बुन्देल खण्ड (म० प्र०)
पिता का नाम	—	श्री सिंघवी गुलाब राय जी जैन
माता का नाम	—	श्रीमती तुलसा बाई जी
शिक्षा	—	सिद्धान्त 'ास्त्री, न्याय 'ास्त्री, साहित्य 'ास्त्री, न्यातीर्थ की परीक्षाएँ उत्तीर्ण
शिक्षण कार्य	—	बरुआ सागर विद्यालय के प्रधानाचार्य तथा अनेक विद्वानों साधु मुनियों के जैन दर्शन के गूढ विषयों के अध्यापक
शिक्षा—दीक्षा गुरु	—	परम् पूज्य गुरुवर 105 क्षु० गणेश प्रसाद जी वर्णी
दीक्षा के बाद नाम	—	पूज्य 104 क्षु० मनोहर लाल जी वर्णी सहजानन्द महाराज
समाज के प्रति देन	—	लगभग 500 ग्रंथों की रचना, श्री सहजानन्द 'ास्त्र माला की स्थापना, प्रवचन प्रकाशिनी संस्था की स्थापना, श्री भारतवर्षीय वर्णी जैन साहित्य मन्दिर की स्थापना, उत्तर प्रांतीय गुरुकुल हस्तिनापुर की स्थापना व अन्य अनेक शिक्षण संस्थाओं की स्थापना के प्रणेता
साहित्य स्रजन काल	—	सन् 1942 से सन् 1978 तक
'ारीर त्याग	—	29 मार्च सन्ध्याकाल सन् 1978 त्यागी भवन, मेरठ 'ाहर

समयसार महिमा

सभी जीव 'गष्वत 'गान्ति चाहते हैं और एतदर्थ ही भरसक प्रयत्न करते हैं। जो जीव विषय भोगों में ही आनन्द मानते हैं और विषय भोगों के बाधक निमित्तों से द्वेष एवं कलह 'गान्ति प्राप्त करना चाहते हैं, उन जीवों की तो इसमें चर्चा ही नहीं करना है। जो अलौकिक उपायों से 'गान्ति का मार्ग ढूँढते हैं, उनकी ही कुछ चर्चाओं के बाद परिणामस्वरूप हितकर प्रकृत बातपर आना है।

कुछ विवेकी महानुभावों की धारणा है:—कि जिस परम ब्रह्म परमेश्वर ने अपनी सृष्टि की है उस परम पिता परमात्मा की उपासना से ही दुःखों से मुक्ति हो सकती है।

कुछ विवेकी महानुभावों की धारणा है:—कि प्रकृति और पुरुष में एकत्व का अभ्यास होने से ही क्लेष एवं जन्म-परम्परा हुई है, सो प्रकृति और पुरुष का भेदज्ञान कर लेने से ही क्लेष एवं जन्म-परम्परा से मुक्ति मिल सकती है।

कुछ विवेकी महानुभावों की धारणा है कि :—क्षणिक चित्तवृत्तियों में जो आत्मा मानने का भ्रम है इस आत्मभ्रम से सारा क्लेष है, सो आत्मा का भ्रम समाप्त कर देने से ही निर्वाण प्राप्त हो सकता है।

कुछ विवेकी महानुभावों की धारणा है कि :—आत्मा तो 'गष्वत निर्विकार है। उसमें विकार का जब तक भ्रम है तब तक जीव दुःखी है, विकार का भ्रम समाप्त होने से ही जीव 'गान्ति प्राप्त कर सकता है।

कुछ विवेकी महानुभावों की धारणा है कि:—दुष्कर्मों से ही जीव सांसारिक यातनाएँ सहता है, और यातनाओं से मुक्ति पाना सत्कर्म करने से ही सम्भव है।

और कुछ विवेकी महानुभावों की धारणा है कि :—विकल्पात्मक विविध उपयोगों से ही जीव का संसार परिभ्रमण चल रहा है। इस भ्रमण की निवृत्ति निर्विकल्प समाधि से ही हो सकती है।

इत्यादि प्रज्ञापूर्ण अनेक धारणाएँ हैं। इनमें किसी भी धारणा को असत्य नहीं कहा जा सकता और यह भी नहीं कहा जा सकता कि इसमें कोई भी धारणा किसी दूसरे के विरुद्ध है। इन सब धारणाओं का जो लक्ष्य है वह सब है एक 'समयसार'।

एक समयसार के यथार्थ परिज्ञान में उक्त समस्त उपाय गर्भित हैं। एक समयसार के परिज्ञान से उक्त सब उपाय कैसे प्रचलित हो जाते हैं यह बात अभिधेय समयसार के यत्किंचित् अभिधान के पश्चात् कहीं तो विषय उक्तियों में और कहीं फलितार्थरूपमें प्रकट हो ही जावेगी। अतः अन्य कोई विस्तृत विवेचन न करके अब समयसार के सम्बन्ध में ही संक्षिप्त प्रकाश डाला जाता है।

समयसार का अर्थ

समय 'गब्द के दो अर्थ हैं:—1—समस्त पदार्थ, 2—आत्मा। इनमें अर्थात् समस्त पदार्थों में अथवा आत्मा में जो सार हो वह समयसार कहलाता है। 'सम्—एकीभावेन स्वगुणपर्यायान् गच्छति' इस निरुक्ति से समय 'गब्द का अर्थ समस्त पदार्थों में घटित होता है; क्योंकि सभी पदार्थ अपने-अपने ही गुण पर्यायों को प्राप्त हैं। 'सम्—एकत्वेन युगपत् अयते गच्छति, जानाति' इस निरुक्ति से समय 'गब्द का अर्थ आत्मा होता है, क्योंकि आत्म—पदार्थ ही जानने वाला है और उसका स्वभाव सर्व पदार्थों को एकत्वरूप अर्थात् केवल उसका सत्तात्मक बोध एक साथ जानने का है।

अब सब पदार्थों में सार कहो तो वह आत्मा नाम का पदार्थ है और उसमें भी निरपेक्ष, 'गष्वत, सहज, एक स्वरूप आत्मस्वभाव (चैतन्य स्वभाव) की दृष्टि से दृष्ट

आत्म-तत्त्व सार है। इसी प्रकार दूसरी निरुक्ति से भी यही समयसार वाच्य है। समयसार के अप रनाम—ब्रह्म, परम-ब्रह्म, परमेश्वर, कारण परमात्मा, जगत्पिता, 'बुद्धचेतन, परम-पारिणामिक भाव, 'बुद्धचेतना, सर्वविषुद्ध, चिन्मात्र, चैतन्य, प्रभु, विभु, अद्वैत, विष्णु, ब्रह्मा, परमज्योति और शिव इत्यादि अनेक हैं।

यह समयसार अजर, अमर, अविकार 'बुद्ध, बुद्ध, नित्य, निरंजन, अपरिणामी, ध्रुव, अचल, एक-ज्ञायक-स्वरूप अनंतरसनिर्भर, सहजानन्दमय, चिन्मात्र, सहजसिद्ध, अकलंक, सर्वविषुद्ध, ज्ञानमात्र, सच्चिदानन्द स्वरूप इत्यादि अनेक द्वार से सम्बन्ध है।

वस्तु-व्यवस्था

समयसार के विषद परिज्ञान का उपाय भेद-विज्ञान है। अनेक पदार्थों को स्व स्व लक्षणों से पृथक्-पृथक् नियत कर देना और उसमें से उपादेय पदार्थ को लक्षित और उससे समस्त पदार्थों को उपेक्षित कर देने को भेद-विज्ञान कहते हैं। प्रकृत भेद-विज्ञान के लिए आत्म-अनात्मस्वरूप समस्त पदार्थों का जान लेना प्रथम आवश्यक है। इस जानकारी के लिए समस्त पदार्थ कितने हैं यह जानना आवश्यक है। इस जानकारी के लिये आखिर एक पदार्थ होता कितना है यह भी जानना आवश्यक है।

एक परिणमन जितने पूरे में होना ही पड़े और जितने से बाहर त्रिकाल में भी कभी न हो सके, उतने को एक पदार्थ कहते हैं। जैसे—विचार, सुख, दुख, अनुभव आदि कोई परिणमन मेरा, केवल मेरे आत्मा में, व वह भी समस्त प्रदेशों में होता है और मेरे आत्म-प्रदेशों से बाहर अन्यत्र कभी नहीं हो सकता। इसलिए यह मैं आत्मा एक पदार्थ हूँ। इसी प्रकार सब आत्मा हैं। इस तरह विष्व में अक्षय अनन्तानन्त आत्मा हैं। दृष्यमान स्कंधों में जो कुछ दीखता है वह एक एक नहीं हैं; क्योंकि जलने से या अन्य हेतुओं से या समय व्यतीत होने से उस एक पिण्ड में एक जगह तो रूप-परिवर्तन और तरह देखा जाता है; किन्तु वह परिवर्तन सर्वत्र नहीं होता। इसी प्रकार रस, गन्ध, स्पर्श में भी विविधता देखी जाती है। एक पदार्थ का जो लक्षण है उसके अनुसार यह निर्णीत होता है कि इन पिण्डों में एक एक परमाणु करके अनन्त परमाणु हैं और वे एक-एक द्रव्य हैं। क्योंकि एक पदार्थ का लक्षण इनमें घटित हो जाता है। इस तरह जब दृष्यमान छोटे से पिण्ड में अनन्त परमाणु हैं तब समस्त विष्व में तो अक्षय अनन्तानन्त परमाणु हैं। यह सुसिद्ध बात है। इन परमाणुओं को पुद्गल कहते हैं; क्योंकि इनमें पूर पूर कर एक पिण्ड होने की व गल-गलकर पुनः बिखरने की योग्यता है। अनन्तानन्त जीव व अन्तानन्त पुद्गलद्रव्यों के चलने में जो उदासीन सहायक द्रव्य है, वह धर्मद्रव्य है, और वह एक है। अनन्तानन्त जीव व अन्तानन्त पुद्गलद्रव्य के चलकर ठहरने में जो उदासीन सहायक द्रव्य है, वह अधर्मद्रव्य है, वह भी एक है। समस्त जीव व पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य आदि समस्त द्रव्यों के अवगाह का जो उदासीन हेतु है ऐसा आकाष एक द्रव्य है। इन सबके परिणमन का जो उदासीन हेतुरूप है वह काल द्रव्य है। काल द्रव्य असंख्यात हैं। वे लोकाकाष (जितने आकाष में सब द्रव्य हैं) के एक एक प्रदेश पर एक एक स्थित हैं। आकाष द्रव्य एक है। इस प्रकार अनन्तानन्त आत्मा, अनन्तानन्त पुद्गल, एक धर्म द्रव्य, एक अधर्म द्रव्य, एक आकाष द्रव्य व असंख्यात काल द्रव्य ऐसे अनन्तानन्त पदार्थ हैं।

समयसार के परिज्ञान के लिए अब अनन्तानन्त पदार्थों में से एक आत्मा स्वके रूपमें और अवशिष्ट अन्य अनन्तानन्त आत्मा, अनन्तानन्त पुद्गल, एक धर्म द्रव्य, एक अधर्म द्रव्य एक आकाष द्रव्य, असंख्यात काल द्रव्य इन सबको परके रूपमें जानना चाहिये। इसके

अनन्तर उस एक आत्मा में भी उन सभी गुण व सभी पर्यायों की दृष्टि गौण करके सनातन एक चैतन्य स्वभाव की दृष्टि करनी चाहिये।

आवश्यक व ज्ञातव्य दृष्टियां

समयसार के परिज्ञान के लिए समयसार व समयसार से भिन्न समस्त परभाव का जानना आवश्यक है और आवश्यक है उन समस्त परभावों से हटकर एक समयसार का ही उपयोग करना। एतदर्थ वह सब परिज्ञान अनेक दृष्टियों से आवश्यक होता है। अतः संक्षेप में आवश्यक दृष्टियों का वर्णन किया जाता है। इसके पश्चात् समयसार ग्रन्थ में वर्णित विषयों का संक्षेप सारांश प्रकट किया जायगा। दृष्टि के अप रनाम नय, अभिप्राय, आषय, मत इत्यादि अनेक हैं। इनमें प्रसिद्ध 'अब्द नय है। नय के मुख्य भेद दो हैं (1) निष्चयनय (2) व्यवहारनय। एक पदार्थ के ही जानने को निष्चयनय कहते हैं। अनेक या अन्य के निमित्त से होने वाले कार्य व्यपदेश आदिके जानने को व्यवहारनय कहते हैं। चूंकि पदार्थों को केवल भी जाना जा सकता है, संयुक्त या सहयोगी भावों द्वारा भी जाना जा सकता है, इसलिये नयों की द्विविधता होना प्राकृतिक बात है।

अथवा पदार्थों को भेदरूपसे जानने को व्यवहार कहते हैं और अभेदरूपसे जानने को निष्चयनय कहते हैं। निष्चयनय एक व अभेद अथवा एक या अभेद को जानता है, व्यवहारनय अनेक व भेद अथवा अनेक या भेदको जानता है। इस कारण कितने ही निष्चयनय उसके सामने अन्य अन्तरंग की दृष्टि प्राप्त होने पर व्यवहारनय हो जाते हैं और कितने ही व्यवहारनय उसके सामने अन्य अधिक बहिरंग की दृष्टि प्राप्त होने पर निष्चयनय हो जाते हैं। फिर भी माध्यम द्वारा नयों का संक्षिप्त विस्तार किया जाता है:-

विष्चयनयके परमषुद्धनिष्चयनय, विवक्षितैकदेषषुद्ध निष्चयनय, 'जुद्ध निष्चयनय, और अपषुद्ध निष्चयनय आदि भेद हैं। व्यवहारनय के उपचरित असद्भूत व्यवहार, अनुपचरित असद्भूत व्यवहार, उपचरित सदभूत व्यवहार और अनुपचरित सदभूत व्यवहार आदि भेद हैं।

परम 'जुद्ध निष्चयनय—परिणमन व 'विक्रिभेद (गुण) की दृष्टि गौण कर एक स्वभावमय पदार्थ को जानना परमषुद्ध निष्चयनय है; जैसे आत्मा चित्स्वरूप है। इसी नय का विषय समयसार है।

विवक्षितैकदेषषुद्ध निष्चयनय—उपादेय तत्व को 'जुद्ध निरखकर विकार का उपाधि से सम्बन्ध जानने को विवक्षितैकदेषषुद्ध निष्चयनय कहते हैं; जैसे रागादि पौद्गलिक हैं। यह आषय अपषुद्ध निष्चयनय की मुख्यता होने पर व्यवहारनय हो जाता है।

'जुद्ध निष्चयनय—षुद्ध पर्याय परिणत पदार्थ के जानने को 'जुद्ध निष्चयनय कहते हैं जैसे सिद्ध प्रभु 'जुद्ध हैं।

अषुद्ध निष्चयनय—अषुद्धपर्यायपरिणत पदार्थ के जानने को अषुद्ध निष्चयनय कहते हैं। जैसे रागादि मान् संसारी जीव हैं।

उपचरित असद्भूत व्यवहारनय—अन्य उपाधि के निमित्त से होने वाले प्रकट परभाव को निमित्त से उपचरित करना उपचरित असद्भूत व्यवहारनय है जैसे—अनुभूत विकारभाव पुद्गल कर्म के कारण जीव में हुए हैं।

अनुपचरित असद्भूत व्यवहारः—अन्य उपाधि के निमित्त से होने वाले सूक्ष्म (अप्रकट) विकार को कहना अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय है, जैसे औपाधिक अबुद्धिगत जीव के विकार भाव।

उपचरित सदभूत व्यवहारनयः—उपाधि के क्षयोपषम से प्रकट होने वाले जीव के गुणों का विकास उपचरित सदभूत व्यवहारनय है, जैसे जीव के मतिज्ञान।

अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय—जीव के निरपेक्ष आदिक स्वभाव—भाव को गुण—गुणी का भेद करके कहना अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय है, जैसे जीव के ज्ञानादि गुण।

इस प्रकार अन्तरंग से बहिरंग की ओर, बहिरंग से अन्तरंग की ओर अभिप्रायों का आलोडन विलोडन करके समय (आत्मा) का सम्यक् प्रकार से निष्चय किया जाय और पश्चात् अनेक निष्चयनयों में से निकल कर परम 'बुद्ध निष्चयनयका अवलम्बन करके समयसार का परिज्ञान किया जावे और फिर परमबुद्ध निष्चयनयके आषय से भी सहज छूटकर समयसार का अनुभव किया जावे।

समयसार का विशय विभाग

समयसार आत्मतत्त्व की विवेचना का अनुपम ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का प्राकृत भाषा में नाम "समयपाहुड" है, जिसका संस्कृतानुवाद है समयप्राभृत। प्राभृत का अर्थ भेंट भी होता है जिससे यह ध्वनित हुआ कि समय अर्थात् आत्मतत्त्व की जिज्ञासा करने वाले मुमुक्षु समयसार (कारणपरमात्मा या निर्दोषपरमात्मा) राजा के दर्शन करने के लिये उद्यम करे तो इस भेंट का (ग्रन्थ का) उपयोग करें। यदि कोई यह जानना चाहे कि जैन सिद्धान्त में वर्तमान सर्वप्रमुख व्यवहारोपयोगी ग्रन्थ कौन है तो यह निःषंक कहा जा सकता है कि एक तत्त्वार्थ—सूत्र और दूसरा समयसार। ये दो ग्रन्थ प्रमुख लोकोपयोगी हैं। समयसार में तो आत्म—तत्त्व विषयक सुविवेचना है और तत्त्वार्थसूत्र में पदार्थ की विविध विषयक सुविवेचना है।

समयार ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय विस्तृत है। अतः इसके मूलकर्ता (गाथाकार) पूज्य श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य) की रचना इस प्रकार हुई है:—प्रारम्भ की 12 गाथा तो समयसार की पीठिका है। पश्चात् मुख्य निषय जीव के स्वरूपका है सो जीवाधिकार आया। पश्चात् अजीवाधिकार आया। पश्चात् जीव—अजीव के बन्धन के मूल का अर्थात् कर्तृ—कर्म—भावका अधिकार आया। पश्चात् कर्तृकर्म भावके परिणाम स्वरूप अथवा संसार के प्रधान एक भाव निमित्तभूत पुण्यपापकर्म का अधिकार आया। पश्चात् पुण्यपापकर्म के द्वारभूत आस्रव का अधिकार आया। इसके पश्चात् आस्रव के विपक्षी अथवा मुक्ति के मूल उपायभूत संवर का अधिकार आया। पश्चात् संवर के होने पर कार्यकारी एवं मोक्ष के साधनभूत निर्जरा का अधिकार आया। पश्चात् मोक्ष के विपक्षभूत बन्ध का अधिकार आया। पश्चात् मोक्ष का अधिकार आया। पश्चात् मुक्ति के सर्व उपायों के लक्ष्यभूत समयसार का विषुद्ध वर्णन करने के लिए सर्वविषुद्ध ज्ञानाधिकार आया। अन्त में इसी तत्त्व का तथा पूर्वमें उक्त व अनुक्त विषयों का उपसंहार करने वाला परिषिष्ट रूप स्याद्वाद अधिकार आया।

इस प्रकार इस समयसार ग्रन्थ में (1) पीठिका (2) जीवाधिकार (3) अजीवाधिकार (4) कर्तृ—कर्माधिकार। (5) पुण्य—पापाधिकार (6) आस्रवाधिकार (7) संवराधिकार (8) निर्जराधिकार (9) बंधाधिकार (10) मोक्षाधिकार (11) सर्वविषुद्ध ज्ञानाधिकार (12) चूलिकाधिकार और (13) स्याद्वादाधिकार आये। इन 13 अधिकारों में आत्मतत्त्व का वर्णन किया है। अद्यतन प्रसिद्धि के अनुसार पीठिका व जीवाधिकार का वर्णन एक धारा में होने के हेतु इन दो अधिकारों का एक पूर्वरंग हो जाने से, व अजीवाधिकार में ही विधि—निषेध के रूपमें जीवका वर्णन आ जाने के हेतु अजीवाधिकार हो जाने से, तथा सर्वविषुद्ध ज्ञानाधिकार व चूलिकाधिकार का विषय भी एक धारा में चलने से एवं स्याद्वाद (परिषिष्ट) अधिकार समय प्राभृत ग्रन्थ के टीकाकार पूज्य श्री अमृतचन्द्रजी सूरि की स्वतन्त्र रचना होने से (1) पूर्वरंग (2) जीवाजीवाधिकार (3) कर्तृ कर्माधिकार (4) पुण्य—पापाधिकार (5)

आस्रवाधिकार (6) संवराधिकार (7) निर्जराधिकार (8) बंधाधिकार (9) मोक्षाधिकार (10) सर्वविषुद्धज्ञानाधिकार। इस प्रकार 10 अधिकार हैं।

अब समयसार ग्रन्थ के उक्त अधिकारों में किस किस विषय का वर्णन है, इस पर संक्षेप में प्रकाश डाला जाता है ताकि यह भी सुगमता से जानने में आ सके कि द्वैतभाव से की गई अनेक ऋषियों की पूर्वोक्त विभिन्न आध्यात्मिक धारणाओं का लक्ष्य भी यही समयसार है; चाहे उनमें से किसी ने उस पर लक्ष्य कर पाया हो या न कर पाया हो।

पीठिका

सर्वप्रथम समयसार के पूर्ण अनुरूप विकास अर्थात् सिद्ध प्रभु को नमस्कार करके समय (सामान्य आत्मा) का इस प्रकार संकेत किया है कि समय की दो अवस्थाएँ होती हैं (1) स्वसमय (षुद्धावस्था) (2) परसमय (अषुद्धावस्था)। जो अपने दर्शन-ज्ञान-चरित्र में स्थित हो, अर्थात् 'जुद्ध ज्ञान-दर्शनमय निज परमात्मतत्त्व की रुचि, संवित्ति व निष्चल अनुभूति से परिणत हो, सो स्वसमय है और जो औपाधिक भावों में स्थित हो सो परसमय है। ये दोनों अवस्थाएँ जिस एक पदार्थ की हैं वह समय हैं। अन्य सर्व परपदार्थों से, सर्व पर्यायों से भिन्न देखा गया, केवल यही समय समयसार कहलाता है।

संसारी जीवों ने इस समयसार की दृष्टि नहीं की। इसी कारण इसे जीवलोक में आपत्तियों का भाजन होना पड़ा है। इस समयसार का वर्णन करने के पहले ग्रन्थकर्ता श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं कहते हैं कि इस समयसार (एकत्व विभक्त आत्मा) को आत्मविभव द्वारा दिखाऊँगा, यदि दिखा दूँ तो स्वयं अपने विभव से प्रमाण करना, यदि दिखाने में चूक जाऊँ तो छल ग्रहण नहीं करना। दिखाना 'बदों द्वारा ही तो हो रहा है, यह क्रिया नयगर्भित है अतः सुनने में नयका ठीक उपयोग न करने से श्रोता का चूकना सम्भव है। इस ही बात को अपने पर लेने से ग्रन्थकर्ता की कितनी निर्गर्वता प्रकट हुई है और स्वयं अनुभव से प्रमाण करना चाहिये इस भाव द्वारा वस्तुस्वातन्त्र्य की प्रतीति प्रकट हुई है; इससे सहसा विवेच्य विषयपर श्रद्धा होती है तथा मनन कर लेने से तो दृढ़ प्रतीति हो ही जावेगी क्योंकि इस विवेचना में सब वैज्ञानिक पद्धति है।

समयसार अर्थात् 'जुद्ध आत्मतत्त्व का लक्ष्य इस प्रकार किया गया है, कि जो न प्रमत्त या कषायसहित है और न अप्रमत्त या कषायरहित है; किन्तु एक 'जुद्ध ज्ञायक-भावमय है, वह 'जुद्ध आत्मा है। इस 'जुद्ध आत्मा में बन्धकी कथा तो दूर ही रहो इसमें ज्ञान-दर्शन-चरित्र आदिक गुणभेद भी नहीं हैं। फिर भी बुद्धि में गुणभेद आदि किये बिना परमार्थभूत आत्मा को समझाया नहीं जा सकता। इसलिये गुणभेद आदि निरूपक व्यवहार परमार्थ का प्रतिपादक होने से वक्तव्य होता है और यह व्यवहार पहिली पदवी में प्रयोजनवान है, किन्तु परमार्थभूत चैतन्यमात्र आत्मतत्त्व के अवलोकन करने वालों को व्यवहार प्रयोजनवान् नहीं है।

अधिकार-गाथा

उक्त प्रकार से एकत्वविभक्त 'जुद्ध आत्मा अथवा समयसार का संक्षेप में वर्णन किया गया है उसी को विस्तृत रूपमें कहने के लिये एक अधिकार गाथा ग्रन्थ कर्ता ने दी है।

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्ण पावं च।

आसव संवर णिज्जर बंधो मोक्खो य सम्मत्तं।।

भूतार्थनय से जाने गये जीव, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष सम्यक्त्व है। यहां कारण में कार्य का उपचार करके सम्यक्त्व का वर्णन किया है, जिससे यह भाव निकला कि भूतार्थ नयसे जाने गये जीवादि नवतत्त्व सम्यक्त्व के कारण

हैं। गुण पर्यायों के भेद से उठाकर एकत्व में ले जाने वाले नयको भूतार्थनय कहते हैं। इस गाथा में अधिकारसूची भी आ गई। आध्यात्मिक ग्रन्थों में आवष्यक कर्तव्य होने से केवल कर्तृ कर्माधिकार व सर्वविषुद्धज्ञानाधिकार और कहना पड़ा। चुलिका तो प्रायः सर्वत्र आपतित होती ही है।

उक्त नव तत्त्वों में जीव व अजीव तो द्रव्य है व पुण्य-पाप, आस्रव आदि पर्यायें हैं। इसी कारण ये सातों जीव रूप भी कहे गये हैं और अजीवरूप भी कहे गये हैं। जैसे जीव पुण्य, अजीव पुण्य आदि। जीव की परिणतियां जीवपुण्य आदि हैं व अजीव (कर्म) की परिणतियां अजीवपुण्य आदि हैं। जीवपरिणतियों के द्वार से चलकर उन परिणतियों के स्रोतभूत गुणपर आना और गुणद्वार से चलकर गुणों के अभेद पुञ्ज अथवा गुणों के स्रोतभूत जीवद्रव्य पर आना यह भूतार्थ नयकी पद्धति है। इसी प्रकार अजीव में भी लगानी चाहिये। यह सर्वविषय ग्रन्थ के अध्ययन से स्पष्ट करना चाहिये। यहाँ तो विषयों का दिग्मात्र ही दिखाना है।

जीवाधिकार

जीवाधिकार में सर्वप्रथम ही 'जुद्ध आत्मा के स्वरूप, स्वामी व उपाय का ही एकदम सुगम रीति से वर्णन कर दिया गया है, कि जो अपनी आत्मा को (अपने आपको) अवद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविषिष्ट व असंयुक्त देखता है उसे 'जुद्धनय जानो, अथवा 'जुद्ध-नयसे जैसा 'जुद्ध आत्मतत्त्व देखा जाता है आत्मतत्त्व वैसा ही 'जुद्ध जानो। यही जिन 'गासन का सार है।

इस 'जुद्ध आत्मा का श्रद्धान ज्ञान व आचरण करना चाहिये। वस्तुतः श्रद्धान-ज्ञान-आचरण भी आत्मा ही है। यद्यपि यह आत्मा स्वभाव से ही ज्ञानमय है किन्तु इसकी निजतत्त्व पर दृष्टि नहीं हुई; अतः इसकी उपासना का आदेश दिया गया है।

समयसार का परिचय न होने से जीव की दृष्टि कर्म, 'रीर व विभाव में "यह मैं हूँ या ये मेरे हैं" ऐसी मान्यता की हो जाती है; और जब तक ऐसी दृष्टि रहती है तब तक यह जीव अज्ञानी कहलाता है। इतना ही नहीं अज्ञानी जीव के भूत, भविष्यत् का भी परिग्रह लगा रहता है। अज्ञानी के यह धारणा रहती है कि 'रीरादिक मैं हूँ ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ ये मेरे थे, मैं इनका था, ये मेरे होंगे, मैं इनका होऊँगा इत्यादि।

परन्तु 'रीरादिक अजीव पदार्थ व चेतन आत्मा एक कैसे हो सकते हैं? क्योंकि जीव तो ज्ञानलक्षण वाला है और अजीव ज्ञानरहित है। हे आत्मन्! तू 'रीर नहीं है, किन्तु 'रीर का अभी पड़ोसी है, 'रीर से भिन्न उपयोग-स्वरूप अपने आत्मा को देख।

चूंकि जीवलोक को इस 'रीर रूपमें ही जीव का परिचय रहा है और कभी धर्म भी चला तो इसी पद्धति से। इसी कारण उक्त उपदेश की बात सुनते ही कोई शिष्य पूछता है कि प्रभो! 'रीर से भिन्न आत्मा कहाँ है? 'रीर ही जीव है, यदि 'रीर ही जीव न होता तो तीर्थकर देवकी जो ऐसी स्तुति की जाती है कि आपकी कांति दसों दिशाओं में फैल जाती है, आपका रूप बड़ा मनोहारी है, आपके 1008 'जुभ लक्षण हैं, इत्यादि सब स्तुति मिथ्या हो जावेगी तथा आचार्य परमेष्ठी की जो स्तुति की जाती है कि आप देश, जाति व काल से 'जुद्ध है, 'जुद्ध मन, वचन, काय वाले हैं इत्यादि, वह भी स्तुति मिथ्या हो जावेगी। इसका पूज्य श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य उत्तर देते हैं—

नय दो प्रकार के होते हैं (1) व्यवहारनय (2) निष्चयनय। व्यवहारनय से तो देह व जीव का संयोग सम्बन्ध है; इसलिये देह व जीवमें कथंचित् एकत्व मान लिया जाता है,

परन्तु निष्चयनय से जीव में ही जीव है, देह जीव हो ही नहीं सकता। 'रीर की स्तुति से आत्मा की स्तुति व्यवहाररूपसे कथंचित् हो सकती है, निष्चयनयसे तो 'रीर के गुण आत्मा के कुछ नहीं हैं; इसलिये 'रीर की स्तुति से आत्मा की स्तुति नहीं होती, आत्मा की स्तुति से ही आत्मा की स्तुति होती है। यहाँ यह अवश्य जान लेना चाहिये कि जो आत्मा आत्मस्वरूपसे बिलकुल अपरिचित है उसके लिये तो व्यवहार से भी स्तुति नहीं कहला सकती।

अब निष्चय स्तुति किस प्रकार हो सकती है इस विषयपर आते हैं। चूँकि यह निष्चयस्तुति है, इसलिये जो भी विषुद्ध स्थिति कही जावेगी वह आत्मा की ही कही जावेगी। आचार्य पूज्य श्रीमत्कुन्दकुन्द प्रभु के द्वारा कही हुई निष्चय-स्तुति का भाव पूज्य श्री अमृतचन्द्रजी सूरि व्यक्त करते हैं :- जिन्होंने असंग, अखण्ड, चैतन्य स्वभाव के अवलम्बन द्वारा ज्ञेय पदार्थों से, भावेन्द्रियों से व द्रव्यन्द्रियों से पृथक् अपनी प्रतीति करके इन्द्रियों को जीतकर स्वभावमय अपने को माना है वे जितेन्द्रिक जिन कहलाते हैं। जो द्रव्यमोह व भावमोह से अलग अपने आत्मा को अपने में लेने के द्वारा मोह को जीतकर परमार्थ सद्रूप ज्ञानस्वभावमय अपने आत्मा को अनुभवते हैं, वे जितमोह कहलाते हैं। (पुनश्च) उक्त प्रकार से मोह को जीत लेने वाले निर्मल आत्मा के मोह ऐसा समूल नष्ट हो जाता है कि फिर कभी भी उसका प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। ऐसी उन निर्मल आत्मा को क्षीण-मोह कहते हैं। सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सहजानन्दमय इत्यादि स्तुति भी निष्चय स्तुति कहलाती है। इन्द्रियों का विजय आत्मज्ञान से ही है। वस्तुतः त्याग ज्ञानस्वरूप ही है, क्योंकि परको पर जानकर ही त्याग किया जाता है। व पर तो भिन्न है ही, मान्यता में एक कर रक्खा था सो सच्चा ज्ञान करना ही उसका त्याग है।

इस प्रकार प्रासंगिक स्तुति-चर्चा के बाद अन्त में दिखाया है कि सम्यज्ञानी की अन्तर्भावना ऐसी होती है—मोह मेरा कुछ नहीं है, मैं तो एक उपयोगमात्र हूँ, ज्ञेयाकार व ज्ञेय पदार्थ मेरा कुछ नहीं है, मैं तो एक उपयोगमात्र हूँ, मैं एक (केवल) हूँ, 'ुद्ध हूँ, दर्शनज्ञानमय हूँ, अमूर्त हूँ और अन्य कुछ परमाणुमात्र भी मेरा कुछ भी नहीं है।

अजीवाधिकार

इस अधिकार में उन सब भावों को भी अजीव बतलाया है जो जीव 'ुद्ध स्वरूपम नहीं है। अतः अजीव में अजीव द्रव्य तो है ही, साथ ही औपाधिक भाव भी अजीव है।

आत्मा को नहीं जानने वाले अतएव परभावों को आत्मा मानने वालों की विभिन्न धारणाएँ हैं। कोई तो राग-द्वेष को, कोई राग द्वेष के संस्कार को, कोई कर्मको, कोई 'रीर को, कोई कर्मफलको, कोई सुख दुख को, कोई आत्मा व कर्म की मिलावट को इत्यादि अनेक प्रकार से जीव मानते हैं, किन्तु ये सब जीव नहीं हैं; क्योंकि ये सर्व या तो पुद्गलद्रव्य के परिणमन हैं या कर्मरूप पुद्गलद्रव्य के निमित्त से हुए परिणमन हैं।

इस अवसर में यह 'का उत्पन्न हो सकती है कि फिर तो जीवसमास, गुणस्थान आदि की चर्चा अथवा त्रस-स्थावर भेद वाले जीव मानना यह सब जैन 'ास्त्रों में क्यों कहा गया है? इसका उत्तर यह है कि यह सब व्यवहार का उपदेश है, जो कि तीर्थ की प्रवृत्ति के निमित्त बतलाना आवश्यक ही है। अन्यथा षट्काय के जीवपर्यायों को अजीव मानकर जितना चाहे मर्दित कर दिया जावे, हिंसा नहीं होनी चाहिये। फिर तो हिंसा के अभाव में बन्ध का अभाव व बन्ध के अभाव में मोक्ष का भी अभाव हो जायेगा अथवा उच्छृङ्खलता आ जावेगी। हाँ निर्विकल्प समाधि के उद्यम में तो 'ुद्ध चैतन्यस्वरूप ही जीव है, अवशिष्ट भाव सब अजीव हैं, इसी दृढ़ प्रतीति से काम चलेगा।

वस्तुतः जीव का लक्षण चेतना है। जीव वर्ण, गन्ध, रस, और स्पर्श, 'ाब्द से रहित है। जीव बाह्य चिन्ह से ग्रहण में नहीं आ सकता। जीव का सहज नियत संस्थान भी कोई नहीं है। तात्पर्य यह है कि चैतन्य भावके अतिरिक्त अन्य सब भाव अजीव हैं। इसी कारण जीव के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, मूर्तिकता, 'ारीर, संस्थान संहनन (अस्थिपिंजर) राग, द्वेष, मोह, कर्म, 'ारीर, विचार, योग, बन्ध, उदय, संकलेश, विषुद्धि आदि कुछ नहीं हैं। ये सब व्यवहारनय से जीवके कहे गये हैं। व्यवहारनय विरोधक नहीं, किन्तु व्यवहार नय भी वस्तु के किन्हीं भावों के जानने का एक तरीका है। जैसे कि जिस रास्ते में चलते हुए मुसाफिरों को डाकुओं द्वारा लूटा जाता हो, लोग उस रास्ते को "यह रास्ता लूट लिया जाता है" ऐसा कह देते हैं। परन्तु वास्तव में रास्ता क्या लूटेगा, फिर भी व्यवहार से ऐसा तो कहा ही जाता है, क्योंकि लूटने वाले उस रास्ते में होते हैं। इसी प्रकार जीव में बन्धपर्याय से स्थित कर्म व 'ारीर के वर्ण आदि को जानकर व्यवहारनय से कहा जाता है कि जीव में वर्णादिक है।

वस्तुतः जीवमें वर्णादिका कुछ भी तादात्म्य नहीं है। यदि जीव के साथ वर्णादिका तादात्म्य मान लिया जाता है तब तो अनेक अनिष्टापत्तियाँ आती हैं—जैसे कि (1) वर्णादिका जिसके साथ तादात्म्य है वह तो पुद्गल कहलाता है; यदि कभी संसारी जीव मुक्त हो तो यही माना जायेगा कि पुद्गल को मोक्ष हो गया। (2) जीव अजीव का कोई भेद नहीं रहा; तो जीव का ही अभाव हो गया इत्यादि।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि जिनका पुद्गल उपादान है वे परिणमन व जिनका पुद्गल कार्य निमित्त है वे परिणमन ये सब कोई भी परमार्थ से जीव के नहीं है। इन्हें अजीव कहा गया है।

कर्तृ—कर्माधिकार

अधिकार गाथा में यद्यपि कर्तृ—कर्मभाव अधिकार की कोई सूचना नहीं है, तो भी जीवाजीवाधिकार के पश्चात् व आस्रव अधिकार के पहले कर्तृ कर्म अधिकार का कहना यह दिखाने के लिये आवश्यक हुआ है कि जब जीव और अजीव स्वतन्त्र द्रव्य है तब जीव व अजीव के सम्बन्ध व बन्ध पर्याय कैसे हो जाती है? इसका उत्तर कर्तृ—कर्माधिकार में किया गया है। जीव व अजीव का सम्बन्ध व बन्ध पर्याय कैसे मिट सकती है इसका उत्तर भी उसी अधिकार में दिया गया है। जब तक जीव निज—सहज—स्वरूप व क्रोधादि औपाधिक भावों में अन्तर नहीं जानता है तब तक क्रोधादि भावों को निज स्वरूपमें जानने के कारण उनमें जीव की प्रवृत्ति होगी ही और क्रोधादि में वर्तने वाले इस जीव के निमित्त—नैमित्तिक सम्बन्ध के वंश से पुद्गल कर्म (अजीव) का संचय हो जाता है। पुद्गल कर्म के आने का नाम अजीवास्रव है और जीव में जो ये क्रोधादिक भाव हुये हैं उनका नाम जीवास्रव है। यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि अजीवास्रव का निमित्त तो निज परमें परस्पर कर्तृ कर्मभाव की मान्यता है, इस कर्तृ कर्मभाव की मान्यता में क्या निमित्त है? उत्तर—इस कर्तृ—कर्मभाव की मान्यता में पूर्वबद्ध अजीव कर्म का उदय निमित्त है। प्रश्न—इस कर्मास्रव में क्या निमित्त हुआ था? उत्तर:—इस कर्मास्रव में पूर्व का स्वपर का कर्तृ—कर्मभाव निमित्त हुआ था। इस प्रकार यह अनादिप्रवाहक्रम चला आया है। इस स्वपरकर्तृकर्मभाव की प्रवृत्ति भी अनादि से चली आई है।

यद्यपि यहाँ ऐसा सम्बन्ध है कि जीव के परिणाम को हेतु पाकर पुद्गल कार्माणगणायें कर्मरूपसे परिणम जाती है और पुद्गल कर्म के उदय को निमित्त पाकर जीवके ऐसे परिणाम हो जाते हैं, तो भी जीव व पुद्गल का परस्पर कर्तृ कर्मभाव नहीं है,

क्योंकि जीव न तो पुद्गल कर्म का कोई गुण या परिणमन करता है और न पुद्गल कर्म जीवका कोई गुण या परिणमन करता है। केवल अन्योन्य निमित्त से दोनों का परिणमन हो जाता है।

इस ही निमित्त-नैमित्तिक-सम्बन्ध के कारण व्यवहारनय से 'जीव पुद्गलकर्म (द्रव्यास्रव) का कर्ता' और 'पुद्गल जीवास्रव का कर्ता' कहा जाता है। जीव में अनुभवनशक्ति है, सो वस्तुतः पुद्गलकर्म के उदय को निमित्त पाकर जीव अपने में आनन्द-श्रद्धा-चारित्रादि गुणों को विकृत परिणमनरूपसे भोगता है तो भी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के हेतु जीव पुद्गलकर्म को भोगता है यह भी व्यवहारनय से कहा जाता है। परमार्थ से जीव न तो पुद्गलकर्म को करता है और न पुद्गलकर्म को भोगता है; क्योंकि यदि जीव पुद्गलकर्म को भी करे व भोगे तो एक तो जीव ने अपने परिणाम को किया व भोगा और दूसरे पुद्गलकर्म को भी किया व भोगा तो इस तरह जीव दो द्रव्यों की क्रिया का कर्ता बन जायेगा। ऐसा होने पर चूँकि क्रिया का उस काल में तादात्म्य रहता है, इस कारण जीव व अजीव में भेद नहीं रहा अथवा जीव अजीव में से एकका अथवा दोनों का अभाव हो जायेगा इत्यादि अनेक अनिष्टापत्तियाँ हो जायेंगी। एक द्रव्य दो द्रव्यों की क्रिया का कर्ता है, ऐसा अनुभव करने वाला जीव सम्यग्दृष्टि नहीं, किन्तु मिथ्यादृष्टि है। अर्थात् वस्तुस्वयंपसे विपरीत दृष्टिवाला है। कर्म उपाधि के निमित्त से होने वाले क्रोधादिक औपाधिक भाव है, उनका भी जीव सहज भाव से याने उपाधि को निमित्त पाये बिना कर्ता नहीं है। इन क्रोधादिक परभावों का कर्ता न तो जीव है और न कर्म; किन्तु कर्म के निमित्त से जीव के उपादान में क्रोधादिक परिणमन होता है। जीव निज, सहज, चैतन्य स्वरूप व क्रोधादि परभावों में अन्तर नहीं समझता। इसी कारण यह बन्ध होता है यह मौलिक प्रकृत बात सिद्ध हुई।

अब जिज्ञासा होती है कि इस बन्धका अभाव कैसे हो? समाधान—जीव की परभावके प्रति कर्ताकर्म की प्रवृत्ति होने से बन्ध होता था। जब कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति दूर हो जाती है तब बन्धका भी अभाव हो जाता है। प्रश्नः—इस कर्ता-कर्मप्रवृत्ति का अभाव कैसे हो जाता है? उत्तरः—जब यह जीव आत्मा में व परभाव में इस प्रकार से अन्तर जान लेता है कि वस्तु स्वभावमात्र होती है, मैं वस्तु हूँ, सो मैं भी स्वभावमात्र हूँ। स्वभाव कहते हैं स्वके होने को, मैं स्वज्ञानमय हूँ। सो जितना ज्ञानका होना है सो तो मैं आत्मा हूँ और क्रोधादिका होना क्रोधादि है, आत्मा (स्व) व क्रोधादि-आस्रवों में एकवस्तुता नहीं है। जब जीव ऐसा आत्मा व आस्रव में अन्तर जान लेता है तभी कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति दूर हो जाती है और कर्ता-कर्मकी प्रवृत्ति दूर होने पर पुद्गल कर्मबन्ध भी दूर हो जाता है।

आत्मा और अनात्मा के भेदविज्ञान से उसी काल में आस्रव की निवृत्ति होने लगती है। ज्ञानी जीवके इस प्रकार का विषद ज्ञान प्रकट रहता है—मैं आत्मा सहज पवित्र हूँ, ज्ञानस्वभावी हूँ, दुःख का अकारण हूँ, सम हूँ, नित्य हूँ, स्वयंशरण हूँ, आनन्दस्वभाव हूँ; किन्तु ये आस्रव (परभाव) अपवित्र हैं, विरुद्ध स्वभाववाले हैं, दुःख के कारण हैं, विषम हैं, अनित्य हैं, अशरण हैं, दुःखस्वरूप हैं और इनका दुःख ही फल है। मैं एक हूँ, 'जुद्ध हूँ, मोह रागादि परभावरहित हूँ, ज्ञानदर्शनमय हूँ, मैं (आत्मा) कर्मके परिणमन को व नोकर्मके परिणमन को नहीं करता हूँ। पुद्गलकर्म परद्रव्य है। मैं परद्रव्य का ज्ञायक तो हूँ, किन्तु पर परद्रव्य में व्यापक नहीं हूँ। अतएव परद्रव्य की पर्यायरूपसे परिणमता नहीं हूँ अर्थात् मैं परद्रव्य की परिणति कर्ता नहीं हूँ। मैं पुद्गलकर्म के फल सुख दुःखादि को जान तो सकता हूँ, किन्तु पुद्गलकर्म की परिणति का कर्ता नहीं हूँ। इसी प्रकार पुद्गलकर्म भी मेरा कर्ता नहीं है।

अषुद्ध-निष्चयनय से आत्मा तो मात्र अपने अषुद्ध भावका कर्ता है, उसको निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्य कर्मरूप से स्वयं परिणम जाता है। जैसे कि हवा के चलने के निमित्त से समुद्र में तरंग उठती है। निष्चय से तरंगों का कर्ता तो समुद्र ही है, हवा तो उसमें निमित्त है। हवा में हवा का कार्य है। समुद्र में समुद्र की परिणति है। प्रत्येक द्रव्य की स्वतन्त्रता सत्तात्मकता के ज्ञान से कर्मबन्ध रुकता है और परको आत्मा मानने व आत्मा को पररूप मानने से कर्म का बंध होता है। अथवा परको आत्मा माननेवाला अज्ञानी जीव कर्मका कर्ता होता है। वस्तुतः तो अज्ञानी भी कर्म का कर्ता नहीं है, परन्तु अपने अषुद्ध भावका कर्ता है। उस अषुद्धभावको निमित्त पाकर कर्मका आस्रव स्वयं हो जाता है। वस्तुतः कर्मास्रव का निमित्तरूपसे भी जीव कर्ता नहीं है, किन्तु उसके योग व उपयोग जो कि अनित्य हैं, वे अनित्य परिणमन ही वहाँ निमित्त हैं। क्योंकि यह वस्तुस्वभाव अटल है—कि कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के रूप या अन्य के गुण-पर्याय रूप नहीं हो सकता। इसलिये यह सुप्रसिद्ध हुआ कि आत्मा पुद्गलकर्म का कर्ता नहीं है।

यहाँ दो दृष्टियों से यह निर्णय करना चाहिये—(1) निष्चयनय से जीव पुद्गलकर्मका कर्ता नहीं है। (2) व्यवहारनय से जीव पुद्गलकर्मका कर्ता है। (1) निष्चयनय से जीव पुद्गलकर्मका भोक्ता नहीं है। (2) व्यवहारनय से जीव पुद्गलकर्मका भोक्ता है। (1) निष्चयनय से जीव पुद्गलकर्म बद्ध नहीं है। (2) व्यवहारनय से जीव में पुद्गलकर्म बद्ध है। (1) निष्चयनय से जीव में राग-द्वेषादि नहीं है। (2) व्यवहारनय से जीव में राग-द्वेषादि है। (1) निष्चयनय से जीव पुद्गलके परिणमन का निमित्त नहीं है। (2) व्यवहारनय से जीव में पुद्गलके परिणमन का निमित्त है। इत्यादि अनेक चर्चायें दोनों नयों से स्पष्ट कर लेनी चाहिये। पश्चात् समयसार के अनुभवके उद्यम में दोनों ही नयपक्षों को ग्रहण नहीं करना चाहिये। जैसे कि पूर्ण निर्मल, देवाधिदेव, सर्वज्ञ परमात्मा विजानघनभूत होने के कारण नयपक्ष के परिग्रह से दूर होने से किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते हैं, इसी प्रकार जिनसंज्ञक निर्मल सम्यग्दृष्टि तत्त्वज्ञानी, अन्तरात्मा श्रुतज्ञानात्मक विकल्प वाले होकर भी परिग्रह के प्रति उत्सुकता से निवृत्त होने के कारण विकल्प-भूमिका से दूर होकर स्वरूपको ही जानते हैं और किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते हैं, वे ही समयसार का अनुभव करते हैं।

पुण्य-पापाधिकार

मोह व रागद्वेषकी प्रवृत्ति के निमित्त से जिन कर्मों का आस्रव हुआ, उनमें से कारणभूत, 'गुण-अषुभ योग उपयोग के अनुकूल कोई कर्म 'गुण प्रकृति के (पुण्यरूप) व कोई अषुभ प्रकृति के (पापरूप) व कोई अषुभ प्रकृति के (पापरूप) हो जाते हैं। होओ, फिर भी चाहे पुण्य कर्म (सुषील कर्म) हों; चाहे पाप-कर्म (कुषील कर्म) हों; सभी वस्तुतः कुषील ही हैं, क्योंकि सभी कर्म संसार मार्ग के निमित्त हैं। जैसे कि चाहे सुवर्ण की बेड़ी हो, चाहे लोहे की बेड़ी हो, कैदी के लिये दोनों भारभूत हैं। इसलिये दोनों प्रकार के कर्मों को बंधमार्ग जानकर इनमें या इनके कारणभूत भावों में व आश्रयभूत विषयों में मन वचन कायसे राग व संसर्ग छोड़ देना चाहिये। रागी जीव कर्मों को बांधता है व विरागी-आत्मा कर्मों से छूट जाता है, इसलिए चाहे 'गुण कर्म हो, चाहे अषुभ कर्म हो किसी भी कर्म में राग मत करो। जैसे वनके हाथी को फंसाने के लिये षिकारी लोग एक गड्ढेपर बांस व कागज की बड़ी सुन्दर एक हथिनी बनाते हैं और सामने एक झूठा हाथी। वन-हस्ती हथिनी के रागमें व दूसरे हाथी को विषय-बाधक जान कर उससे द्वेष के कारण 'गिघ्र वहां आता है और गड्ढे में गिर जाता है। तो उस हाथी को गड्ढे का अज्ञानरूप मोह था व सुन्दर हथिनी का राग था व दूसरे हाथी से द्वेष था। इस तरह मोह-राग द्वेष वष हाथी ने विपत्ति ही

पाई। पुण्यकर्म भी झूठी सुन्दर हथिनी के समान विपत्ति में निमित्त बन जाता है। इसलिये किसी भी कर्ममें राग मत करो।

मोह-राग द्वेष ये सभी अज्ञान के विविध रूप हैं। ये भाव जानने का कार्य नहीं करते, इसलिये भी अज्ञानरूप हैं। अज्ञानभाव बंधका हेतु है, व ज्ञानभाव मोक्ष का हेतु है। परमार्थभूत ज्ञान होने पर बाह्य व्रत नियम तपकी विषेषता न हो तो भी ज्ञान मोक्षका कारण है। जो परमार्थभूत समयसार से अपरिचित हैं वे ही केवल अशुभ कर्मों को ही बन्ध का कारण जानकर व 'जुभ कर्म को मोक्ष का कारण जानकर पुण्य कर्म की चाह करते हैं।

सब ही कर्म मोक्ष के हेतुभूत सम्यक्त्व, ज्ञान व चरित्र का तिरोभाव करने वाले हैं। इसलिये ज्ञानभाव मोक्षका अर्थात् पूर्ण विकास का हेतु है। अतः सर्व कर्मों का राग छोड़कर एक निज ज्ञायक स्वभावकी उपासना करना 'गान्ति का (मोक्ष का) मार्ग है।

आस्रवाधिकार

विकृतरूपसे आने को आस्रव कहते हैं। आस्रवभाव जीव के राग द्वेष मोह भाव हैं। इनको निमित्त पाकर पौद्गलिक कार्माणवर्गणाओं में भी विकार की प्रकृति बनती है। इसलिये आस्रव का परिणाम होने से इन पौद्गलिक वर्गणाओं में कर्मत्व आने को भी आस्रव कहते हैं।

राग द्वेष मोह भाव अज्ञानमयपरिणाम हैं। अज्ञानमय परिणाम अज्ञानी जीव के होते हैं। ज्ञानी के ज्ञानमय परिणाम होते हैं। ज्ञानमय परिणामों के द्वारा अज्ञानमय परिणामों का निरोध हो जाता है। अतः ज्ञानी जीव के ज्ञानमय परिणामों के द्वारा आस्रव का निरोध हो जाता है। अतश्च पुद्गलकर्म का बंध नहीं होता, क्योंकि अज्ञानमय परिणाम ही कर्तृत्वबुद्धि में प्रेरक होता है, ज्ञानमय परिणाम तो स्वभाव का ही उद्भासक है, उससे बन्ध कैसे हो सकता है।

यहाँ कोई पुरुष ऐसे 'ंकालु हो सकते हैं, कि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव के भी तो दषवें गुणस्थान तक बन्ध चलता है, फिर ज्ञानी को अबन्धक कैसे कहा गया है? सौ उन्हें तीन प्रकार से बात जानकर अपना चित्त समाधान रूप कर लेना चाहिये। (1) जिस गुणस्थान में जितनी प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है, उतनी प्रकृतियों की अपेक्षा उन्हें अबन्धक समझना, (2) जो भी किंचित् बंध होता है वह संसारवृद्धि की सामर्थ्य नहीं रखता, इसलिये अबन्धसम ही समझना। (3) ज्ञानी विषेषण कहने से उसको केवल ज्ञानपरिणामनरूपसे ही देखना, अन्य परिणामनरूपसे नहीं देखना। तब तो यह पूर्ण सिद्ध है कि ज्ञानी के किंचिन्मात्र भी बंध नहीं होता।

ज्ञानी जीव के पूर्वसंचित कर्म उदय में आए झड़ जाते हैं, नवीन बंध के कारण नहीं बनते; क्योंकि ज्ञानी के विभाव में राग नहीं रहा। ज्ञानी जीव के जो भी बंध चलता है वह ज्ञान की जघन्यता से अनुमीयमान ष रहे अबुद्धिपूर्वक रागके कारण होता है। अतः कर्तव्य तो यही है कि तबतक ज्ञानकी अनवरत उपासना करना चाहिए, जबतक ज्ञानका पूर्ण विकास न हो।

'ुद्धनय के विषयभूत समयसार से च्युत रहकर या होकर जीव रागादि परिणाम से संकीर्ण हो जाता है और उसके निमित्त से पुद्गल-कर्मवर्गणाएँ स्वयं बंधरूपसे परिणाम जाती है। जैसे किसी पुरुष ने आहार ग्रहण किया, यह तो उसका बुद्धिपूर्वक कार्य हुआ। अब आगे वह आहार स्वयं रस, रुधिर, मल आदि रूप परिणाम जाता है और उसका जो विपाक होना होता है, होता है। यह सब निमित्त-नैमित्तिक भाववष होता ही है। यदि कोई

आसक्ति से आहार ग्रहण करे तो उसे उसके फलमें आहार—विपाक के समय वेदना भोगनी पड़ती है। इसी तरह यदि कोई आसक्तिसे, मोहसे विभावरति करे तो तन्निमित्तक हुए कर्मबंध के परिपाकसमय में वेदना भोगनी पड़ती है। इसलिये कहा जा सकता है कि “कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन”। अतः कल्याणार्थी को अपने परिणाम सदा सावधान रखना चाहिए।

संवराधिकार

संवर नाम रुकने का है। रागादि भावों के आगमन रुकने के या न आने को संवर कहते हैं। इस रागादि के संवर के परिणाम में कर्मों का आना भी रुक जाता है। अतः कर्मों का आना रुक जाने को भी संवर कहते हैं। संवर का उपाय भेदविज्ञान है। आत्मा तो ज्ञानमात्र है और ज्ञानमात्र के अतिरिक्त षोडश सर्व औपाधिकभाव अनात्मा है। वहां अब यह देखना चाहिये कि ज्ञानमें (उपयोगमें, अथवा आत्मामें) क्रोधादिक औपाधिक भाव नहीं हैं और क्रोधादिक औपाधिक भावोंमें उपयोग नहीं हैं। क्रोधादिक तो क्रुध्यत्तादिक स्वरूपमें है और ज्ञान जानतारूपमें ही है। इस भेदविज्ञानसे ‘जुद्धात्माकी उपलब्धि होती है और ‘जुद्धात्मा की उपलब्धि से संवर होता है।

‘जुद्धात्मा को जानता हुआ आत्मा ‘जुद्धात्मा को प्राप्त करता है और अषुद्ध आत्मा को जानता हुआ आत्मा अपने को अषुद्ध ही पाता रहता है। ‘जुद्धात्मा की प्राप्ति व संवर का बुद्धिपूर्वक व अबुद्धिपूर्वक उपाय यह है कि—षुभ तथा अषुभ योग में प्रवर्तते हुये अपने आप को प्रबल भेदविज्ञान के उपयोग द्वारा इस प्रवर्तन से रोके और ‘जुद्ध चैतन्यात्मक निज आत्मतत्त्व में प्रतिष्ठित करे। फिर यह आत्मा इच्छा—रहित व संग—रहित होकर अपने आपके द्वारा अपने आत्मा का ध्याता हो जाता है। उस समय एकत्व—विभक्त निज आत्मा का ध्यान करता हुआ अर्थात् चैतन्य चमत्कारमात्र आत्मा का ध्यान करता हुआ निज अकलंक आत्मा को प्राप्त करता है। यही संवर का प्रकार है व कर्मों से मुक्त होने का उपाय है।

तात्पर्य यह है कि भेदविज्ञान से ‘जुद्ध आत्मा की उपलब्धि होती है, ‘जुद्ध आत्मा की उपलब्धि होने से अध्यवसानों का अभाव होता है, अध्यवसानों के अभाव होने पर मोह का अभाव होता है, मोहभाव का अभाव होनेपर राग—द्वेषभाव का अभाव हो जाता है, राग—द्वेष का अभाव होने पर कर्मका अभाव हो जाता है, कर्मका अभाव होने पर सदा के लिये ‘रीर का अभाव हो जाता है और ‘रीर का अभाव होनेपर संसार का अभाव हो जाता है। संसार ही दुःख है, सो दुःखों का अत्यन्ताभाव हो जाता है। इसलिये भेदविज्ञान की तब तक निरन्तर भावना करनी चाहिये जब तक कि ज्ञान परसे बिलकुल न हट जावे और ज्ञानमें ही प्रतिष्ठित न हो जावे।

निर्जराधिकार

विकार के झड़ने का नाम निर्जरा है। निर्जरा दो प्रकार की है—(1) भावनिर्जरा (2) द्रव्यनिर्जरा—सुख—दुःख राग द्वेषादि विभाव जो उदित हुए, वे बंध के कारण न बनें और झड़ जावें इसका नाम तो भावनिर्जरा है और इसी कारण अन्य बंध का कारण न बन कर कर्मों का व अन्य कर्मों का निष्फल झड़ जाना सो द्रव्य—निर्जरा है।

ज्ञानका ऐसा ही सामर्थ्य है कि कर्मविपाक को भोगता हुआ भी ज्ञानी कर्मों से नहीं बँधता है। जैसे कि तान्त्रिक, मान्त्रिक अथवा विषवैद्य पुरुष विषको खाता हुआ भी मरण को प्राप्त नहीं होता। वैराग्य में भी ऐसा ही सामर्थ्य हैं। वस्तुतः ज्ञान और वैराग्य अलग—अलग तत्त्व नहीं हैं, विधिरूपसे देखने पर ज्ञान प्रतिष्ठित है और राग—निषेधकी ओर से देखने पर वैराग्य प्रतिष्ठित है।

सम्यग्दृष्टि का मुख्य विचार एक यह भी रहता है कि जो लोभ क्रोधादि प्रकृति वाले कर्म होते हैं, उन कर्मों के उदय के निमित्त से उत्पन्न हुये रागादिक भाव परभाव हैं। ये मेरे स्वभाव नहीं हैं। मैं तो टंकीत्कीर्णवत् निष्चल स्वतः सिद्ध एक ज्ञायक स्वभावरूप हूँ। इस विचार—बलसे ज्ञानी परभावों से विरक्त रहकर उनको छोड़ देता है।

रागादिभावं आत्मा का स्वपद नहीं है, क्योंकि ये सभी भाव आत्मस्वभाव के विरुद्ध हैं, विषम हैं, अनेकरूप हैं, क्षणिक हैं और व्यभिचारी हैं। कभी कोई भाव रहे, कभी कोई भाव न रहे, दूसरा रहे; इस कारण स्थायीरूपसे आत्मा में स्थान नहीं पाते अर्थात् अस्थायी हैं। किन्तु ज्ञानस्वभाव आत्मा का स्वपद है; क्योंकि यह ज्ञानस्वभाव आत्मस्वभाव है, सम अर्थात् नियत है, एकरूप है, नित्य है व अव्यभिचारी अर्थात् अनवरत सदा आत्मा में रहता है। इस ही कारण ज्ञानस्वभाव स्थायीरूपसे आत्मा में स्थान पाता है। इसलिए हे आत्मन्! इस एक ज्ञानस्वभावका ही अनुभव करो। जिसमें रंचमात्र भी विपत्ति नहीं रहती।

इस ज्ञानस्वभाव के जितने परिणमन हैं, उन परिणमनों के ज्ञान—द्वार से परिपूर्ण ज्ञानस्वभावको ही देखो। इस ज्ञानभावके आश्रयसे ही ज्ञानकी प्राप्ति है, अन्य क्रियाओं से नहीं। इस ज्ञानस्वभाव के आश्रय के बिना महान् तपों का भार भी सहे तो भी मुक्ति नहीं होती।

ज्ञानोपयोगी आत्मा निष्परिग्रह है, क्योंकि परिग्रह तो वास्तव में इच्छा ही है, सो ज्ञानी के इच्छा का आदर ही नहीं, राग ही नहीं; केवल इच्छा का ही नहीं, किन्तु समस्त विभावों का ज्ञानी के ममत्व नहीं, आदर नहीं, ज्ञानी किसी भी परभाव को नहीं चाहता। इसी कारण बाह्य विषयों की चाह नहीं। ज्ञानी आत्मा अतीत भोगों का तो ख्याल ही क्या करेगा, वह तो वर्तमान भोगों में भी वियोगबुद्धि से प्रवर्तमान हो रहा है। जो वियोगबुद्धि से रहे, वह परिग्रही नहीं है। भविष्यत् भोग की चाह भी अनेक कारणों से ज्ञानी के नहीं है (1) ज्ञानी के वस्तुस्वभावकी ओर दृष्टि रहा करती है सो निदान को अवसर ही नहीं मिलता। (2) वस्तुस्वातंत्र्य की प्रतीति के कारण किसी भी बाह्य पदार्थ से ज्ञानी को हित की आषा ही नहीं है। (3) ज्ञानी के यह दृढ़ निष्चय है कि इच्छाभाव व भोगभाव ये दोनों भाव एक समय में हो ही नहीं सकते; क्योंकि जब किसी वस्तु की चाह है तब तो उस वस्तु का भोग नहीं और कदाचित् उस वस्तु का भोग हो तो तद्विषयक चाह नहीं कि यह मिल जावे। जब इच्छा व भोग दोनों एक समय में मिल नहीं सकते तो फिर चाह ही क्यों की जावे।

ज्ञानी आत्मा सर्व प्रकार के राग—रसका छोड़नेवाला होता है। इसी कारण कोई ज्ञानी कर्मके मध्य भी पड़ा हो, तो भी कर्मसे लिप्त नहीं होता। जैसे कि सुवर्ण का जंग से लिप जाने का स्वभाव नहीं है, तो कीचड़ के बीच पड़ा हुआ सोना जंग नहीं खाता। लोहे का जंग से लिप जाने का स्वभाव है, सो कीचड़ के बीच पड़ा हुआ लोहा जंग खा जाता है। इसी तरह अज्ञानी जीव राग—रससे लिप्त हो जाने की प्रकृति वाला है, सो कर्ममध्य पड़ा हुआ कर्मसे लिप्त रहता है।

ज्ञानी का मुख्य चिन्ह कामना का अभाव है। कोई सोचे—मैं ज्ञानी हूँ, मुझे भोगमें भी कर्मबंध नहीं होता, अरे यदि कामना बनी हुई है तो उसके बने रहने से कर्मबंध में फरक नहीं आता, कर्मबंध होता ही है। ज्ञानी के भोग में भी कर्मबंध नहीं यह मात्र कहने की चीज नहीं है। ज्ञानरूप प्रतीति के परिणमने की करामात है।

सम्यग्दृष्टि का परिणमन कैसे होता है इस विषयको संक्षेप में कहा जाय तो उसका अष्ट अंगों द्वारा वर्णन होता है। सम्यग्दृष्टि के अंग 8 हैं—(1) निःषंकित (2) निःकांक्षित (3) निर्विचिकित्सित (4) अमूढदृष्टि (5) उपगूहन (6) स्थितिकरण (7) वात्सल्य और (8) प्रभावना।

निःषंकित—ज्ञानी आत्मा सातों प्रकार के भयसे रहित होनेसे व यथार्थ वस्तु स्वरूपकी यथार्थ प्रतीति के कारण सदा निःषंका रहता है। ज्ञानी जीवको इहलोकभय नहीं रहता कि इस जीवनका कैसे गुजारा होगा; क्योंकि ज्ञानी की दृष्टि है कि मेरा लोक तो चैतन्य है इसका गुजारा याने परिणमन तो निर्बाध होता ही रहेगा। ज्ञानी जीवके परलोकभय नहीं रहता कि परलोक में मेरा कैसे गुजारा होगा; क्योंकि ज्ञानी की दृष्टि है कि चैतन्य ही मेरा परलोक है उसका गुजारा भी निर्बाध होगा। ज्ञानी जीवके वेदनाभय नहीं होता कि इस रोग से मेरी वेदना (अनुभूति) कैसी होगी; क्योंकि ज्ञानीको दृष्टि है कि यह अविचल ज्ञान स्वयं वेदा जा रहा है, यही मेरी वेदना है, यह अन्य वस्तु से नहीं होती। ज्ञानी जीव के अरक्षाभय नहीं होता कि मेरी कोई रक्षा नहीं है, कभी मेरा नाश न हो जाय; क्योंकि ज्ञानी आत्मा की दृष्टि है कि जो सत् है उसका नाश नहीं होता, सत् स्वयं सुरक्षित है, मैं भी सत् हूँ; अतः सुरक्षित हूँ। ज्ञानी जीव के अगुप्तिभय नहीं होता कि मेरा कोई गुप्त स्थान (किला आदि सुदृढ़ स्थान) नहीं है, कोई मुझे बाधा देने न आ जावे। क्योंकि ज्ञानी जीवकी दृष्टि है कि मेरा स्वरूप ही मेरी गुप्ति है उसमें परका प्रवेश ही नहीं हो सकता। ज्ञानी जीव के मरण-भय नहीं कि मेरे प्राण नष्ट न हो जायें, क्योंकि ज्ञानी आत्मा की यह दृष्टि है कि मेरा प्राण तो ज्ञान है, वह कभी नष्ट नहीं हो सकता। ज्ञानी जीव के आकस्मिक भय नहीं होता, कि मुझपर अकस्मात् कोई आपत्ति न आ जाये; क्योंकि ज्ञानी जीव की यह दृष्टि है कि मैं अनादि, अचल, स्वतः सिद्ध, ज्ञानमात्र हूँ, मुझमें दूसरे का आक्रमण नहीं हो सकता। ज्ञानी जीव के वस्तुस्वरूपकी अविचल प्रतीति है, उसके भय कहां से हो? वह तो निःषंक स्वयं सहज ज्ञानका अनुभव करता है। इसलिये उसके 'िकाजनित बंध नहीं होता, किन्तु निःषंक होने से निर्जरा ही होती है।

निःकांक्षित—सम्यग्दृष्टि जीवके सब प्रकार के कर्मों में कर्म के फलों में और भोगों में वाञ्छा नहीं रहती है, इसलिये उसके कांक्षाकृत बन्ध नहीं होता किन्तु निष्कांक्ष होनेसे निर्जरा होती है।

निर्विचिकित्सित—सम्यग्दृष्टि जीवके धर्मात्माओं के अषुचि 'रीर की सेवामें, धर्मात्माओं में व समस्त वस्तुधर्मों—में ग्लानि नहीं रहती और न कर्मविपाकस्वरूप क्षुधा आदि विपत्तियों में खेदरूप परिणाम रहता है; इसलिये उसके विचिकित्साकृत बन्ध नहीं होता; किन्तु निर्विचिकित्स होनेसे निर्जरा होती है।

अमूढदृष्टि—सम्यग्दृष्टि जीव के धर्म-विरुद्ध किसी भी कुभावमें व कुभाव वालों में संमोह नहीं होता। इसलिये उसके मूढदृष्टिकृत बन्ध नहीं है; किन्तु अमूढदृष्टि होनेसे निर्जरा ही होती है।

स्थितिकरण—उन्मार्ग में जाते हुये स्वयं को उन्मार्ग में जानेसे रोक लेने व स्वयंको स्वरूपमें स्थित कर देने एवं परको भी धर्ममें स्थित कर देनेके निमित्त होने से ज्ञानी स्थितिकरण-युक्त होता है, इसलिये उसके मार्ग-पतन-कृत बन्ध नहीं होता, किन्तु धर्मस्थितता के कारण निर्जरा ही होती है।

वात्सल्य—रत्नत्रयको अपने में अभेदबुद्धि से देखने की वत्सलता होने से व व्यवहार में धर्मात्मा जनों में निष्छल वात्सल्य होने से सम्यग्दृष्टि मार्गवत्सल होते हैं इसलिये उनके अवात्सल्यकृत बन्ध नहीं होता, किन्तु मार्गवत्सलता के कारण निर्जरा ही होती है।

प्रभावना—ज्ञानषक्ति के विकास से सम्यग्दृष्टि प्रभावनाकारी होता है। अतः उसके अप्रभावनाकृत बन्धन ही है; किन्तु ज्ञानप्रभावक होनेसे निर्जरा ही होती है। ज्ञानी पुरुष अपनी अलौकिक आध्यात्मिक चर्या के कारण पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है। वह निर्जरा मोक्ष तत्त्व का साधन है।

बंधाधिकार

निर्जरा का फल मोक्ष है। मोक्ष बन्धपूर्वक है। अतः मोक्षतत्त्व के वर्णन से पहले बन्धतत्त्व का वर्णन किया जा रहा है। बन्ध किस कारण होता है यह व्यक्त करने के लिये एक उदाहरण है। जैसे कोई मल्ल देह में तेल लगाकर धूलभरी भूमिपर स्थित होकर तलवार से कदली वंश आदि पेड़ों को काटता है। इस अवसर में उसका देह धूलसे लिप्त हो जाता है। यहाँ विचार करो कि वह धूल क्यों चिपट गई? क्या धूलभरी भूमिमें स्थित होनेसे धूल चिपट गई? नहीं। यदि धूलभरी भूमि में स्थिति होने के कारण धूल चिपटी होती तो अन्य कोई मल्ल जिसके देहमें तेल न लगा हो वह उसी भूमि में वैसा ही व्यायाम करे उसके तो नहीं चिपटती। क्या 'अस्त्र चलाया इस कारण धूल चिपटी? नहीं, दूसरा भी तो वही 'अस्त्र चलाता है उसके तो नहीं चिपटती। क्या वृक्षों का घात करता है इस कारण चिपटी? नहीं, दूसरा मल्ल भी तो घात करता है उसके क्यों नहीं चिपटती। निष्कर्ष यह है कि इन बाह्य साधनों से धूल नहीं चिपटी, किन्तु जो देह में स्नेह (तेल) लगा है, उसके कारण धूल चिपटी। इसी प्रकार अज्ञानी जीव रागादि करता हुआ कार्माण-वर्गणाओं से व्याप्त लोक में मन वचन कायकी चेष्टा करता हुआ अनेक प्रकार के साधनों से सजीव अजीव पदार्थों का घात करता हुआ कर्मसे बँध जाता है। यहाँ विचार करो कि कर्म बँधने का कारण क्या है? क्या वह जीव कार्माणवर्गणाव्याप्त लोकमें स्थित है इस कारण कर्म-बंध हुआ? नहीं क्योंकि अरहंत सिद्ध भी तो ऐसे ही लोक-में हैं, उनके तो कर्मबंध नहीं होता। क्या मन वचन कायकी चेष्टा कर्मबंध का कारण है? नहीं, क्योंकि ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें गुणस्थान वालों के भी योगचेष्टा है, उनके तो कर्म नहीं बंधता। क्या अनेक उपकरण उसके पास हैं इसलिये कर्म बंध होता है? नहीं, अरहंत देवके समीप समवसरणादि महान वैभव है, उनके तो बंध नहीं, होता। क्या घात होनेसे कर्म बंध होता है? नहीं, समिति-पूर्वक क्रिया करने वाले मुनि-देह से सूक्ष्म जन्तु-घात सम्भव है, उनके तो बन्ध नहीं होता। निष्कर्ष यह है, कि इन बाह्य साधनों से कर्मबन्ध नहीं होता, किन्तु उपयोग में जो रागादि (स्नेह) को ले जाना है वह कर्मबन्ध कारण है।

जो ज्ञानी रागादि को उपयोगभूमि में न ले जावे, ज्ञानस्वरूप रहे, वह कर्मसे नहीं बँधता। यहाँ विषेय यह जानना चाहिये कि रागसे जो बन्ध होता है वह संसार को दृढ़ नहीं करता, किन्तु रागमें राग होने से जो बन्ध होता है वह संसार को दृढ़ करता है। विकार में लगाव होना मोह है, मोह कृतबन्ध संसार को दृढ़ करता है।

अज्ञानी जीव की मान्यता परतन्त्रता की रहती है। अज्ञानी के ऐसे भाव होते हैं कि मैं दूसरों को मारता हूँ, दूसरों से मारा जाता हूँ, मैं दूसरों को जिलाता हूँ, दूसरों के द्वारा मैं जिलाया जाता हूँ, मैं दूसरों को सुख दुःख देता हूँ, दूसरे मुझे सुख दुःख देते इत्यादि; किन्तु यह सब भाव मिथ्या है। जीवों का मरण उनके ही आयुर्कर्म के क्षय से होता है। जीवों का जीवन उनके ही आयु-कर्म के उदय से होता है। सुख-दुख भी उनके ही कर्मके उदयसे होता है। किसी के विकल्प से किसी अन्य जीवकी परिणति नहीं होती, विकल्प करके प्राणी कर्मबन्ध ही करता है। उन विकल्पों में यदि वे विकल्प पापसम्बन्धी हो तो पापका बन्ध होता है। यदि दया व्रत तप आदि के 'जुभ विकल्प हो तो पुण्य का बन्ध होता है। बाह्य पदार्थ बन्धका कारण नहीं है। बन्धका कारण तो विकल्प है। विकल्पके आश्रयभूत बाह्य पदार्थ हैं।

ज्ञान-स्वभाव का अनुभव बन्धका टालनेवाला है; परमार्थभूत ज्ञानभावके आश्रय बिना दुर्धर व्रत, तप भी निर्वाण के साधन नहीं होते, किन्तु कर्मबन्ध के ही हेतु होते हैं। पर्यायबुद्धि जब तक रहती है तबतक जीव संसारका ही पात्र होता है। मोक्षमार्ग की सिद्धि उस अज्ञानी के कैसे हो सकती है।

तात्पर्य यह है कि निज आत्मा को ज्ञायकस्वभावरूप स्वीकार किये बिना कितने भी विकल्प किये जायें उनसे मुक्ति नहीं होती, किन्तु बन्ध ही होता है। मैं साधु हूँ, मुझे दया करनी चाहिये, सत्य बोलना चाहिये, परीषह सहना चाहिये, व परीषह भी ऐसी सहे कि कोल्हू में पिल जाय फिर भी उफ या क्रोध न करे। इन सब करामातों के बावजूद भी चूँकि अपने को साधुपर्यायरूपमें ही प्रतीत किया है, ज्ञायकस्वरूपके अनुभवसे अनभिज्ञ है, अतः पुण्य बंध तो होता है और मिथ्या आषय के कारण पाप बंध भी होता है, किन्तु धर्मभाव, संवर व निर्जरा भाव नहीं होता है। अतः दुखों से मुक्ति पाने के लिए निज 'जुद्ध सनातन चित्स्वरूपका प्रज्ञा द्वारा परिचय प्राप्त करना चाहिये।

मोक्षाधिकार

आत्मा और बंधको दो रूप अर्थात् अलग अलग कर देने का नाम मोक्ष है। आत्मा स्वभावरूप है। बंध विभावरूप है। स्वभाव का विभाव परिणमन न रहकर स्वभावपरिणमन रहे, यही अवस्था मोक्ष तत्त्व में है।

कितने ही पुरुष बंध के चिन्तनपरिणाम को मोक्ष का कारण मानते हैं। वह ठीक नहीं; क्योंकि जैसे कि बेड़ी में बँधा हुआ पुरुष बेड़ी बंध के स्वरूपको जाननेमात्र से या बेड़ीबंध की चिन्तामात्र से छुटकारा नहीं पाता, किन्तु बेड़ीबंध कटने से अर्थात् अलग होनेसे ही छुटकारा पाता है। इसी प्रकार कर्मबन्ध से बद्ध आत्मा बन्ध का स्वरूप जानने—मात्रसे या अपायविचयधर्मध्यानमें ही बुद्धि लगाने मात्रसे कर्ममुक्त नहीं होता, किन्तु बन्धच्छेदसे अर्थात् विभाव—परिणमन के अलग करने से ही कर्ममुक्त होता है। बन्धच्छेद का उपाय क्या है? प्रज्ञा। नियत स्वलक्षण का जो अवलम्बन करे ऐसे विज्ञान को प्रज्ञा कहते हैं। पहिले प्रज्ञा से यह निर्णय किया जाता है कि आत्मा का स्वलक्षण चैतन्य है जो कि आत्मा में अनादि अनन्त तादात्म्यरूपसे है तथा आत्मातिरिक्त किसी भी पदार्थ में कभी नहीं रहता; और बन्धका स्वलक्षण रागादिक है जो कि चैतन्यचमत्कार से अन्य तथा आत्मा में उपाधि—संयोगवष क्षण—क्षणको प्रतिभासते हैं व नष्ट होने वाले हैं। पश्चात् बन्ध का स्वभाव विकारक जान कर बन्धसे विरक्त हुआ जाता है और 'जुद्ध आत्मतत्त्व को आत्मस्वभाव जानकर उसको ग्रहण किया जाता है। यह ग्रहण अभिन्न चेतन—क्रिया द्वारा अभिन्न षट्कारक रूपमें होता है। जैसे कि मैं चेतता हूँ, चेतयमान होता हुआ चेतता हूँ, चेतयमान को चेतता हूँ, चेतयमान द्वारा चेतता हूँ, चेतयमान के लिए चेतता हूँ, चेतयमान से चेतता हूँ, चेतयमान में चेतता हूँ। पश्चात् अभेद चैतन्य की प्रखर उपासना में अभिन्न षट्कारक के सूक्ष्म विकल्प का भी निषेध करके (कि मैं न चेतता हूँ, न चेतयमान होता हुआ चेतता हूँ, न चेतयमानको चेतता हूँ आदि रूपसे निषेध करके) सर्वविषुद्ध चिन्मात्र हूँ, ऐसा अनुभव होता है। इसी 'जुद्ध अनुभवके बलसे बन्धच्छेद होता है; क्योंकि परभाव का ग्रहण करना ही अपराध अर्थात् राध (आत्मसिद्धि) से दूर रहने का भाव था, इस अपराध के दूर होनेपर बन्धकी 'ांका ही सम्भव नहीं है।

सर्वविषुद्धचिन्मात्र के अनुभवका परिणमन व्यवहार प्रतिक्रमण आदि भावसे भी उत्कृष्ट है और वस्तुतः द्रव्यप्रतिक्रमणादि, व अज्ञानी जनों के अप्रतिक्रमणादि से विलक्षण यह सहज अप्रतिक्रमणादि तो अमृत है और वे दोनों विष है। सहज अप्रतिक्रमणादि रूप तृतीय भूमिका सम्बन्ध ही द्रव्य प्रतिक्रमणादि को अमृतपना व्यवहार से सिद्ध कराता है। इस प्रकार सर्व विषुद्धचिन्मात्र के अनुभव का परिणमन सर्वोत्कृष्ट परिणमन है और यही मोक्ष का हेतु है।

सर्वविषुद्ध ज्ञानाधिकार

नव तत्वों का वर्णन करके, अब अन्त में सबके आधार भूत उसी पारिणामिकभाव का पुनः विस्तार से इस अधिकार में वर्णन किया गया है जिसकी कि सूचना पीठिका में की गई थी।

सम्यग्दर्शन का विषय 'जुद्धद्रव्य' है। ज्ञानकी समीचीनता भी 'जुद्ध द्रव्य' के परिचय से है। सम्यक्चारित्रका स्वरूप—लाभ भी 'जुद्ध द्रव्य' के स्पर्श से है। अतः 'जुद्ध' अर्थात् आध्यात्मिक विकास का आश्रय ही 'जुद्ध आत्म—तत्त्व' है। यह 'जुद्ध आत्म—तत्त्व सर्व—विषुद्ध ज्ञानस्वरूप' है अर्थात् यह 'जुद्ध आत्मद्रव्य' न तो किसी का कार्य है और न किसी का कारण है। क्योंकि प्रत्येक द्रव्यों का केवल स्वं स्वकी पर्यायों से तादात्म्य है। यहाँ 'जुद्ध' से तात्पर्य परसे भिन्न व स्वके स्वभावमय से है। पर्याय व 'वक्तिभेद की गौणता करके अभेद स्वभाव की दृष्टि में यह संवेद्य है।

आत्मतत्त्व का परद्रव्य का कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य निज—निज सत्तात्मक ही रहता है। इसी कारण आत्मा व परद्रव्य में कर्तृ—कर्म सम्बन्ध भी नहीं है। फिर आत्मा परद्रव्य का कर्ता कैसे हो सकता है? और इसी कारण आत्मा परद्रव्य का भोक्ता भी कैसे हो सकता है? जिनके आशय में पर—द्रव्य का कर्तृत्व—भोक्तृत्व समाया हुआ है वह सब उनके अज्ञानभाव की महिमा है। जैसे दृष्टि (नेत्र) दृष्यमान पदार्थ से अत्यन्त भिन्न है। वह दृष्य वस्तुकी न तो करती है और न भोगती है, केवल देखती मात्र है, क्योंकि यदि करे तो अग्नि को देखने से जल जाना चाहिये, यदि भोगे तो अग्नि को देखने नेत्र तप्त व भस्म हो जाना चाहिये। इसी प्रकार ज्ञान भी एक दृष्टि ही तो है वह किसी परपदार्थ को न तो करता है और न भोगता है। वह तो तत्वज्ञान के कारण पर पदार्थ को अहं व मम रूपसे अनुभव नहीं कर सकने के कारण केवल जानता है, चाहे बन्ध हो, मोक्ष हो, उदय हो या कुछ हो। यहाँ यह निर्णय कर लेना आवश्यक है कि 'जुद्ध आत्मतत्त्व' अथवा समयसार अभेद 'जुद्ध चैतन्य स्वभाव' है। वह अनादि से अनन्त काल तक एकस्वरूप है। यही वह सहज सिद्ध भाव है जिसका अवलंबन मोक्ष मार्ग है। यह तो बंध मीक्ष पर्याय से परे है। इस परम पारिमाणिक भाव स्वरूप समयसार का ध्यान, भावना, दृष्टि, आश्रय और अवलंबन मोक्षमार्ग है। जीवमें यह अनादिसिद्ध भाव है, किन्तु इसकी दृष्टि बिना प्रकृतिस्वभाव (रागादिभाव) में स्थित होकर विपरीताशय होकर यह अज्ञानी जीव कर्मका कर्ता व कर्मफल का भोक्ता होता है। जब प्रकृति—स्वभावमें व आत्मा में भेदज्ञान करता है तब अकर्ता अभोक्ता हो जाता है।

स्याद्वाद

अब समस्या एक सुलझने को आ जाती है कि राग—द्वेषादिभावों का कर्ता कौन है? पुद्गलकर्म तो कर्ता नहीं है क्योंकि पुद्गलकर्म परद्रव्य है। परद्रव्य अन्य—परके गुण पर्यायका न कर्ता है और न अधिकारी है। आत्मा भी राग—द्वेषादिका कर्ता नहीं; क्योंकि यदि आत्मा राग—द्वेषादि करे, तो आत्मा तो नित्य है फिर तो आत्मा रागादिका नित्यकर्ता हो जायगा। अतश्च मोक्ष का अभाव हो जायगा। रागादि के विषयभूत पदार्थ भी रागादिके कर्ता नहीं इस प्रकार रागादि का कर्ता न तो आत्मा ही है और न कर्म ही है और न विषय है। फिर भी रागादि परिणमन तो होता है। इस समस्या को सुलझाने के अनेकों ने अनेक प्रयत्न किये हैं, किन्तु एक सन्धि नियत किए बिना यह समस्या नहीं सुलझती। वह सन्धि है निमित्त—नैमित्तिक भाव। अनित्य कर्मोदय को निमित्त पाकर अनित्य रागादि होते हैं अनित्य रागादिक का निमित्त पाकर अनित्य कर्मबन्ध होता है। फिर बद्ध अनित्य कर्मोदय का निमित्त पाकर अनित्य रागादि होते हैं। यह परम्परा चलती रहती है, जबतक कि प्रखर भेद—विज्ञान न हो जाय। यहाँ बन्ध में निमित्त आत्म—विभाव है। उपादान कारण कार्माणवर्गणा है तथा

रागादि में निमित्त कर्मोदय है व उपादान—अध्यवसित आत्मा है। निमित्त—नैमित्तिक भावकी इस सन्धि का होना भी अज्ञान की महिमा है और आत्मा का कर्ता भोक्ता बनना भी अज्ञानकी महिमा है।

इस प्रकरण से ऐसा नहीं समझना चाहिए है कि आत्मा भिन्न वस्तु है और वृत्तियाँ सर्वथा भिन्न वस्तुत्व है। क्योंकि ऐसा समझने से दो प्रकार की पृथक्—पृथक् विचारधाराएँ बहने लगती है। (1) आत्मा सर्वथा अविकार है। विकार तो किसी अन्यसे है उसे कोई जीव कहते हैं, कोई मन कहते हैं अथवा विकार को प्रकृति का कार्य कहते हैं। (2) आत्मा कोई एक है ही नहीं, ये वृत्तियाँ ही आत्मा है सो करने वाला और है और भोगने वाला और है। इनपर विचार करना आवश्यक है। जीवका मन चेतन है या अचेतन? यदि चेतन है तो यही तो आत्मस्वरूप है, फिर तो आत्मा के नामान्तर ही हुए यदि अचेतन है तो जानने, देखने और विचारने वाले पदार्थ को घबड़ाने अथवा कल्याण की क्या जरूरत? प्रकृति नाम कर्मका है। रागादि विकार यदि प्रकृति का कार्य है, तो “कारण—सदृष्ट कार्य”। इस न्याय से ये सब विकार अचेतन ही होना चाहिये। विकार में बुद्धि विचार सभी आ गये। यदि आत्मा प्रकृति में विकार करता है तो प्रकृति चेतन हो जायेगी। यदि आत्मा व प्रकृति दोनों मिलकर विकार करते हैं, तो उसका फल दोनों को भोगना चाहिए। यदि कहा जाय कि प्रकृति ही सर्व विकार करती है, तो आत्मा की परिणति बताओ क्या होगी? परिणति बिना तो आत्मा का अभाव हो जायगा और फिर प्रकृति ही कर्ता, प्रकृति ही भोक्ता, प्रकृति ही बद्ध व प्रकृति ही मुक्त हुई, तब समझदार व्यक्तियों को घबड़ाने व कल्याण की क्या आवश्यकता? इन सबका समाधान है पूर्वोक्त नैमित्तिक भावकी सन्धि।

एक दृष्टि से देखा जाय तो चैतन्यभावसे अतिरिक्त जितने भाव हैं, वे परभाव कहे गये हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, सुख—दुःख, विचार, कल्पना, संकल्प आदि सब औपाधिक भाव हैं। इनमें विचार बुद्धि जैसे भाव तो प्रकृति के क्षयोपषम से है। क्रोधादि—भाव प्रकृति के उदयसे है। तब ये सभी भाव अचेतन हैं। चेतन तो एक ‘जुद्ध चैतन्य है। अथवा जो भाव ‘जुद्धचैतन्य को चेतता है वह है। नयदृष्टियों से सभी चर्चाओं का विषुद्ध समाधान करना चाहिये। विवक्षावष प्रकृति कर्त्री है, आत्मा भोक्ता है, यह भी सिद्ध हो जाता है, निमित्त—नैमित्तिकभाव का इसमें उल्लंघन नहीं होता। दूसरी चर्चा यह है कि यदि वृत्तियाँ ही आत्मा हैं और वे अनेक हैं तो असत् का उत्पाद हो जायेगा, किन्तु सर्वथा असत् का उत्पाद होता ही नहीं। अतः आत्मा सब पर्यायों में वही है और उसकी पर्यायें भिन्न—भिन्न समयों ने भिन्न—भिन्न हैं। तब पर्याय—दृष्टि से जानो, करने वाला और पर्याय है भोगने वाला और पर्याय है। जैसे मनुष्यने पुण्य किया, देवने भोगा, परन्तु द्रव्यदृष्टि से देखो तो जिस आत्मा ने किया उसी आत्मा ने भोगा। यह ध्यान रखने की एक बात और है कि आत्मा व जीव एकार्थ—वाचक नाम है। वे भिन्न—भिन्न द्रव्य नहीं—केवल रूढ़िवष व ‘ब्द—विषेषता से कहीं—कहीं यह प्रसिद्धि हो गई कि आत्मा अविकारी है जीव विकारी है, हाँ यदि आदि से अन्त तक सिलसिले में बोला जाय तो यह कहना चाहिये कि चेतनद्रव्य जब मिथ्यात्व—विकार से मुक्त होकर स्वरूप दृष्टि कर लेता है, तो वह आत्मा कहलाता है। यदि मिथ्यात्व विकार में स्थिर रहता है तो वह जीव कहलाता है। निमित्त—नैमित्तिक भाव वाले पदार्थों में इतनी बात सुदृढ़ता से जानते रहना चाहिए कि जैसे जीवमें व कर्ममें निमित्त नैमित्तिकता तो है किन्तु कोई किसी दूसरे में तन्मय नहीं हो जाता। इसी कारण जीव प्रकृतिबन्ध का कर्ता है, प्रकृति जीवविकार का कर्ता है, जीव प्रकृतिफलको भोगता है, ये सब बातें व्यवहारनय से मानी जाती है। इसके लिये दो मुख्य दृष्टान्त है—(1) जैसे व्यवहारनय से कहा जाता है:—कि सुनार सुवर्ण का आभूषण बनाता है व आभूषणका फल (मूल्य वैभव)

भोगता है, वस्तुतः सुनार अपनी चेष्टा ही करता है व विकल्प ही भोगता है। उसकी चेष्टा का निमित्त पाकर सुवर्ण की परिणति सुवर्ण ही करता है। (2) व्यवहार नयसे कहा जाता है कि खड़िया ने भीत (दीवार) सफेद कर दी, खड़ियाने तो खड़िया को ही सफेद किया। हाँ, यह बात जरूर है कि दीवाल का निमित्त पाकर खड़िया ऐसे विस्ताररूपमें अपना परिणमन बना रही है। इस तरह से तो यहाँ तक निर्णय कर लो; कि आत्मा निष्चय से अपने को ही जानता है, देखता है। परका जानना देखना कहना भी व्यवहारनयसे है। व्यवहारनयसे, तो कर्ता व कर्म भिन्न-भिन्न मान लिये जाते हैं। किन्तु निष्चय से कर्ता, कर्म एक वस्तु होता है और परम 'जुद्ध निष्चयनय में कर्म-कर्ता का भेद ही नहीं।

एक द्रव्य का दूसरे द्रव्यमें परिणमन नहीं होता। अन्यथा द्रव्यसीमा ही नष्ट हो जायगी। अब आत्मा जो दूसरे द्रव्य की ओर आकर्षित होता है, व रागी-द्वेषी होता है वह अज्ञान की प्रेरणा है। यह रागद्वेष तब तक रहता है, जब तक ज्ञान ज्ञानरूपसे न रहे, किन्तु ज्ञेयार्थपरिणमन करता रहे। कोई भी ज्ञेय आत्मा को प्रेरित नहीं करते कि तुम हमको जानो, देखो, स्वादो, छुओ, सुनो, सूँघो और आत्मा भी स्वप्रदेष से च्युत होकर उनमें प्रवेश कर जानना आदि का कार्य नहीं करता, किन्तु ज्ञान अपने परिणमन से जानता है। बाह्य पदार्थ का आत्मा में सम्बन्ध नहीं फिर भी आत्मा में विकार आवे ती वह अज्ञान की महिमा है।

इन सब आपत्तियों बचने का उपाय प्रज्ञा है। प्रज्ञाबल से अनुभव करें कि मैं कर्मविपाक, रागादि समस्त अज्ञान भावों से परे हूँ, 'जुद्ध ज्ञानमात्र हूँ। इस अनुभव के बलसे चूँकि 'जुद्धज्ञानकी संचेतना हो रही है। अतः पूर्वबद्ध कर्म निष्फल हो जाता है, आगामी कर्मबन्ध रुक जाता है और वर्तमान कर्मविपाक भी बिना वेदे निकल जाता है। ज्ञानी जीवके अज्ञानचेतना नहीं है, वह ज्ञानक्रियासे अतिरिक्त अन्यको मैं करता हूँ ऐसी सचेतना रूप कर्म-चेतना नहीं करता। और ज्ञानक्रिया से अतिरिक्त अन्य भावों को मैं भोगता हूँ ऐसी संचेतनारूप कर्मफल-चेतना भी नहीं करता।

ज्ञानचेतना ही मोक्षका कारण है। ज्ञान के 'रीर नहीं है इसलिये 'रीर की प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप कुछ भी भूषा मोक्ष का कारण नहीं हैं। हाँ यह बात अवष्य है कि ज्ञानचेतना के उपयोग वाले जीव को इतनी प्रबल ज्ञानाराधना की रुचि होती है, कि रागभाव गये, अब बाह्य में परिग्रह को कौन संभाले। सो देह का निर्ग्रन्थ निष्परिग्रह वेष हो जाता है। फिर भी ज्ञानचेतना ही मोक्ष का कारण है, क्योंकि वह आत्माश्रित है। देहलिंग मोक्ष का कारण नहीं, क्योंकि वह पराश्रित है। इसलिये निष्परिग्रह निर्ग्रन्थस्वरूप द्रव्यलिंग से गुजर कर भी देहलिंग ममता से दूर रहकर एक समयसार का ही अनुभव करना चाहिए। जो समयसार में स्थित होता है वही सहज उत्तम आनन्द को प्राप्त करता है।

स्याद्वाद (परिशिष्ट) अधिकार

यह अधिकार पूज्य श्री अमृतचन्द्र जी सूरि व पूज्य श्री जयसेनाचार्यने स्वतन्त्र रचना द्वारा प्रकट किया है। चूँकि वस्तु की सिद्धि स्याद्वाद से होती है, अतः ज्ञानमात्र दृष्टि से देखे गये ज्ञानमात्र आत्मा को स्याद्वाद से प्रसिद्ध करके उसका उपयोग करना चाहिये। प्रत्येक द्रव्य परिणमनशील होने के कारण प्रतिक्षण परिणमता ही रहता है। सो यह ज्ञानमात्र आत्मद्रव्य भी प्रति समय परिणमता रहता है। अब इस ही प्रसंग में ज्ञानमात्र आत्मा दो दृष्टियों से देखा जा रहा है—(1) ज्ञानषक्ति द्वार से निष्चयनय द्वारा, (2) ज्ञानपरिणमन (ज्ञेयाकार) द्वारसे व्यवहारनय द्वारा। पदार्थ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावात्मक होता है। इस कारण सत्त्व का विचार द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव इन चार दृष्टियों से भी होता है। इस प्रकार दो मौलिक संकेतों के बाद अब ज्ञानमात्र आत्मा को जिन धर्मों के द्वारसे प्रसिद्ध करना है उन्हें

कहते हैं—(1) आत्मा तद्रूप है, (2) आत्मा अतद्रूप है, (3) आत्मा एक है, (4) आत्मा अनेक है, (5) आत्मा द्रव्यतः सत् है, (6) आत्मा द्रव्यतः असत् है, (7) आत्मा क्षेत्रतः सत् है, (8) आत्मा क्षेत्रतः असत् है, (9) आत्मा कालतः सत् है, (10) आत्मा कालतः असत् है, (11) आत्मा भावतः सत् है, (12) आत्मा भावतः असत् है, (13) आत्मा नित्य है, (14) आत्मा अनित्य है, (15) आत्मा अभेदात्मक है, (16) आत्मा भेदात्मक है।

(1-2) आत्मा ज्ञानषक्ति से तद्रूप है व ज्ञेयाकार परिणमन से अतद्रूप है, क्योंकि ज्ञेयाकार परिणमन व्यतिरेकी परिणमन है, अथवा ज्ञानमात्र आत्मा स्ववस्तुरूपसे तद्रूप है व परवस्तुरूपसे अतद्रूप है। मैं ज्ञायकता से भी 'नून्य हूं, ऐसा अथवा सर्व वस्तुओं से भी तद्रूप हूं ऐसा नहीं मानना।

(3-4) ज्ञानमात्र आत्मा अखण्ड एक ज्ञानस्वभाव की अपेक्षा एक है, वह ज्ञेयाकार पर्यायों की अपेक्षा अनेक है, ज्ञेयाकार मुझमें नहीं है ऐसा यह ज्ञेयाकार मात्र हूं, ऐसा नहीं मानना।

(5-6) ज्ञानमात्र आत्मा ज्ञाता द्रव्यकी अपेक्षासे सत् है व गुण-पर्याय-रूप द्रव्यविभाग की अपेक्षा असत् है अथवा ज्ञाता द्रव्यकी अपेक्षा सत् है, वह ज्ञायमान परद्रव्य की अपेक्षा असत् है। ज्ञाता द्रव्य ही परद्रव्यरूप है व परद्रव्य सब ही मैं ज्ञाता द्रव्य हूं ऐसा नहीं मानना।

(7-8) ज्ञानमात्र आत्मा ज्ञानाकारक्षेत्रसे सत् है वह ज्ञेयाकारक्षेत्रसे असत् है, अथवा स्वक्षेत्र से सत् है व ज्ञेयभूत परवस्तु के क्षेत्रसे असत् है। परक्षेत्रगत ज्ञेयार्थपरिणमन से ही मैं हूं, ऐसा व ज्ञेयाकार का मुझ में सर्वथा त्याग है ऐसा नहीं मानना।

(9-10) ज्ञानमात्र आत्मा काल-पर्यायसामान्यसे सत् है व काल-विषेय से असत् है, अथवा स्वपर्यायसे सत् है, व परपर्याय से असत् है पदार्थों के आलम्बनकाल में ही सत् है व आलंबित अर्थ के विनाषकाल में विनाष है, ऐसा नहीं मानना।

(11-12) ज्ञानमात्र आत्मा ज्ञायकभावसे सत् है, ज्ञेयभाव से असत् है अथवा अपने गुणसे सत् है परके गुणसे असत् है। सब ही (स्व पर) भाव में मैं हूं, या मैं ही सब भाव हूं, ऐसा नहीं मानना।

(13-14) ज्ञानमात्र आत्मा ज्ञानषक्ति की अपेक्षा नित्य है, ज्ञेयाकार विषेय पर्याय की अपेक्षा अनित्य है। ज्ञानमात्र आत्मा को सर्वथा नित्य या अनित्य नहीं मानना।

(15-16) ज्ञानमात्र आत्मा द्रव्यदृष्टि से अभेदात्मक है, व्यवहारदृष्टि से भेदात्मक है।

अनेकान्तस्वरूप होकर भी आत्मा की ज्ञानमात्र प्रसिद्धि क्यों की? लक्ष्यभूत आत्मा की सुगमतया प्रसिद्धि के लिये अथवा ज्ञानमात्र एक भावमें ही गर्भित अनन्त 'क्तियों का विकास प्रकट होनेसे ज्ञानमात्रपने की मुख्यता से आत्मा लक्ष्य हो जाता है; इसलिये ज्ञानमात्र आत्मा की प्रसिद्धि की। ज्ञानमात्र होकर भी अनेकान्तरूप क्यों बताया? विषद जानने के लिये, अथवा भेदरत्नत्रय व अभेदरत्नत्रयके उपदेश के लिये, अथवा उपाय-उपेयभावका चिन्तवन करने के लिए ज्ञानमात्र आत्मा को अनेकान्तरूप प्रगट किया।

इस प्रकार निज 'ुद्ध आत्मतत्त्वस्वरूप समयसार की प्रतीति करके उसमें ही अनुष्ठान करना चाहिये। एतदर्थ परमार्थदृष्टि रखकर भावना करना चाहिए—मैं सहज 'ुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाव हूं, निर्विकल्प हूं, अखंड हूं, निरंजन हूं, सहजानन्दस्वरूप स्वसंवेदन से गम्य हूं, राग-द्वेष-विषय-कषायादि से रहित हूं।

समयसार के परिज्ञान का प्रयोजन

समयसार निरपेक्ष आत्मा—स्वभाव है। इसका अपरनाम सहजसिद्ध परमात्मा है। इस अविकार स्वरूपकी दृष्टि होने पर परिणमन में भी अविकारता प्रगट होती है। अविकारता ही सत्य आनन्द की अमोघ जननी है। समस्त दार्शनिकों के प्रयोजन की सिद्धि इस समयसार के परिचय में हो जाती है। समयसार अर्थात् 'बुद्ध आत्मतत्त्व अविकार है, नित्य है, भेददृष्टि से परे होने के कारण एक है। आत्म—गुणों में व्यापक होने से आत्म—गुणों से बढ़ने के कारण ब्रह्म है। ऐसा स्वभाव होते हुए भी चूँकि प्रत्येक द्रव्य परिणमनशील है सो आत्मा भी परिणमनशील है। अतः इस आत्मा की पर्यायें होती हैं। वे पर्यायें अनित्य है। अतः मायारूप कही जाती हैं। इसतरह ब्रह्म और माया की सन्धि है। अविकार होते हुए भी यह माया का आधार है। यह रहस्य जिन्हें प्रकट हो गया वे विवेकी हैं और फिर माया की दृष्टि न रख कर जो एक परम ब्रह्म की दृष्टि रखते हैं वे परमविवेकी हैं। समयसार के परिज्ञान का प्रयोजन निर्विकल्प समाधि की सिद्धि है जिसके बल से समस्त कर्म—कलंकों से मुक्ति, पूर्ण ज्ञान की सिद्धि व अनन्त आनन्द की निष्पत्ति होती है।

समयसार में दार्शनिक संतोश

प्रत्येक आत्मा में समयसार तत्त्व है। इसे परम ब्रह्म परमेश्वर कहते हैं। इसकी पर्यायों का मूल आधार यह ही है। इस प्रकार प्रत्येक आत्माओं की सृष्टि का कारण उन्हीं में विराजमान परम ब्रह्म परमेश्वर है। 'बुद्धनय की दृष्टि में अनेकता नहीं है। अतः इस पद्धति में यह अभिप्राय सुयुक्तियुक्त है कि जिस परमब्रह्म परमेश्वर ने अपनी सृष्टि की है, उस परम पिता की उपासना से ही दुखों की मुक्ति हो सकती है। समयसार की उपासना के बिना दुःखों से मुक्ति नहीं हो सकती।

स्वभक्ति: अविकार होकर भी प्रकृतिजन्य विभावों में एकत्व का अभ्यास होने से नाना भवों के अवतार रूपों में यह समयसार पुरुष प्रगट हुआ है। प्रकृति (कर्म व औपाधिक भाव) व पुरुष का जब तक भेदज्ञान नहीं होता तब तक क्लेश व जन्म—परम्परा चलती ही रहती है। अतः यह बात सुयुक्त है कि प्रकृति व पुरुष का भेदविज्ञान कर लेने से ही क्लेश एवं जन्म—परम्परा से मुक्ति हो सकती है।

समयसारस्वरूप आत्मद्रव्य नित्य होने पर भी इसकी परिणतियाँ प्रतिक्षण होती ही रहती है। आत्मा का मुख्य लक्षण ज्ञान है। ज्ञानस्वभावकी भी परिणतियाँ प्रतिक्षण होती रहती हैं। हम लोगों की ज्ञानपरिणतियों का नाम चित्तवृत्ति है। ये चित्तवृत्तियाँ क्षणिक हैं। ये आत्मस्वरूप नहीं हैं। आत्मद्रव्य की क्षणिक परिणतियाँ हैं। उन्हें ही जो आत्मद्रव्य समझते हैं वे इष्ट अनिष्ट कल्पना द्वारा रागी—द्वेषी होकर दुखी होते हैं। जो चित्तवृत्तियों को गौण कर इस अधिकार समयसार (बुद्ध आत्मतत्त्व) को अनुभवते हैं, वे दुःखों से मोक्ष (निर्वाण) प्राप्त करते हैं। अतः यह बात सुयुक्त है कि क्षणिक चित्तवृत्तियों में आत्मा का भ्रम समाप्त कर देने से ही निर्वाण प्राप्त हो सकता है।

परम—बुद्ध—निष्चय से देखा गया समयसार तत्त्व 'गणित अविकार है। इस तत्त्व की विकारीरूपमें उपलब्धि करने की जब तक प्रकृति रहती है तब तक वह जीव दुखी है। जब निरपेक्ष निज चैतन्य स्वभाव की द्रव्यबुद्धि में उपलब्धि कर विकारभ्रम को समाप्त कर देता है तब आत्मा 'गति का अनुभव करता है। अतः यह निष्चित है कि विकारों से सम्बन्ध न होने से जीव 'गति प्राप्त कर सकता है।

समयसार की उपलब्धि न होने के कारण जीव का उपयोग विरुद्ध कर्मों (दुष्कर्मों) में भ्रमण करता रहता है। और इन्हीं दुष्कर्मों से ही जीव सांसारिक यातनाएँ सहता है। उनसे मुक्ति पाने का उपाय समयसार की दृष्टि है और यही निष्चयतः सत्कर्म है। तथा जबतक

जीव समयसार की निष्चल अनुभूति में नहीं रह पाता, तब तक इस अषान्ति का उपयोग दुष्कर्म न उठा लें; इसलिये दुष्कर्म से बचने के अभिप्राय से व्यावहारिक सत्कर्म की प्रवृत्ति होती है। अतः यह बात सुयुक्त है कि सांसारिक यातनाओं के कारणभूत दुष्कर्मा से मुक्ति पाना सत्कर्म से ही सम्भव है।

निर्विकल्प समयसार का परिचय जब तक जीव को नहीं है, वह विविध विकल्पों में ही उपयुक्त रहकर संसार का परिभ्रमण करता रहता है। विकल्पों से होने वाली भटकन की निवृत्ति निर्विकल्प ज्ञानपरिणमन से ही सम्भव है। अतः यह बात भी सुयुक्त है कि संसार-परिभ्रमण की निवृत्ति निर्विकल्प समाधि से ही हो सकती है। निर्विकल्प समाधि समयसार के आलम्बन में होती है।

इस प्रकार अनेकों दार्शनिक इस समयसार में ही सन्तोष पाते हैं। उनके उद्देश्य की पूर्णता भी इसी समयसार में होती है। हे आत्मन्! ऐसा अद्भुत विलक्षण, अलौकिक सारभूत परमब्रह्मस्वरूप समयसार हस्तगत हुआ है, हाथ आया है तो इसकी अनवरत दृष्टि रखकर निर्दोष होते हुए तुम सहज आनन्द का अनुभव करो।

ओ३म् 'जुद्धं चिदस्मि! 'षुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम्।'

समयसार की महिमा अपूर्व है। इसका वर्णन तो किया ही नहीं जा सकता। इसके 'जुद्ध अनुभवमें ही महिमाकी अनुभूति होती है। जिनका परिणमन समयसार के पूर्ण अविरुद्ध हो गया है अर्थात् समस्त आत्म-गुणों का पूर्ण 'जुद्ध विकास हो गया है, ऐसे देवाधिदेव परमात्मा को और जो आत्म-गुणों के 'जुद्ध विकास में चल रहे हैं ऐसे गुरुओं को नमस्कार करता हूँ, अर्थात् सर्वपरमेष्ठियों को नमस्कार करता हूँ, जिनके स्वरूपचिन्तन व परम्पराप्राप्त उपकारों से मैं धर्ममार्ग में उपकृत हुआ हूँ।

समयसार ग्रन्थ के मूल रचयिता पूज्य श्रीमत् कुन्दकुन्दाचार्य को नमस्कार करता हूँ। समयसार गाथाओं के हार्द को आत्मख्याति टीकाद्वारा व्यक्त करने वाले पूज्य श्रीमदमृतचन्द्रसूरि को नमस्कार करता हूँ। समयसार गाथाओं के 'ब्दानुसार भाव एवं तात्पर्य को तात्पर्यवृत्ति द्वारा व्यक्त करने वाले पूज्य श्रीमजयसेनाचार्य को नमस्कार करता हूँ जिनकी रचनाओं के आधार पर 'गान्ति मार्ग-प्रत्यय हुआ। अतः गृहवास छोड़कर व्रत-प्रतिमा ग्रहण करने के अनन्तर ही सन् 1943 में आत्म-षान्ति के मार्गपर चलने का अधिक भाव हुआ। उस समय समयसार के मनन करने का परिणाम हुआ। उन 'गीत ऋतुओं के दिनों में त्रिलोकसार व कर्मकाण्ड के विषेष ज्ञान-अनुसंधान में लग रहा था। अतः समयसार के मनन का समय 4 बजे प्रातः से लेकर 6 बजे तक का था। समयसार ग्रन्थ के देखने का यह पहिला ही अवसर था। आत्म-ख्याति टीका के आधार पर मनन 'गुरु किया। उसमें जो बीच-बीच में कहीं कठिनाइयाँ आती थीं, उनका हल श्री पं० जयचन्द जी छावड़ा कृत हिन्दी टीका से हो जाया करता था। इस प्रकार यह हिन्दी टीका भी मुझे बहुत ही सहायक रही। एतदर्थ मैं श्री पं० जयचन्द जी छावड़ा का भी विषेष आभार मानता हूँ।

पूज्य श्री 105 क्षु० गणेषप्रसाद जी वर्णी न्यायाचार्य का तो मैं अत्यन्त आभारी हूँ जिनके तत्त्वावधान में बाल्यकाल से ही न्यायतीर्थ परीक्षापर्यन्त मेरा अध्ययन रहा और न्याय विषयको स्वयं आपने पढ़ाया। अध्ययन के अतिरिक्त आत्म-विकासमार्गमें चलने के लिये आपसे ही दीक्षा प्राप्त हुई।

ओ३म् 'गान्तिः

ओ३म् 'गान्तिः

ओ३म् 'गान्तिः

मनोहर वर्णी

(सहजानन्द)

सन् 1958 में स्वलिखित समयसार महिमा से

नयचक्र—प्रकाश

पाठ 1—नयज्ञान की आवश्यकता

वस्तु का ज्ञान प्रमाण और नयों से होता है। वस्तु उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है। ध्रौव्य न हो तो उत्पाद व्यय नहीं हो सकता, उत्पाद व्यय न हो तो ध्रौव्य नहीं हो सकता। ध्रौव्य से वस्तु के द्रव्यपने का बोध होता है। उत्पाद व्यय से वस्तु के पर्यायपने का बोध होता है। वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है। वस्तु का द्रव्यदृष्टि से भी ज्ञान हो, पर्यायदृष्टि से भी ज्ञान हो तो उसका पूर्ण ज्ञान होता है। एक दृष्टि से ज्ञान करने को नय कहते हैं। दोनों दृष्टियों से ज्ञान करने को प्रमाण कहते हैं। प्रयोगतः नयों से वस्तुका ज्ञान होने पर प्रमाण से ज्ञान होता है और प्रमाण से ज्ञान होने पर नयों से ज्ञान होता है। प्रमाण के बिना निरपेक्ष नयों से ज्ञान होना मिथ्या है और प्रमाणपूर्वक नयों से ज्ञान होना सम्यक् है क्योंकि, प्रमाणसे ग्रहण किये गये पदार्थों का अभिप्रायवष एकदेष ग्रहण करनेवाले ज्ञानको नय कहते हैं।

वस्तु 'गाष्यत निरन्तर द्रव्यपर्यायात्मक है। पर्याय के बिना द्रव्य नहीं रह सकता सो पर्यायें प्रतिक्षण होती रहती हैं। द्रव्य के बिना पर्यायें किसमें हों सो अन्वय बिना पर्यायें हो ही नहीं सकती। इस प्रकार जब वस्तु सदा द्रव्य पर्यायात्मक है तो द्रव्यदृष्टि से व पर्यायदृष्टि से वस्तुका ज्ञान करना आवश्यक है। नयों के विस्तार में जितने भी नय हैं वे सब इन्हीं दोनों दृष्टियों के भेद प्रभेद हैं। निष्कर्ष यह है कि वस्तु का परिचय पाने के लिये नयज्ञान की महती आवश्यकता है। भले ही नय व प्रमाण के विकल्प से अतिक्रान्त होकर ही आत्मानुभव होता है, किन्तु इस अतिक्रमण की योग्यता वस्तुका परिचय किये बिना नहीं पाई जा सकती है।

पाठ 2—नयों के संक्षिप्त प्रकार

वस्तु द्रव्य पर्यायात्मक है। उसको जानने के लिये नयके मूल दो प्रकार आते हैं 1—द्रव्यार्थिक नय, 2—पर्यायार्थिक नय। द्रव्य ही जिसका प्रयोजन हो उस नयको द्रव्यार्थिक नय कहते हैं व पर्याय ही जिसका प्रयोजन हो उस नयको पर्यायार्थिक नय कहते हैं। द्रव्यार्थिक नयके 3 प्रकार हैं—1. नैगम नय, 2. संग्रह नय, 3. व्यवहार नय। पर्यायार्थिक नय के 4 प्रकार हैं—1. ऋजुसूत्र नय, 2. 'ब्दनय, 3. समभिरूढ नय, 4. एवंभूत नय। इस प्रकार नय 7 हुए। इन सात नयों में 3 विभाग होते हैं—1—ज्ञाननय, 2—अर्थनय व 3—षब्दनय। नैगम नय तो ज्ञाननय है क्योंकि वह संकल्प मात्र को प्रकट करता है, पदार्थ को मुख्यतया नहीं कहता। संग्रह नय, व्यवहार नय व ऋजुसूत्र नय अर्थनय कहलाते हैं, क्योंकि ये पदार्थ की जानकारी कराते हैं। संग्रह नय व व्यवहार नय तो दृव्यदृष्टि की मुख्यता से वस्तु की जानकारी कराते हैं, किन्तु ऋजुसूत्र नय पर्यायदृष्टि की मुख्यता से वस्तुकी जानकारी कराता है। 'ब्दनय, समभिरूढ नय व एवंभूत नय भी कराते तो जानकारी हैं पर्यायदृष्टि से वस्तुकी, लेकिन 'ब्द की मुख्यता से जानकारी कराते हैं। अतः इन तीन अन्तिम नयों को 'ब्दनय कहते हैं। अब सर्वप्रथम इन सात नयों की जानकारी कीजिये।

पाठ 3—द्रव्यार्थिक नैगमनय

संकल्पमात्रग्राही नैगमः। जो संकल्प को ग्रहण करे (जाने) वह नैगमनय है। नैगमनय में अभेद व भेद दोनों विषय पड़े हैं। नैगमनय 3 प्रकार का होता है (1) भूतनैगमनय, (2) भाविनैगमनय, (3) वर्तमाननैगमनय। अतीत में वर्तमान का आरोपण करना भूतनैगमनय है, जैसे कहना कि आज दीपावली के दिन श्री वर्द्धमान स्वामी मोक्ष को गये है। यहाँ जो कुछ

कहा जा रहा है उसमें संकल्प की मुख्यता है। भविष्य के बारे में अतीत की तरह कहना भाविनैगमनय है, जैसे कहना कि अर्हन्त तो सिद्ध ही हो चुके। यहाँ भी संकल्प की प्रधानता है। करने के लिए प्रारम्भ किये गये कुछ निष्पन्न व अनिष्पन्न वस्तु को निष्पन्न की तरह जहाँ कहा जाता है वह वर्तमाननैगमनय है, जैसे कहना कि भात (चावल) पक रहा है।

ये सभी नैगम नय संकल्प में होने वाले ज्ञान हैं। यहाँ द्रव्य पर्याय, भेद अभेद, सत् असत् का समन्वयपूर्वक ज्ञान चल रहा है जो संकल्पमात्र है। अतः नैगमनय ज्ञाननय है। अर्थनय नैगमनय सूक्ष्मविषयरूप है। अर्थनयों में महाविषयरूप संग्रहनय है। संग्रहनय से सूक्ष्मविषयी व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय है, इससे सूक्ष्मविषयी ऋजुसूत्रनयनामक पर्यायार्थिक नय है।

पाठ 4—द्रव्यार्थिक संग्रहनय

संग्रहनय से अनेक वस्तुओं का संग्रह जाना जाता है। प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूपमात्र है। वह अखण्ड सत् है, निष्चयनय द्वारा ज्ञेय है। ऐसे अनन्त सतों का, सर्व सतों का संग्रह किसी साधारण धर्मकी मुख्यता की दृष्टि होने पर ज्ञात हो जाता है। जैसे सत् इस दृष्टि में सर्व सत् पदार्थों का संग्रह ज्ञात हो गया। इस सर्वसंग्रह का ज्ञान करनेवाले ज्ञानको परमसंग्रहनय कहते हैं। इस संग्रह में अनन्त परमार्थों का संग्रह है, यह ज्ञान तो हुआ संग्रहनय से, किन्तु जब तक एक अखण्ड सत् पर दृष्टि नहीं बनती तब तक केवलदृष्टि याने 'जुद्धनय न आ सकने से मोक्षपथ में गति नहीं हो पाती, अतः आवष्यक है कि परमसंग्रह को भेद करके आवान्तरसत् की ओर बढ़ें। इसके लिये आगे कहा जाने वाला व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिक नय प्रयोक्ता होता है। उसमें पहली बार भेद किया तो कुछ विभक्त होने पर भी संग्रह ही बना रहा। ऐसा संग्रह जानने वाले को अपरसंग्रह नय कहते हैं, यहाँ भी परामर्थ सतों का संग्रह ही रहा। ऐसे अनेक बार व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय से विभाग करते जाने पर भी जब तक अखण्ड एक सत् नहीं ज्ञात हो पाता है तब तक अनेकों अपरसंग्रह नय होते जाते हैं। इसका प्रथम प्रकार है—(4) परसंग्रहनयनामक द्रव्यार्थिक नय। द्वितीय प्रकार है (5) अपरसंग्रहनयनामक द्रव्यार्थिकनय। इसमें अभेद द्रव्य, 'जुद्धपर्यायी द्रव्य, अषुद्धपर्यायी द्रव्य का ज्ञानाषय होने से इसके 3 भेद हो जाते हैं, (6) परमषुद्ध अपरसंग्रहनयनामक द्रव्यार्थिक नय (7) 'जुद्ध अपरसंग्रहनयनामक द्रव्यार्थिक नय (8) अषुद्ध अपरसंग्रहनयनामक द्रव्यार्थिक नय।

पाठ 5—द्रव्यार्थिक व्यवहारनय

संग्रहनय से ग्रहण किये गये पदार्थों के संग्रह का भेद करके भेदरूपसे ग्रहण करने वाले ज्ञान को व्यवहारनय कहते हैं। यह व्यवहारनय अनेक अखण्ड सतों के संग्रह में से अखण्डों को अलग-अलग जानने के प्रयत्न में चलता है। सो परसंग्रह का भेद करके कुछ अलग-अलग जातियों में विभक्त कर जानना परसंग्रहभेदक व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय है। फिर उनमें भी भेद करके विभक्त सारूप्य में पदार्थों को जानता जाये तो वे सब अपरसंग्रहभेदक व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय कहलाते हैं। जैसे—पहिले "सत्" परसंग्रह को भेद करके छह जातियों में लाये—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाष व काल द्रव्य, तो यह परसंग्रहभेदक व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय कहलाया। फिर उनमें से मानों "जीव द्रव्य" अपरसंग्रह का भेद किया—जीव दो प्रकार के हैं मुक्त व संसारी, सो यह अपरसंग्रहभेदक व्यवहारनय नामक द्रव्यार्थिकनय हुआ। अब आगे एक-एक विभाग का भेद करते जायें तो वे सब अपरसंग्रहभेदक व्यवहारनय होते जायेंगे। इस प्रकार जब तक एक अखण्ड सत् पर नहीं पहुँचते तब तक अपरसंग्रहभेदक व्यवहारनय प्रयोक्तव्य होते जाते हैं। इसका प्रथम प्रकार है—(9) परसंग्रहभेदक व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय। द्वितीय प्रकार

है—(10) अपरसंग्रह—भेदक व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय। तृतीय प्रकार है—(11) अन्तिम अपरसंग्रहभेदक व्यवहारनय। इनके 3 भेद आषयवष हो जाते हैं। 4—(12) परम 'जुद्ध अपरसंग्रहभेदक व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय, (13) 'जुद्ध अपरसंग्रहभेदक व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय, (14) अषुद्ध अपरसंग्रहभेदक व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय।

पाठ 6—द्रव्यार्थिक अन्तिम व्यवहारनय

अपरसंग्रह का भेद कर—कर जब हम अखण्ड सत् तक पहुंच जाते हैं फिर इसका भेद नहीं किया जाता। अखण्ड एक सत् तक पहुंचाने वाले इस व्यवहारनय को अन्तिम व्यवहारनय नामक द्रव्यार्थिकनय कहते हैं। यही निष्चयनय कहलाता है। निष्चयनय एक अखण्ड सत् को अर्थात् एक द्रव्य को जानता है सो अन्तिमव्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनयने भी अन्तिम अपरसंग्रह को भेद करके एक अखण्ड सत् का बोध कराया। अब इस एक सत् को जानते समय परमषुद्ध, 'जुद्ध अथवा अषुद्ध जिस विधिका मूड होगा उसी विधि में इस सत् का ज्ञान होगा। इसको परमषुद्ध द्रव्यार्थिक, 'जुद्ध द्रव्यार्थिक व अषुद्ध द्रव्यार्थिक कहिये या परम 'जुद्धनिष्चयनय, 'जुद्ध निष्चयनय व अषुद्धनिष्चयनय कहिये।

यह अन्तिम व्यवहारनय अर्थनय है व उसमें भी द्रव्यार्थिकनय है। इस कारण यह व्यवहारनय अध्यात्मशास्त्रों में प्रयुक्त होने वाले निष्चय व्यवहार वाले व्यवहार से भिन्न है। निष्चय व्यवहार में प्रयुक्त व्यवहार कथन करने वाला है और यह व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय अधिगम करने वाला है और वह भी द्रव्यार्थिक दृष्टि से। इस अन्तिम व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय में परिपूर्ण अखण्ड एक सत् अन्य सबसे विभक्त करके बुद्धि में स्थापित किया।

पाठ 7—अन्तिम व्यवहारनय नामक द्रव्यार्थिकनय के प्रकार

अन्तिम व्यवहारनामक द्रव्यार्थिकनयने अन्तिम अपरसंग्रह को विभक्त करके अखण्ड एक सत् का बोध कराया। अब इस अखण्ड एक सत् को गुण, स्वभाव, 'जुद्ध पर्याय, अषुद्धपर्याय, अभेद आदि जिस जिसकी मुख्यता करके जिस—जिस रूपसे जाना जायेगा उतने ही इसके प्रकार बन जावेंगे। जैसे (15) परमषुद्ध अभेदविषयी अन्तिमलक्षित व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय, जैसे चिन्मात्र आत्मा। (16) परमषुद्ध भेदविषयी अन्तिमलक्षित व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय, जैसे—ज्ञान दर्शन आदि गुण वाला आत्मा। (17) 'जुद्ध अभेद विषयी अन्तिमलक्षित व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय, जैसे—जीव केवलज्ञानी है। (18) 'जुद्ध भेदविषयी अन्तिमलक्षित व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय जैसे—मुक्त जीव के अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन आदि। (19) अव्यक्त अषुद्ध अन्तिमलक्षित व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय, जैसे अबुद्धिगत क्रोध आदि वाला जीव (20) व्यक्त अषुद्ध अन्तिमलक्षित व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय, जैसे बुद्धिगत क्रोध आदि वाला जीव।

(21) उपाधिनिरपेक्षषुद्ध द्रव्यार्थिकनय, जैसे—संसारी जीव सिद्धसमान 'जुद्धात्मा है। (22) उत्पादव्ययगौणसत्ताग्राहक 'जुद्ध द्रव्यार्थिकनय, जैसे—द्रव्य नित्य है। (23) भेदकल्पनानिरपेक्ष 'जुद्ध द्रव्यार्थिकनय, जैसे—निजगुण पर्याय स्वभाव से अभिनन द्रव्य है। (24) उपाधिसापेक्ष अषुद्ध द्रव्यार्थिकनय, जैसे—कर्मादय विपाकके सान्निध्य में जीव विकास विकल्परूप परिणमता है। (24A) उपाध्यभावापेक्ष 'जुद्ध द्रव्यार्थिकनय, जैसे—कर्मापाधि के अभाव का निमित्त पाकर आत्मा की 'जुद्ध परिणति होने का ज्ञान (24B) 'जुद्धभावानापेक्ष 'जुद्ध—द्रव्यार्थिकनय, जैसे—आत्मा के 'जुद्धपरिणाम का निमित्त पाकर कर्मत्व का क्षय होने का ज्ञान। (25) उत्पादव्ययसापेक्ष अषुद्ध द्रव्यार्थिकनय, जैसे—द्रव्य उत्पादव्ययव्ययुक्त है।

(26) भेदकल्पनासापेक्ष अषुद्ध द्रव्यार्थिकनय, जैसे आत्मा के ज्ञान है, दर्शन है, चरित्र है आदि। (15-27) अन्वयद्रव्यार्थिकनय, जैसे—गुणपर्यायस्वभावी आत्मा है। (28) स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय, जैसे—आत्मा द्रव्यार्थिकनय स्वचतुष्टय से है। (29) परद्रव्यादिग्राहकद्रव्यार्थिकनय, जैसे—आत्मा परचतुष्टय से नहीं है। (30) परमभावग्राहक जैसे आत्मा ज्ञानस्वरूप है।

इस प्रकार 18 रूपों में निष्चयनय आया, तो भी एकके सामने दूसरों की तुलना होने पर उनमें जो अधिक अभेदवाला निष्चयनय है उसके सामने अन्य निष्चय व्यवहार कहलाते हैं।

पाठ 8—पर्यायार्थिक अर्थनय

पर्यायार्थिकनय 4 हैं—ऋजुसूत्रनय, 'ब्दनय, समभिरूढनय, एवंभूतनय। इनमें से सिर्फ ऋजुसूत्रनय अर्थनय है, 'ष 3 नय 'ब्दनय हैं। जो वर्तमान पर्याय को जाने उसे ऋजुसूत्रनय कहते हैं। यहाँ यह जान लेना अत्यावश्यक है कि पर्याय स्वतंत्र सत् नहीं है याने सत् नहीं है, किन्तु सत् पदार्थ का परिणमन है। सत् के ये लक्षण हैं—(1) उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्, (2) गुणपर्यायवद्द्रव्यम्, (3) अन्य सत्तों से प्रविभक्त (पृथक्) प्रदेशवाला, (4) साधारण व असाधारण गुणवाला, (5) द्रव्यव्यञ्जनपर्याय व गुणव्यञ्जनपर्यायवाला। इन लक्षणों में से एक भी लक्षण पर्याय में नहीं है, अतः पर्याय सत् नहीं है। फिर यह प्रश्न हो सकता है कि जब पर्याय सत् नहीं है, तो उसका ज्ञान कैसे हो, सत् ही तो प्रमेय होता है। उत्तर—पर्याय का ज्ञान नहीं हुआ करता, किन्तु पर्यायमुखेन सत् द्रव्यका ज्ञान हुआ करता है। ऋजुसूत्रनय द्वारा पर्यायमुखेन द्रव्य सत् का ज्ञान होता है। हाँ, पर्याय की मुख्यता दृष्टि में है। जिनके मतमें पर्याय स्वतन्त्र सत् है उनके मतमें पर्याय ही पूरा पदार्थ हो जाता है, फिर उसका अन्वय व उपादान कुछ न रहने से सर्वथा क्षणिकवाद बन जाता है, जो जैनशासन से विपरीत है, जिसका निराकरण प्रमेयकमलमार्तण्ड अष्टसहस्री आदि दार्शनिक ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक है। सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय का विषय एक समय की पर्याय है। यह ज्ञान किसी व्यवहार या प्रयोग बनाने के लिये नहीं, इस ज्ञानमें तो व्यवहार का लोप होता है। यह तो विषयज्ञान कराने मात्र के लिये है। ऐसा स्पष्ट कथन सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रन्थों में आचार्यदेवों ने किया है।

ऋजुसूत्रनय के प्रकार इस प्रकार हैं—(31) अषुद्ध स्थूल ऋजुसूत्रनय नामक पर्यायार्थिकनय, जैसे—नर नारक आदि पर्याय याने विभावद्रव्यव्यञ्जन—पर्यायों का परिचय। (32) 'ुद्ध स्थूल ऋजुसूत्रनय, जैसे चरमषरीर से कुछ न्यून आकारवाला सिद्ध पर्याय याने स्वभावद्रव्यव्यञ्जनपर्यायों का परिचय। (33) अषुद्ध सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय, जैसे—कोध आदि विभावगुणव्यञ्जन पर्यायों का परिचय। (34) 'ुद्ध सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय, जैसे—केवलज्ञान आदि स्वभावगुणव्यञ्जन पर्यायों का परिचय। (35) अनादि नित्य पर्यायार्थिकनय जैसे—मेरु आदि नित्य हैं इत्यादि परिचय। (36) सादि नित्य पर्यायार्थिकनय, जैसे—सिद्ध पर्याय नित्य है। अषुद्ध पर्याय हटकर सदा 'ुद्ध रहने वाले पर्यायों का परिचय। (37) सत्तागौणोत्पादव्ययग्राहक नित्य अषुद्ध पर्यायार्थिकनय, जैसे प्रतिसमय पर्याय विनाषीक है आदि परिचय। (38) सत्तासापेक्ष नित्य अषुद्ध पर्यायार्थिकनय, जैसे—एक समय में हुए त्रयात्मक पर्यायों का परिचय। (39) उपाधिनिरपेक्ष नित्य 'ुद्ध पर्यायार्थिकनय, जैसे—सिद्ध पर्यायसदृश संसारियों की 'ुद्ध पर्यायें। (40) उपाधिसापेक्ष नित्य अषुद्ध पर्यायार्थिकनय, जैसे—संसारी जीवों के उत्पत्ति और मरण है।

पाठ 9—शब्दनय

‘बदनय के 3 प्रकार हैं, (41) ‘बदनय, (42) समभिरुदनय, (43) एवंभूतनय। ऋजुसूत्रनयनामक पर्यायार्थिकनय से जो परिणमन ज्ञात हुआ है उसे उसके प्रायः पर्यायवाची सब ‘बदों में से न कहकर जो ‘बदार्थादिविधि से पूर्ण फिट बैठे उस ‘बद से ही कहना (समझना) ‘बदनय है। जैसे दारा भार्या कलत्र आदि ‘बदों से भिन्न-भिन्न रूपमें वाच्य को ग्रहण करना। ‘बदनय से उस ‘बदके वाच्य अनेक अर्थों में से जिस अर्थमें उस ‘बदकी रुढ़ि है उस अर्थको ही उस ‘बद से ग्रहण करना (समझना) समभिरुदनय है। जैसे-गो ‘बदके वाच्य गाय, किरण, वाणी, आदि अनेक अर्थ हैं, किन्तु गो ‘बद की रुढ़ि गायमें होनेसे गो ‘बद से गायको ही ग्रहण करना (समझना)। समभिरुदनयसे जो अर्थ समझा उसको भी सभी समय में न कहकर (समझ कर) उस ‘बद की वाच्य अर्थक्रिया से परिणत जब वह अर्थ हो तब उस ‘बद से उसे कहना (समझना) एवंभूतनय है जैसे-पूजा करते समय ही उस व्यक्ति को पुजारी कहना आदि।

ये तीनों ‘बदनय ‘बदों द्वारा तर्क वितर्क कर पाण्डित्य दिखाते हैं। अतः इनका विषय समझ लेना पर्याप्त है। कहीं कहीं इनका उपयोग भी होता है वह किसी समस्या का समाधान भी करता है। हां अर्थनयों का परिचय अधिक आवश्यक है और उन अर्थनयों से भी अन्तिम व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय का परिचय और भी अधिक आवश्यक है। क्योंकि सर्वनयों में से आत्मा का परिचय पाकर सविधि परमषुद्धद्रव्यार्थिकनय के विषय को लक्ष्य में लेकर नय प्रमाण से अतिक्रान्त होकर आत्मानुभव होना सुगम होता है।

पाठ 10—निश्चयनय व व्यवहारनय के प्रसंग की जिज्ञासा

अध्यात्मषास्त्र में निष्चयनय, व्यवहार व उपचार का पद पदपर वर्णन मिलता है। सो यहाँ यह जिज्ञासा होना सम्भव है कि तत्त्वार्थसूत्र के प्रणेता पूज्यश्रीमदुमास्वामी ने नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, ‘बद, समभिरुद, एवंभूत ये सात नय कहे हैं। इनमें निष्चयनय का नाम ही नहीं है, अध्यात्मषास्त्र में प्रयुक्त व्यवहार सप्तनय में प्रयुक्त व्यवहारनयसे भिन्न है, उपचार का भी सप्तनय में संकेत नहीं है, फिर अध्यात्मषास्त्र में प्रयुक्त निष्चय व्यवहार उपचार का मतलब क्या है? इसके समाधान का संकेत कुछ छटे पाठ में किया गया है फिर भी और स्पष्टीकरण आवश्यक है।

यदि कोई यह समाधान करने की चेष्टा करे कि नय दो प्रकार के होते हैं एक आगमनय दूसरा अध्यात्मनय, तो यहाँ यह ‘का हो जाती है कि क्या अध्यात्म आगम से अलग विषय है। द्वादषाङ्ग को आगम कहते हैं, क्या इस आगम से बाहरी विषय है अध्यात्म। यदि आगम से पृथक् है अध्यात्म, तो वह प्रमाणभूत कैसे रहेगा। अतः नयों के विषयमें परस्पर भिन्न आगमनय व अध्यात्मनय ये दो प्रकार कहना आगमसम्मत नहीं। सो इस प्रकार निष्चय, व्यवहार व उपचार के प्रसंग की जिज्ञासा का समाधान नहीं हो पाता। भले ही कहीं-कहीं यह उल्लिखित है कि ये अध्यात्मभाषासे नय हैं, किन्तु उसका अर्थ यह है कि हैं तो सभी नय आगम में, किन्तु उन सब नयों से इन कुछ नयों का अध्यात्मग्रन्थों में अधिक प्रयोग होता है। उसी कारण इन्हें अध्यात्मनय कहने लगे हैं, सो यह जिज्ञास खड़ी ही रही कि अध्यात्मषास्त्रों में निष्चय व्यवहार आदि का कहाँ समावेश है।

पाठ 11—निश्चयनय व व्यवहारनय के प्रसंग की जिज्ञासा का समाधान

अध्यात्मषास्त्र में नयादिक 4 प्रकारों में है—1—निष्चयनय, 2—व्यवहारनय, 3—व्यवहार व 4—उपचार। अभेदविधि से जानने वाले नयको निष्चयनय कहते हैं। भेदविधि से जानने वाले नयको व्यवहारनय कहते हैं। निष्चयनय व व्यवहारनय से जाने गये विषय के कथन

को व्यवहार कहते हैं। भिन्न भिन्न द्रव्यों का परस्पर एकका दूसरे को कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्धी व आधार आदि बताने को उपचार कहते हैं। निष्चयनय तो 7 वें पाठमें बताये गये जो 16 प्रकार के अन्तिम व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय हैं उनमें जो जो अभेदविषयक नय हैं उनमें समाविष्ट हैं। और, व्यवहारनय भी उन 16 अन्तिम-व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनयों में से जो जो भेदविषयक नय हैं उनमें समाविष्ट हैं। इनके अतिरिक्त 8 वें पाठ में उल्लिखित पर्यायार्थिक नयों में जो एक व अभेद विषयक नय हैं उनमें कुछ निष्चयनय समाविष्ट हैं और जो अनेक व भेदविषयक नय हैं उनमें व्यवहारनय समाविष्ट हैं। क्योंकि अभेद विधिसे ज्ञाता नयको निष्चयनय कहते हैं और भेदविधि से ज्ञाता नयको व्यवहारनय कहते हैं। सो जैसे द्रव्यार्थिकनय व पर्यायार्थिक नये प्रमाण के अंश होने से सत्य हैं ऐसे ही निष्चयनय व व्यवहारनय प्रमाण के अंश होने से सत्य हैं। द्रव्यार्थिकनय वस्तुको द्रव्य की प्रधानता से जानता है, पर्यायार्थिकनय वस्तु को पर्याय की प्रधानता से जानता है, निष्चयनय वस्तुको अभेदविधि से जानता है, व्यवहारनय वस्तुको भेदविधि से जानता है। यहाँ यह जानना कि भेदविधि से द्रव्य व पर्याय का ज्ञान कराने वाला यह व्यवहारनय व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनयोंमें यथोचित समाविष्ट होने पर भी व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय से भिन्न लक्षणवाला है तथा यह व्यवहारनय व्यवहार और उपचार से तो जुदा है ही।

पाठ 12—व्यवहार व उपचार के प्रसंग की जिज्ञासा का समाधान

द्रव्यार्थिकनय व पर्यायार्थिकनय से, निष्चयनय व व्यवहारनयसे जाने गये विषयका निरूपण करना व्यवहार है। यह व्यवहार व्यवहारनय व व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय इन दोनों के विषय का भी निरूपक है तो भी यह व्यवहार व्यवहारनय से भिन्नलक्षणवाला है तथैव वह व्यवहार व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय से भी भिन्नलक्षणवाला है। उपचार से व्यवहार तो भिन्न है ही, क्योंकि उपचार तो भिन्न-भिन्न द्रव्यों में परस्पर कारकपना या सम्बन्ध बताता है, और व्यवहार भिन्न-भिन्न प्रव्यों में परस्पर कारकपना या सम्बन्ध नहीं बताता, किन्तु एक ही द्रव्यकी व अनेक द्रव्यों की घटना का तथ्य बताता है। इसी कारण उपचार मिथ्या है, परन्तु व्यवहार मिथ्या नहीं। यहाँ दो बातें ज्ञातव्य हैं—1—व्यवहार 'ाब्द का प्रयोग इन 4 स्थलों में आता है, व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय, व्यवहारनय, व्यवहार व उपचार सो वहाँ यह विवेक बनाना चाहिये कि यदि वह व्यवहार उपचारवाला है तो मिथ्या है और यदि द्रव्यार्थिकनयान्तर्गत व्यवहारनयवाला व्यवहार है तो मिथ्या नहीं, इसी तरह जो नयके विषयका प्रतिपादक व्यवहार है वह मिथ्या नहीं। 2—उपचार में भी जिस भाषा में यह बात उपस्थित करता है उसी रूपमें याने उपादान उपादेय रूपमें भिन्न द्रव्यों का परस्पर कारकत्व समझें तो वह समझ मिथ्या है और यदि उपचार कथनमें प्रयोजन और निमित्त को समझने का ही मतलब रखें तो उस विवेकी ने उपचार कथन में से भी प्रयोजन निकाल लिया।

पाठ 13—निश्चयनय के प्रकार

अभेदविधि से एक द्रव्य के बारे में जानकारी होना सो निष्चयनय है (44) यदि वह जानकारी अखण्ड परम स्वभावकी है तो अखण्ड परमषुद्ध निष्चयनय है—जैसे अखण्ड 'ाष्वत सहजचैतन्यस्वभावमात्र आत्मा का परिचय। (45) यदि यह जानकारी गुणकी है तो 'ाक्तिबोधक परमषुद्धनिष्चयनय है, जैसे आत्मा सहज ज्ञान दर्शन 'ाक्ति वीर्य वाला है। (46) यदि वह जानकारी अभेदविधिसे 'ुद्ध पर्याय की है तो वह 'ुद्धनिष्चयनय है। जैसे जीव केवलज्ञानी है आदि 'ुद्धपर्यायमय जीवका परिचय। (46ए) यदि एक द्रव्य में जानकारी अभेद

विधि से 'जुद्ध पर्याय की है तो वह सभेद 'जुद्धनिष्चयनय है जैसे-जीवके केवलज्ञान है, केवलदर्शन है, अनन्त सुख है आदि। (47) यदि एक द्रव्यमें जानकारी अभेद विधि से अपुद्धपर्याय की है तो वह अपुद्धनिष्चयनय है, जैसे जीव रागी है आदि अपुद्ध पर्यायमय द्रव्य का परिचय। (47ए) यदि एकद्रव्य का परिचय भेदविधि से अपुद्धपर्याय की है तो वह सभेद अपुद्धनिष्चयनय है, जैसे जीव के क्रोध है, मान है, माया है आदि भेदसहित अपुद्धपर्यायमय द्रव्य का परिचय। सभेद परम 'जुद्धनिष्चयनय 'ापषत गुणको जानने के लिये निष्चयनय है और गुणभेद करके जानने की दृष्टि से व्यवहारनय है। इसी प्रकार सभेद 'जुद्ध निष्चयनय एक द्रव्य में जानकारी देने से निष्चयनय है और भेदपूर्वक जानकारी देने से व्यवहारनय है। इसी प्रकार सभेद अपुद्ध निष्चयनय एक द्रव्य में जानकारी देने से निष्चयनय है और भेदपूर्वक जानकारी देने से व्यवहारनय है। वस्तुतः अखण्ड परमपुद्ध निष्चय ही निष्चयनय है उसके समक्ष अन्य निष्चयनय व्यवहार है।

निर्गतः चयः यस्मात् स निष्चयः इस व्युत्पत्ति से अर्थ हुआ कि जिसमें अन्य कुछ जोड़ा न जावे और निःषेण चयः निष्चयः इस व्युत्पत्ति से अर्थ हुआ कि जिसमें से कुछ निकाला न जाये उसे परिपूर्ण ही रहने दिया जावे। इस प्रकार निष्चय का अर्थ हुआ कि जहाँ जोड़ और तोड़ न किया जावे वह निष्चयनय है। इस व्युत्पत्त्यर्थ में परमपुद्ध निष्चयनय सदा निष्चयनय है और जिन निष्चयनयों ने गुणको जाना, पर्याय को जाना वे उत्तरोत्तर अन्तदृष्टि होने पर व्यवहार हो जाते हैं।

उक्त चारों निष्चयनयों में पहिले दो तो अन्तिम व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय में अन्तर्गत है। अन्तके दो निष्चयनय आषयवष उक्त द्रव्यार्थिकनय में व पर्यायार्थिकनय में अन्तर्गत हैं। इसका निर्देश अन्तिम पाठमें नयसूची में दिया जायेगा।

पाठ 14—शुद्धनय व विवक्षितकदेश 'जुद्ध निष्चयनय

(48) विवक्षितैकदेश 'जुद्ध निष्चयनय में विवक्षित वस्तुको 'जुद्ध स्वरूपमें ही निखारा जाता है, वस्तुको विकारों से पृथक् निरखा जाता है। जो विकार होते हैं उन्हें चूँकि उपादान ही स्वयं निमित्त होकर नहीं प्रकट करता है, निमित्त के सान्निध्य में ही प्रकट हो पाते हैं, अतः उन विकारों को निमित्तस्वामिक बताकर वस्तुको 'जुद्धस्वरूपमें ही दिखाना इस नयका काम है, जैसे जीवके विकारपरिणमनों को पौद्गलिक जताना व विकारों से पृथक् जीवको निरखना।

व्यवहारनय को गौणकर अर्थात् भेदविधि से जानने का उपयोग न करके निष्चयनय को मुख्य कर माने अभेदविधिसे जानते हुये परमपुद्ध निष्चयनय तक आये वहाँ भी स्वभाव का एकका विकल्प रहा उससे भी अतिक्रान्त होकर स्वानुभवके निकट होते हैं तब संकल्पविकल्प को ध्वस्त करता हुआ 'जुद्धनय उदित होता है और उसके फलमें प्रमाणनयनिक्षेप के विकल्प से अतिक्रान्त होकर स्वयं प्रमाणस्वरूप हो जाता है। यह ज्ञानस्थिति (49) 'जुद्धनय है। 'जुद्धनय के प्रकार नहीं हैं, वह तो स्वयं 'जुद्धनय है। वहाँ जो नयविकल्प से अतिक्रान्त अखण्ड अन्तस्तत्त्व का अभेद दर्शन है। (49ए) वहिस्तत्त्वके निषेध द्वारा 'जुद्ध तत्त्व का परिचय कराना प्रतिषेधक 'जुद्धनय है, जैसे जीव कर्मसे अबद्ध है आदि परिचय।

पाठ 15—व्यवहारनय के प्रकार

भेदविधि से वस्तु के जानने वाले नयको व्यवहारनय कहते हैं। विधिकी दृष्टि से कई द्रव्यार्थिकनय व्यवहारनय हो जाते हैं और कई पर्यायार्थिकनय व्यवहारनय हो जाते हैं। कई

निष्चयनय भी उससे अधिक अन्तर्दृष्टि होने पर उसकी तुलना में व्यवहारनय हो जाते हैं। सब ही प्रकार के व्यवहारनयों के नाम इस प्रकार हैं—

(50) परमषुद्ध भेदविषयी व्यवहारनय अथवा भेदकल्पनासापेक्ष अषुद्ध द्रव्यार्थिकनय, जैसे आत्मा के ज्ञान है दर्शन चारित्र है आदि परिचय। (51) 'ुद्ध भेदविषयी द्रव्यार्थिक या 'ुद्धसूक्ष्म ऋजुसूत्रनय, जैसे आत्मा का केवल ज्ञान, अनन्त आनन्त है आदि का परिचय (52) अषुद्धपर्यायविषयी व्यवहारनय या अषुद्ध सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय, जैसे जीव के क्रोध है, मान है आदि। (53) उपाधिसापेक्ष अषुद्ध द्रव्यार्थिकनय, जैसे कर्मादयविपाक के सान्निध्य में जीव के विकाररूप परिणमने का परिचय। (54) उत्पादव्ययसापेक्ष अषुद्धद्रव्यार्थिक, जैसे द्रव्य उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त है, यों त्रितययुक्त द्रव्य को निरखना (55) अषुद्ध स्थूल ऋजुसूत्रनय, जैसे नर नारक, तिर्यच, देव आदि विभावद्रव्यव्यजजन पर्याय निरखना। (56) 'ुद्ध स्थूल ऋजुसूत्रनय, जैसे चरम 'ारीर से किंचित् न्यून आकार वाला सिद्धपर्याय जानना। (57) अनादि नित्यपर्यायार्थिकनय, जैसे मेरु आदि नित्य है आदि का परिचय (58) सादिनित्यपर्यायार्थिकनय, जैसे सिद्धपर्याय नित्य है आदि परिचय (59) सत्तागौणोत्पादव्ययग्राहक नित्याषुद्धपर्यायार्थिकनय, जैसे प्रतिसमय पर्यायें विनाषीक हैं। (60) सत्तासापेक्ष नित्याषुद्धपर्यायार्थिक नय, जैसे एक समय में त्रयात्मक पर्यायें। (61) उपाधि साक्षपे नित्याषुद्धपर्यायार्थिकनय, जैसे संसारी जीवों के उत्पत्ति मरण है।

इसी प्रकार भेदविधि जहाँ पाई जावे वे सब व्यवहारनय हैं। यहाँ इस संदेह में नहीं डोलना है कि ये ही अनेक नय निष्चयनय में कहे गये हैं और ये ही यहाँ व्यवहारनयमें कहे गये हैं, क्योंकि आषयवष यह सब परिवर्तन हो जाता है। जब अभेद की ओर आषय हो जाता है तो वह निष्चय हो जाता है और जब भेदकी ओर आषय हो जाता है तो वह व्यवहारनय हो जाता है। सभेद प्रयुक्त गुणपर्याय का परिचय एक द्रव्य में अभेद के आषयमें निष्चयनय है, भेदके आषय में व्यवहारनय है। ऐसी गुंजाइषें कई तो द्रव्यार्थिकनयों में हैं और कई पर्यायार्थिकनयों में हैं। इसका निर्देश अन्तिम पाठ नयसूची में हो जायेगा।

आत्महित की साधना में भेदव्यवहारको तज कर अभेद अन्तस्तत्त्व का उपयोगी बनना होता है, अतः साधना के प्रसंग में व्यवहारनय मिथ्या हो जाता है और पश्चात् 'ुद्धनयात्मक ज्ञानानुभूति के प्रसंग में निष्चयनय भी मिथ्या हो जाता है, किन्तु परिचय के प्रसंग में न तो निष्चयनय मिथ्या है और न व्यवहारनय मिथ्या है।

पाठ 16—व्यवहार

द्रव्यार्थिकनय व पर्यायार्थिकनय से तथा उनके अन्तर्गत निष्चयनय व व्यवहारनयसे जाने गये विषय का कथन करना सो व्यवहार है याने तथ्य के कथन का नाम व्यवहार है। इसका दूसरा नाम उपनय है। जितने भी नय हैं उनका कथन किया जाय तो उतने ही व्यवहार हो जाते हैं। अतः उन व्यवहारों के नाम भी वे ही पड़ जाते हैं, उनके अन्तमें निरूपक व्यवहार इतना 'ब्द और जोड़ दिया जाता है। फिर भी कई नाम व्यवहार के ऐसे हैं जिनके 'ब्दों से ही कथन प्रकार के हेतुवों का निर्देश हो जाता है। अतः कुछ व्यवहारों के नाम दिये जाते हैं।

(62) भूतनैगमप्रतिपादक व्यवहार, जैसे—भूतकालीन स्थिति को वर्तमान कालमें जोड़ने के संकल्प का घटना—सम्बन्धित प्रतिपादक। (63) भाविनैगमप्रतिपादक व्यवहार, जैसे—भविष्यत्कालीन स्थिति को वर्तमान में जोड़ने के संकल्प का घटनासम्बन्धित प्रतिपादन। (64) वर्तमाननैगमप्रतिपादक व्यवहार, जैसे वर्तमान निष्पन्न अनिष्पन्नको

निष्पन्नवत् संकल्प का प्रतिपादन। (65) परसंग्रह द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार, जैसे 'सत्' कहकर समस्त जीव पुद्गलादिक सत्तों के संग्रह का प्रतिपादन करना। (66) अपरसंग्रहद्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार, जैसे सत् को भेद कर कहे गये जीव व अजीव में से जीव कहकर समस्त जीवों के संग्रह का प्रतिपादन करना। (66A) परमषुद्ध अपरसंग्रहद्रव्यार्थिकप्रतिपादक व्यवहार, जैसे 'ब्रह्म' कहकर सर्व जीवों में कारण समयसार का प्रतिपादन करना। (66B) 'जुद्ध अपरसंग्रहद्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार, जैसे मुक्त जीव कहकर समस्त कर्ममुक्त सिद्ध भगवन्तों का प्रतिपादन करना। (66C) अषुद्ध अपरसंग्रहद्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार, जैसे संसारी जीव कहकर समस्त संसारी जीवों का प्रतिपादन करना। (67) परमसंग्रहभेदक व्यवहारनय द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार, जैसे सत् 2 प्रकार के हैं जीव अजीव आदि यों परसंग्रह को भेदने का प्रतिपादन। (68) अपरसंग्रहभेदक व्यवहारनय द्रव्यार्थिक व्यवहार, जैसे जीव 2 प्रकार के हैं मुक्त संसारी आदि यों अपरसंग्रह को भेदने का प्रतिपादन। (68A) अन्तिम अपरसंग्रहभेदक व्यवहारनय द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार, जैसे द्वयणुक स्कंध भेद कर एक-एक अणुका प्रतिपादन। (68B) अन्तिम-अखण्डसूचक व्यवहारनय द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार, जैसे एक अणु, एक जीव आदि अखण्ड सत् का प्रतिपादन। (69) अखण्ड परमषुद्ध सद्भूत व्यवहार, जैसे अनाद्यनन्त अहेतुक अखण्ड चैतन्यस्वभावमात्र आत्मा का प्रतिपादन। (69A) गुणगुणिनिच्यक परमषुद्धसद्भूत-व्यवहार, जैसे आत्मा का स्वरूप सहज चैतन्य है आदि प्रतिपादन। (70) सगुण परमषुद्ध सद्भूत व्यवहार, जैसे आत्मा के सहज अनादि अनन्त चतुष्टयका प्रतिपादन। (70A) प्रतिषेधक 'जुद्धनय प्रतिपादक व्यवहार, जैसे जीव पुद्गलकर्म का अकर्ता है आदि कथन। (71) अभेद 'जुद्ध सद्भूत व्यवहार, जैसे 'जुद्ध पर्यायमय आत्मा का प्रतिपादन। (72) सभेद 'जुद्ध सद्भूत व्यवहार, जैसे आत्मा के केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि 'जुद्ध पर्यायवान आत्मा का प्रतिपादन। (73) कारककारकिभेदक सद्भूत व्यवहार, जैसे आत्मा को जानता है आदि एक ही पदार्थ में कर्ता कर्म आदि कारकों का कथन। (74) अनुपचरित अषुद्ध सद्भूत व्यवहार, जैसे श्रेणीगत मुनिके रागादिक विकार का प्रतिपादन (75) उपचरित अषुद्ध सद्भूत व्यवहार, जैसे जीव के व्यक्त क्रोध मान आदि अषुद्ध पर्यायों का प्रतिपादन। (76) उपाधिसापेक्ष अषुद्ध द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार, जैसे पुद्गलकर्मविपाक का निमित्त पाकर हुये विकृत जीव का प्रतिपादन। (77) उपचरित उपाधिसापेक्ष अषुद्ध प्रतिपादक व्यवहार, जैसे विषयभूत पदार्थ में उपयोग देने पर हुये व्यक्त विकार का कथन। (78) उपाधिनिरपेक्ष 'जुद्ध द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार, जैसे संसारी जीव सिद्धसदृष 'जुद्धात्मा है का प्रतिपादन। (79) उत्पादव्ययगौणसत्ताग्राहक 'जुद्ध द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार जैसे ध्रौव्यत्व की मुख्यता से द्रव्यके नित्यत्व का प्रतिपादन। (80) भेदकल्पनानिरपेक्ष 'जुद्ध द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार, जैसे निज गुण पर्याय से अभिन्न द्रव्य है आदि का प्रतिपादन। (81) उत्पादव्ययसापेक्ष अषुद्ध द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार, जैसे प्रत्येक द्रव्य ध्रुव होकर भी उत्पाद व्यय वाला है आदि कथन। (82) भेदकल्पनासापेक्ष अषुद्ध द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार, जैसे आत्मा के ज्ञान, दर्शन, चरित्र आदि गुण हैं आदि कथन। (83) अन्वय द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार, जैसे द्रव्य सदैव अपने गुण पर्यायों में व्यापक रहता है आदि कथन। (84) स्वद्रव्यादिग्राहकद्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार, जैसे जीव स्वद्रव्यक्षेत्रकालभाव से है आदि कथन। (85) परद्रव्यादिग्राहकद्रव्यार्थिकप्रतिपादक व्यवहार, जैसे जीव परद्रव्यक्षेत्रकालभावसे नहीं है आदि कथन। (86) परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकप्रतिपादक व्यवहार, जैसे आत्मा सहज ज्ञायक स्वभाव है आदि कथन। (87) अषुद्ध स्थूल ऋजुसूत्र प्रतिपादक व्यवहार, जैसे नर,

नारक, स्कन्ध आदि अषुद्ध द्रव्यव्यञ्जनपर्यायों का कथन। (88) 'जुद्ध स्थूल ऋजुसूत्रप्रतिपादक व्यवहार, जैसे सिद्ध पर्याय, एक अणु, धर्मास्तिकाय आदि 'जुद्ध द्रव्य व्यञ्जनपर्याय का कथन। (89) अषुद्ध सूक्ष्म ऋजुसूत्र प्रतिपादक व्यवहार, जैसे क्रोध, मान आदि विभाव गुणव्यञ्जनपर्यायों का कथन। (90) 'जुद्ध सूक्ष्म ऋजुसूत्र प्रतिपादक व्यवहार, जैसे केवलज्ञान, केवलदर्शन, आदि स्वभावगुणव्यञ्जन पर्यायों का कथन। (91) अनादिनित्यपर्यायार्थिक प्रतिपादक व्यवहार, जैसे मेरु अकृत्रिम चैत्यालय नित्य है आदि कथन। (92) सादि नित्य पर्यायार्थिक प्रतिपादक व्यवहार, जैसे सिद्ध पर्याय नित्य है आदि 'जुद्ध होकर सदा रहने वाली पर्याय का कथन। (93) सत्तागौणेत्यादव्ययग्राहक अषुद्धपर्यायार्थिक प्रतिपादक व्यवहार, जैसे—समय समय में पर्याय विनष्ट है आदि कथन (94) सत्तासापेक्ष नित्य अषुद्ध पर्यायार्थिक प्रतिपादक व्यवहार, जैसे समय समयमें त्रयात्मक पर्यायें हैं आदि कथन। (95) उपाधिनिरपेक्ष नित्य 'जुद्ध पर्यायार्थिक प्रतिपादक व्यवहार, जैसे संसारियों की सिद्ध पर्यायसदृश 'जुद्ध पर्यायों का कथन। (96) उपाधिसापेक्ष नित्य अषुद्ध पर्यायार्थिक प्रतिपादक व्यवहार, जैसे संसारी जीवों के उत्पत्ति मरण है आदि कथन। (97) स्वजात्यसद्भूत व्यवहार, जैसे परमाणु बहुप्रदेशी है, जीव रागी है आदि कथन। (98) विजात्यसद्भूत व्यवहार, जैसे मतिज्ञान मूर्त है, दृष्यमान मनुष्य, पशु जीव है आदि कथन। (99) स्वजातिविजात्यसद्भूत व्यवहार, जैसे ज्ञेय जीव अजीव में ज्ञान जाता है आदि कथन। (100) 'ब्दनय पर्यायार्थिक प्रतिपादक व्यवहार, जैसे ऋजुसूत्रनय के विषयको लिंगादि व्याभिचार दूर करके योग्य 'ब्दसे कहना। (101) समभिरूढनयपर्यायार्थिक प्रतिपादकव्यवहार, जैसे 'ब्दनयसे निष्चित 'ब्द से वाच्य अनेक पदार्थों में से एक रूढ पदार्थ का कथन करना। (102) एवंभूतनयपर्यायार्थिकनय प्रतिपादकव्यवहार, जैसे समभिरूढनयसे निष्चय पदार्थ को उसी क्रिया से परिणत होने पर ही उस 'ब्द से कहना।

पाठ 17—उपचार

भिन्न—भिन्न द्रव्य गुण पर्यायों में परस्पर एकमें एक दूसरे के द्रव्य गुण पर्यायों का आरोप करना तथा कर्तापन, कर्मपन, करणपन, संप्रदानपन, अपादानपन, संबंध व आधार बताना उपचार है। उपचार जिस भाषा में कथन करता है उसके अनुसार स्वरूप या घटना नहीं है अतः उपचार मिथ्या है, फिर भी उपचार का वर्णन उपदेश में इस कारण चलता है कि उस प्रसंग में जो प्रयोजन है या निमित्त है उसका संक्षेपतः सुगमतया बोध हो जावे। इस कारण उपचार कुछ प्रयोजनवान है। उपचार के प्रकार इस प्रकार हैं—

(103) उपाधिज उपचरित स्वभाव व्यवहार, जैसे जीव के मूर्तत्व व अचेतनत्व का कथन। (104) उपाधिज उपचरित प्रतिफलन व्यवहार, जैसे क्रोध कर्म के विपाक के प्रतिफलन को क्रोध कर्म कहना। (105) स्वाभाविक उपचरित स्वभाव व्यवहार, जैसे प्रभु समस्त पर पदार्थों के ज्ञाता हैं आदि कथन। (106) द्रव्ये द्रव्योपचारक (एकजातिद्रव्ये अन्यजातिद्रव्योपचारक) असद्भूत व्यवहार जैसे 'रीर को जीव कहना। (106A) स्वजातिद्रव्ये स्वजातिद्रव्योपचारक असद्भूत व्यवहार, जैसे 'रीर मिट्टी है आदि कथन। (107) एकजातिपर्याये अन्यजातिपर्यायोपचारक असद्भूत व्यवहार, जैसे अन्न ही प्राण हैं आदि कथन। (108) स्वजातिपर्याये स्वजातिपर्यायोपचारक असद्भूत व्यवहार, जैसे दर्पण में हुये प्रतिबिम्ब को दर्पण कहना। (109) एक जातिगुणे अन्य जातिगुणोपचारक असद्भूत व्यवहार, जैसे मदिरापान से अभूत मतिज्ञान को मूर्त कहना। (110) स्वजातिगुणे स्वजातिगुणोपचारक असद्भूत व्यवहार, जैसे ज्ञान ही श्रद्धान है, ज्ञान ही चारित्र है आदि कथन। (111) एकजातिद्रव्ये अन्यजातिगुणोपचारक असद्भूत व्यवहार, जैसे जीव मूर्तिक है आदि कथन।

(112) स्वजातिद्रव्ये स्वजातिगुणोपचारक असद्भूत व्यवहार, जैसे परमाणु को ही रूप कहना। (113) एकजातिद्रव्ये अन्यजातिपर्यायोपचारक असद्भूत व्यवहार, जैसे जीव भौतिक हैं आदि कथन। (114) स्वजातिद्रव्ये स्वजातिपर्यायोपचारक असद्भूत व्यवहार, जैसे परमाणु बहुप्रदेशी है, आत्मा भी गुण है आदि कथन। (115) एकजातिगुणे अन्यजातिद्रव्योपचारक असद्भूत व्यवहार, जैसे ज्ञान गुण ही सकल द्रव्य है आदि कथन। (116) स्वजातिगुणे स्वजातिद्रव्योपचारक असद्भूत व्यवहार जैसे द्रव्य के रूपको ही द्रव्य कहना, रूप परमाणु आदि। (117) एकजातिगुणे अन्यजातिपर्यायोपचारक असद्भूत व्यवहार, जैसे ज्ञान ही धन है आदि कथन। (118) स्वजातिगुणे स्वजातिपर्यायोपचारक असद्भूत व्यवहार, जैसे ज्ञान पर्याय है आदि कथन। (119) एक जातिपर्याये अन्यजातिद्रव्योपचारक असद्भूत व्यवहार, जैसे 'रीर को ही जीव कहना। (120) स्वजातिपर्याये स्वजातिद्रव्योपचारक असद्भूत व्यवहार, जैसे पृथ्वी आदि पुद्गल स्कन्ध को द्रव्य कह देना। (121) एकजातिपर्याये अन्यजातिगुणोपचारक असद्भूत व्यवहार। जैसे पशु पक्षी आदि के 'रीर को देखकर यह जीव है आदि कथन करना। (122) स्वजातिपर्याये स्वजातिगुणोपचारक असद्भूत व्यवहार, जैसे अहिंसा को गुण व विषिष्ट रूपको देखकर उत्तम रूप वाला कहना। (123) संश्लिष्ट स्वजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार, जैसे यह परमाणु इस स्कन्ध का है आदिकथन। (124) असंश्लिष्ट स्वजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार, जैसे ये पुत्र स्त्री आदि इस जीवके हैं आदि कथन। (125) संश्लिष्ट विजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार, जैसे यह 'रीर इस जीव का है, आदि कथन। (126) असंश्लिष्ट विजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार, जैसे यह धन वैभव मेरा है आदि कथन। (127) संश्लिष्ट स्वजातिविजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार, जैसे यह आभूषणसज्जित कन्या मेरी है आदि कथन। (128) असंश्लिष्ट स्वजातिविजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार, जैसे यह ग्राम नगर मेरा है आदि कथन। (129) परकर्तृत्व अनुपचरित असद्भूत व्यवहार, जैसे पुद्गल कर्म ने जीवको रागी कर दिया आदि कथन। (129ए) परभोक्तृत्व असद्भूत व्यवहार, जैसे जीव पुद्गलकर्म को भोगता है आदि कथन। (129वी) परकर्तृत्व उपचरित असद्भूत व्यवहार, जैसे जीव घट पट आदि का कर्ता है आदि कथन। (130) परकर्मत्व असद्भूत व्यवहार, जैसे जीव के द्वारा ये पुण्य पाप बनाये गये आदि कथन। (131) परकरणत्व असद्भूत व्यवहार, जैसे जीव कषाय भावके द्वारा पौद्गलिक कर्मों को बनाता है आदि कथन। (132) परसंप्रदानत्व असद्भूत व्यवहार, जैसे पिता ने पुत्र के लिये मकान बनाया आदि कथन। (133) परापादनत्व असद्भूत व्यवहार, जैसे जीव से इतने कर्म झड़कर अलग हो गये आदि कथन। (134) पराधिकरणत्व असद्भूत व्यवहार, जैसे जीव में कर्म ठसाठस भरे हुये हैं आदि कथन। (135) परस्वामित्व असद्भूत व्यवहार, जैसे मेरा यह धन वैभव 'रीर आदि है का कथन। (136) स्वजातिकारणे स्वजातिकार्योपचारक व्यवहार, जैसे हिंसा आदिक दुःख ही है, आदि का प्रतिपादन। (137) एकजातिकारणे अन्यजातिकार्योपचारक व्यवहार, जैसे अन्न धन प्राण है आदि कथन। (138) स्वजातिकार्ये स्वजातिकारणोपचारक व्यवहार, जैसे श्रुत ज्ञान भी मतिज्ञान है आदि कथन। (139) एक जातिकार्ये अन्यजातिकारणोपचारक व्यवहार, जैसे घटाकारपरिणत ज्ञान घट है आदि कथन। (140) एकजात्यल्पे अन्यजातिपूर्णोपचारक व्यवहार, जैसे राज घराने में यह नौकर सर्वव्यापक है आदि कथन। (141) स्वजात्यल्पे स्वजातिपूर्णोपचारक व्यवहार, जैसे सम्यक् मतिज्ञान केवल ज्ञान है आदि कथन। (142) एक जात्याधारे अन्यजात्याधेयोपचारक व्यवहार, जैसे मंचपर बैठकर विद्वान प्रवचन करें तो कहना कि इस मंचने बड़े प्रवचन किये। (143) स्वजात्याधारे स्वजात्याधेयोपचारक व्यवहार, जैसे इस गुरु के उदर में हजारों शिष्य पड़े हैं। (144) एक जात्याधेये अन्यजात्याधारोपचारक व्यवहार, जैसे डलिया में केला रखकर बेचने वाले को

केला कहकर पुकारना। (145) स्वजात्याधेये स्वजात्याधारोपचारक व्यवहार जैसे मौज से माँ की गोद में बैठे हुये बालक का नाम लेकर मांको पुकारना। (146) तद्वृत्ति तदुपचारक व्यवहार, जैसे लाठी वाले पुरुष को लाठी कहकर पुकारना। (147) अतिसामीप्ये तत्त्वोपचारक व्यवहार, जैसे चरम (अन्तिम) भवसे पूर्व के मनुष्य भवको भी चरम कहना। (148) भाविनि भूतोपचारक व्यवहार, जैसे 8 वें गुणस्थान में औपषमिक या क्षायिक भाव कहना। (149) तत्सदृषकारणे तदुपचारक व्यवहार, जैसे कर्मोदयजनित विकार इस जीवके लिये 'अल्य है। (150) सदृषे एकत्वोपचारक व्यवहार, जैसे गेहूँ दानों के ढेर को गेहूँ एक वचन कहकर कहना। (151) आश्रये आश्रयी-उपचारक व्यवहार जैसे राजा प्रजा के गुण दोषों को उत्पन्न करता है, आदि कथन।

पाठ 18—अवाप्ति नय

पदार्थ को 'गीघ सुगमविधि से निःसंषय यथार्थ समझने के लिये अन्य भी दृष्टियाँ याने नय हैं। इन नयों में जो अभेदपरक नय हैं वे निष्चयनय हैं, जो भेदपरक नय हैं वे व्यवहारनय हैं। इन अवाप्तिनयों का निर्देश 22वें पाठ में 152 नं० से 203 नं० तक के नयों में किया जावेगा।

पाठ 19—निमित्तकारण व आश्रयभूत कारण का विवेक

निमित्त का सही प्रयोग करने में और नयदृष्टि परखने में जहाँ अनेक परिचय ज्ञातव्य हैं वहाँ कुछ प्रसंगों में निमित्त कारण व आश्रयभूत कारणका अन्तर भी ज्ञातव्य है। निमित्त कारण उसे कहते हैं जिसका नैमित्तिक कार्य के साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध हो जैसे क्रोध प्रकृतिका विपाक (उदय या उदीरणा) होने पर ही जीव में क्रोध विकल्प होना, क्रोधप्रकृतिविपाक न होने पर क्रोधविकल्प नहीं होना। यह अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध कर्मविपाक में है अतः क्रोधप्रकृतिविपाक क्रोध में निमित्त कारण है। तथा जिस व्यक्ति पर उपयोग देकर क्रोध प्रकट हो उसे आश्रयभूतकारण कहते हैं। आश्रयभूतकारण का विकार के साथ अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध नहीं, किन्तु उपयोग देकर कारण बनाया गया, अतः आश्रयभूतकारण आरोपित कारण है, उपचरित कारण है, निमित्तकारण नहीं।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि निमित्त उपादान में कुछ परिणति नहीं करता, किन्तु ऐसा योग है कि निमित्त कारण के सान्निध्य में ही विकार होता, निमित्त कारण के अभाव में विकार नहीं हो सकता। आश्रयभूतकारण उपादान में भी कुछ परिणति नहीं करता और आश्रयभूत विषयके न होने पर विकार न हो और विषयभूत पदार्थ के होने पर ही विकार हो या विषयभूत पदार्थ के होने पर विकार हो ही हो ऐसा कुछ भी नियन्त्रण नहीं है। हाँ प्रकृति के उदय होने पर यह जीव यदि विषयभूत पदार्थ पर उपयोग देता है तो विकार व्यक्त होता है उपयोग न दे तो विकार व्यक्त नहीं होता, प्रकृति के उदय होने पर व विषयभूत पदार्थ पर उपयोग न होने पर प्रकृतिविपाकविमित्तक विकार अव्यक्त होकर निकल जाता है।

विकार से हटना व स्वभाव में लगना यह अनादि से विषयप्रेमी इस जीव को कैसे बने? जब तक विकार से घृणा न हो तब तक विकार से हटना संभव नहीं। विकार से घृणा तब बनेगी जब यह ज्ञानमें आ जाये कि विकार असार है, अपवित्र है, परभाव है और यह ज्ञान तब बने जब विकार नैमित्तिक है यह बात ज्ञात हो। विकार नैमित्तिक है यह ज्ञान तब बने जब निमित्त का नैमित्तिक से अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध ज्ञात हो। इस तरह निमित्त का नैमित्तिक का यथार्थ ज्ञान नैमित्तिक विकार से हटने के लिए प्रायोजनिक हैं।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि आश्रयभूत पदार्थ विकार का निमित्त नहीं है, किन्तु व्यक्त विकार के लिये आश्रयभूत होने से व्यवहार में उसे निमित्त कह देते हैं। सो आश्रयभूतकारण

को निमित्त बताकर, उदाहरण में रख-रखकर निमित्त का सर्वथा खण्डन करना या तो अज्ञानमूलक है या पहिले आश्रयभूत को ही निमित्त समझकर उसका खण्डन करते चले आये थे, सो अब वास्तविक निमित्त की बात सामने आने पर भी उसी हठ को निभाना कपटमूलक है। निमित्त विकार का कर्ता नहीं, किन्तु निमित्त सान्निध्य बिना विकार होता नहीं। यों निमित्तकारण व आश्रयभूतकारण का विवेक होने पर, नयदृष्टियोजना, व आत्महित के लिए प्रयोगविधि सही बन जाती है।

पाठ 20—व्यवहार का विवेक

व्यवहार 'ाब्द का प्रयोग व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय, भेदविषयक व्यवहारनय, नयविषयप्रतिपादक व्यवहार व उपचार इन चार स्थलों पर होता है। अतः जहाँ व्यवहार 'ाब्द आवे वहाँ यह विवेक करना अत्यावश्यक है कि यह व्यवहार उन चारों में से कौनसा है। यदि यह विवेक न रखा जावे और उपचार वाले व्यवहार को मिथ्या कहा है सो उसही नाते को सर्वत्र व्यवहार में अपनाकर आदि के तीनों व्यवहारों को म्थिा कह दिया जाये तो सर्व आगम 'ास्त्र मिथ्या मानने पड़ेंगे। अतः व्यवहार का विवेक अत्यावश्यक है।

उक्त चारों व्यवहारों का स्पष्टीकरण पाठ नं० 5, 6, 7, 10, 11, 12, 15, 16, 17 में किया है। उसे समझ लेने से नयदृष्टि का प्रयोग व आत्महित के लिये आत्मप्रयोग सही होगा। जैसे दूध गाय, भैंस, बकरी के दूध को कहते हैं और आक के पेड़ से निकले सफेद रसको भी दूध कहते हैं, आकका दूध पीने से मरण हो जाता है तो आक के दूध का उदाहरण देकर सर्वथा यह कहना कि दूध प्राणघातक है यह क्या युक्त है व ऐसी श्रद्धा से जीवन चलेगा क्या! हाँ वहाँ जो विवेक करेगा कि आक का दूध घातक है गाय भैंस आदि का दूध घातक नहीं, बल्कि पोषक है वह अपना जीवन में सही प्रयोग करेगा।

पाठ 21—स्वतन्त्र सत्त्व व अतद् भावका विवेक

वस्तु द्रव्यरूपसे, गुणरूपसे व पर्यायरूपसे ज्ञेय होता है। वहाँ द्रव्य का लक्षण अन्य है, गुणका लक्षण अन्य है, पर्याय का लक्षण अन्य है। गुणों में भी प्रत्येक गुणका लक्षण अन्य-अन्य है। पर्यायों में भी प्रत्येक पर्याय का लक्षण अन्य अन्य है। इनका वर्णन करते हुए अपना कौशल बताने के लिये यदि कोई यों कहने लगे कि प्रत्येक गुण स्वतन्त्र सत् है, प्रत्येक पर्याय स्वतन्त्र सत् है, गुण स्वतन्त्र सत् है पर्याय स्वतन्त्र सत् है, तो यह सब कथन स्याद्वादषासन से बहिर्भूत है। पर्याय स्वतन्त्र सत् नहीं इसका संक्षिप्त निरूपण 8 वें पाठमें है। गुण स्वतन्त्र सत् नहीं इसका अब यहाँ विचार कीजिये।

जो स्वतन्त्र सत् याने सत् होता है उसके ये लक्षण हैं—1—उत्पादव्यधौव्ययुक्तं सत् 2—गुणपर्यायवद्द्रव्यं 3—प्रविभक्तप्रदेषत्व, 4—साधारणगुण वाला, 5—असाधारणगुणवाला, 6—द्रव्यव्यजनपर्यायवाला, 7—गुणव्यज्जनपर्यायवाला। गुण में ये सातों ही बातें नहीं पाई जाती हैं। गुण उत्पादव्यय वाला नहीं है, गुण में गुण होते नहीं हैं, क्योंकि गुण निर्गुण हैं, 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः', गुणों के प्रदेश द्रव्य व पर्याय से भिन्न नहीं है। गुणों का आकार नहीं होता। अतः सातों बातें ही गुण में नहीं हैं।

गुण और पर्याय सदभूतद्रव्य की तारीफ है। इस तारीफ को समझने के लिये इनका लक्षण जानना होता है। सो लक्षण भेदसे गुण व पर्यायों का विषिष्ट परिचय होता है। यों द्रव्य, गुण, पर्याय में, व परस्पर सब गुणों में, परस्पर सब पर्यायों में अतद्भाव है, किन्तु स्वतन्त्र-स्वतन्त्र सत्त्व नहीं है। हाँ वस्तु को द्रव्य कहते हैं सो द्रव्य को स्वतन्त्र सत् कह सकते हैं। गुणों को व पर्याय को स्वतन्त्र सत् कहना मीमांसकों का सिद्धान्त है।

इस प्रकार द्रव्य गुण पर्याय के सम्बन्ध में सही जानकारी होने पर नयों का प्रयोग व आत्महित के लिये आत्मप्रयोग सही होता है।

पाठ 22—दृष्टि सूची

ज्ञाननय (नैगमनय द्रव्यार्थिक)

1. भूतनैगम नय (जैसे आज दीपावलि के दिन वर्धमान स्वामी मोक्ष गये इस प्रकार वर्तमान में भूत का प्रकाष)।
2. भाविवैगमनय (जैसे अर्हन्त तो सिद्ध हो ही चुके इस प्रकार वर्तमान में भावी का प्रकाष)।
3. वर्तमान नैगमनय (जैसे भात पक रहा है, आदि इस प्रकार निष्पन्न व अनिष्पन्न का वर्तमान में निष्पन्नवत् प्रकाष)।

संग्रहनय द्रव्यार्थिकनय

4. परसंग्रहनामक द्रव्यार्थिकनय (जैसे—सत्, सत् में सबका संग्रह है, क्योंकि चेतन अचेतन सभी पदार्थ सत्स्वरूप हैं)
5. अपरसंग्रहनयनामक द्रव्यार्थिकनय (जैसे—जीव। जीव में जीवों के सिवाय अन्य का संग्रह नहीं)
6. परमशुद्ध अपरसंग्रहनयनामक द्रव्यार्थिकनय (जैसे—ब्रह्मस्वरूप आत्मा, जिसके एकान्त में सांख्यादिसिद्धान्त हो जाते हैं)
7. शुद्ध अपरसंग्रहनयनामक द्रव्यार्थिकनय (जैसे—मुक्त जीव, इसमें अतीत अनागत वर्तमान सर्व सिद्धों का संग्रह है)
8. अशुद्ध अपरसंग्रहनयनामक द्रव्यार्थिकनय (जैसे—संसारी जीव, इसमें त्रस स्थावर आदि सभी अषुद्धपर्यायवान जीवों का संग्रह है)

अनन्तिम व्यवहारनय द्रव्यार्थिकनय

9. परमसंग्रहभेदक व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय (जैसे—द्रव्य 6 प्रकार के हैं जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाष व काल)
10. अपरसंग्रहभेदक व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय (जैसे—जीव दो प्रकार के हैं मुक्त व संसारी, इस प्रकार शुद्ध व अषुद्ध का भेद किये बिना जीवों का भेदों में परिचय)
11. अन्तिम अपरसंग्रहभेदकव्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय (जैसे—पृथक् पृथक् एक—एक सत् व द्वयगुक आदि स्कन्ध में एक अणु का परिचय)
12. परमशुद्ध अपरसंग्रहभेदक द्रव्यव्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय (जैसे चैतन्यात्मकत्व से सम्बद्ध अनन्त आत्मावों का परिचय)
13. शुद्ध अपरसंग्रहभेदक व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय (जैसे—मुक्त जीवों का क्षेत्र काल गति लिङ्ग आदि से परिचय)
14. अशुद्ध अपरसंग्रहभेदक व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय (जैसे—संसारी जीवों का त्रय स्थावर आदि विभागों से परिचय)

अन्तिम व्यवहारनय द्रव्यार्थिक

15. परमशुद्ध अभेदविशयी अन्तिम व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय (जैसे—आत्मा चैतन्यस्वरूपमात्र है आदि)
16. परमशुद्ध भेदविशयी अन्तिम व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय (आत्मा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुण हैं)

17. 'गुद्ध अभेदविशयी अन्तिम व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय (जैसे-भगवन्त आत्मा केवलज्ञानी है आदि)
18. 'गुद्धभेदविशयी अन्तिम व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय (जैसे-भगवन्त आत्मा में अर्नतज्ञान, दर्शन आदि हैं)
19. अव्यक्त अशुद्ध अन्तिम व्यवहारनय-नामक द्रव्यार्थिकनय (जैसे-उपषम या क्षपकश्रेणि में आया हुआ मुनि)
20. व्यक्त अशुद्ध अन्तिम व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय (जैसे-किसी व्यक्ति पर क्रोध करने वाला कोई एक मनुष्य)
21. उपाधिनिरपेक्ष 'गुद्ध द्रव्यार्थिकनय (जैसे-संसारी जीव सिद्ध समान 'गुद्धात्मा है आदि, उपाधि का सम्बन्ध न तक कर स्वभावमात्र निरखना)
22. उत्पादव्ययगौणसत्ताग्राहक 'गुद्ध द्रव्यार्थिकनय (जैसे-द्रव्य नित्य है, आदि, ध्रौव्य की मुख्यता से वस्तु का निरखना)
23. भेदकल्पनानिरपेक्ष 'गुद्ध द्रव्यार्थिकनय (जैसे-निजगुणपर्याय से अभिन्न द्रव्य है, यों 'गुद्ध स्वरूप निरखना)
24. उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (जैसे-कर्मोदयविपाक के सान्निध्य में जीव विकाररूप परिणमता है, आदि परिचय)
- 24A. उपाध्यभावापेक्ष 'गुद्ध द्रव्यार्थिकनय (जैसे-कर्मोपाधि के अभाव का निमित्त पाकर कर्मत्व का दूर होना निरखना)
- 24B. 'गुद्धभावनापेक्ष 'गुद्ध द्रव्यार्थिकनय (जैसे-आत्मा के 'गुद्धपरिणामका निमित्त पाकर कर्मत्व का दूर होना निरखना)
25. उत्पादव्यसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (जैसे-द्रव्य उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त है, यों त्रिलक्षणासत्तामय द्रव्य निरखना)
26. भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (जैसे-आत्मा के ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है आदि गुणों का परिचय)
27. अन्वय द्रव्यार्थिकनय (जैसे-त्रैकालिक गुणपर्यायस्वभावी आत्मा, आदि मूलवस्तु निरखना)
28. स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (जैसे-स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावसे वस्तु के अस्तित्व का परिचय)
29. परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (जैसे-परद्रव्यक्षेत्रकालभावसे वस्तुके नास्तित्व का परिचय)
30. परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय (जैसे-सहज अखण्ड ज्ञानस्वरूप आत्मा का परिचय)
- 30A. 'गुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहक 'गुद्ध द्रव्यार्थिकनय (जैसे-बद्धाबद्धादिनयविकल्परूप जीव नहीं होता आदि परिचय)

अर्थनय पर्यायार्थिक

31. अशुद्धस्थूल ऋजुसूत्रनयनामक पर्यायार्थिकनय (जैसे-नर नारक आदि विभाव द्रव्यव्यञ्जन पर्यायों का परिचय)
32. 'गुद्धस्थूल ऋजुसूत्रनयनामक पर्यायार्थिकनय (जैसे-सिद्धपर्याय आदिक स्वभावद्रव्यव्यञ्जनपर्यायों का परिचय)

33. अशुद्धसूक्ष्मऋजुसूत्रनयनामक पर्यायार्थिकनय (जैसे—क्रोध आदि विभावगुणव्यञ्जनपर्यायों का परिचय)
34. 'दुद्धसूक्ष्मऋजुसूत्रनयनामक पर्यायार्थिकनय (जैसे—केवलज्ञान आदि स्वभावगुणव्यञ्जनपर्यायों का परिचय)
35. अनादिनित्य पर्यायार्थिकनय (जैसे—मेरु नित्य है आदि, प्रति समय आय व्यय होते हुए भी वैसे के वैसे ही बने रहने वाले पदार्थों का परिचय)
36. सादिनित्य पर्यायार्थिकनय (जैसे—सिद्ध पर्याय आदि, अषुद्धता हटकर सादिषुद्ध रहने वाले पर्यायों का परिचय)
37. सत्तागौणोत्पादव्ययग्राहक नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय (जैसे—प्रति समय पर्याय विनाषीक है आदि परिचय)
38. सत्तासापेक्ष नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय (जैसे—एक समय में हुए त्रयात्मक पर्यायों का परिचय)
39. उपाधिनिरपेक्ष नित्य 'दुद्ध पर्यायार्थिकनय (जैसे—सिद्धपर्यायसदृष संसारी जीवों की 'दुद्धपर्यायें आदि का परिचय)
40. उपाधिसापेक्ष नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय (जैसे—संसारी जीवों के उत्पाद और मरण है आदि परिचय)

‘ाब्दनय पर्यायार्थिकनय

41. 'ाब्दनय (ऋजुसूत्रनय के विषय को लिङ्ग, वचन आदि व्यभिचार हटाकर किसी उपयुक्त 'ाब्द से कहना)
42. समभिरूढनय 'ाब्दनय द्वारा नियत 'ाब्द से वाच्य अनेक अर्थों में से किसी एक रूढ अर्थ को ही कहना)
43. एवंभूतनय (समभिरूढन के विषयको उस क्रिया से परिणत होते हुएके समय ही उसी 'ाब्द से कहना)

निश्चयनय

44. अखण्ड परमशुद्धनिश्चयनय (जैसे—अखण्ड 'ाष्वत सहज चैतन्यस्वभावमात्र आत्म का परिचय)
45. 'ाक्तिबोधक परमशुद्धनिश्चयनय (जैसे—आत्मा सहज ज्ञान दर्शन 'ाक्ति वीर्यवान है आदि परिचय)
46. 'दुद्धनिश्चयनय (जैसे—जीव केवलज्ञानी है, आदि 'दुद्धपर्यायात्मक द्रव्य का परिचय परिचय)
- 46A. सभेद 'दुद्धनिश्चयनय (जैसे—जीव के केवलज्ञान है, केवलदर्शन है, अनन्त सुख है आदि परिचय)
- 46B. अपूर्णशुद्धनिश्चयनय (जैसे—स्वपरभेदविज्ञानी के एकत्वविभक्त आत्मा की ख्याति होने से ज्ञानमय—भाव का परिचय)
47. अशुद्ध निश्चयनय (जैसे—जीव रागी है आदि अषुद्धपर्यायमय द्रव्य का परिचय)

47A. सभेद अशुद्ध निश्चयनय (जैसे-जीव के क्रोध है, मान है, माया है, लोभ है आदि भेद

सहित अशुद्ध का परिचय)

48. विवक्षितैकदेशशुद्ध निश्चयनय (जैसे-रागादिक पौद्गलिक हैं, यों औपाधिक भावों को उपाधि के लिये सौंपकर आत्म स्वरूप को 'शुद्धस्वभाव मात्र निरखना)

49. 'शुद्धनय (जैसे-नयविकल्प से अतिक्रान्त अखण्ड अन्तस्तत्त्व का, अभेद दर्शन)

49A. प्रतिशोधक 'शुद्धनय (जैसे-जीव पुद्गलकर्मका, गात्रादिका अकर्ता है आदि परिचय)

49B. उपादानदृष्टि (जैसे जीव की योग्यतानुसार उसका परिणमन उसी जीव में निरखना)

व्यवहार नय

50. परमशुद्ध भेदविशयी व्यवहारनय या भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (जैसे-आत्मा के ज्ञान है, दर्शन है आदि 'गाष्वत गुणों के रूपसे आत्मा का परिचय)

51. 'शुद्धभेदविशयी द्रव्यार्थिकनय या 'शुद्धसूक्ष्म ऋजुसूत्रनय (जैसे-आत्मा का केवलज्ञान, अनन्त आनन्द आदि निरुपाधि 'शुद्ध पर्यायों का परिचय)

52. अशुद्धपर्यायविशयी व्यवहारनय या अशुद्धसूक्ष्म ऋजुसूत्रनय (जैसे जीव के क्रोध, मान आदि का परिचय)

53. उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (जैसे-कर्मादयविपाक के सान्निध्य में जीव विकाररूप परिणमता है)

53A. निमित्तदृष्टि (जैसे चक्र के आधार पर दण्ड द्वारा भ्रमण होकर जल-मिश्रण दषा में

कुम्हार के हस्तव्यापार के निमित्त से मिट्टी का घड़ा बनना आदि परिचय)

54. उत्पादव्ययसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (जैसे-द्रव्य उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त है, यों त्रितययुक्त द्रव्य को निरखना)

55. अशुद्धस्थूल ऋजुसूत्रनय (जैसे-नर नारक, तिर्यच, देव, आदि विभावद्रव्यव्यञ्जन पर्यायें निरखना)

56. 'शुद्ध स्थूल ऋजुसूत्रनय (जैसे-चरमदेह से न्यून आकारवाली सिद्धपर्याय, स्वभाव द्रव्यव्यञ्जन पर्याय निरखना)

57. अनादिनित्य पर्यायार्थिकनय (जैसे-मेरु नित्य है आदि प्रतिसमय बनना बिगड़ना होने पर भी बना रहना निरखना)

58. सादिनित्य पर्यायार्थिकनय (जैसे-सिद्धपर्याय नित्य है, आदि, उपाधि के अभाव से सदा रहने वाली पर्याय का परिचय)

59. सत्तागौणोत्पादव्ययग्राहक नित्या 'शुद्ध पर्यायार्थिकनय (जैसे-प्रतिसमय पर्याय विनाषीक है, क्षणिक पर्याय का परिचय)

60. सत्तासापेक्ष नित्याशुद्ध पर्यायार्थिकनय (जैसे-एक समय में त्रयात्मक पर्यायें, उत्पादव्ययध्रौव्य या भूतमाविवर्तमानपर्याय का परिचय)

61. उपाधिसापेक्ष नित्याशुद्ध पर्यायार्थिकनय (जैसे-संसारी जीवों के उत्पत्तिमरण हैं, विषय कषाय हैं का परिचय)

व्यवहार (यथार्थ प्रतिपादक व्यवहार)

62. भूतनैगम प्रतिपादक व्यवहार (भूतकालीन स्थिति को वर्तमान में जोड़ने के संकल्प का घटनासम्बन्धित प्रतिपादन)
63. भाविनैगमप्रतिपादक व्यवहार (भविष्यत्कालीन स्थिति को वर्तमान में जोड़ने के संकल्प का घटनासम्बन्धित प्रतिपादन)
64. वर्तमाननैगमप्रतिपादक व्यवहार (वर्तमान निष्पन्न अनिष्पन्न को निष्पन्नवत् संकल्प का प्रतिपादन)
65. परसंग्रह द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (जैसे—‘सत्’ कहकर समस्त जीवपुद्गलादिक सत्तों के संग्रह का प्रतिपादन)
66. अपरसंग्रह द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (जैसे—सत् को भेदे गये जीव व अजीव में से जीव कहकर समस्त जीवों के संग्रह का प्रतिपादन)
- 66A. परमशुद्ध अपरसंग्रह द्रव्यार्थिकप्रतिपादक व्यवहार (जैसे—‘ब्रह्म’ कहकर सर्व जीवों में कारणसमयसार का कथन)
- 66B. ‘ुद्ध अपरसंग्रहद्रव्यार्थिकप्रतिपादक व्यवहार (जैसे—मुक्त—जीव कहकर समस्त कर्ममुक्त सिद्ध भगवन्तों का प्रतिपादन)
- 66C. अशुद्ध अपरसंग्रह द्रव्यार्थिकप्रतिपादक व्यवहार (जैसे—संसारी जीव कहकर समस्त संसारी जीवों का प्रतिपादन)
67. अपरसंग्रहभेदकव्यवहारनय द्रव्यार्थिकप्रतिपादक व्यवहार (जैसे—सत् 2 प्रकार के हैं जीव अजीव, आदि, यों परसंग्रह को भेदने का प्रतिपादन)
68. अपरसंग्रहभेदकव्यवहारनय द्रव्यार्थिकप्रतिपादक व्यवहार (जैसे—जीव 2 प्रकार के हैं मुक्त संसारी आदि यों अपरसंग्रह को भेदने का प्रतिपादन)
- 68A. अन्तिम—अपरसंग्रहभेदकव्यवहारनय द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (जैसे—द्वयणुक स्कंध को भेद कर एक अणुका प्रतिपादन)
- 68B. अन्तिम—अखण्डव्यवहारनय द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (जैसे—एक अङ्गु, एक जीव, आदि अखण्ड सत् का प्रतिपादन)
69. अखण्ड परमशुद्ध सद भूतव्यवहार (जैसे अनाद्यनन्त अहेतुक अखण्ड चैतन्यस्वभावमात्र आत्मा का प्रतिपादन)
- 69A. ‘ुद्धगुणिभेदक परमशुद्ध सदभूत व्यवहार (जैसे आत्मा का स्वरूप सहज चैतन्यस्वरूप है आदि प्रतिपादन)
70. सगुण परमशुद्धसदभूत व्यवहार (जैसे आत्मा के सहज ज्ञानादि अनन्तचतुष्टय का प्रतिपादन)
- 70A. प्रतिशोधकशुद्धनयप्रतिपादकव्यवहार (जैसे जीव पुगदलकर्म का अकर्ता है आदि कथन)
71. अभेद ‘ुद्ध सदभूत व्यवहार (जैसे ‘ुद्धपर्यायमय आत्मा का प्रतिपादन)

72. सभेद 'बुद्धसद्भूतव्यवहार (जैसे आत्मा के केवलज्ञान, केवलदर्शन, आदि 'बुद्धपर्यायवान आत्मा का प्रतिपादन)
73. कारककारकिभेदक सद्भूतव्यवहार (जैसे आत्मा आत्मा को जानता है, आत्मा के द्वारा जानता है आदि एक ही पदार्थ में कर्ताकर्म करण आदि का कथन)
- 73A. कारककारकिभेदक अशुद्धसद्भूतव्यवहार (जैसे जीवविभावों का कर्ता जीव है आदि कथन)
74. अनुपचरित अशुद्धसद्भूत व्यवहार (जैसे श्रेणिगत मुनि के रागदिविकार का प्रतिपादन)
75. उपचरित अशुद्धसद्भूत व्यवहार (जैसे जीव के व्यक्त क्रोध आदि व्यक्त अषुद्ध पर्यायों का प्रतिपादन)
76. उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकप्रतिपादक व्यवहार (जैसे पुद्गलकर्म विपाक का निमित्त पाकर विकृत हुए जीव का प्रतिपादन)
77. उपचरित उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकप्रतिपादक व्यवहार (जैसे विषयभूत पदार्थ में उपयोग देने पर हुए व्यक्त विकार का कथन)
78. उपाधिनिरपेक्ष 'बुद्ध द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (जैसे संसारी जीव सिद्ध सदृष 'बुद्धात्मा है का प्रतिपादन)
79. उत्पादव्ययगौणसत्ताग्राहक 'बुद्ध द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (जैसे ध्रौव्यत्व की मुख्यता में द्रव्य के नित्यत्व का प्रतिपादन)
80. भेदकल्पना-निरपेक्ष 'बुद्ध द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (जैसे निजगुणपर्याय से अभिन्न द्रव्य है, आदि का प्रतिपादन)
81. उत्पादव्ययसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (प्रत्येक द्रव्य ध्रुव होकर भी उत्पाद व्यय वाला है आदि कथन)
82. भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (आत्मा के ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुण हैं आदि कथन)
83. अन्वय द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (द्रव्य सदैव अपने गुणपर्यायों में व्यापक रहता है आदि कथन)
84. स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (जैसे जीव स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावसे है आदि कथन)
85. परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (जैसे जीव परद्रव्यक्षेत्रकालभाव से नहीं है आदि कथन)
86. परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (जैसे आत्मा सहज ज्ञायकस्वभाव है आदि कथन)
87. अशुद्धस्थूल ऋजुसूत्र प्रतिपादक व्यवहार (जैसे नर "नारक" स्कंध आदि अषुद्ध द्रव्यव्यञ्जन पर्यायों का कथन)
88. 'बुद्धस्थूल सूक्ष्म ऋजुसूत्र प्रतिपादक व्यवहार (जैसे सिद्धपर्याय, एक अणु, धर्मास्तिकाय कालाणु आदि 'बुद्धद्रव्यव्यञ्जन पर्याय का कथन)
89. अशुद्धसूक्ष्म ऋजुसूत्र प्रतिपादक व्यवहार (जैसे क्रोध, मान आदि विभाव गुणव्यञ्जन पर्यायों का कथन)
90. 'बुद्ध सूक्ष्म ऋजुसूत्र प्रतिपादक व्यवहार (जैसे केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि स्वभावगुणव्यञ्जन पर्यायों का कथन)

91. अनादिनित्यपर्यायार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (मेरु, अकृत्रिम चैत्यालय नित्य हैं आदि कथन)
92. सादिनित्यपर्यायार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (जैसे सिद्धपर्याय नित्य है आदि 'जुद्ध होकर सदा रहने वाली पर्याय का कथन)
93. सत्तागौणोत्पादव्ययग्राहक अशुद्धपर्यायार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (जैसे समय समय में पर्याय विनष्पर है आदि कथन)
94. सत्तासापेक्ष नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (जैसे समय समय में त्रयात्मक पर्यायें हैं आदि कथन)
95. उपाधिसापेक्ष नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (जैसे संसारियों की सिद्धपर्यायसदृष 'जुद्धपर्यायों का कथन)
96. उपाधिसापेक्ष नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (जैसे संसारी जीवों के उत्पत्ति मरण हैं आदि कथन)
97. स्वाजात्यसद्भूत व्यवहार (जैसे परमाणु बहुप्रदेशी है, जीव रागी हैं आदि कथन)
98. विजात्यसद्भूत व्यवहार (जैसे मतिज्ञान मूर्त है, दृष्यमान मनुष्य, पशु जीव हैं आदि कथन)
99. स्वजातिविजात्यसद्भूत व्यवहार (जैसे ज्ञेय जीव और अजीव में ज्ञान जाता है आदि कथन)
100. 'गुब्दनय पर्यायार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (ऋजुसूत्रनय के विषयको लिंगादिव्यभिचार दूर करके योग्यषब्द से कहना)
101. समभिरुद्धनय पर्यायार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (षब्दनय से निश्चित 'गुब्द से वाच्य अनेक पदार्थों में से एक रुद्धपदार्थ का कथन)
102. एवंभूतनय पर्यायार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (समभिरुद्ध से निश्चित पदार्थ को उसी क्रिया से परिणत होने पर ही कहना)

उपचार (आरोपक व्यवहार)

103. उपाधिज उपचरितस्वभावव्यवहार (जैसे जीव के मूर्तत्व व अचेतनत्व का कथन)
104. उपाधिज उपचरित प्रतिफलनव्यवहार (जैसे क्रोधकर्म के विपाक के प्रतिफलन को क्रोधकर्म कहना)
105. स्वाभाविक उपचरित स्वभाव व्यवहार (जैसे प्रभु समस्त पर पदार्थों के भी ज्ञाता हैं आदि कथन)
- 105A. अपरिपूर्ण उपचरित स्वभाव व्यवहार (जैसे जीव घट पट आदि पर पदार्थ का ज्ञाता है आदि कथन)
106. द्रव्ये द्रव्योपचारक (एकजातिद्रव्ये अन्यजातिद्रव्योपचारक) असद्भूतव्यवहार (जैसे 'शरीर को जीव कहना)
- 106A. स्वजातिद्रव्ये स्वजातिद्रव्योपचारक असद्भूतव्यवहार (जैसे 'शरीर मिट्टी है आदि कथन)
107. एकजातिपर्याये अन्यजातिपर्यायोपचारक असद्भूत व्यवहार (जैसे अन्न ही प्राण है आदि कथन)

108. स्वजातिपर्याये स्वजातिपर्यायोपचारक असद्भूत व्यवहार (जैसे दर्पण में हुए प्रतिबिम्ब को दर्पण कहना)
109. एकजातिगुणे अन्यजातिगुणोपचारक असद्भूत व्यवहार (मदिरापान से अभिभूत मतिज्ञानको मूर्त कहना)
110. स्वजातिगुणे स्वजातिगुणोपचारक असद्भूत व्यवहार (ज्ञान ही श्रद्धान है, ज्ञान ही चरित्र है आदि कथन)
111. एकजातिद्रव्ये अन्यजातिगुणोपचारक असद्भूत व्यवहार (जीव मूर्तिक है आदि कथन)
112. स्वजातिद्रव्ये स्वजातिगुणोपचारक असद्भूत व्यवहार (जैसे परमाणु को ही रूप कहना)
113. एकजातिद्रव्ये अन्यजातिपर्यायोपचारक असद्भूत व्यवहार (जैसे जीव भौतिक है आदि कथन)
114. स्वजातिद्रव्ये स्वजातिपर्यायोपचारक असद्भूत व्यवहार (जैसे परमाणु बहुप्रदेशी है, आत्मा श्रुतज्ञान है आदि कथन)
115. एकजातिगुणे अन्यजातिद्रव्योपचारक असद्भूत व्यवहार (जैसे ज्ञान गुण ही सकल द्रव्य है आदि कथन)
116. स्वजातिगुणे स्वजातिद्रव्योपचारक असद्भूत व्यवहार (जैसे द्रव्य के रूपको ही द्रव्य कहना, रूपपरमाणु आदि)
117. एकजातिगुणे अन्यजातिपर्यायोपचारक असद्भूत व्यवहार (जैसे ज्ञान ही धन है आदि कथन)
118. स्वजातिगुणे स्वजातिपर्यायोपचारक असद्भूत व्यवहार (जैसे ज्ञान पर्याय है आदि कथन)
119. एकजातिपर्याये अन्यजातिपर्यायोपचारक असद्भूत व्यवहार (जैसे घटाकर परिणत ज्ञानको घट कहना)
120. स्वजातिपर्याये स्वजातिद्रव्योपचारक असद्भूत व्यवहार (जैसे पृथ्वी आदि पुद्गलस्कंध को द्रव्य कह देना)
121. एकजातिपर्याये अन्यजातिद्रव्योपचारक असद्भूत व्यवहार (जैसे पशु-पक्षी आदि के 'रीर को जीव कह देना)
122. स्वजातिपर्याये स्वजातिगुणोपचारक असद्भूत व्यवहार (जैसे अहिंसा को गुण कह देना व देह के विषिष्ट रूपक देखकर रूपवाला कहना)
123. संश्लिष्ट स्वजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार (जैसे यह परमाणु इस स्कंध है आदि कथन)
124. असंश्लिष्ट स्वजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार (जैसे ये पुत्र स्त्री आदि इस जीव के हैं आदि कथन)
125. संश्लिष्ट विजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार (जैसे यह 'रीर इस जीवका है, आदि कथन)
126. असंश्लिष्ट विजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार (जैसे यह धन वैभव मेरा है आदि कथन)
127. संश्लिष्ट स्वजातिविजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार (जैसे आभूषणसज्जित कन्या मेरी है आदि कथन)

128. असंश्लिष्ट स्वजातिविजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार (जैसे यह ग्राम नगर मेरा है आदि कथन)
129. परकर्तृत्व अनुपचरित असद्भूत व्यवहार (जैसे पुद्गलकर्म ने जीव को रागी कर दिया आदि कथन)
- 129A. परभोक्तृत्व अनुपचरित असद्भूत व्यवहार (जैसे जीव पुद्गल कर्म को भोगता है आदि कथन)
- 129B. परकर्तृत्व उपचरित असद्भूत व्यवहार (जैसे जीव घट आदि का कर्ता है इत्यादि कथन)
- 129C. परभोक्तृत्व उपचरित असद्भूत व्यवहार (जैसे जीव घट पट आदि का भोक्ता है इत्यादि कथन)
130. परकर्मत्व असद्भूत व्यवहार (जैसे जीव के द्वारा ये पुण्य पाप बनाये गये आदि कथन)
131. परकरणत्व असद्भूत व्यवहार (जैसे जीव कषायभाव के द्वारा पौद्गलिकर्मों को बनाता है आदि कथन)
132. परसंप्रदानत्व असद्भूत व्यवहार (जैसे पिता ने पुत्र के लिये मकान बनाया आदि कथन)
133. परापादनत्व असद्भूत व्यवहार (जैसे जीव से इतने कर्म झड़कर अलग हो गये आदि कथन)
134. पराधिकरणत्व असद्भूत व्यवहार (जैसे जीव में कर्म ठसाठस भरे हुए हैं आदि कथन)
135. परस्वामित्व असद्भूत व्यवहार (जैसे मेरा यह धन वैभव 'रीर आदि है का कथन)
136. स्वजातिकारणे स्वजातिकार्योपचारक व्यवहार (जैसे हिंसा आदिक दुःख ही हैं, आदि का प्रतिपादन)
137. एकजातिकारणे अन्यजातिकारणोपचारक व्यवहार (जैसे अन्य धन प्राण हैं आदि कथन)
138. स्वजातिकार्ये स्वजातिकारणोपचारक व्यवहार (जैसे श्रुत ज्ञान भी मतिज्ञान है आदि कथन)
139. एकजातिकार्ये अन्यजातिकारणोपचारक व्यवहार (जैसे घटाकार परिणत ज्ञान घट है आदि कथन)
140. एकजात्यल्पे अन्यजातिपूर्णोपचारक व्यवहार (जैसे राजघरानों में यह नौकर सर्वव्यापक है आदि कथन)
141. स्वजात्यल्पे स्वजातिपूर्णोपचारक व्यवहार (जैसे सम्यक् मतिज्ञान केवल ज्ञान है आदि कथन)
142. एकजात्याधारे अन्यजात्याधेयोपचारक व्यवहार (जैसे जिस मञ्च पर बैठकर विद्वान प्रवचन करें तो कहना इस मंचने बड़े प्रवचन किये)
143. स्वजात्याधारे स्वजात्याधेयोपचारक व्यवहार (इस गुरुके उदय में हजारों शिष्य पड़े हैं आदि कथन)
144. एकजात्याधेये अन्यजात्याधारोपचारक व्यवहार (जैसे डलिया में केला रखकर बेचनेवाले को केला कहकर बुलाना)
145. स्वजात्याधेये स्वजात्याधारोपचारक व्यवहार (जैसे मां की गोद में बैठे हुए बालक का नाम लेकर मां को पुकारना)

146. तद्वृत्ति तदुपचारक व्यवहार (जैसे लाठी वाले पुरुष को लाठी कहकर पुकारना)
 147. अतीसामीप्ये तत्त्वोपचारक व्यवहार (जैसे चरम (अंतिम) भवसे पूर्वके मनुष्यभव को भी चरम कहना)
 148. भाविनि भूतोपचारक व्यवहार (जैसे 8वें गुणस्थान में औपषमिक या क्षायिक भाव कहना)
 149. तत्सदृशकारणे तदुपचारक व्यवहार (जैसे कर्मोदयजनित विकार इस जीवके लिये 'गल्य हैं आदि कथन)
 150. सदृशे एकत्वोपचारक व्यवहार (जैसे गेहूं दानों के ढेर को गेहूं एक वचन कहकर कहना)
 151. आश्रये आश्रयी-उपचारक व्यवहार (जैसे राजा प्रजा के गुण दोषों को उत्पन्न करता है आदि कथन)

अवाप्तिनय

152. द्रव्यनय (जैसे आत्मतत्त्व चिन्मात्र है आदि परिचय)
 153. पर्यायनय (जैसे आत्मा को दर्शन ज्ञान आदि मात्र देखना आदि परिचय)
 154. अस्तित्वनय (जैसे अपने द्रव्यक्षेत्रकालभावसे आत्मा का अस्तित्व जानना)
 155. नास्तित्वनय (जैसे परके द्रव्यक्षेत्रकालभावसे आत्मा का नास्तित्व जानना)
 156. अस्तित्वनास्तित्वनय (जैसे स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावसे आत्मा को अस्तित्वनास्तित्ववान् जानना आदि)
 157. अवक्तव्यनय (जैसे युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावसे कहा जाना अषक्य होने से आत्मा अवक्तव्य है ऐसा जानना)
 158. अस्तित्वावक्तव्यनय (जैसे स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावसे तथा युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावसे आत्मा अस्तित्ववदवक्तव्य है ऐसा जानना आदि)
 159. नास्तित्वावक्तव्यनय (जैसे परद्रव्यक्षेत्रकालभावसे तथा युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभाव से आत्मा नास्तित्ववदवक्तव्य है आदि परिचय)
 160. अस्तित्वनास्तित्वावक्तव्यनय (जैसे स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावसे, परद्रव्यक्षेत्रकालभावसे व युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभाव से आत्मा अस्तित्वनास्तित्ववदवक्तव्य है आदि परिचय)
 161. विकल्पनय (जैसे कोई एक वही जीव मनुष्य है षु है आदि परिचय)
 162. अविकल्पनय (जैसे एक आत्मा मात्र का प्रतिभास)
 163. नामनय (जैसे ज्ञायक नाम आत्मा का रखा है आदि नाम से परिचय)
 164. स्थापनानय (जैसे देहरूप पुद्गलस्कंधों में आत्मा का प्रतिष्ठापन)
 165. द्रव्यनय (जैसे अतीत अनागत पर्यायों में आत्मा का बोधन)
 166. भावनय (जैसे वर्तमान पर्याय में आत्मा का बोधन)
 167. सामान्यनय (जैसे गुण पर्यायों में व्यापक सामान्य का बोधन)
 168. विशेषनय (जैसे सदा न रहने वाले नरनारकादि जीव का बोधन)
 169. नित्यनय (जैसे नाना प्राणिभेदों को धारण करने वाले एक आत्मा का बोधन)
 170. अनित्यनय (जैसे अनवस्थायी मनजादिवेषी आत्मा का बोधन)
 171. सर्वगतनय (जैसे ज्ञानमुखेन सर्वज्ञेयवर्ती आत्मा का बोधन)
 172. असर्वगतनय (जैसे स्वात्मप्रदेषवर्ती आत्मा का बोधन)
 173. 'नून्यनय (जैसे सर्वपरभावपून्य केवल आत्मा का बोधन)
 174. अशून्यनय (जैसे सर्वज्ञेयाकाराक्रान्त आत्मा का बोधन)

175. ज्ञानज्ञेयाद्वैतनय (जैसे ज्ञेयाकारपरिणत ज्ञान के एकपने का बोधन)
 176. ज्ञानज्ञेयद्वैतनय (जैसे ज्ञेयाकारकालम्बित आत्मा के अनेकपने का दर्शन)
 177. नियतिनय (जैसे षाष्यत ज्ञानस्वभाव में नियत आत्मा का बोधन)
 178. अनियतिनय (जैसे औपाधिकविभावरूप अनियतभाववान आत्मा का बोधन)
 179. स्वभावनय (जैसे संस्कार का आवष्यकता से 'न्य परिपूर्ण आत्मा का बोधन)
 180. अस्वभावनय (जैसे संस्कारवषवर्ती अल्पज्ञ आत्मा का बोधन)
 181. कालनय (जैसे अपने समयपर विपच्यमान भावयुक्त आत्मा का बोधन)
 182. अकालनय (जैसे उदीरणादिरूप असमयपच्यमान भावयुक्त आत्मा का बोधन)
 183. पुरुशकारनय (जैसे पुरुषार्थ की प्रधानता से साध्यसिद्धि होने का बोधन)
 184. देवनय (जैसे कर्मोदय की प्रधानता से साध्यसिद्धि होने का बोधन)
 185. ईश्वरनय (जैसे कर्मविपाकबलाधान से परतन्त्रता के अनुभव का परिचय)
 186. अनीश्वरनय (जैसे अपने ही स्वरूपसे प्रकट स्वतंत्रविलास के अनुभव का बोधन)
 187. गुणिनय (जैसे गुणपुज्ज आत्मा के अभिमुख उपयोग की गुणग्राहिता का बोधन)
 188. अगुणिनय (जैसे सर्वत्र उपयोगवान आत्मा की साक्षिता का परिचय)
 189. कर्तृनय (जैसे अपने को कर्मविपाकप्रतिफलन का कर्ता समझना)
 190. अकर्तृनय (जैसे कर्मविपाकप्रतिफलन को अस्वभाव जान मात्र ज्ञाता होने का परिचय)
 191. भोक्तृनय (जैसे विभावानुरागी आत्मा के सुख दुःखादि भोगने का परिचय)
 192. अभोक्तृनय (जैसे विवेकी आत्मा के सुख दुःखादिपने की साक्षिता का बोधन)
 193. क्रियानय (जैसे चारित्रप्रधान आत्मा के ज्ञाननिधि की साध्यता की सिद्धि का बोधन)
 194. ज्ञाननय (जैसे विवेक बुद्धि की प्रधानता से आत्मा के साध्य की सिद्धि का बोधन)
 195. व्यवहारनय (जैसे जीव को कर्मबन्ध व कर्ममोक्ष दो में रहने वाला दिखाना)
 196. निश्चयनय (जैसे बन्ध, मोक्ष किसी भी स्थिति में मात्र 'ुद्ध आत्मा को दिखाना)
 197. अशुद्धनय (जैसे औपाधिक स्थितियों में जीव का सोपाधिस्वभाव दीखना)
 198. 'ुद्धनय (जैसे केवल आत्मद्रव्य का निरुपाधिस्वभाव दीखना)
 199. ऊर्ध्वसामान्यनय (जैसे त्रैकालिकपर्यायों में मात्र एक आत्मद्रव्य दीखना)
 200. ऊर्ध्वविशेषनय (जैसे एक आत्मा के त्रैकालिक नाना पर्यायों का दीखना)
 201. निमित्तत्वनिमित्तदृष्टि (जैसे नवीनकर्मास्रव के निमित्तभूत द्रव्यप्रत्यय के निमित्त के निमित्तरूप रागादिभाव का परि०)
 202. सादृश्यनय (जैसे पुण्य पाप कर्म को कर्मत्वदृष्टि से एकरूप देखना आदि)
 203. वैलक्षण्यनय (जैसे प्रकृति आदि के भेद से पुण्य पाप कर्म में अन्तर जानना)

• इति नयचक्रप्रकाष समाप्त • मनोहर वर्णी सहजानन्द

॥ समयसार का विशय—क्रम ॥

गाथा सं० पृष्ठ सं०	विशय	प्रारम्भ
-----------------------	------	----------

1—पूर्वरंग

1	मङ्गलाचरण में स्वभावानुरूप पूर्णविकसित सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार तथा ग्रन्थकार की प्रतिज्ञा और ग्रन्थ की प्रामाणिकता का हेतु	5
2	सग्यदर्शन ज्ञान चरित्र परिणत जीव स्वसमय होता है मिथ्यादर्शन—ज्ञान चारित्र परिणत जीव पुद्गलकर्म में स्थित होने के कारण परसमय होता है।	8
3	एकत्वनिष्चय को प्राप्त जीव लोक में सर्वत्र सुन्दर है किन्तु एकत्व होने पर उदयवष होने वाली बंध की कथा विसम्वाद झगड़ा करने वाली है।	11
4	जीवको कामभोग विषयक बन्धकथा तो सुलभ है, किन्तु आत्मा का एकत्व दुर्लभ है।	14
5	ग्रन्थकार आचार्य का एकत्व—विभक्त आत्मा को निजवैभवसे दिखलाने का निर्देषन तथा दूसरों को अपने अनुभव से परीक्षा करके ग्रहण करने की प्रेरणा	16
6	जीव प्रमत्त—अप्रमत्त दोनों दशाओं से पृथक् ज्ञायक भावमात्र है।	18
7	ज्ञानी के दर्शन—ज्ञान—चारित्र व्यवहार से कहे जाते हैं, निष्चयसे ज्ञानी तो एक 'जुद्ध ज्ञायक ही है। उसके दर्शन ज्ञान—चारित्र खण्ड परमार्थतः नहीं है।	20
8	व्यवहार के विना परमार्थ का उपदेश अषक्य है व्यवहारनय परमार्थ का प्रतिपादक है।	22
9 से 10	श्रुतकेवली का निष्चय व व्यवहार से लक्षण	25
11	व्यवहारनय अभूतार्थ है और 'जुद्धनय भूतार्थ है। भूतार्थ का आश्रय करने वाला जीव सम्यग्दृष्टि होता है।	27
12	'जुद्ध परमभाव के दर्शी जीवों को 'जुद्धनय ही प्रयोजनवान है किन्तु अपरम भावमें स्थित जीवों के लिए व्यवहारनय का उपदेश करना चाहिए।	30
13	निष्चयनयसे जाने हुए जीवादि नवतत्त्व सम्यक्त्व है, अर्थात् सम्यक्त्व के संपादक हैं	37
14	निष्चयनय आत्मा को अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविषेय और असंयुक्त निरखता है	43

15	‘ुद्धनय के विषयभूत आत्मा को निरखने वाला सर्वजिनषासन का द्रष्टा है	49
16 से 18	साधु पुरुषों को सदा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करना चाहिए, निष्चयनय से ये तीनों एक आत्मा ही हैं, उसका दृष्टान्तपूर्वक कथन	52
19	‘ुद्धनय के विषयभूत आत्मा को जब तक न जाने, तब तक वह जीव अज्ञानी है	58
20 से 22	जो परद्रव्य में आत्मा का विकल्प करता है, वह अज्ञानी है। अपने आत्मा को अपना आत्मा मानने वाला ज्ञानी है	61
23 से 25	अज्ञानी को उपदेश है यह कि जड़ और चेतन दोनों सर्वथा भिन्न द्रव्य हैं वे एक नहीं हो सकते	64
26	अज्ञानी का प्रश्न है कि यदि जीव और ‘ारीर एक नहीं है तो तीर्थङ्कर और आचार्यों की स्तुति मिथ्या हो जायगी।	68

गाथा सं०	विशय	प्रारम्भ
पृष्ठ सं०		

27 से 28	उत्तर:—व्यवहारनय जीव और ‘ारीर को एक कहता है किन्तु निष्चयनय से वे दोनों एक पदार्थ नहीं है, तो भीव्यवहारनय से छद्मस्थ ‘ान्तरूप मुद्रा को देखकर ‘ारीर के आश्रय से भी स्तुति करता है।	70
29 से 30	आत्मा तो ‘ारीर का मात्र अधिष्ठाता है वहाँ निष्चयनय से ‘ारीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन नहीं बनता, उसका उदाहरण पूर्वक वर्णन	73
31 से 33	प्रभु की निष्चयस्तुति का वर्णन	76
34 से 35	ज्ञानी होने पर जिज्ञासा कि परद्रव्य का प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग क्या है? उसका समाधान कि अपने से अतिरिक्त सर्व पदार्थ पर है ऐसा जानकर दृढतर ज्ञान होना प्रत्याख्यान है। उसका दृष्टान्तपूर्वक वर्णन	83
36 से 38	अनुभूति होने पर भेदज्ञान व निजके अभेदज्ञान का प्रकार	88

2—जीवाजीवाधिकारः

39 से 43	जीव, अजीव दोनों बन्ध-पर्यायरूप होकर एक देखने में आते हैं, उनमें अज्ञानी जीवों की अध्यवसानादि भावरूपसे जीवकी अन्यथा कल्पनाओं का पांच गाथाओं में वर्णन व अन्त में अज्ञानी की ‘ांकावों का संक्षिप्त समाधान	95
44 से 48	जीव का अन्यथा स्वरूप कल्पना करने वालों को प्रतिबोधन कि अध्यवसानादि भाव पुद्गलमय हैं, जीव नहीं हैं। इनको व्यवहार से जीव कहा गया है, इसका अन्त में दृष्टान्तपूर्वक वर्णन	101
49	परमार्थ जीव का सहज स्वरूप	110
50 से 55	वर्ण को आदि लेकर गुणस्थान पर्यंत भाव ये जीव नहीं हैं इसका विवरण	114
56 से 60	वर्णादिक भाव जीव के हैं ऐसा व्यवहारनय कहता है, निष्चयनय नहीं कहता उसका दृष्टान्तपूर्वक वर्णन	120
61 से 68	वर्णादिक भावों का जीवके साथ तादात्म्य मानने का निषेध	128

3 कर्तृ—कर्माधिकार

69 से 70	जब तक अज्ञानी जीव क्रोधादिक में बर्तता है, तब तक उसके बन्ध होता रहता है।	143
71 से 72	आस्रव और आत्मस्वरूपका भेदज्ञान होने पर बंध नहीं होता।	
73	आस्रवों से निवृत्त होने का विधान।	

74	ज्ञान होना और आस्रवों से निवृत्ति होना एक ही काल में है इसका कथन	155
75	ज्ञानस्वरूप हुए आत्मा का परिचायक चिन्ह	158
76 से 79	आस्रव और आत्मा का भेदज्ञान होनेपर आत्मा ज्ञानी होता है, और तब कर्तृ-कर्मभाव का आषय भी नहीं रहता।	161
80 से 82	जीव और पुद्गल के निमित्त-नैमित्तिक भाव होने पर भी कर्तृ-कर्म भाव नहीं है।	169
83	निष्चयनय से आत्मा अपना ही कर्ता-भोक्ता है पुद्गल कर्म का कर्ता-भोक्ता नहीं है।	172
84	व्यवहारनय से आत्मा के पुद्गलकर्मकर्तृत्व का और पुद्गलकर्मभोक्तृत्व का कथन	175
85 से 86	आत्म को पुद्गलकर्म का कर्ता-भोक्ता मानने पर आत्मा व पुद्गल में अभिन्नत्वका प्रसंग आएगा, जोकि जिनदेवका मत नहीं है। अतः स्व व पुद्गलकर्म दोनों को आत्मा करता है ऐसा माननेवाला भी मिथ्या दृष्टि है।	177
गाथा सं०		प्रारम्भ
पृष्ठ सं०		
87 से 88	मिथ्यात्वादि आस्रव, जीव अजीव के भेद से दो-दो प्रकार के हैं ऐसा निरूपण और उसका हेतु से समर्थन।	182
89 से 92	अनादि से उपाधिसंयोगवष आत्मा के मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति ये तीन परिणाम होते चले आ रहे हैं। जब इन तीन प्रकार के परिणामों का कर्तृत्व होता है, तब पुद्गलद्रव्य स्वयं कर्मरूप परिणमित होता है।	186
93	परमें आत्मत्व विकल्प न करने से आत्मा कर्म का कर्ता नहीं होता।	193
94 से 95	अज्ञान से कर्म किस प्रकार उत्पन्न होता है? उसका निरूपण	195
96	अज्ञानवष जीव परको व आत्मा को एक मानता है।	199
97	ज्ञान होने पर यह जीव समस्त कर्तृत्व विकल्प को छोड़ देता है।	202
98 से 99	व्यवहार से जीव को पुद्गल कर्म का कर्ता कहते हैं, किन्तु निष्चयतः जीव को पुद्गलकर्मका कर्ता मानने में दोष है उसका निरूपण।	206
100	आत्मा निमित्त-नैमित्तिक भावसे भी पुद्गल कर्म का कर्ता नहीं है। जीवका मात्र योग-उपयोग निमित्त-नैमित्तिक भाव से कर्ता है। योग उपयोग का जीव कर्ता है।	209
101	जो आत्मा को परका अकर्ता जानता है वह ज्ञानी है	211
102 से 104	अज्ञानी भी परद्रव्य के भाव का कर्ता नहीं है मात्र अपने 'भूभाषुभ भाव का कर्ता है; इसका संयुक्तिक स्पष्टीकरण	213
105 से 108	जीव के निमित्तमात्र होने पर कर्मका परिणमन देखकर उपचार से कहा जाता है कि यह कर्म जीवने किया। उसका उदाहरणपूर्वक कथन।	218
109 से 112	मिथ्यात्वादि सामान्य आस्रव और उसके विशेष रूप तेरह गुणस्थान ये बंधके कर्ता हैं। निष्चय से जीव कर्मका कर्ता नहीं है।	224
113 से 115	जीव और प्रत्ययों (आस्रवों) में एकत्व नहीं है। दोनों भिन्न-भिन्न हैं इसका विवरण	228
116 से 125	सांख्यान्यायी लोग पुरुष और प्रकृतिको अपरिणामी मानते हैं, उसका निषेध करके पुरुष और पुद्गल को परिणामी सिद्ध करने का निरूपण	231
126 से 131	ज्ञानसे ज्ञानमय भाव और अज्ञानसे अज्ञानमय भाव ही उत्पन्न होता है।	

	इसकी उदाहरणपूर्वक सिद्धि	238
132 से 136	अज्ञानी जीव के द्रव्यकर्मबंध में निमित्तरूप होने वाले अज्ञानादि भावों का हेतुत्व।	247
137 से 140	पुद्गल और जीव दोनों के परिणाम एक दूसरे से पृथक् हैं। इसका वर्णन	250
141	कर्म जीव में बद्धस्पृष्ट है अथवा अबद्धस्पृष्ट? इसका नयविभाग से समाधान	255
142 से 144	नयपक्षों से रहित आत्मा कर्तृकर्मभावसे रहित समयसार अर्थात् द्रव्यतः 'जुद्ध आत्मा है।	256

4—पुण्य—पाप अधिकार

145	'जुभाषुभ कर्म दोनों के ही आत्मा के लिये अहितकरपने का निर्देष।	
146	'जुभाषुभ दोनों ही भाव अविषेषता से कर्मबन्ध के कारण हैं।	273
147 से 150	'जुभाषुभ दोनों कर्मों से राग व संसर्ग छोड़ने का उपदेश व कर्मों से राग संसर्ग करने से हानि का उदाहरणपूर्वक निरूपण	275
151	ज्ञानही मोक्षका कारण है इसकी सिद्धि	279
	गाथा सं०	विशय
	प्रारम्भ	
	पृष्ठ सं०	
152 से 153	अज्ञान—पूर्वक किए गए व्रत नियम, 'गील और तप से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।	281
154	परमार्थ से बाह्य जीव अज्ञान से मोक्ष का हेतु न जानते हुए संसार के हेतुभूत पुण्य को मोक्षहेतु समझकर पुण्य कर्मों में आसक्त रहते हैं।	284
155	जीवादि पदार्थों का श्रद्धान, उनका अधिगम और रागादिक का परिहार, इस रत्नत्रयभाव की मोक्ष—मार्ग रूपता का वर्णन	286
156	परमार्थरूप मोक्ष के कारण से भिन्न अन्य कर्मों का निषेध।	288
157 से 159	कर्म मोक्ष के कारण का घात करता है उसका दृष्टान्तपूर्वक निरूपण	290
160	कर्म से स्वयं बंधपने की सिद्धि	293
161 से 163	मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय सम्यग्दर्शन—ज्ञान—चरित्र के प्रतिपक्षी हैं।	298

5—आस्रवाधिकार

164 से 165	मिथ्यात्व, अविरति, योग और कषाय जीव अजीव के भेद से दो प्रकार के हैं। उन दोनों में परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव होने से आस्रव की उपपत्ति	300
166	ज्ञानी के आस्रवों का अभाव और पूर्वनिबद्ध कर्मों का जाननपना	303
167	राग—द्वेषमोहरूप अज्ञानमय परिणामों के ही आस्रवपने का नियमन	305
168	जीव के रागादि से असंकीर्ण भावकी संभवता का कथन	306
169	ज्ञानी के द्रव्यास्रवों के अभाव का निरूपण	308
170	ज्ञानी किस प्रकार निरास्रव होता है, ऐसी जिज्ञासा का समाधान	310
171 से 176	अज्ञानी और ज्ञानी के आस्रव की संभवता व असंभवता का युक्तिपूर्वक वर्णन	312
177 से 180	राग—द्वेष—मोह अज्ञान परिणाम ही आस्रव है, वह ज्ञानी के नहीं है। अतः ज्ञानी के कर्म बन्ध भी नहीं हैं।	320

6—संवर अधिकार

181 से 183	संवर के मूल उपायभूत भेदविज्ञान का निरूपण	327
184 से 185	भेदविज्ञान से ही 'जुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है, उसका उदाहरणपूर्वक वर्णन	332
186	'जुद्ध आत्मा को जानने से 'जुद्धात्मा की प्राप्ति है और अषुद्ध जानने से अषुद्धात्मा की प्राप्ति है, 'जुद्धात्मा की प्राप्ति से संवर है	334
187 से 192	संवर किस प्रकार से होता है इसका अनुक्रमिक वर्णन	336

7-निर्जरा अधिकार

193	द्रव्यनिर्जरा का स्वरूप व द्रव्यनिर्जरा का कारण	344
194	भावनिर्जरा का स्वरूप व भावनिर्जरा का परमार्थ आधार	347
195	पुद्गलकर्मोदय का उपभोग होने पर कर्म से न बँधने का आधार ज्ञानसामर्थ्य	349
196	विषयोपभोग होने पर भी कर्मसे न बँधने का आधार तीव्र वैराग्य सामर्थ्य	350
197	ज्ञान व वैराग्य के सामर्थ्य का दृष्टान्तपूर्वक स्पष्टीकरण	352
198 से 199	सम्यग्दृष्टि सामान्यरूपसे तथा विशेषरूपसे स्वपरको स्वभाव रूप व अस्वभावरूप उन उनके स्वलक्षणों से जानता है।	354

गाथा सं०	विशय	प्रारम्भ
पृष्ठ सं०		
200	सम्यग्दृष्टि ज्ञान-वैराग्य संपन्न होने से कर्मविपाकप्रभव भावों को छोड़ देता है	357
201 से 202	रागी जीव सम्यग्दृष्टि क्यों नहीं होता इसका सयुक्तिक समाधान	360
203	अपने एक 'षष्ठ अविचार ज्ञायक पद में स्थिर होने का उपदेश	363
204	आत्मा के एक ज्ञायक स्वभाव पदका आलम्बन ही मोक्ष का कारण है। आत्मा का परमार्थ पद अभेद है ज्ञानमें जो भेद हैं वे कर्मके क्षयोपषमके निमित्त से हैं।	366
205	ज्ञानस्वभावमय पद ज्ञानसे ही प्राप्त होता है। ज्ञानगुणसे रहित लोक ज्ञानस्वरूप पद को प्राप्त नहीं कर सकते।	369
206	ज्ञानपद में ही रमण करने व तृप्त रहने में उत्तम सुख का लाभ	371
207	ज्ञानी परद्रव्य को क्यों नहीं ग्रहण करता है?	373
208 से 209	परिग्रह के त्याग का परमार्थ विधान	375
210 से 213	ज्ञानी के अज्ञानमय भाव रूप इच्छा के नहीं होने के कारण धर्म, अधर्म, आहार, पानेका परिग्रह नहीं है।	377
214	ज्ञानी सर्वत्र निरालम्ब निश्चित ज्ञायक भावरूप है इसका सकारण समर्थन	385
215 से 217	उत्पन्न उदय का भोग उपभोग ज्ञानी के वियोगबुद्धि से होता है। अनागत उदय की ज्ञानी वाञ्छा नहीं करता, वह जानता है कि वेदकवेद्यभाव समय-समयपर नष्ट हो जाते हैं। एक वस्तुविषयक वेदक वेद्य भाव युगपत् हो ही नहीं सकते, इसलिए उसके बंध और उपयोग के निमित्त भूत संसार-देह-सम्बन्धी राग नहीं होता।	387
218 से 219	ज्ञानी कर्मों के बीच पड़ा हुआ भी कर्मों से लिप्त नहीं होता, जैसे कि सुवर्ण कीचड़में पड़ा हुआ भी कीचड़ में लिप्त नहीं होता, अज्ञानी	

	कर्मरजसे लिप्त होता है, जैसे कीचड़ में पड़ा हुआ लोहा कीचड़ से लिप्त हो जाता है।	394
220 से 223	ज्ञान स्वभाव को छोड़कर अज्ञान से परिणत हुआ जीव अज्ञानी होता है इसका दृष्टान्तपूर्वक समर्थन	397
224 से 227	कर्मफल की इच्छा करने वाला कर्मसे लिप्त होता है, बिना बांछा कर्म करे तो लिप्त नहीं होता इसका दृष्टान्तपूर्वक स्पष्टीकरण	401
228	सम्यग्दृष्टि आत्मा स्वरूपमें निःषंक होने के कारण इहलोक, परलोक, वेदना, अरक्षा, अगुप्ति, मरण और आकस्मिक इस प्रकार सातों भयों से विमुक्त रहता है	405
229 से 236	निःषंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना—सम्यग्दर्शन के इन आठ अंगों का निष्चयनय की प्रधानता से दिग्दर्शन	409
8—बंध अधिकार		
237 से 241	उपयोग में रागादिकका करना ही बंध का कारण है उसका सदृष्टान्त कथन	421
242 से 246	सम्यग्दृष्टि उपयोग में रागादिक नहीं करता और न रागादिक का स्वामी होता है। इस कारण सम्यग्दृष्टि के बंध नहीं होता, इसका सदृष्टान्त कथन	427
गाथा सं०	विशय	प्रारम्भ
पृष्ठ सं०		
247	ज्ञानी और अज्ञानी का परिचय	431
248 से 258	किसी को जीवित करने का, मारने का, दुःखी—सुखी करने का अध्यवसान प्रगट अज्ञान है, मिथ्याभाव है, इसका संयुक्तक विवरण	432
259 से 264	उक्त अज्ञानमय अध्यवसान ही बन्ध का कारण है	444
265	अपना अध्यवसान भाव ही बन्धका कारण है, अन्य कोई भी आश्रयभूत वस्तु बन्धका कारण नहीं।	451
266 से 267	अध्यवसान अपनी अर्थक्रिया करने वाला न होने से मिथ्या है	454
268 से 269	मिथ्यादृष्टि जीव क्रियागर्भ, विपच्यमान व ज्ञायमान संबंधित अज्ञानरूप अध्यवसान से अपनी आत्मा को अनेक अवस्थारूप कर डालता है	458
270	जिनके उक्त तीनों ही प्रकार के अज्ञानरूप अध्यवसान नहीं है, वे 'जुभ अषुभ किसी कर्मसे लिप्त नहीं होते इसका विवरण	461
271	अध्यवसान के अर्थ का 7 नामों से स्पष्टीकरण	464
272	अध्यवसान के निषेध से पराश्रित समस्त व्यवहारनय का निषेध हो जाता है	466
273	केवल व्यवहार का आलम्बन अभव्य भी करता है, पर भूतार्थस्वरूपकी श्रद्धा नहीं होने से व्रत, समिति गुप्ति पालकर और ग्यारह अंग पढ़कर भी वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही है, उसे मोक्ष नहीं है	468
274	'गास्त्रों का ज्ञान होने पर भी अभव्य जीव अहजात्मस्वरूपकी श्रद्धा नहीं होने से गुण विकास नहीं कर पाता	469
275	अभव्य को धर्म की श्रद्धा भोग के निमित्त है, कर्मक्षय के निमित्त नहीं है	472
276 से 277	रत्नत्रयविषयक व्यवहार और निष्चय का स्वरूप	474
278 से 280	रागादिक भावों का निमित्त परद्रव्य है, आत्मा नहीं	477

281 से 282	आत्मा रागादिका कर्ता किस रीति से है, उसका कथन	480
283 से 287	द्रव्य और भाव में निमित्त-नैमित्तिकता का उदाहरण देते हुए आत्मा के विकारा कर्तृत्व का समर्थन	484

9-मोक्ष अधिकार

288 से 290	जो जीव बन्धका तो छेद नहीं करता परन्तु मात्र बंध के स्वरूपको जानकर ही सन्तुष्ट होता है, वह मोक्ष प्राप्त नहीं करता। मोक्ष तो बन्ध के छेदनसे ही होता है।	492
291	जैसे बन्ध की चिन्ता करने-पर भी बन्ध नहीं छूटता वैसे ही मात्र कर्मबन्धविषयक चिन्तन से ही बंध नहीं हटता	495
292 से 293	बन्धस्वभाव व आत्मस्वभाव को जानकर बन्धसे विरक्त होनेसे हो सकने वाले बन्धके छेदन-से ही मोक्ष होता है	496
294	कर्मबंधके छेदने का कारण प्रजारूप 'इन्द्र ही है	499
295	प्रजारूप करण से आत्मा और बन्ध दोनों को पृथक् करके प्रज्ञा से ही आत्मा को ग्रहण करने और प्रज्ञा से ही बंध को छेदने का उपदेश	503
296	जैसे प्रज्ञा के द्वारा आत्मा को बन्धसे विभक्त किया, वैसे ही प्रज्ञा द्वारा ही आत्माको ग्रहण करना चाहिये	504
297 से 299	आत्मा को प्रज्ञा द्वारा किस प्रकार ग्रहण करना चाहिये इसका सामान्य विधिसे व विशेष विधिसे कथन	506

गाथा सं० पृष्ठ सं०	विशय	प्रारम्भ
300	चिन्मयभावको ही स्व मानने वाला अन्य भाव को कभी स्वीकार नहीं कर सकता	512
301 से 303	परद्रव्यको ग्रहण करने वाला अपराधी है, अतः वह बन्धन में पड़ता है, परद्रव्य को ग्रहण करने का अपराध न करनेवाला बन्धन में नहीं पड़ता	514
304 से 305	'बुद्ध सहजात्मस्वरूप की दृष्टि से हटना अपराध है, स्वरूपपाराधना के बलसे निरपराध हुआ आत्मा निःषंक व निर्बन्ध होता है	517
306 से 307	प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमण से रहित अप्रतिक्रमणादिस्वरूप तीसरी अवस्था से आत्मा निर्दोष होता है। इस सहज स्वरूपकी उपलब्धिके बिना द्रव्यप्रतिक्रमणादिसे भी मोक्षमार्ग नहीं मिलता	511

10-सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार

308 से 311	आत्मा के अकर्तृत्व का संयुक्ति का सोदाहरण आख्यान	527
312 से 313	आत्मा व प्रकृति का परस्पर निमित्त से बन्ध और बन्ध का मूल कारण जीवका अज्ञानभाव	531
314 से 315	जब तक आत्मा प्रकृति के निमित्त से उत्पन्न होना और नष्ट होना न छोड़े तब तक अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि, असंयत है। छोड़ने पर ज्ञाता द्रष्टा संयमी होता है	533
316	कर्तृत्व की तरह भोक्तृत्व भी आत्मा का स्वभाव नहीं है, जीव अज्ञान से ही भोक्ता होता है।	536
317	जैसे मीठे दुग्ध को पीते हुए भी सर्प निर्विष नहीं होते, इसी प्रकार भलीभांति 'गास्त्रों को पढ़कर भी अभव्यजीव प्रकृतिस्वभावको नहीं छोड़ता,	

	अतः वह भोक्ता ही है	538
318	ज्ञानी कर्मफलका भोक्ता नहीं है वह तो कर्मफलका मात्र ज्ञाता है	540
319 से 320	ज्ञानी कर्ता-भोक्ता नहीं है, मात्र ज्ञाता द्रष्टा है इसका दृष्टान्तपूर्वक कथन	542
321 से 323	जो आत्मा को संसार का कर्ता मानते हैं उनको भी लौकिक पुरुषों की भांति नित्यकर्तृत्व का प्रसंग आने से मोक्ष नहीं होता	546
324 से 327	जो व्यवहारभाषा को ही निष्चय मानकर आत्मा को परद्रव्य का कर्ता मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं। ज्ञानीजन निष्चय से जानते हैं कि परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है। तो तथ्य से अपरिचित हैं वे ही परद्रव्य के विषय में कर्तृत्व का आषय रखते हैं	549
328 से 331	अज्ञानी (मिथ्यादृष्टि) ही अपने भावकर्मका कर्ता है, इसका युक्तिपूर्वक कथन	553
332 से 344	आत्मा का कर्तृत्व और अकर्तृत्व जिस तरह है उस तरह 'का समाधानपूर्वक स्याद्वाद द्वारा सिद्ध करना।	558
345 से 348	जो कर्म को करनेवाला है भोगने वाला वही है अथवा दूसरा ही है, इन दोनों एकान्तों का युक्तिपूर्वक निषेध	569
349 से 355	कर्ता-कर्म का तथा भोक्ता-भोग्य का भेद-अभेद जिस प्रकार है, उसी प्रकार से नयके विभाग से दृष्टान्तद्वारा वर्णन।	574
356 से 365	निष्चय और व्यवहार के कथन की खड़िया के दृष्टान्त से स्पष्टीकरण	581
	गाथा सं०	विशय
	पृष्ठ सं०	प्रारम्भ
366 से 371	ज्ञान और ज्ञेय सर्वथा भिन्न हैं, ऐसा जानने के कारण सम्यग्दृष्टि को विषयों में, कर्मों में, कार्यों में राग-द्वेष नहीं होता। राग-द्वेषकी खान अज्ञानभाव है।	595
372	अन्यद्रव्य अन्यद्रव्य में कुछ भी गुणोत्पाद नहीं कर सकता	599
373 से 382	स्पर्ष आदि पुद्गलके परिणाम आत्मा को प्रेरणा नहीं करते कि तुम हमको ग्रहण करो और आत्मा भी अपने स्थानसे छूटकर उनमें नहीं जाता, परन्तु अज्ञानी जीव वृथा राग-द्वेष करके विषयों का निग्रह अनुग्रह भाव करता है	605
383 से 386	प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना का परमार्थ स्वरूप	611
387 से 389	कृत-कारित-अनुमोदनासे, मन वचन कायसे, अतीत वर्तमान और अनागत कर्मके त्याग को 49-49 भंगों द्वारा कथन करके कर्मचेतना के त्याग का विधान तथा 148 प्रकृतियों के त्याग का कथन करके कर्मफलचेतना के त्याग का विधान	615
390 से 404	ज्ञानकी समस्त अन्यद्रव्यों से भिन्नता का कथन व आत्मपरिणामों की ज्ञानरूपता का कथन	636
405 से 407	अमूर्तीक आत्मा के पुद्गलमय देह नहीं है, फिर अन्य द्रव्य का ग्रहण त्याग कैसा?	644
408 से 410	पराश्रित होनेसे देहलिंग मोक्षमार्ग नहीं है। आत्माश्रित होनेसे सभ्यगदर्शन ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है	647
411	चूंकि द्रव्यलिंग ही मोक्षमार्ग नहीं है, अतः समस्त लिंग का ममत्व त्याग	

- करके आत्माको दर्शन—ज्ञान—चारित्र में लगाने की प्रेरणा 650
- 412 भव्यजीव को सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप मोक्षमार्ग में स्थापन करने का, उसीका ध्यान करनेका, उसीको अनुभव करने का तथा उसीमें निरन्तर विहार करने का उपदेश 652
- 413 जो द्रव्यलिंग में ही ममत्व करते हैं उन्होंने समयसार को नहीं जाना है। 655
- 414 व्यवहारनय मुनि और श्रावक के लिंग को मोक्षमार्ग कहता है, निष्चयनय किसी भी लिंग को मोक्षमार्ग नहीं कहता 657
- 415 जो इस समयप्राभूत को पढ़कर अर्थ और तत्त्व से जानकर इस ही के अर्थभूत परमब्रह्म—स्वरूप में स्थित होता है वह उत्तम सुखमय होता है। 659

प्रारम्भिक 5 गाथाओं के नामसंज्ञ व धातुसंज्ञ प्रकाशित होने से रह गये हैं उनका विवरण

गाथा 1—नामसंज्ञ—सव्वसिद्ध, ध्रुव, अचल, अणोवम, गइ, पत्त, समयपाहुड, इम, ओ, सुय केवलिभणिय। धातु—संज्ञ—वंद स्तुतौ, वच्च व्यक्तायां वाचि।

गाथा 2—नामसंज्ञ—जीव, चरित्तदंसणणाणटिठउ, त, हि ससमय पुग्गलकम्मपदेसट्ठिय, त, परसमय। धातु—संज्ञ—जाण अवबोधने।

गाथा 3—नामसंज्ञ—एयत्तणिचछयगअ, समअ, सव्वत्थ, सुंदर, लोय, बंधकहा, एयत्त, त, विसंवादिणी। धातु संज्ञ—हो सत्तायां।

गाथा 4—नामसंज्ञ—सुदपरिचिदाणुभूदा, सव्व, वि, कामभोगबंधकहा, एयत्त, उवलंभ, णावरि, ण, सुलह, विहत्त। धातुसंज्ञ—भुंज भोगे, बंध बंधने।

गाथा 5—नामसंज्ञ—त, एयत्तविहत्त, अप्प, सविहव, जदि, पमाण, छल, ण। धातुसंज्ञ—दरस दर्षनायां, चुक्क भ्रंषने, घत्त गवेषणे, गह ग्रहणे।

नोट—प्राकृतपदविवरण संस्कृतपदविवरण के साथ दिये गये। केवल 2-1 जगह अन्तर आवेगाजहाँ संस्कृतपद द्विवचन की जगह प्राकृतपद बहुवचन आता है। सो वहां प्राकृत पद के साथ विभिवित्त अलग-अलग दी गई है।

कहाँ क्या सुधारें

अशुद्ध	‘ुद्ध	पृष्ठ पंक्ति	अशुद्ध	‘ुद्ध	पृष्ठ पंक्ति
चतुर्दशाङ्गी—सप्तदशाङ्गी		प्र-11	भावा—नालोकांता—भावाना लोकांता		325-2
एयत्तस्तुवलंभी—एयत्तस्सुवलंभी		14-3	प्रतिष्ठितं।—प्रतिष्ठितं,		328-1
ज्ञानिना—ज्ञानिनो		21-1	मुपलभमानः—मुपलभमानः		335-1
परमार्थ प्रतिपादकत्व—परमार्थ—प्रतिपादकत्व		25-1	ज्ञानवैराग्य—ज्ञानवैराग्याभ्यां		356-10
चेतनेतपर—चेतनेतर		25-14	अनत्मा—अनात्मा		360-8
स्थानीय परम—स्थानीयपरमं		32-1	सर्वज्ञान—सर्व ज्ञान		366-4
निज्रयंनिर्जरकोभयं—निज्रयं—निर्जरकोभयं		37-10	अतऽह—अतोऽह		375-1
वर्तमान—वर्तमान		41-4	अतः—अतः सुखितदुःखितान् करोमि		440-1
नात्मात्नात्मना—नात्माऽनात्मना		63-6	ततोबंध निमित्ता—ततो बंध निमित्ता		462-6
पद्गलद्रव्यञ्च—पुद्गलद्रव्यं च		66-3	सर्वताध्यव—सर्वत्राध्यव		465-1
रपि कथमपि—अयि कथमपि		67-3	पुणा य—पुणो य		472-2

इन्दिये—इंदिये	76-2	निकावरक्षाचा—निकायरक्षा चा	474-13
मान माया—मानमाया	81-11	ज्ञानी भी—ज्ञानी भि	477-7
सर्वाष्वप्यवस्थासु—सर्वास्वप्यवस्थासु	128-8	तस्तु—तैस्तु	483-6
पर्याप्तापर्याप्ता—पर्याप्मापर्याप्ता	137-7	तथासति—तथा सति	486-4
वर्णादिमान्—वर्णादिमान्	138-2	निर्मित्तक—निर्मित्तनैमित्तिक	488-1
वर्त्त—वर्त्त	144-2	गुणस्तु—गुणास्तु	488-10
जावनिबद्धा—जीवनिबद्धा	155-6	द्विधाकनणं—द्विधाकरणं	493-4
कुर्वाणः—कुर्वाणः	178-10	तु उ—उ	496-2
ततोऽयमात्म—ततोऽयमात्मा	197-9	293 पद्य बंध तथा आत्मा के स्वभाव को जानकर स्वलक्षण से	498-4
किलज्ञानी—किलाज्ञानी	202-9	हुआ बुध, —हुआ जो,	498-5
जुदे—जुद्धे	220-2	निपतितरभसा—निपतति रभसा	502-1
यतो खल्वात्मा—यतो न खल्वात्मा	226-3	बन्धों से—बन्धों का	503-4
एवमिह—एवमिह	228-4	करता—करना	503-4
चव—चैव	228-14	तेऽहं नास्मि—तेऽहं नास्मि	513-1
वस्तु—वस्तु	232-1	मुपेत्यनित्य—मुपेत्य नित्य	524-3
परिणम—परिणाम	248-11	अन्य उनसे—अनन्य है उनसे	527-9
‘भुभाषुभ प्रवृत्ति—षुभाषुभप्रवृत्ति	249-1	कारण भावो—कारणभावो	529-1
करेणु कुट्टिनी—करेणुकुट्टिनी	275-8	भवेत्तान्मिथ्या—भवेत्तावन्मिथ्या	533-9
संसर्ग—संसर्ग	276-10	निष्चिनुमःकिंच—निष्चिनुमः । किंच	563-1
पवट्ठंति—पवट्ठंति	228-2	जिन समयसे—जिनसमयसे	569-14, 16
ततो—ततो हेत्वभावे	320-12	त्यौं—यौं	575-9
अशुद्ध ‘गुद्ध	पृष्ठ पंक्ति	138वें पेज पर 67वां कलष लिखना गाथा टीका के अन्त में 40	
आश्रय—आषय	582-13	घृतकुम्भाभिधानेपि कुम्भो घृतमयो न चेत्	
चेतयितुनिमित्तकेन—चेतयितुनिमित्तकेन	591-6	जीवो वर्णादिमज्जीवजल्पनेपि न तन्मयः ॥ 40 ॥	
लादि पर—लादिपर	592-2	230वें पेज पर 125 गाथा टीका के अन्त में 65वां कलष लिखें—	
पूर्वकृत—पूर्वकृतं	612-1	स्थितेति जीवस्य निरन्तराया स्वभावभूता	
यास ण याणाए—यासं ण याणए	637-3	परिणामषक्तिः ।	
घम्मांघम्मं—धम्मांघम्मं	637-10	तस्यां स्थितायां स करोति भावं यं स्वस्य तस्यैव	
मध्वसानं—मध्यवसानं	639-13	भवेत्स ।	
त्वरूपं—स्वरूपं	643-1	कर्ता ॥ 65 ॥	
गृहीतुं—गृहीतुं	645-5		
विहार्षा—विहार्षी	652-5		

अपनी बातचीत

अयि आत्मन्! तू क्या है? विचार! ज्ञानमय पदार्थ!! तेरा इन दृष्टियों के साथ क्या कोई सम्बन्ध है यथार्थ? नहीं, नहीं, कुछ भी सम्बन्ध नहीं! क्यों नहीं? यों कि “कोई किसी का कुछ भी परिणामन कर नहीं सकता”। मैं ज्ञानमय आत्मा हूँ, हूँ, स्वयं हूँ, इसीलिये अनादिसे हूँ, मैं किसी दिन हुआ होऊँ, पहिले न था यह बात नहीं। न था तो फिर हो भी नहीं सकता। फिर ध्यान दे—इस नर जन्म से पहिले तू था

ही! क्या था? अनंतकाल तो निगोदिया था। वहां क्या बीती? एक सेकिण्ड में 23 बार पैदा हुआ और मरा। जीभ, नाक, आंख, कान, मन तो था ही नहीं और था 'रीर। ज्ञानकी ओर से देखो तो जड़सा रहा; महासंक्लेश! न कुछ से बुरी दशा। सुयोग हुआ तब उस दुर्दशा से निकला। पृथ्वी हुवा तो खोदा गया, कूटा गया, ताड़ा गया, सुरंग से फोड़ा गया। जल भी तो तू हुआ, तब औटाया गया, विलोरा गया, गर्म आग पर डाला गया। अग्नि हुआ, तब पानी से, राखसे, धूलसे, बुझाया गया, खुदेरा गया। वायु हुआ, तब पंखों से, बिजलियों से ताड़ा गया, रबर आदि में रोका गया। पेड़, फल, पत्र जब हुआ, तब...काटा, छेदा, भूना, सुखाया गया। कीड़े भी तुम्हीं बने और मच्छर, मक्खी, बिच्छू आदि भी! ब्ताओ कौन रक्षा कर सका? रक्षा तो दूर रही, दवाइयों डाल डाल कर मारा गया, पत्थरों से, जूतों से, खुरों से दबोचा व मारा गया। बैल, घोड़े, कुत्ते आदि भी तो तू हुआ। कैसे दुःख भोगे? भूखे प्यासे रहे, ठंडों मरे, गर्मियों मरे, ऊपर से चाबुक लगे, मारे गये। 'तूकर मारे जाते हैं चलते फिरतों को छुरी भोंककर। कहीं तो जिन्दा ही आग में भूने जाते हैं।

यह दूसरों की कथा नहीं, तेरी है। यह दशा क्यों हुई? मोह बढ़ाये; कषाय किये; खाने, पीने, विषयों की धुन रही; नाना कर्म बांधे; मिथ्यात्व, अन्याय, अभक्ष्यसेवन किये। बड़ी कठिनाई से यह मनुष्यजन्म मिला तब यहां भी मोहराग द्वेष विषय कषाय की ही बात रही। तब...जैसे मनुष्य हुए, न हुए बराबर है। कभी ऐसा भी हुआ कि तूने देव होकर या राजा, सम्राट्, महान् धन-पति होकर अनेक संपदा पाई परन्तु वह सभी संपदायों थीं तो असार और क्लेश की कारण!! इतने पर भी उन्हें छोड़ कर मरना ही तो पड़ा! अबतो पाया ही क्या? न कुछ। न कुछ में व्यर्थलालसा रख कर क्यों अपनी सर्व हानि कर रहे हो? आत्मन्! तू स्वभावसे ज्ञान-मय है, प्रभु है, स्वतन्त्र है, सिद्ध परमात्मा की जाति का है। क्या कर रहा? उठ, चल, अपने स्वरूपमें बस। तू अकेला है, अकेला ही पुण्य-पाप करता, अकेला ही पुण्य-पाप भोगता, अकेला ही 'ुद्ध स्वरूपकी भावना करता, अकेला ही मुक्त हो जाता। देख! चेत! पर पर ही है, परमें निजबुद्धि करना ही दुःख है, स्वयं में आत्मबुद्धि करना सुख है, हित है, परम अमृत है। वह तू ही तो स्वयं है। परकी आषा तज, अपने में मग्न होने की धुन रख। सोच तो यही सोच—परमात्मा का स्वरूप...उसकी भक्ति में रह। लोगों को सोच, तो उनका जैसे हित हो उस तरह सोच। बोल तो यही बोल—'बुद्धात्माका गुण गान...इसकी स्तुति में रह। लोगों से बोल, तो हित, मित, प्रिय वचन बोल। कर, तो ऐसा कर जिसमें किसी प्राणी का अहित न हो, घात न हो। अपनी चर्या धार्मिक बनाओ। तू 'ुद्ध चैतन्य स्वभावी है; सहजभावका अनुभव कर। जप, जपः—'बुद्धचिद्रूपोऽहम्'

शिवमस्तु

परमात्म आरती

जय जय अविकारी ।

जय जय अविकारी, स्वामी-जय जय अविकारी ।

हितकारी भयहारी, 'ाष्वत स्वविहारी । ।।टेक ।।

काम क्रोध मद लोभ न माया, समरस सुखधारी । स्वामी सम०

ध्यान तुम्हारा पावन, सकल क्लेशहारी । जय ।।1 ।।

हे स्वभावमय जिन तुमि चीना, भव संतति टारी । स्वामी भव०

तुव भूलत भव भटकत, सहत विपति भारी । जय ।।2 ।।

परसंबंध बंध दुख कारण, करत अहित भारी । स्वामी करत...

परम ब्रह्म का दर्शन, चहुँगति दुखहारी । जय ।।3 ।।

ज्ञानमूर्ति हे सत्य सनातन, मुनिमन संचारी । स्वामी मुनि....

निर्विकल्प शिवनायक, 'ुचिगुण भंडारी । जय ।।4 ।।

बसो बसो हे सहज ज्ञानधन, सहज 'ान्तिचारी । स्वामी सहज....

टलें टलें सब पातक, परबल बलधारी। जय ॥5॥

आत्म भक्ति

मेरे 'गणित' 'रण, सत्य तारणतरण ब्रह्म प्यारे।
 तेरी भक्ती में क्षण जाँय सारे।।टेक।।
 ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान ही हो, कल्पनाओं का इकदम विलय हो।
 भ्रान्ति का नाश हो, 'गान्ति का वास हो, ब्रह्म प्यारे। तेरी.... ॥1॥
 सर्व गतियों में रह गति से न्यारे, सर्व भावों में रह उनमें न्यारे।
 सर्वगत आत्मगत, रत न नाहीं विरत, ब्रह्म प्यारे। तेरी.... ॥2॥
 सिद्धि जिनने भि अबतक है पाई, तेरा आश्रय ही उसमें सहाई।
 मेरे संकटहरण, ज्ञान दर्शन चरण, ब्रह्म प्यारे। तेरी.... ॥3॥
 देह कर्मादि सब जगसे न्यारे, गुण व पर्यय के भेदों से पारे।
 नित्य अन्तः अचल, गुप्त ज्ञायक अमल, ब्रह्म प्यारे। तेरी.... ॥4॥
 आपका आप ही प्रेय तू है, सर्व श्रेयों में नित श्रेय तू है।
 सहजानन्दी प्रभो, अन्तर्यामी विभो, ब्रह्म प्यारे। तेरी.... ॥5॥

आत्मरमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्द स्वरूपी हूँ ॥टेक॥
 हूँ ज्ञानमात्र परभावषून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
 हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं सहजानन्द०। मैं दर्शन०॥1॥
 हूँ खुदका ही कर्ता भोक्ता, परमें मेरा कुछ काम नहीं॥
 परका न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं सहजानन्द०। मैं दर्शन०॥2॥
 आऊं उतरूँ रमलूँ निज में, निजकी निजमें दुविधा ही क्या॥
 निज अनुभवरससे सहजतृप्त, मैं सहजानन्द०। मैं दर्शन०॥3॥

मंगलतंत्र

नमः 'बुद्धाय, 'बुद्ध चिदस्मि
 मैं ज्ञानमात्र हूँ, मेरे स्वरूपमें अन्यका प्रवेश नहीं, अतः निर्भार हूँ।
 मैं ज्ञानघन हूँ, मेरे स्वरूपमें अपूर्णता नहीं, अतः कृतार्थ हूँ।
 मैं सहज आनन्दमय हूँ, मेरे स्वरूपमें कष्ट नहीं, अतः स्वयंतृप्त हूँ।

नमः 'बुद्धाय, 'बुद्ध चिदस्मि ।

आत्म कीर्तन

हूं स्वतन्त्र निष्कल निष्काम, ज्ञाता द्रष्टा आत्म राम ॥टेक॥
 मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान ।
 अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहाँ राग वितान ॥1॥
 मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित 'वित्त सुख ज्ञान निधान ॥
 किन्तु आष वष खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥2॥
 सुख दुख दाता कोइ न आन, मोह राग रुष दुख की खान ॥
 निज को निज परको पर जान, फिर दुखका नहीं लेष निदान ॥3॥
 जिन षिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ॥
 राग त्यागि पहुँचूँ निज धाम, आकुलता का फिर क्या काम ॥4॥
 होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ॥
 दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ॥5॥

पूज्यपाद—श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचितः

समयसारः

पूर्व—रंगः

पूज्यपाद—श्रीमदमृतचन्द्रसूरिकृता आत्मख्यातिः

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते ।
 चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे ॥1॥
 अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः
 अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ॥2॥

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोनुभावादविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माशितायाः ।
मम परमविशुद्धिः 'जुद्धचिन्मात्रमूर्तेर्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः ॥३॥

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री गुरुवर्य्य श्रीमत्सहजानन्दकृत चतुर्दशाङ्गी टीका

टीकागत प्रथम मंगलाचरण का अर्थ—स्वानुभव से प्रकाशमान, चैतन्यस्वभावमय, 'जुद्ध सत्तास्वरूप, सर्वभावों को एक ही समय में जानने वाले अथवा सर्व भावान्तरों को हटाने वाले समयसार के लिये नमस्कार हो ।

भावार्थ—द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्मसे रहित केवल चित्प्रकाशमय आत्मा को समयसार कहते हैं। समयसार कार्य समयसार प्रभु को भी कहते हैं और समयसार अध्यात्मोपदेश के लक्ष्यभूत परमब्रह्मस्वरूपको भी कहते हैं। सो इष्ट प्रभुको व इष्ट तत्त्व को 'समयसार' 'ब्द कहकर नमस्कार किया गया है ।

प्रसंगविवरण—पूज्य श्री आचार्य कुन्दकुन्ददेव द्वारा रचित समयप्राभूत ग्रन्थराज की आत्मख्याति नामक टीका रचते समय पूज्य श्री अमृतचन्द्र जी सूरि ने अपने इष्ट को समयसारके नाम से इस कारण नमस्कार किया है कि इष्ट देव का सामान्यस्वरूप 'जुद्ध आत्मा है। सो प्रभु द्रव्यतः 'जुद्ध अन्तः सहज चैतन्यस्वरूप है ही और पर्यायतः भी 'जुद्ध प्रभु हैं। जो द्रव्यतः सहजस्वरूप है, उसकी आराधना से ही प्रभु प्रभु हुए हैं। इसी अनादि अनन्त अहेतुक अन्तः सहजस्वरूपकी आराधना के लिये यह ग्रन्थोपदेश है। अतः समयसारके लिये यहाँ सर्वप्रथम नमस्कार किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(1) स्वानुभवसे प्रकाशमान इस विषेषण से यह सिद्ध हो गया कि आत्मा तथा ज्ञान मीमांसकसम्मत जैसा सर्वथा परोक्ष नहीं, किन्तु वह स्वानुभवसे स्वमें स्वयं स्वको जानता है। (2) इसी विषेषण से सिद्ध है कि ज्ञान नैयायिकसम्मत जैसा स्वयं अपने को नहीं जानता ऐसा नहीं, किन्तु ज्ञान स्वसंवेद्य है। (3) चित्स्वभाव इस विषेषण से सिद्ध हुआ कि नैयायिक—मीमांसकादिसम्मत जैसा गुणगुणी में सर्वथा भेद नहीं, किन्तु वस्तु गुणमय है, आत्मा चैतन्यस्वभावमय है। (4) भावाय इस विषेषण से 'नून्यवादसम्मत सर्वथा अभाववाद का निराकरण हुआ, क्योंकि आत्मा सद्भूत है। (5) सर्वभावान्तरच्छेद इस विषेषण से सर्वज्ञता की सिद्धि हुई, मीमांसकसम्मत असर्वज्ञता का एकान्त नहीं। (6) इसी विषेषण से सिद्ध है कि आत्मस्वरूप सर्वविकारों से परे है ।

सिद्धान्त—(1) परमषुद्धचित्स्वरूप आत्मा 'जुद्धनयात्मक ज्ञानानुभूति से ज्ञातव्य है। (2) ज्ञान स्वसंवेद्य है। (3) गुण गुणी में भेद नहीं है। (4) आत्मा चैतन्यात्मक स्वास्तित्व से समवेत है। (5) आत्मा सर्व परपदार्थों का ज्ञाता है। (इनकी दृष्टियाँ क्रम से निम्नांकित हैं)

दृष्टि—1—षुद्धनय (49)। 2—कारककारकिभेदक सद्भूतव्यवहार (73)। 3—परमषुद्धनिष्चयनय (44)। 4—अन्वयद्रव्यार्थिकनय (27)। 5—स्वाभाविक उपचरित स्वभावव्यवहार (105)।

प्रयोग—सहजसिद्ध अन्तस्तत्त्व की अर्थात् समयसार की उपासना से ही आत्मा सदा के लिये सकल संकटों से मुक्त होता है। अतः समस्त परपदार्थों का ख्याल छोड़कर अपने को सहजसिद्ध चैतन्यमात्र अन्तस्तत्त्वरूप सहज अनुभवना चाहिये, 'जुद्धं चिदस्मि। यह प्रायोगिक अन्तस्तत्त्वभक्ति ही परमार्थतः समयसार के लिये नमस्कार है ॥१॥

टीकागत द्वितीय मंगलाचरणका अर्थ—अनन्तधर्मात्मक, प्रत्यगात्मा के तत्त्व को अवलोकन करने वाली तथा दर्शाने वाली अनेकान्तमयी मूर्ति नित्य ही प्रकाशमान होओ ।

भावार्थ—जिसमें अनेक अंत (धर्म) हैं, ऐसा जो ज्ञान तथा वचन उस रूप मूर्ति नित्य ही प्रकाशरूप हो। वह मात ऐसी है कि जिसमें अनन्त धर्म हैं और कैसी है? प्रत्यक्—सजातीय विजातीय परद्रव्यों से भिन्न, परद्रव्य के गुणपर्यायों से भिन्न तथा परद्रव्य के निमित्त से हुए अपने विकारों से कथंचित् भिन्न एकाकार ऐसा जो आत्मा उसके तत्त्व को देखती है अर्थात् अवलोकन करती है। यहाँ सरस्वती की मूर्ति को आर्षीवचन रूप नमस्कार किया है। जो लोक में सरस्वती की मूर्ति प्रसिद्ध है, लोक को प्रायः उसका भाव विदित नहीं है, इसलिये उसका यथार्थ वर्णन किया है। जो सम्यग्ज्ञान है, वह सरस्वती की सत्यार्थ मूर्ति है। उसमें भी सम्पूर्ण ज्ञान तो केवलज्ञान है जिसमें सब पदार्थ प्रत्यक्ष प्रतिभासित होते हैं, वही अनन्त धर्मोसहित आत्मतत्त्वको प्रत्यक्ष देखता है और उसी के अनुसार श्रुतज्ञान है, वह परोक्ष देखता है, इसलिये यह भी उसी की मूर्ति है तथा द्रव्यश्रुत वचनरूप है सो यह भी उसी की मूर्ति है, क्योंकि वचनों द्वारा अनेक धर्म वाले आत्मा को यह बतलाती है। इस तरह सब पदार्थों के तत्त्व को जताने वाली ज्ञानरूप तथा वचनरूप अनेकांतमयी सरस्वती की मूर्ति है। इसी कारण सरस्वती के नाम वाणी, भारती, 'गारदा, वाग्देवी आदि बहुतसे कहे जाते हैं। यह अनन्त धर्मों को स्यात्पद से एक धर्मों में अविरोधरूप साधती है, इसलिये सत्यार्थ है। आत्मा का जो अनन्तधर्मा विषेषण दिया है, उसमें अनन्त धर्म कौन-कौन हैं? वस्तुमें सत्त्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व प्रदेषवत्त्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तिमत्त्व, अमूर्तिमत्त्व इत्यादि धर्म तो गुण हैं और उन गुणों का तीनों कालों में समय समयवर्ती परिणमन होना पर्याय हैं, वे अनन्त हैं तथा एकत्व, अनेकत्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, भिन्नत्व, अभिननत्व, 'बुद्धत्व, अषुद्धत्व आदि अनेक धर्म हैं, वे सामान्यरूप तो वचनगोचर हैं और विषेषरूप वचनके अविषय हैं, ऐसे वे अनन्त हैं सो ज्ञानगम्य हैं। ऐसा होने पर आत्मा भी वस्तु है, उसमें भी अपने धर्म अनन्त हैं। उसमें से चेतनत्व असाधारण है, यह दूसरे अचेतनद्रव्यमें नहीं है और सजातीय जीवद्रव्य अनन्त हैं, उनमें भी चेतनत्व है तो भी निजस्वरूपसे जुदा-जुदा सत् हैं। क्योंकि प्रत्येक द्रव्य के प्रदेष भिन्न-भिन्न हैं, इसलिए किसी का प्रदेष किसी में नहीं मिलता। यह चेतनत्व अपने अनन्तधर्मों में व्यापक है, इस कारण इसी को आत्मा का तत्त्व कहा है। उसको यह सरस्वती की मूर्ति देखती है और दिखाती है। इसलिये इस सरस्वती को आर्षीवचनरूप वचन कहा है—यह सदा प्रकाशरूप रहे। इसीसे सब प्राणियों का कल्याण होता है।

प्रसंगविवरण—समयसार तक पहुँच हो, एतदर्थ समयसारका, स्वका अध्ययन आवष्यक है। समयसारका व समस्त तत्त्वों का परिज्ञान श्रुत (आगम) के अध्ययन से होता है। वह श्रुतदेवता अनेकान्तमयी मूर्ति है उसके नित्य प्रकट प्रकाशमान होने की भावना इस कारण की गई है कि अनेकान्तात्मक 'गास्त्रोपदेष जिन जीवों को उपलब्ध होगा वे अपना कल्याण कर सकेंगे।

तथ्यप्रकाश—(1) सर्व परवस्तुओं से भिन्न, नैमित्तिक परभावों से भिन्न व अपने ही स्वरूपमें तन्मय आत्मा प्रत्यगात्मा कहलाता है। (2) प्रत्यगात्मा भी अनन्तधर्मात्मक है जैसे कि सभी पदार्थ अनन्तधर्मात्मक होते हैं। (3) अनन्त धर्मों में अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेषवत्त्व, प्रमेयत्व आदि साधारण गुण हैं। चेतनत्व असाधारण गुण हैं। अमूर्तत्व आदि अनेक साधारणसाधारण गुण हैं। इन गुणों के परिणमनरूप गुणपर्यायें हैं। आकाररूप परिणमन द्रव्यपर्यायें हैं। इन सबके अतिरिक्त एकत्व, अनेकत्व आदि अनेक धर्म हैं। इन सबमें तादात्म्यसमवेत अनन्तधर्मात्मक आत्मवस्तु है। (4) अनन्तधर्मात्मक वस्तुका प्रतिपादन करने वाली द्रव्यवाणी अनेकान्तमयी मूर्ति है।

सिद्धान्त—(1) प्रत्यगात्मा अथवा आत्मा अनन्तधर्मात्मक है। (2) आत्मा साधारण गुण, असाधारणगुण व पर्याय सामान्य आदि अनंत धर्मों से अभिन्न स्वभाव वाला है। (3) आगममें

अनन्तधर्मात्मक वस्तुका भेदविधि से भी परिचय कराया है। (4) आगम में व्यवहारी जनों के प्रतिबोधनार्थ भेदविधि से भी प्रतिपादन है। (5) आगममें लौकिक जनों को अभिप्राय, निमित्त व प्रयोजन बताने के लिये एक वस्तु का दूसरी वस्तुमें कर्तृत्व आदि बताने की भाषा से याने उपचार भाषा से भी वर्णन है।

दृष्टि—1—प्रमाणसिद्ध। 2—अन्वयद्रव्यार्थिकनय (27)। 3—व्यवहारनय (50—61)। 4—व्यवहार (62—102)। 5—उपचार (103—152)।

प्रयोग—आत्मा अनन्तधर्मात्मक है उसे नय व प्रमाण से भली प्रकार परखकर परसे विभक्त व अपने में तन्मय प्रत्यगात्मा के तथ्य का ज्ञान सतत बनाये रहना चाहिये, यही जैनशासनके अध्ययन का प्रयोजन व फल है।

टीकागत प्रतिज्ञापक छन्द का अर्थ—षुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति होनेपर भी मेरी परिणति परपरिणति का निमित्तभूत जो मोहनीय नामक कर्म है उसके अनुभाव (उदयविपाक) से अनुभाव्य (रागादि परिणाम) की व्याप्ति से निरन्तर कल्माषित (मलीन) है, सो समयसार की व्याख्या ही से मेरी इस अनुभूति की परमविषुद्धि होवे।

भावार्थ—टीकाकार पूज्य श्री अमृतचन्द्रजी सूरि कहते हैं कि मैं परमषुद्धद्रव्यार्थिक दृष्टि से 'षुद्ध चैतन्यमात्र अविकार आनन्दमय हूँ, परन्तु द्रव्य कोई परिणमे बिना रहता नहीं, मैं भी परिणम रहा हूँ, लेकिन मोहनीय नामक कर्म के उदयविपाक का निमित्त पाकर रागादि भावरूप मलिन परिणम रहा हूँ। अब मैं सहज 'षुद्ध आत्मद्रव्यका निरूपण करने वाले समयसार ग्रन्थराज की व्याख्या कर रहा हूँ सो इस व्याख्या करने का मेरा प्रयोजन यही है कि रागादि—मलिन अनुभूति दूर होवे और 'षुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव सहज आत्मतत्त्वकी अनुभूति प्रतीति चर्यारूप मेरी परमविषुद्धि होवे।

प्रसंगविवरण—टीकाकार श्री सूरिजी समयसार की व्याख्या करेंगे सो व्याख्या करने से पहिले व्याख्याका सम्बन्ध, अभिधेय, प्रयोजन व 'क्यानुष्ठान परख लेना आवश्यक है। इस छन्दमें इन्हीं चारों का प्रकाष है। सम्बन्ध—समयसार की व्याख्यान करना है सो व्याख्यान व्याख्येय सम्बन्ध प्रकट है। अभिधेय—समयसारोक्त 'षुद्धात्मस्वरूप है। प्रयोजन—समयसारकी चर्चा व आराधना के बलसे परमविषुद्धि (निर्मलता) प्राप्त करना है। 'क्यानुष्ठान—याने किया जा सकने योग्य कार्य है ही।

अथ सूत्रावतारः—

वंदित्तु सव्वसिद्धे ध्रुवमचलमणोबमं गइं पत्ते ।

वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं ।।। ।।

वंदन करि सिद्धों को, ध्रुव अचल अनूप जिन सुगति पाई ।

समयप्राभृत कहूंगा, यह श्रुतकेवलिप्रणीत अहो ।।। ।।

वंदित्वा सर्वसिद्धान् ध्रुवामचलामनुपमां गतिं प्राप्तान् । वक्ष्यामि समयप्राभृतमिदं अहो श्रुतकेवलिभणितम् ।

'वंदित्तु' इत्यादि। अथ प्रथमत एव स्वभावभावभूततया ध्रुवत्वमवलंबमानामनादि—भावांतरपरपरिवृत्तिविश्रान्तिवषेनाचलत्वमुपगतामखिलोपमानविलक्षणाद्भुतमाहात्म्यवेनाविद्यमानौ—पम्यामपवर्गसंज्ञिकां गतिमापन्नान् भगवतः सर्वसिद्धान् सिद्धत्वेन साध्यस्यात्मनः प्रतिच्छं—दस्थानीयान् भावद्रव्यस्तवाभ्यां स्वात्मनि परात्मनि च निधायानादिनिधनश्रुतप्रकाषितत्वेन निखिलार्थसार्थसाक्षात्कारिकेवलिप्रणीतत्वेन श्रुतकेवलिभिः स्वयमनुभवदिभरभिहितत्वेन च

प्रकृतिशब्द—सर्व, सिद्ध, ध्रुव, चल, उप—मा, गति, प्र—आप्त, सम्—अय, प्राभृत, इदम, अहो, श्रुतकेवलिन भणित। **मूलधातु**—वदि अभिवादनस्तुत्योः, षिधु गतौ, चल कम्पने, गम्तु, गतौ, अप्लृ लम्बने, वच परिभाषणे, अय गतौ, श्रु श्रवणे, भव 'ब्दार्थे। **पदविवरण**—वंदित्वा—असमाप्ति की क्रिया।

सर्वसिद्धान्—द्वितीया बहुवचन, असमाप्ति की क्रिया का कर्म। ध्रुवां, अचलां, अनुपमां—द्वितीया एकवचन, गतिका विषेषण। गति—द्वितीया एकवचन। प्राप्तान्—द्वितीया बहुवचन, सिद्धों का विषेषण। वक्ष्यामि—

तथ्यप्रकाश—(1) जीव के विकार का निमित्तकारण पुद्गलकर्मविपाक है, स्वयं जीव नहीं, यदि यह उपादान जीव अपने विकारका खुद निमित्त कारण हो जाय तो विकार कभी नष्ट हो ही नहीं सकेगा, जीव विकार का नित्यकर्ता हो जावेगा। (2) यह आत्मा सहज चैतन्यमात्रमूर्ति है याने अविकारस्वरूप है।

सिद्धान्त—(1) विकार नैमित्तिक भाव है। (2) आत्मा सहज 'षष्ठत चैतन्यमात्र मूर्ति है।

दृष्टि—1—उपाधिसापेक्ष अषुद्धद्रव्यार्थिकनय (24)। 2—परमषुद्ध अभेदविषयी अंतिम व्यवहारनय नामक द्रव्यार्थिकनय (15), परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय (30)।

प्रयोग—जैसे कि व्याख्याकार पूय श्री सूरि जी ने व्याख्या के कार्य का प्रयोजन अपनी परिणाम विषुद्धि निश्चित की है इसी प्रकार हम भी समयसार व आत्मख्याति व अन्य ग्रन्थों के स्वाध्याय का प्रयोजन अपने परिणाम की विषुद्धि निश्चित करें याने सहजषुद्ध अन्तस्तत्त्वकी दृष्टि का पौरुष करके निर्मलता प्राप्त करें।

टीकागत उत्थानिकाका अर्थ—अब सूत्रका अवतार होता है अर्थात् पूज्य श्री कुन्द—कुन्दाचार्य जो कुछ वर्णन करना हृदय में रख रहे हैं उसमें से मंगलाचरण रूप तथा प्रतिज्ञासंकल्परूप प्रथम गाथा प्रकट होती है।

मैं [ध्रुवां] ध्रुव [अचलां] अचल और [अनुपमां] अनुपम [गतिं] गतिको [प्राप्तान्] प्राप्त हुए [सर्वसिद्धान्] सभी सिद्धों को [वंदित्वा] नमस्कार कर, [अहो] हे भव्यो, [श्रुतकेवलिभणितं] श्रुतकेवलियों द्वारा कहे हुए [इदं] इस [समयप्राभृतं] समयसार नामक प्राभृत को [वक्ष्यामि] कहूंगा।

तात्पर्य—सिद्धभगवान होने का प्रोग्राम रखते हुए आचार्य सिद्धभगवंत को नमस्कार करके सिद्ध होने के उपायभूत आराध्य समयप्रतिपादक समयप्राभृत का कथन करेंगे।

टीकार्थ—यहाँ अथ 'ब्द मंगल के अर्थ को सूचित करता है। और प्रथमत एव (ग्रंथ की आदिमें) सब सिद्धों को भाव—द्रव्यस्तुतिसे अपने आत्मा में और परके आत्मामें स्थापन कर इस समय नामक प्राभृत का (हम) भाववचन और द्रव्यवचन द्वारा परिभाषण आरम्भ करते हैं, इस प्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं। वे सिद्धभगवान् सिद्ध नामसे साध्य जो प्रमाणतामुपगतस्यास्य समयप्रकाषस्य प्राभृताह्वयस्यार्हत्प्रवचनावयवस्य स्वपरयोरनादिमोह—प्रहाणाय भाववाचा द्रव्यवाचा च परिभाषणमुपक्रम्यते।।1।।

भविष्यत् क्रिया उत्तम पुरुष एकवचन। समयप्राभृतं—कर्मकारक द्वितीया एकवचन। अहो—अव्यय। इदं—कर्मविषेषण। श्रुतकेवलिभणितं—कर्मविषेषण द्वितीया एकवचन।

आत्मा उसके प्रतिच्छन्द के स्थानीय आदर्ष हैं। जिनका स्वरूप संसारी भव्य जीव चिंतवन कर, उनके समान अपने स्वरूपका ध्यान कर उन्हीं के समान हो जाते हैं। और चारों गतियों से विलक्षण जो पंचमगति मोक्ष, उसे पा लेते हैं। वह पंचमगति स्वभावसे उत्पन्न हुई है, इसलिये ध्रुवरूपका अवलम्बन करती है, इस विषेषण से सिद्ध हुआ कि चारों गतियों परनिमित्तसे होती हैं, इसलिये ध्रुव नहीं हैं, विनष्वर हैं, इसलिये सिद्ध दषा का चारों गतियों से पृथक्पना प्रसिद्ध हुआ। वह गति अनादिकालसे अन्य भावके निमित्तसे हुए परमें भ्रमण की विश्रांति (अभाव) के वषसे अचल दषाको प्राप्त हुई है, इस विषेषणसे चारों गतियों में परनिमित्तसे जो भ्रमण था उसका व्यवच्छेद हुआ। जगत में समस्त जो उपमायोग्य पदार्थ हैं, उनसे विलक्षण है—अदभुत माहात्म्य के कारण जो किसी की उपमा नहीं पा सकती। इस विषेषणसे चारों गतियों में किसी से समानता भी पायी जाती है इसका निराकरण हुआ। वह

अपवर्गरूप है, धर्म अर्थ और काम इस त्रिवर्ग में न होनेसे वह मोक्षगति अपवर्ग कही गई है। ऐसी पंचम गतिको सिद्धभगवान् प्राप्त हुए हैं। कैसा है समयप्राभृत? अनादिनिधन परमागम 'बुद्ध-ब्रह्म द्वारा प्रकाशित होनेसे तथा सब पदार्थों के समूह के साक्षात् करने वाले केवली भगवान् सर्वज्ञ के द्वारा प्रणीत होनेसे और केवलियों के निकटवर्ती साक्षात् सुनने वाले और स्वयं अनुभव करने वाले ऐसे श्रुतकेवली गणधर देव के द्वारा कहे जाने से प्रमाणता को प्राप्त हुआ है, तथा समय अर्थात् सर्व पदार्थ अथवा जीव पदार्थ का प्रकाशक है। और अरहंत भगवान् के परमागत का अवयव (अंश) है। ऐसे समयप्राभृतका अनादिकाल से उत्पन्न हुए अपने और परके मोह—अज्ञान मिथ्यात्वके नाश होनेके लिये मैं परिभाषण (व्याख्यान) करूंगा।

भावार्थ—यहाँ पर गाथासूत्रमें आचार्य ने "वक्ष्यामि" क्रिया कही है, उसका अर्थ टीकाकारने "वच परिभाषणे" धातुसे परिभाषण लेकर किया है। उसका आशय ऐसा सूचित होता है कि जो चौदह पूर्वमें ज्ञानप्रवाद नामा छठे पूर्वके बारह 'वस्तु' अधिकार हैं, उनमें भी एक-एकके बीस-बीस प्राभृत अधिकार हैं, उनमें दसवें वस्तुमें समय नामक जो प्राभृत है, उसका परिभाषण आचार्य करते हैं। सूत्रोंकी दस जातियाँ कही गई हैं, उनमें एक परिभाषा जाति भी है। जो अधिकार को यथास्थान सूचना दे वह परिभाषा कही जाती है। इस समयनामा प्राभृतके मूल सूत्रोंका ज्ञान तो पहले बड़े आचार्यों को था और उसके अर्थका ज्ञान आचार्योंकी परिपाटी के अनुसार श्री कुन्दकुन्दाचार्यको था। इसलिये उन्होंने समयप्राभृतके परिभाषासूत्र रचे हैं। वे उस प्राभृत के अर्थको ही सूचित करते हैं, ऐसा जानना। मंगल के लिये सिद्धों को जो नमस्कार किया और उनका 'सर्व' ऐसा विषेषण दिया, इससे वे सिद्ध अनन्त हैं, ऐसा अभिप्राय दिखलाया और 'बुद्ध आत्मा एक ही है, ऐसा अन्य आशयका व्यवच्छेद किया। संसारी के 'बुद्ध आत्मा साध्य है, वह 'बुद्धात्मा साक्षात् सिद्ध है, उनको नमस्कार करना उचित ही है। श्रुतकेवली 'बुद्ध के अर्थमें श्रुत तो अनादिनिधन प्रवाहरूप आगम है और केवली 'बुद्ध से सर्वज्ञ तथा परमागमके जानने वाले श्रुतकेवली हैं, उनसे समयप्राभृतकी उत्पत्ति कही गई है। इससे ग्रंथ की प्रामाणिकता दिखलाई, और अपनी बुद्धि से कल्पित होनोक निषेध किया गया है। अन्यवादी छद्मस्थ (अल्पज्ञानी) अपनी बुद्धि से पदार्थका स्वरूप अन्य प्रकारसे कहकर विवाद करते हैं, उनकी असत्यार्थता बतलाई है। इस ग्रन्थ का अभिधेय तो 'बुद्ध आत्मा का स्वरूप है' उसके वाचक इस ग्रन्थ में 'बुद्ध है, तत्र तावत्समय एवाभिधीयते—

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठउ तं हि ससमयं जाणा ।

पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं ।।2।।

दर्शन ज्ञान चरितमें, सुस्थित जीवों को स्वसमय जानो ।

औपाधिक मायाके, रुचियों को परसमय जानो ।।2।।

जीवः चरित्रदर्शनज्ञानस्थितः तं हि स्वसमयं जानीहि । पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितं च तं जानीहि परसमयम् ।

योऽयं नित्यमेव परिणामात्मनि स्वभावेऽवतिष्ठमानत्वात् उत्पादव्ययध्रौव्यैक्यानुभूतिलक्षणया सत्तयानुस्यूतष्वैतन्यस्वरूपत्वान्नित्योदितविषददृषिज्ञप्तिज्योतिरनंतधर्माधिरूढैकधर्मित्वा—दद्योतमानद्रव्यत्वः क्रमाक्रमप्रवृत्तविचित्रभावस्वभावत्वादत्संगितगुणपर्यायः स्वपराकारावभास—नसमर्थत्वादुपात्तवैष्वरूप्यैकरूपः प्रतिविषिष्टावगाहगतिस्थितिवर्तनानिमित्तत्वरूपित्वाभावाद—साधारणचिद्रूपतास्वभावसद्भावाच्चाकाषधर्माधर्मकालपुद्गलेभ्यो भिन्नोऽत्यंमनंतद्रव्यसंकरेऽपि स्वरूपादप्रच्यवनात् टंकोत्कीर्णचित्स्वभावो जीवो नाम पदार्थः स समयः, समयत एकत्वेन युगपज्जानाति गच्छति चेति निरुक्तेः । अयं खलु यदा सकलभावस्वभावभासनसमर्थविद्यासमु—

त्पादकविवेकज्योतिरुद्गमनात्समस्तपरद्रव्यात्प्रच्युत्य दृषिज्ञप्तिस्वभावनियतवृत्तिरूपात्मतत्त्वैक-
त्वगतत्वेन वर्तते तदा दर्शनज्ञानचारित्रस्थितत्वात्स्वमेकत्वेन युगपज्जानन् गच्छंश्च स्वसमय

प्रकृतिशब्द—जीव, चरित्र, दर्शन, ज्ञान, स्थित, तत्, स्व, समय, पुद्गल, कर्म, प्रदेश, पर, समय।
मूलधातु—चर चरणे, दृषिरे प्रेक्षणे, ज्ञा अवबोधने, ष्टा गतिनिवृत्तौ, अय गतौ। **पदविवरण**—जीवः—प्रथमा
एकवचन। चरित्रदर्शनज्ञानस्थितः प्रथमा एक० कर्तविषेण। तं—द्वि० ए०। स्वसमयं—द्वितीया एकवचन,
कर्मकारक। जानीहि—ज्ञा धातु लोट्लकारका मध्यम पुरुष एकवचन। पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितं—द्वितीया एक-
वचन कर्मविषेण। तं—तत् 'इ' का पुल्लिङ्ग में द्वितीया विभक्तिका एकवचन। हि—अव्यय। च—अव्यय।
परसमयं—द्वितीया विभक्तिका एकवचन, कर्मकारक।

उनका वाच्यवाचक रूप सम्बन्ध है और 'बुद्धात्मा के स्वरूपकी प्राप्ति होना प्रयोजन है।
'अक्यानुष्ठान तो है ही।

प्रसङ्गविवरण—बुद्धात्मा होना साध्य है, और द्रव्यकर्म भावकर्म व नोकर्म (देह) से
रहित 'बुद्धात्मा सिद्ध भगवान होना सहजसिद्ध 'बुद्धात्मतत्त्व समयसार की उपासना से ही
'अक्य है। अतः 'बुद्धात्मतत्त्वप्रतिपादक समयसार ग्रन्थ की रचना के आरम्भ में पूज्य श्री
कुन्दकुन्दाचार्य ने सिद्धभगवान का वन्दन किया है।

तथ्यप्रकाश—(1) स्वाभाविक स्थिति ध्रुव हुआ करती है। (2) उपाधिरहित केवल की
स्थिति अचल हुआ करती है। (3) सिद्धदशा गतिरहित स्थिति है, अतः सिद्धकी उपमा देने
को अन्य कुछ है ही नहीं, हाँ यही कहा जा सकता है कि सिद्धदशा तो सिद्धदशाके ही
समान है। (4) भावस्तुति से भक्त के आत्मा में प्रभु का स्थापन होता है। (5) द्रव्यस्तुतिसे
दूसरे आत्मा भी अपने में प्रभुका स्थापन करते हैं। (6) समयसार की प्रामाणिकता के 3
चिह्न निर्दिष्ट हैं—(क) अनादिनिधन परम्परागत आगम से इसका प्राकट्य है। (ख) सकल
पदार्थ का साक्षात्कार करने वाले प्रभु की दिव्यध्वनि से आगम निकला है। (ग) स्वयं अनुभव
करने वाले श्रुतकेवलियों ने इसे बताया है। (7) इस रचना का प्रयोजन मोहविध्वंस है।

सिद्धान्त—(1) सिद्धदशा कभी भी मिटती नहीं। (2) प्रभुस्तवनादिमें आत्मा अपने ही
ज्ञान का परिणामन कर रहा है।

दृष्टि—1—सादिनित्य पर्यायार्थिक नय (36)। 2—कारककारकिभेदक सद्भूतव्यवहार
(72)।

प्रयोग—सिद्ध भगवन्त की अभिवन्दना के समय अपने में यह आशय दृढ़ करना
चाहिये कि मुझे सिद्धभगवान होना है।।।।।

इति। यदा त्वनाद्यविद्याकंदलीमूलकंदायमानमोहानुवृत्तितंत्रतया दृषिज्ञप्तिस्वभावनियतवृत्ति-
रूपादात्मतत्त्वात्प्रच्युत्य परद्रव्यप्रत्ययमोहरागद्वेषादिभावैकत्वगतत्वेन वर्तते तदा पुद्गलकर्म-
प्रदेशस्थितत्वात्परमेकत्वेन युगपज्जानन् गच्छंश्च परसमय इति प्रतीयते। एवं किल समयस्य
द्वैविध्यमुद्धावति।।2।।

प्रथम गाथा में समय के प्राभूत कहने की प्रतिज्ञा की थी वहाँ यह जिज्ञासा हुई कि
समय क्या है, इसलिये प्रथम ही समय का स्वरूप कहते हैं—हे भव्य, जो [जीवः] जीव
[चरित्रदर्शनज्ञानस्थितः] दर्शन, ज्ञान और चारित्रमें स्थित हो रहा है [तं] उसे [हि] निष्चयसे
[स्वसमयं] स्वसमय [जानीहि] जानो। [च] और जो जीव [पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितं]
पुद्गलकर्मके प्रदेशों में स्थित है [तं] उसे [परसमयं] परसमय [जानीहि] जानो।

तात्पर्य—स्वभाव में स्थित जीव स्वसमय है। परभावमें स्थित जीव परसमय है।
स्वसमय व परसमय दोनों अवस्थाओं में व्यापक प्रत्यागात्मा समय है।

टीकाथ—जो यह जीव नामक पदार्थ है वह ही समय है। क्योंकि समय 'बुद्ध का ऐसा अर्थ है—'सम' तो उपसर्ग और 'अय गतौ' धातु है उसका गमन अर्थ भी है तथा ज्ञान अर्थ भी है, 'सम' का अर्थ एक साथ है। इसलिए एक कालमें ही जानना और परिणमन करना ये दो क्रियायें जिसमें हों वह समय है। यह जीव पदार्थ एक कालमें ही परिणमन करता है और जानता भी है इसलिए यही समय है। इस तरह दो क्रियायें एक कालमें होती हैं। वह समय नामक जीव नित्य ही परिणमन स्वभावमें रहनेसे उत्पाद व्यय ध्रौव्य की एकतारूप—अनुभूति लक्षण वाली सत्तासे युक्त है। वह चैतन्यस्वरूपी होनेसे नित्य उद्योतरूप निर्मल दर्शन—ज्ञान—ज्योतिस्वरूप है—चैतन्यका परिणमन दर्शनज्ञानस्वरूप है। अनंत धर्मों में रहने वाला जो एक धर्मों उससे उसका द्रव्यत्व प्रकट हुआ है, क्योंकि अनंतधर्मोंकी एकता ही द्रव्यत्व है। क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवृत्त हुए जो अनेक भाव उस स्वभाव से युक्त होनेसे उसने गुणपर्यायों को अंगीकार किया है। पर्याय तो क्रमवर्ती हैं और गुण सहवर्ती होते हैं और सहवर्ती को अक्रमवर्ती भी कहते हैं। अपने और अन्य द्रव्यों के आकार के प्रकाषण करने में समर्थ होनेसे उसने समस्त रूपको झलकाने वाली एकरूपता पा ली है अर्थात् जिसमें अनेक वस्तुओं का आकार झलकता है, ऐसे एक ज्ञानके आकाररूप है। पृथक्—पृथक् जो अवगाहन, गति, स्थिति और वर्तमाना की हेतुता तथा रूपित्व (द्रव्यों के गुण) के अभाव से और असाधारण चैतन्यरूप स्वभाव के सद्भाव से—आकाष, धर्म, अधर्म, काल और पुद्गल—इन पाँच द्रव्यों से भिन्न है, वह अनंत अन्य द्रव्यों से अत्यन्त एकक्षेत्रावगाहरूप होनेपर भी अपने स्वरूपसे न छूटने से टंकोत्कीर्ण चैतन्यस्वभावरूप है, ऐसा जीव नामक पदार्थ **समय** है। जब यह सब पदार्थों के स्वभावके प्रकाषण में समर्थ ऐसे केवलज्ञानको उत्पन्न करने वाली भेदज्ञानज्योतिके उदय होनेसे सब परद्रव्यों से पृथक् होकर दर्शन—ज्ञानमें निश्चित प्रवृत्तिरूप आत्मतत्त्वसे एकत्वरूप होकर प्रवृत्ति करता है, तब दर्शन—ज्ञान—चारित्र्यमें स्थिर होनेसे अपने स्वरूपको एकत्वरूपसे एक कालमें जानता तथा परिणमन करता हुआ **स्वसमय** कहलाता है। और जब यह अनादि अविद्यारूप मूल वाले कंदके समान मोहके उदयके अनुसार प्रवृत्तिकी आधीनता से दर्शन—ज्ञान स्वभावमें निश्चित वृत्तिरूप आत्मस्वरूपसे छूट परद्रव्य के निमित्तसे उत्पन्न मोह, रागद्वेषादि भावोंमें एक रूप हो प्रवृत्त होता है, तब पौद्गलिक कार्मण प्रदेशों में स्थित होने से परद्रव्य को अपने से अभिन्न, एक कालमें जानता है तथा रागादिरूप परिणमन करता है, अतः **परसमय** ऐसी प्रतीति होती है। इस तरह इस जीव नामक पदार्थ के स्वसमय और परसमय—ऐसे दो भेद प्रकट होते हैं।

अर्थतद् बाध्यते—

एयत्तणिच्छयगज्ञो समज्ञो सव्वत्थ सुंदरो लोए ।

बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होई ॥३॥

सुन्दर शिव सत्य यहां, एक स्वरूपी विशुद्ध चित् तत्त्वम् ।

किन्तु मृशा बन्धकथा, आत्मविसंवादकारिणी बनती ॥३॥

एकत्वनिष्चयगतः समयः सर्वत्र सुन्दरो लोके । बंधकथैकत्वे तेन विसंवादिनी भवति ॥३॥

समयषब्देनात्र सामान्येन सर्व एवार्थोऽभिधीयते । समयत एकीभावेन स्वगुणपर्यायान् गच्छतीति निरुक्तेः । ततः सर्वत्रापि धर्माधर्माकाषकालपुद्गलजीवद्रव्यात्मनि लोके ये यावन्तः केचनाप्यर्थास्ते सर्व एव स्वकीयद्रव्यान्तर्मग्नानंतस्वधर्मचक्रचुम्बिनोपि परस्परमचुम्बिनोऽत्यंतप्रत्या सत्तांविपि नित्यमेव स्वरूपादपतन्तः पररूपेणापरिणमनादविनष्टानंतव्यक्तित्वाट्टङ्कोत्कीर्णा इव

प्रकृतिशब्द—एकत्व, निष्चय, गत, समय, सर्व, सुन्दर, लोक, बन्ध, कथा, तद् विसंवादिनी ।
मूलधातु—चिञ् चयने, गम्लृ गतौ, बन्ध बन्धने, वद संदेषवचने । **पदविवरण**—एकत्वनिष्चयगतः—

प्रथमा एकवचन, कर्तृविषेण। समयः—कर्ता। सर्वत्रः—प्रथमा एकवचन। लोके—सप्तमी एकवचन।

भावार्थ—जीव नामक वस्तु को पदार्थ कहा है। वह इस प्रकार है कि पद तो 'जीव' ऐसे अक्षर समूह रूप है और इस पदसे जो द्रव्यपर्यायरूप अनेकांतस्वरूप निश्चित किया जाय, वह उसका अर्थ है। ऐसा पदार्थ उत्पाद—व्यय—ध्रौव्यमयी सत्ता स्वरूप है। दर्शनज्ञानमय चेतनास्वरूप है, अनन्तधर्मस्वरूप द्रव्य है (और जो द्रव्य है, वह वस्तु है, गुण—पर्यायवान् है) वह स्व—परप्रकाषक ज्ञान अनेकाकाररूप एक है, आकाषादिकसे भिन्न असाधारण चैतन्यगुणस्वरूप है और यद्यपि वह अन्य द्रव्यों से एक क्षेत्रावगाहरूप स्थित है तो भी अपने स्वरूपको नहीं छोड़ता। ऐसा जीव नामक पदार्थ समय है। वह जब अपने स्वभावमें स्थित होता है, तब तो स्वसमय है और जब पौद्गलिक कर्मप्रदेषोंमें स्थित होता हुआ परस्वभाव—रागद्वेष—मोह—स्वरूप परिणमन करता है तब परसमय है। ऐसे इस जीवके द्विविधता आती है।

प्रसङ्गविवरण—समयसार के परिभाषणामें पहिले समयसार 'बुद्ध का वाच्य बताना चाहिये। सो समयसार 'बुद्ध द्वारा वाच्य अनादि अनन्त अहेतुक चैतन्यस्वरूपको एकदम कैसे समझाया जा सकता है सो पर्यायमुखेन पहिले समय याने आत्माको, स्वसमय व परसमयके लक्षणको बताया गया है ताकि आसानी से यह बात समझी जा सके कि जो स्वसमय व परसमयमें रहने वाला एकस्वरूप है वह समय है।

तथ्यप्रकाश—(1) उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त होने से जीव सत् है, पदार्थ है, इस कथन से नास्तिकवाद निराकृत हुआ। (2) जीव उत्पादव्यय वाला भी है, इस अंशसे सांख्यादिका अपरिणामवाद निराकृत हुआ। (3) जीव ध्रौव्ययुक्त भी है, इस अंशसे क्षणिकैकान्त निराकृत हुआ। (4) जीव दर्शनज्ञानस्वरूप है, न कि सांख्यादिसम्मत जैसा ज्ञानभूय। (5) जीव अनन्तधर्मा है, न कि क्षणिकवादसम्मत निरंश स्वलक्षणमात्र। (6) जीव गुणपर्यायवान है, न कि सांख्यादिसम्मत जैसा निर्गुण। (7) जीव विष्वरूपैकरूप है, इससे पराप्रकाषकवाद व अस्वसंवेदवादका का निराकरण हुआ। (8) जीव पुद्गलादिसे भिन्न है इस कथन से मात्र बाह्य वस्तुका ही सत्त्व मानने की मान्यता का निरास हुआ। (9) निरुपाधिस्वभावमें उपयुक्त जीव स्वसमय है। (10) औपाधिक भावों में उपयुक्त जीव परसमय है।

सिद्धान्त—(1) जीव उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त है। (2) जीव अनन्तधर्मा है। (3) जीव गुणपर्यायवान है। (4) निरुपाधिस्वभावोपयोगी स्वसमय है। (5) औपाधिकभावोपयोगी परसमय है।

तिष्ठंतः समस्तविरुद्धाकार्यहेतुतया 'ष्वदेव विष्वमनुगृहलन्तो नियतमेकत्वनिष्चयगतत्वेनैव सौन्दर्यमापद्यते प्रकारान्तरेण सर्वसंकरादिदोषापत्तेः। एकमेकत्वे सर्वार्थानां प्रतिष्ठिते सति

बन्धकथा—कर्ताकारक प्रथमा एकवचन। एकत्वे—सप्तमी० एकवचन। तेन—तृतीया एकवचन। विसंवादिनी—प्रथमा एकवचन कर्तृविषेण। भवति—क्रिया।

दृष्टि—1—उत्पादव्ययसापेक्ष अपुद्बुद्ध द्रव्यार्थिकनय (25)। 2—भेदकल्पनासापेक्ष अपुद्बुद्ध द्रव्यार्थिकनय (26)। 3—अन्वयद्रव्यार्थिकनय (27)। 4—षुद्धनिष्चयनय (46)। 5—अपुद्बुद्धनिष्चयनय (47)।

प्रयोग—परसमयको कष्टमय व अपवित्र जानकर परसमयतासे उपेक्षा करना और स्वसमय को आनन्दमय व पवित्र जानकर स्वसमयताकी प्राप्तिके आधारभूत समयसार सहज परमात्मतत्त्व की उपासना करना अर्थात् स्वभावमें स्वतत्त्व का अनुभव करना। 12।।

अब यह द्वैविध्य बाधित किया जाता है अर्थात् समयकी द्विविधता ठीक नहीं है, क्योंकि वह बाधासहित है। वास्तवमें समयका एकत्व होना ही प्रयोजनीय है। समयके एकत्वसे ही यह जीव 'गोभा पा सकता है [एकत्वनिश्चयगतः] एकत्व के निष्चय को प्राप्त

[समयः] समय [सर्वत्रलोके] सब लोक में [सुंदरः] सुंदर है [तेन] इसलिए [एकत्वे] एकत्वमें [बंधकथा] दूसरे के साथ बंधकी कथा [विसम्वादिनी] विसम्वाद कराने वाली [भवति] है।

तात्पर्य—बन्धनमें संकट हैं, सहजषुद्ध अन्तस्तत्त्व में पवित्रता व 'गान्ति' है।

टीकार्थ—यहां समय 'बद्धसे सामान्यतया सभी पदार्थ कहे जाते हैं, क्योंकि समय 'बद्धका अक्षरार्थ' ऐसा है कि 'समयते' अर्थात् एकीभावसे अपने गुणपर्यायों को प्राप्त हुआ जो परिणमन करे, वह समय है। इसलिए सब ही धर्म, अधर्म, आकाष, काल, पुद्गल और जीवद्रव्य स्वरूप लोकमें जो कुछ पदार्थ हैं, वे सभी यद्यपि अपने द्रव्यमें अंतर्मग्न हुए अपने अनन्त धर्मों का स्पर्श करते हैं तो भी परस्पर में एक दूसरे का स्पर्श नहीं करते और अत्यन्त निकट एक नेत्रावगाहरूप स्थित हैं तो भी सदाकाल निष्चय से अपने स्वरूपसे च्युत नहीं होते तथा समस्त विरुद्ध कार्य और अविरुद्ध कार्यमें हेतुपनासे सदा विष्वका उपकार करते हैं, परन्तु निष्चयसे एकत्व के निष्चयको प्राप्त होनेसे ही सुन्दरता पाते हैं, क्योंकि जो अन्य प्रकार हो जायें तो संकर व्यतिकर आदि सभी दोष उसमें आ जावें। इस तरह सब पदार्थों का भिन्न भिन्न एकत्व सिद्ध होने पर जीव नामक समय को बंधकी कथा से विसंवाद की आपत्ति होती है। क्योंकि बंधकथाका मूल पुद्गल कर्मके प्रदेशों में स्थित होना जिसका मूल है, ऐसी परसमयता से पैदा हुई परसमय स्वसमयरूप द्विविधता जीवके आती है। अतः समयका एकत्व होना ही सुसिद्ध होता है।

भावार्थ—निष्चयसे सब पदार्थ अपने अपने स्वभावमें ठहरते हुए 'गोभा' पाते हैं। परन्तु जीव नामक पदार्थकी अनादिकालसे पुद्गल कर्मके साथ बंध अवस्था है, उससे इस जीव में विसंवाद खड़ा होता है, इसलिए 'गोभा नहीं पाता। अतः एकत्व होना ही अच्छा है, उसी से यह जीव 'गोभा' पा सकता है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्वकी गाथामें स्वसमय और परसमय ऐसे दो प्रकार बताये गये हैं, किन्तु यह आत्मवस्तुका सहजभाव नहीं है। सहज चैतन्यस्वभावके परिचय की सुगमता के लिये ही स्वसमय परसमय का निर्देश किया गया है। पवित्रता व हित सहज चैतन्यस्वभाव के आश्रयसे ही है। अतः द्विविधताके उपयोगसे हटकर निज सहज एकत्वमें आना आवश्यक ही है सो इस एकत्व को बताने के लिये इस गाथा का अवतार हुआ है।

तश्यप्रकाश—1—एक ही क्षेत्रमें लोकमें अनेक पदार्थ हैं अथवा बद्ध पदार्थ हैं तो भी सब केवल अपने अपने स्वरूपमें ही तन्मय हैं, समस्त परसे भिन्न हैं। 2—कोई भी पदार्थ किसी भी पररूपसे नहीं परिणमता इसी कारण सबकी अपनी अपनी सत्ता कायम है। जीवाह्वयस्य समयस्य बंधकथाया एव विसंवादापत्तिः। कुतस्तन्मूलपुद्गलकर्मप्रदेशस्थितत्व—मूल परसमयोत्पादितमेतस्य द्वैविध्यं। अतः समयस्यैकत्वमेवावतिष्ठते।।3।।

3—औपाधिक भावोंके भाव व अभाव के कारण आत्मवस्तुमें द्विविधता आई है, किन्तु आत्मस्वरूपमें द्विविधता नहीं है।

सिद्धान्त—1—निमित्तनैमित्तिक योग होनेपर भी वस्तुस्वातंत्र्य अमिट है। 2—आत्मस्वरूप सहज चैतन्यमात्र एकत्वको प्राप्त है।

दृष्टि—1—उपाधिसापेक्ष अषुद्धद्रव्यार्थिकनय (24), स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (28), परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (29), 2—परमषुद्धनिष्चयनय (44)।

प्रयोग—पर जीवों की ओर दृष्टि दें तो इस तरह की परख बनायें कि सभी जीवोंमें एकेन्द्रिय आदि सब अवस्थाओं में अन्तः सहजसिद्ध चैतन्यस्वरूप सतत प्रकाशमान है। अपने

आपपर दृष्टि दें तो समस्त औपाधिक भावोंसे दूर रहने के स्वभाव वाले सहज चैतन्यस्वरूपमात्र अपनेको निरखें।

अब यह एकत्व असुलभतारूपसे बताया जाता है—

[सर्वस्य अपि] सब ही लोकों के [कामभोगबंधकथा] काम-भोग-विषयक बंधकी कथा तो [श्रुतपरिचितानुभूता] सुनने में आ गई है, परिचयमें आ गई है और अनुभवमें भी आयी हुई है इसलिए सुलभ है। [नवरि] किन्तु केवल [विभक्तस्य] पर व परभाव से भिन्न [एकत्वस्य उपलंभः] आत्माके एकत्वका लाभ, उसको कभी न सुना, न परिचय में आया और न अनुभवमें आया इसलिए [न सुलभः] सुलभ नहीं है।

तात्पर्य—आत्माका हितमय एकत्वस्वरूप ही सुना जावे, परिचित किया जावे अनुभवा जावे ताकि यह एकत्व सुलभ हो जाये।

टीकार्थ—यद्यपि इस समस्त जीवलोकको कामभोगविषयक कथा एकत्वके विरुद्ध होनेसे अत्यन्त विसम्वाद करने वाली है—आत्माका अत्यन्त बुरा करने वाली है, तो भी वह अनन्तबार पहले सुननेमें आई है, अनन्तबार परिचय में आई है और अनन्त बार अनुभवमें भी आ चुकी है। यह जीवलोक संसाररूपी चक्रके मध्यमें स्थित है, जो निरन्तर अनन्त बार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव व भावरूप परावर्तन करने से भ्रमण करता रहता है, समस्त लोकको एकछत्र राज्यसे वष करने वाले बलवान मोहरूपी पिषाचसे बैल की भाँति जोता जाता है, वेग से बढ़ी हुई तृष्णारूपी रोगके संतापसे जिसके अन्तरंगमें क्षोभ और पीड़ा हुई है, मृगकी तृष्णा के समान भ्रान्त-संतप्त होकर इन्द्रियों के विषयों की ओर दौड़ता है। इतना ही नहीं, परस्पर आचार्यत्व भी करता है अर्थात् दूसरे को भी कहकर अंगीकार कराता है। इसलिए काम-भोग की कथा तो सबको सुलभ है। परंतु निर्मल भेदविज्ञानरूपी प्रकाशसे स्पष्ट दिखाई देने वाला भिन्न आत्माका जो एकत्व है, वह यद्यपि सदा प्रकट रूपसे अंतरंगमें प्रकाशमान है, तो भी वह कषायों के साथ एकरूप सरीखा हो रहा है, इसलिए उसका अत्यन्त तिरोभाव हो रहा है—आच्छादित है। इस कारण अपने में अनात्मज्ञता होनेसे, न अपने को स्वयं भी जाना और दूसरे आत्मा के जानने वालों की संगति सेवा भी नहीं की, इसलिए वह एकत्व न कभी सुनने में आया, न परिचय में आया और न कभी अनुभव में ही आया। इस कारण भिन्न आत्माके एकत्वकी सुलभता नहीं है।

भावार्थ—इस लोकमें सभी जीव संसाररूप चक्रपर चढ़े पाँच परावर्तनरूप भ्रमण करते हैं। वहाँपर मोहकर्म के उदयरूप पिषाच से जोते जाते हैं, इसी कारणसे विषयों की तृष्णा रूप दाहसे पीड़ित होते हैं। उसमें भी उस दाहकी 'गान्तिका उपाय इन्द्रियोंके रूपादि विषयों को जानकर उनकी ओर दौड़ते हैं। और परस्परमें भी विषयोंका ही उपदेश करते हैं। इस—
तर्थात्तदसुलभत्वेन विभाव्यते—

सुदपरिचिदानुभूता सव्वस्स वि कामभोगबंधकथा ।

एयत्तस्सुवलंभी णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ॥४॥

जानी सुनी अनुभवी, जीवों ने कामभोगबंधकथा ।

इससे विविक्त यह निज, एक स्वभावी न ज्ञात हुआ ॥४॥

श्रुतपरिचितानुभूता सर्वस्यापि कामभोगबंधकथा । एकत्वस्योपलंभः नवरि न सुलभो विभक्तस्य ॥४॥

इह सकलस्यापि जीवलोकस्य संसारचक्रक्रोडाधिरोपितस्याश्रांतमनंतद्रव्यक्षेत्रकालभव-भावपरावर्तेः समुपक्रांतभ्रांतरेकच्छत्रीकृतविष्वतया महता मोहग्रहेण गोरिव वाह्यमानस्य प्रसभोज्जृभिततृष्णातंकत्वेन व्यक्तांतर्माथस्योत्तम्योत्तम्य मृगतृष्णायमानं विषयग्राममुपरुन्धानस्य परस्परमाचार्यत्वमाचरतोऽनंतषः श्रुतपूर्वानंतषः परिचितपूर्वानंतषोऽनुभूतपूर्वा चैकत्वविरुद्धत्वे-नात्यंतविसंवादिन्यपि कामभोगानुबद्धा कथा । इदं तु नित्यव्यक्ततयांतः प्रकाशमानमपि कषाय—

चक्रेण सहैकीक्रियमाणत्वादत्यंततिरोभूतं सत्स्वस्थानात्मज्ञतया परेषामात्मज्ञानामनुपासनाच्च न कदाचिदपि श्रुतपूर्वं न कदाचिदपि परिचितपूर्वं न कदाचिदप्यनुभूतपूर्वं च निर्मलविवेकालोकविविक्तं केवलमेकत्वं। अत एकत्वस्य न सुलभत्वम्।।4।।

प्रकृतिशब्द—श्रुता, परिचिता, अनुभूता, सर्व, अपि, काम, भोग बन्ध, कथा, एकत्व, उपलम्भ, नवरि, न सुलभ, विभक्त। **मूलधातु**—श्रुत श्रवणे, चित् चेतने, भू सत्तायां, कमि कामनायां, भुज् भोगे, डुलभष् प्राप्तौ। **पदविवरण**—श्रुतपरिचितानुभूता—प्रथमा एकवचन, स्त्रीलिङ्ग। सर्वस्य—षष्ठी एकवचन। अपि—अव्यय। कामभोगबंधकथा—प्रथमा एकवचन कर्ता। एकत्वस्य—षष्ठी एकवचन। उपलंभः—प्र० ए०। नवरि—अव्यय। न—अव्यय। सुलभः—प्र० ए० कर्तृविषेण। विभक्तस्य—षष्ठी विभक्ति एक०।

लिये काम (विषयों की इच्छा) तथा भोग (उनका भोगना) इन दोनों की कथा तो अनन्त बार सुनी, परिचय और अनुभवमें आई, इस कारण सुलभ है। किन्तु सब परद्रव्यों से भिन्न चैतन्यचमत्कारस्वरूप अपने आत्मा की कथा का न तो स्वयमेव कभी ज्ञान हुआ और जिनके हुआ, उनकी न कभी सेवा की, इसलिए इसकी कथा न कभी सुनी, और न वह कभी परिचय और अनुभवमें ही आई। इस कारण आत्माके एकत्वका पाना सुलभ नहीं है, दुर्लभ है।

प्रसंगविवरण—जिस समयसारका, आत्माके एकत्वका लक्ष्य रखना है वह दुर्लभ क्यों रहा यह बताना इस कारण आवश्यक है ताकि एकत्वको ओझल कराने वाले अपराधको मेटा जावे। इस उद्देश्यसे इस गाथाका अवतार हुआ है।

तथ्यप्रकाश—(1) यह मोही सारे विषयपर एकछत्र राज्य चाहता है, इस कारण कोल्हू के बैलकी तरह विकल्प बोझों को ढोता फिरता है। (2) इच्छावों के वेगसे तृष्णा उठने के कारण इस जीवको अन्तरमें दुःख प्रकट हो रहा है। (3) यह जीव तृष्णामहारोगसे पीड़ित होनेसे विषयसाधनोंको हापटा मारकर पकड़े हुए है। (4) विकल्प द्वारा कषायके साथ अपने एकत्वको मिला देनेसे मोही को एकत्व का ज्ञान असुलभ है।

सिद्धान्त—(1) जीवलोकमें संसारी अज्ञानी जीवों का संग्रह होता है। (2) यह जीव तृष्णा की वेदना न सही जाने से विषयसाधनों को रोकता है।

दृष्टि—1—अषुद्ध अपरसंग्रहनय नामक द्रव्यार्थिकनय (8)। 2—परकर्तृत्वव्यवहार (129)।

प्रयोग—कामभोगबन्ध की दषा कष्टकारिणी है इस कारण पञ्च इन्द्रियके विषयों से हटने के लिए आनन्दनिधान सहज अन्तस्तत्त्व को चर्चा सुनने व इस एकत्वको अनुभवने के लिये यह प्रयत्न हो—ज्ञान से ज्ञानमें ज्ञान ही हो। इस अभ्यास से निज सहज एकत्वस्वरूपकी सुलभता हो जावेगी।।4।।

अत एवैतदुपदर्श्यते—

तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।

जदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छलं ण घेत्तव्वं।।5।।

आत्मविभव के द्वारा, उस एकत्वविभक्तको लखाऊँ।

यदि लख जावे मानो, न लखे तो दोश मत गहना।।5।।

तमेकत्वविभक्तं दर्षयेहमात्मनः स्वविभवेन। यदि दर्षयेयं प्रमाणं स्खलेयं छलं न गृहीतव्यम्।।5।।

इस किल सकलोद्भासिस्स्यात्पदमुद्रितषब्दब्रह्मोपासनजन्मा समस्तविपक्षोदक्षमातिनि—स्तुषयुक्त्यवलंबनजन्मा निर्मलविज्ञानघनांतर्निमग्नपरापरगुरुप्रसादीकृतषुद्धात्मतत्त्वानुपासनजन्मा

प्रकृतिशब्द—तत्, एकत्वविभक्त, आत्मन्, स्व, विभव, यदि, प्रमाण, छल न। **मूलधातु**—विभज विश्राणने। दृषिर् अवलोकने। वि—भू सत्तायां। प्र—मा माने। स्खल

संचलने। गृह ग्रहणे।

इस ही कारण अब भिन्न आत्मा का एकत्व दिखलाया जाता है—[तं] उस [एकत्वविभक्तं] एकत्वविभक्त आत्मा को [अहं] मैं [आत्मनः] आत्माके [स्वविभवेन] निज वैभव द्वारा [दर्शये] दिखलाता हूँ, [यदि] जो मैं [दर्शयेयं] दिखलाऊँ तो उसे [प्रमाणं] प्रमाण (स्वीकार) करना [स्खलेयं] और जो कहीं पर चूक जाऊँ तो [छलं] छल [न] नहीं [गृहीतव्यम्] ग्रहण करना।

तात्पर्य—आचार्यदेव अपने वैभवसे एकत्वविभक्त अन्तस्तत्त्व को बता रहे हैं उसे भक्ति से सुनना व ग्रहण करना चाहिये।

टीकार्थ—आचार्य कहते हैं कि जो कुछ मेरे आत्मा का निज वैभव है उस सबसे मैं इस एकत्वविभक्त आत्माके दिखलाने के लिये उद्यत हुआ हूँ। मेरे आत्मा के निज वैभव का जन्म, इस लोकमें प्रकट समस्त वस्तुओं को प्रकाश करने वाला और स्यात् पदसे चिह्नित 'इदं ब्रह्म—अरहंत के परमागत की उपासना से हुआ है। (यहाँ 'स्यात्') इस पदका तो कथंचित् अर्थ है अर्थात् किसी प्रकारसे कहना और सामान्यधर्मसे वचनगोचर सब धर्मों का नाम आता है तथा वचनके अगोचर जो कोई विशेष धर्म है उनका अनुमान कराता है। इस तरह वह सब वस्तुओं का प्रकाशक है। इस कारण सर्वव्यापी कहा जाता है और इसीसे अरहंतके परमागमको 'इदं ब्रह्म कहते हैं। उसकी उपासना के द्वारा मेरा ज्ञान वैभव उत्पन्न हुआ है) तथा जिसका जन्म समस्त विपक्ष—अन्यवादियों द्वारा ग्रहण किये गये सर्वथा एकांतरूप नयपक्षके निराकरण में समर्थ अतिनिस्तुष (सुस्पष्ट) निर्बाधयुक्तिके अवलंबन से है; निर्मल विज्ञानघन आत्मा में अंतर्निमग्न परमगुरु सर्वज्ञ देव, अपरगुरु गणधरादिकसे लेकर हमारे गुरुपर्यंत के प्रसाद से प्राप्त हुए 'जुद्धात्मतत्त्व के अनुग्रहपूर्वक उपदेशसे जिसका जन्म है; निरन्तर झरते हुए आस्वादमें आये और सुन्दर आनन्द से मिले हुए प्रचुर ज्ञानस्वरूप आत्माके स्वसम्वेदन से जिसका जन्म है, ऐसा जो कुछ मेरे ज्ञानका वैभव है, उस समस्त वैभवसे उस एकत्वविभक्त आत्माका स्वरूप दिखलाता हूँ। यदि दिखला दूँ तो स्वयमेव अपने अनुभव प्रत्यक्षसे परीक्षा करके प्रमाण करना, यदि चूक जाऊँ तो छल (दोष) ग्रहण करनेमें जागरूक नहीं रहना।

भावार्थ—आचार्य आगम का अध्ययन, युक्तिका अवलम्बन, परापर गुरुका उपदेश पाना और स्वसंवेदन—इन चार उपायोंसे उत्पन्न हुए अपने ज्ञानके वैभवसे एकत्वविभक्त 'जुद्ध आत्माका स्वरूप दिखलाते हैं। उसे सुनकर हे श्रोताओ, अपने स्वसम्वेदन प्रत्यक्षसे प्रमाण करना, कहीं समझमें न आवे तो छल न मानना। आत्मस्वरूपके जानने का अमोघ उपाय अनुभव है, इसी से 'जुद्ध स्वरूपका निष्चय करना।

अनवरतस्यंदि सुन्दरानन्दमुद्रितामंदसंविदात्मकस्वसंवेदनजन्मा च यः कष्यनापि ममात्मनः स्वो-विभवस्तेन समस्तेनाप्ययं तमेकत्वविभक्तमात्मानं दर्शयेहमिति बद्धव्यवसायोस्मि। किंतु यदि दर्शयेयं तदा स्वयमेव स्वानुभवप्रत्यक्षेण परीक्ष्य प्रमाणीकर्तव्यं। यदि तु स्खलेयं तदा तु न छलग्रहणजागरूकैर्भवितव्यम्। ॥5॥

पदविवरण—तं—द्वितीया एकवचन। एकत्वविभक्तं—द्वि० ए०। दर्शये—णिजन्त लट् लकार उत्तम पुरुष एकवचन। अहं—प्रथमा ए०। स्वविभवेन—तृ० ए०। यदि—अव्यय। दर्शयेयं—लिङ् लकार उत्तम पुरुष एकवचन। प्रमाणं—प्र० ए०। स्खलेयं—लिङ् लकार उत्तम० एक०। छलं—प्र० ए०। गृहीतव्यम्—प्रथमा एकवचन, क्रिया॥5॥

प्रसंगविवरण—आत्मा का एकत्व लोगों को असुलभ है यह बात अनन्तर पूर्व गाथामें कही गई थी। सो एकत्वका लाभ असुलभ तो है, किन्तु अत्यावश्यक है। एकत्वके लाभ बिना

मोक्षमार्ग मिलता ही नहीं है, इसी कारण आचार्यदेव उस एकत्वको दिखानेका इस गाथामें संकल्प कर रहे हैं और लोगों को एकत्व समझने की उमंग दिला रहे हैं।

तथ्यप्रकाश—(1) ग्रन्थकार आचार्यदेवने आगम 'गास्त्रों का विपुल अध्ययन मनन किया था। (2) दर्शनशास्त्रके प्रकाण्ड विद्वान् होनेसे निस्तुष युक्तियों से तत्त्वसिद्धिकी ग्रन्थकारमें पूर्ण क्षमता थी। (3) ज्ञाननिधान पर अपर गुरुकी विनय सेवाके प्रसाद से ग्रन्थकारको 'जुद्धात्मतत्त्वका अनुषासन मिला था। (4) आचार्यदेवने स्वयं स्वसंवेदन प्राप्त किया था। (5) महोपदेश सुनने पर भी श्रोता अपने अनुभवप्रत्यक्षसे परीक्षा करके प्रमाण किया करता है।

सिद्धान्त—(1) स्वानुभवप्रत्यक्षसे प्रमाण मानने की बात सही होनेपर भी स्वपरोपग्रहका व्यवहार (कथन) चलता ही है उसका उद्देश्य निमित्त व प्रयोजन को दिखाना मात्र है।

दृष्टि—1—असंश्लिष्ट स्वजात्युपचरित असद्भूतव्यवहार (124)।

प्रयोग—आगम अभ्यास, दार्शनिक बोध, सविनय गुरुसेवा और तत्त्वमनन की प्रतिदिन साधना करते हुए सत्याग्रह (स्वभावदृष्टि) व असहयोग (परभावों से उपेक्षा) से अपनेमें अपने सहजस्वरूपके अनुभवने का पौरुष करना।।5।।

अब ऐसा 'जुद्ध आत्मा कौन है कि जिसका स्वरूप जानना चाहिये? ऐसे प्रश्नका उत्तररूप गाथा सूत्र कहते हैं—[तु यः] अहो जो [ज्ञायकः भावः] ज्ञायक भाव है वह [अप्रमत्तः अपि] अप्रमत्त भी [न] नहीं है और [न प्रमत्तः] न प्रमत्त ही है [एवं] इस तरह [जुद्धं] उसे 'जुद्ध [भणंति] कहते हैं [च यः] और जो [ज्ञातः] ज्ञायक रूपसे ज्ञात हुआ [सः] वह [स एव तु] वही है, अन्य कोई नहीं।

तात्पर्य—अन्तस्तत्त्व स्वसम्बन्ध सहज प्रतिभासस्वरूप है।

टीकार्थ—जो एक ज्ञायक भाव है, वह अपने आपसे ही सिद्ध होने से (किसीसे उत्पन्न नहीं होनेसे) अनादिसत्तारूप है और कभी विनाशको प्राप्त न होनेसे अनन्त है, नित्य उद्योत रूप है, स्पष्ट प्रकाशमान ज्योति है। वह संसारकी अवस्थामें अनादिबंधपर्यायकी निरूपण (अपेक्षा) से दूध जलकी तरह कर्मरूप पुद्गलद्रव्य सहित होनेपर भी द्रव्यके स्वभावकी अपेक्षा से देखा जाय, तब तो जिसका मिटना कठिन है, ऐसे कषायोंके उदयकी विचित्रता से प्रवृत्त हुए पुण्य—पापके उत्पन्न करने वाले समस्त अनेकरूप 'जुभ अषुभ भावके स्वभावसे परिणमन नहीं करता (ज्ञायकभावसे जड़ भावरूप नहीं होता)। इसलिए वह ज्ञायकभाव प्रमत्त भी नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है। यही समस्त अन्य द्रव्यों के भावों से भिन्न रूपमें सेवित हुआ 'षुद्ध' ऐसा कहा जाता है। और ज्ञेयाकार होनेसे इसका ज्ञायकत्व प्रसिद्ध है तथा दाहने योग्य दाह्य ईंधन में रहने वाली अग्नि की तरह ज्ञेयनिष्ठताके कारण ज्ञायकपना प्रसिद्ध होने उस ज्ञेय के द्वारा की हुई भी इस आत्मा के अषुद्धता नहीं है, क्योंकि ज्ञेयाकार अवस्था में भी ज्ञायकभाव द्वारा जाना गया जो अपना ज्ञायकत्व, वही स्वरूप प्रकाशन की (जानने की)

कोऽसौ 'जुद्ध आत्मेति चेत्—

णवि होदि अप्पमत्तो णो पमत्तो जाणओ दु जो भावो ।

एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चैव ।।6।।

नहिं रागी न विरागी, केवल चैतन्यमात्र ज्ञायक यह ।

निर्नाम 'जुद्ध वह जो, ज्ञात हुआ वह वही 'गश्वत ।।6।।

नापि भवत्यप्रमत्तो न प्रमत्तो ज्ञायकस्तु यो भावः । एवं भणंति 'जुद्धं ज्ञातो यः स तु स चैव ।।6।।

यो हि नाम स्वतः सिद्धत्वेनानादिरन्तो नित्योद्योतो विषदज्योतिर्ज्ञायक एको भावः स संसारावस्थायामनादिबंधपर्यायनिरूपणया क्षीरोदकत्वकर्मपुद्गलैः सममेकत्वेपि द्रव्यस्वभाव—निरूपणया दुरंतकषायचक्रोदयवैचित्र्यवषेण प्रवर्तमानानां पुण्यपापनिर्वर्तकानामुपात्तवैष्वरूप्याणां 'गुभाषुभभावानां स्वभावेनापरिणमनात्प्रमत्तोऽप्रमत्तश्च न भवत्येष एवाषेषद्रव्यांतरभावेभ्यो भिन्नत्वेनोपास्यमानः 'जुद्ध इत्यभिलप्येत। न चास्य ज्ञेयनिष्ठत्वेन ज्ञायकत्वप्रसिद्धेः दाह्यनिष्कनिष्ठदहनस्येवाषुद्धत्वं यतो हि तस्यामवस्थायां ज्ञायकत्वेन यो ज्ञातः स स्वरूपप्रकाषनदषायां प्रदीपस्येव कर्तृकर्मणोरनन्यत्वात् ज्ञायक एव।।6।।

नामसंज्ञ—ण, वि, अप्प्रमत्त, ण, पमत्त, जाणअ, दु, ज, भाव, एवं, सुद्ध, णाअ, ज, त, उ, त, चेव।
धातुसंज्ञ—हो सत्तायां, भण कथने। **प्रकृतिशब्द**—न, अपि, अप्रमत्त, न, ज्ञायक, तु, यत्, भाव, एवं, 'जुद्ध, ज्ञात, यत्, तत्, तु, तत्, च, एव। **मूलधातु**—मदी मोहने, ज्ञा अवबोधने, भू सत्तायां, 'गुध 'गोचे, भण वाचि। **पदविवरण**—न—अव्यय, अपि—अव्यय। भवति—लट् प्रथम पुरुष एकवचन। अप्रमत्तः—प्रथमा एक०। न—अव्यय। प्रमत्तः—प्रथमा एक०। ज्ञायकः—प्र० ए०। तु—अव्यय। यः—प्र० एक०। भावः—प्र० एक०। एवं—अव्यय। भणति—लट्—अन्यपुरुष बहुवचन। 'जुद्धं—द्वितीया एक०। ज्ञातः—प्र० ए०। यः—प्र० ए०। सः—प्र० ए०। तु—अव्यय। सः—प्र० ए०। च—अव्यय। एव—अव्यय।।6।।

अवस्थामें भी ज्ञायकरूप ही है ज्ञायेरूप नहीं हुआ। क्योंकि अभेद विवक्षासे कर्ता तो स्वयं ज्ञायक और कर्म जिसको जाना याने अपना आप ये दोनों एक स्वयं ही है, अन्य नहीं है। जैसे दीपक घटपटादिको प्रकाशित करता है, उनके प्रकाशनेकी अवस्थामें भी दीपक ही है, वही अपनी ज्योति रूप लौ के प्रकाशनेकी अवस्थामें भी दीपक ही है, कुछ दूसरा नहीं है।

भावार्थ—अषुद्धता परद्रव्यके संयोगसे आती है। वहाँ भी कोई द्रव्य अन्य द्रव्यरूप नहीं होता, कुछ परद्रव्यके निमित्तसे अवस्था मलिन हो जाती है। सो द्रव्यदृष्टिसे तो द्रव्य जो है वह ही है और उसकी अवस्था पुद्गल कर्मके निमित्त से मलिन है, वह पर्याय है। उसकी दृष्टिसे देखा जाय तब मलिन ही दीखता है। और द्रव्यदृष्टिसे देखा जाय, तब ज्ञायकत्व तो ज्ञायकत्व ही है, कुछ जड़त्व नहीं हुआ, यह तथ्य द्रव्यदृष्टिकी प्रधानता से निरखिये। जो प्रमत्त अप्रमत्तका भेद है, वह तो परद्रव्यके संयोगवियोगजनित पर्याय है। यह अषुद्धता द्रव्यदृष्टिमें गौण है, द्रव्यदृष्टि 'जुद्ध है, इसलिये आत्मा ज्ञायक है, इस कारण उसे प्रमत्त व अप्रमत्त नहीं कहा जाता। 'ज्ञायक' ऐसा नाम भी यद्यपि ज्ञेयके जानने से कहा जाता है, क्योंकि ज्ञेयका प्रतिबिम्ब जब झलकता है तब वैसा ही अनुभवमें आता है, सो यह भी अषुद्धता इसके नहीं कही जा सकती, क्योंकि वहाँ ज्ञेयाकारसदृष ज्ञान ज्ञानमें प्रतिभासित हुआ, ऐसा अपना अपने से अभेदरूप अनुभव हुआ तब उस जाननेरूप क्रियाका कर्ता स्वयं ही है और जिसको जाना सो कर्म भी स्वयं ही है। ऐसे एक ज्ञायकत्व मात्र आप 'जुद्ध है—यह 'जुद्धनयका विषय है। भदेरूप तथ्य अषुद्ध द्रव्यार्थिकनय के विषय हैं। 'जुद्ध द्रव्य की दृष्टि में यह भी पर्यायार्थिक ही है इसलिये व्यवहारनय ही है—ऐसा आषय जानना। जिनमत का कथन स्याद्वादरूप है, इससे 'जुद्धता और अषुद्धता दोनों वस्तुके धर्म जानना। अषुद्धताको सर्वथा असत्यार्थ ही न समझना। जो वस्तुधर्म है, वह वस्तुका सत्त्व है, वह प्रयोजनवष ही हुआ भेद है। निर्विकल्प समाधि पाने के लिये 'जुद्धनय का प्रधान उपदेश है। अषुद्धनय को असत्यार्थ कहने से ऐसा नहीं समझना कि यह वस्तुधर्म सर्वथा ही नहीं, दर्शनज्ञानचारित्रवत्त्वेनास्याशुद्धत्वमिति चेत्—

ववहारेणुवदिस्सद णाणिस्स चरित्त दसणं णाणं।

णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो।।7।।

चरित्र ज्ञान दर्शन, ज्ञायकके सुव्यवहारनय कहता।

‘गुद्धनय ‘गुद्ध लखता, नहिं दर्शन आदि भेद वहां ॥7॥

व्यवहारेणोपदिष्यते ज्ञानिनश्चरित्रं दर्शनं ज्ञानम् । नापि ज्ञानं न चरित्रं न दर्शनं ज्ञायकः ‘गुद्धः ॥7॥

आस्तां तावद् बंधप्रत्ययात् ज्ञायकस्याषुद्धत्वं, दर्शनज्ञानचारित्र्याण्येव न विद्यंत; यतो—
ह्यनंतधर्मण्येकस्मिन् धर्मिण्यनिष्णातस्यांतेवासिजनस्य तदवबोधविधायिभिः कैश्चिद्धर्मैस्तमनुषा
सतां सूरीणां धर्मधर्मिणां स्वभावतोऽभेदेपि व्यपदेशतो भेदमुत्पाद्य व्यवहारमात्रेणैव ज्ञानिना दर्शनं
ज्ञानं चारित्रमित्युपदेशः । परमार्थतस्त्वेकद्रव्यनिषपीतानंतपर्यायतयैकं किञ्चिच्चन्मिलिता—
स्वादमभेदमेकस्वभावमनुभवतां न दर्शनं न ज्ञानं न चारित्रं ज्ञायक एवैकः ‘गुद्धः ॥7॥

<p>नामसंज्ञ—व्यवहार, गाणि, चरित्त, दंसण, गाण, णवि, गाण, ण, चरित्त, ण, दंसण, जाणग, सुद्ध । धातुसंज्ञ—उव—दिस प्रेक्षणे दाने च, दंस दर्शनायां, जाण अवबोधने, सुज्झ नैर्मल्ये । प्रकृ तिशब्द—व्यवहार, ज्ञानिन्, चरित्र, दर्शन, ज्ञान, न, अपि, ज्ञान, न चरित्र, न, दर्शन ज्ञायक, ‘गुद्ध । मूलधातु—हर हरणे, दिष देशने । पदविवरण—व्यवहारेण—तृतीया विभक्ति एकवचन, करणकारक । उपदिष्यते—कर्मवाच्य—क्रिया, लटलकार अन्य पुरुष एकवचन । ज्ञानिनः—षष्ठी एक० । चरित्रं—प्र० ए० । दर्शनं—प्र० एक० । ज्ञानं—प्र० एक० न—अव्यय । अपि—अव्यय । ज्ञानं—प्र० एक० । न—अव्यय । चरित्रं—प्र० ए० । न—अव्यय । दर्शनं—प्र० एक० । ज्ञायकः—प्र० एक० । ‘गुद्धः—प्रथमा विभक्ति एकवचन ॥7॥</p>

आकाष के फूल की तरह असत् है । ऐसे सर्वथा एकान्त समझने से मिथ्यात्व आता है ।
इसलिये स्याद्वाद का ‘रण लेकर ‘गुद्धनय का आलंबन करना चाहिये, स्वरूपकी प्राप्ति होने
के पश्चात् ‘गुद्धनय का भी अवलंबन नहीं रहता ।

प्रसंगविवरण—अनंतर पूर्व गाथा में प्रतिज्ञापन किया था कि उस एकत्वको मैं
दिखाऊंगा सो इस गाथा में उसी एकत्व की चर्चा की गई है ।

तथ्यप्रकाश—(1) यह ज्ञायकभाव (आत्मा का सहज एकत्व स्वरूप) स्वतः सिद्ध
अनादिनिधन है । (2) यह ज्ञायकभाव नित्य अंतः प्रकाशमान है । (3) यह ज्ञायकभाव स्पष्ट
प्रतिभासस्वरूप है । (4) संसारावस्थामें ‘गुभ अषुभ भाव प्रतिफलित होनेपर भी यह उन भावों
रूप स्वभावसे नहीं परिणमता है । (5) समस्त पर व परभावों से भिन्न यह ज्ञायक है यही
इसकी ‘गुद्धता है । (6) अन्तरङ्ग ज्ञेयाकार होने पर भी ज्ञेय पदार्थों से इस ज्ञायकका कुछ
सम्बन्ध नहीं, कुछ कारकपना नहीं किन्तु ज्ञायक ही अपने में अपने ज्ञानकर्मरूप परिणमता
रहता है । (7) भेद किया जाने के कारण गुणों का निरखना भी अषुद्ध द्रव्यार्थिकनय है ।

सिद्धांत—(1) आत्मा ‘गुभ अषुभ भावों रूप स्वभावसे नहीं परिणमता । (2) समस्त
परपदार्थ व परपदार्थों का निमित्त पाकर होने वाले विकार (परभाव) इनसे भिन्न है यह
आत्मस्वरूप, यही इसकी द्रव्यषुद्धि है । (3) आत्मा अपने में अपनी वृत्तिको करता रहता है ।

दृष्टि—1—उपाधिनिरपेक्ष ‘गुद्ध द्रव्यार्थिकनय (21) । 2—परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय
(30) । 3—कारककारकिभेदक सदभूतव्यवहारनय (73) ।

प्रयोग—पर्यायतः ‘गुभ अषुभ भावों रूप परिणति हो वहाँ भी पर्याय की बात को गौण
करके द्रव्यदृष्टि की मुख्यता से अपनेको अपनेमें सहज ज्ञानज्योतिमात्र अनुभव करना ॥6॥

प्रश्न—क्या आत्मा के दर्शन, ज्ञान और चारित्र—इन तीन भावों से अषुद्धता आ
सकती है? **उत्तर**—[ज्ञानिनः] ज्ञानी के [चरित्रं दर्शनं ज्ञानं] चारित्र, दर्शन, ज्ञान—ये तीन
भाव [व्यवहारेण] व्यवहार द्वारा [उपदिश्यते] कहे जाते हैं । निष्चयनय से [ज्ञानं अपि न]
ज्ञान भी नहीं है । [चरित्रं न] चरित्र भी नहीं है और [दर्शनं न] दर्शन भी नहीं है । ज्ञानी तो
एक [ज्ञायकः] ज्ञायक ही है, इसलिये [‘गुद्धः] ‘गुद्ध कहा गया है ।

तर्हि परमार्थ एवैको वक्तव्य इति चेत्—

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ णहेउं ।

तह व्यवहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं ।। 8 ।।

तो भी अनार्य जैसे, अनार्यभाषा बिना नहीं समझे ।

व्यवहार विना प्राणी, परमार्थोपदेश नहीं समझे ।। 8 ।।

यथा नापि 'अक्योऽनार्योऽनार्यभाषां विना तु ग्राहयितुम् । तथा व्यवहारेण विना परमार्थोपदेशनमषक्यम् ।

यथा खलु म्लेच्छः स्वस्तीत्यभिहिते सति तथाविधवाच्यवाचकसंबन्धावबोधबहिष्कृत-
त्वान्न किंचदपि प्रतिपद्यमानो मेष इवानिमेषोन्मेषितचक्षुः प्रेक्षत एव । यदा तु स एव तदेत-
द्भाषासंबन्धैकार्थज्ञेनान्येन तेनैव वा म्लेच्छभाषां समुपादाय स्वस्तिपदस्याविनाषो भवतो
भवत्वित्यभिधेयं प्रतिपाद्यते तदा सद्य एवोद्यदमंदानंदमयाश्रुञ्जलज्जलल्लोचनपात्रस्तत्प्रतिपद्यत

नामसंज्ञ—जह, णवि, सक्क, अणज्ज, अणज्जभास, विणा, उ, तह, व्यवहार, विणा, परमत्थुवएसण, असक्क । **धातुसंज्ञ**—सक्क सामर्थ्ये, गाह स्थापनाग्रहणप्रवेसेसु । **प्रकृतिशब्द**—यथा न, अपि, 'अक्य, अनार्य, अनार्यभाषा, विना, तु, तथा, व्यवहार, बिना, परमार्थोपदेशन अषक्य । **मूलधातु**—षक्लृ—समर्थे,

तात्पर्य—सहजसिद्ध ज्ञायक आत्माका अनुभवपूर्ण परिचय अभेददृष्टिसे ही हो पाता है, क्योंकि आत्मा अभेदरूप है ।

टीकार्थ—इस ज्ञायक आत्माके बंधपर्यायके निमित्तसे अषुद्धता तो दूर ही रही, इसके दर्शन—ज्ञान—चारित्र भी नहीं है । क्योंकि निष्चयनयसे अनन्तधर्मा जो एक धर्मी वस्तु, उसको जिसने नहीं जाना, ऐसे निकटवर्ती शिष्य जनको उस अनंतधर्मस्वरूप धर्मी के बतलाने वाले स्वगत कितने ही धर्मों द्वारा शिष्य जनों को उपदेश करते हुए आचार्यों का ऐसा कथन है कि धर्म और धर्मी का यद्यपि स्वभावसे अभेद है तो भी नामसे भेद होने के कारण व्यवहारमात्रसे ज्ञानी के दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है । परन्तु परमार्थ से देखा जाय तो एक द्रव्य के द्वारा पिये गए अनन्त पर्याय की रूपता से एकमेक मिले हुए अभेदस्वभाव वस्तुको अनुभव करने वाले पंडित पुरुषों की दृष्टि में दर्शन भी नहीं, ज्ञान भी नहीं और चारित्र भी नहीं, किन्तु एकमात्र 'जुद्ध ज्ञायक भाव ही है ।

भावार्थ—इस 'जुद्ध आत्माके कर्मबंधके निमित्त से अषुद्धता आती है, यह बात तो दूर ही रहे, इसके तो दर्शन, ज्ञान, चारित्र का भी भेद नहीं है । फिर भी व्यवहारी जन धर्मों को ही समझते हैं, धर्मों को नहीं जानते, इसलिये वस्तुके कुछ असाधारण धर्मोंको उपदेश में लेकर अभेदरूप वस्तुमें भी धर्मों के नामरूप भेदको उत्पन्न करके ऐसा उपदेश करते हैं कि ज्ञानीके दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है । अभेद में भेद करनेसे इसको व्यवहार कहा गया है । परमार्थ से विचारा जाय तो अनन्त पर्यायों को एक द्रव्य अभेदरूप पिये हुए बैठा है, इस कारण भेद नहीं है । यद्यपि पर्याय भी द्रव्यका ही भेद है, अवस्तु नहीं है, तथापि यहाँ द्रव्यदृष्टिसे अभेदको प्रधान मानकर उपदेश है । अभेददृष्टिमें भेदको गौण करनेसे ही अभेद अच्छी तरह ज्ञात हो सकता है, इस कारण भेदको गौण करके व्यवहार कहा है । तात्पर्य यह है कि भेददृष्टिमें निर्विकल्प दशा नहीं होती और सरागी के जब तक रागादिक दूर नहीं होते, तब तक विकल्प बना रहता है । इस कारण भेदको गौण करके अभेदरूप निर्विकल्प अनुभव कराया गया है । वीतराग होनेके बाद तो भेदाभेदरूप वस्तुका ज्ञाता हो जाता है वहाँ नयका अवलम्बन ही नहीं रहता ।

प्रसंगविवरण—अनन्तर पूर्व गाथा में 'जुद्ध आत्मा का वर्णन किया गया था और बताया गया था कि वह अभेद ज्ञायकमात्र है वह प्रमत्त व अप्रमत्त भी नहीं है, वहाँ कोई भेद ही नहीं है । इस पर यह 'का उठना प्रासंगिक है कि आत्मा में ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है या

एव। तथा किल लोकाप्यात्मेत्यभिहिते सति यथावस्थितात्मस्वरूपपरिज्ञानबहिष्कृतत्वान्न किं—
चिदपि प्रतिपद्यमानो मेष इवानिमेषोन्मेषितचक्षुः प्रेक्षत एव। यदा तु स एव व्यवहारपरमार्थ—
पथप्रस्थापितसम्यबोधमहारथरथिनान्येन तेनैव वा व्यवहारपथमास्थाय दर्शनज्ञानचारित्राण्यत—

‘ाक्तुं योग्यः ‘ाक्यः तं। उप—दिष् देषने। **पदविवरण**—यथा—अव्यय। न—अव्यय। अपि—अव्यय। ‘ाक्तुं
योग्यः ‘ाक्यः—प्रथमा विभक्ति एकवचन। अनार्यः—न आर्यः इति अनार्यः प्र० ए०। अनार्यभाषां—अनार्यस्य

आत्मा ज्ञानदर्शनचारित्र वाला है इतनी भेदरूप अषुद्धता तो होती ही है। इसके उत्तर में इस
गाथा का अवतार हुआ है।

तथ्यप्रकाश—(1) आत्मस्वरूपमें बन्धप्रत्ययक अषुद्धता नहीं। (2) आत्मस्वरूपमें वस्तुतः
गुणभेद नहीं। (3) अभेद आत्मवस्तुका परिचय कराने के लिये भेदविधिसे वर्णन करनेका
व्यवहार आवश्यक हो जाता है। (4) परमार्थतः अभेद एकस्वभाव अन्तस्तत्त्वका अनुभव करने
वालों के तो मात्र ‘ुद्ध ज्ञायकभाव ही है।

सिद्धान्त—(1) आत्मस्वरूप अविकार है। (2) आत्मस्वरूप एक अभेद है।
(3) आत्मस्वरूप के ज्ञापनके लिये भेदविधिका व्यवहार है।

दृष्टि—1—अखण्ड परमषुद्ध निष्चयनय (44)। 2—षुद्धनय (49)। 3—भेद—कल्पनासापेक्ष
अषुद्धद्रव्यार्थिक प्रतिपादकव्यवहार (82)।

प्रयोग—अपने आपके ध्यान में ज्ञान दर्शन आदि गुणों का चिन्तन न करके मात्र
ज्ञानस्वरूपको ही ज्ञान में लेना ॥7॥

भेदव्यवहार है तो एक परमार्थका ही उपदेश करना चाहिए? उसके उत्तर में गाथा
सूत्र कहते हैं—[यथा] जैसे [अनार्यः] म्लेच्छ पुरुष [अनार्यभाषां विना तु] म्लेच्छ भाषाके
बिना तो [ग्राहयितुं] वस्तुस्वरूप ग्रहण कराये जानेको [अपि न ‘ाक्यः] ‘ाक्य नहीं है [तथा]
उसी तरह [व्यवहारेण विना] व्यवहारके बिना [परमार्थोपदेशनं] परमार्थका उपदेश करना
भी [अशक्यम्] ‘ाक्य समर्थ नहीं है।

तात्पर्य—उपदेश व स्वाध्याय से तत्त्व सुनकर यह भीतर मनन करना है कि यह सब
प्रतिपादन अभेद चैतन्यस्वरूपकी समझके लिये है।

टीकार्थ—जैस कोई म्लेच्छ किसी ब्राह्मणके द्वारा ‘स्वस्ति हो’ ऐसा ‘ाब्द कहे जानेपर
उस प्रकारके उस ‘ाब्द के वाच्यवाचकसम्बन्धके ज्ञानसे ‘ून्य होनेसे उसका अर्थ कुछ भी न
समझता हुआ ब्राह्मण के सामने मेढ़े की तरह टकटकी लगाकर देखता ही रहा कि इसने
क्या कहा है? तब उस ब्राह्मण की भाषा तथा म्लेच्छकी भाषा—इन दोनों का अर्थ जानने
वाले अन्य किसी पुरुषने उसे म्लेच्छ भाषामें समझाया कि ‘स्वस्ति’ ‘ाब्द का अर्थ है ‘तेरा
कल्याण हो।’ उस समय उत्पन्न हुए अत्यन्त आनन्द के आंसुओं से उस म्लेच्छके नेत्र भर
आये, इस तरह वह म्लेच्छ उस ‘स्वस्ति’ ‘ाब्द का अर्थ समझ ही लेता है। उसी तरह
व्यवहारी जन भी ‘आत्मा’ ऐसा ‘ाब्द कहे जाने पर यथावस्थित आत्मस्वरूपके ज्ञानसे रहित
होनेके कारण कुछ भी नहीं समझता हुआ मैंडे की तरह टकट की लगाकर देखता ही रहता
है। और जब कोई व्यवहार परमार्थ मार्गपर सम्यग्ज्ञान रूप महारथको चलाने वाले सारथी
के समान आचार्य या अन्य कोई विद्वान् व्यवहारमार्गको वर्तकर ‘दर्शन ज्ञान चारित्र रूप जो
सदा परिणमन करे, वह आत्मा है’ ऐसा आत्मा ‘ाब्द का अर्थ कहता है तब उसी समय
उत्पन्न हुए अत्यन्त आनन्द वाले हृदय में सुन्दर ज्ञानरूप तरंगोंसे प्रमुदित वह उस आत्मषब्द
का अर्थ अच्छी तरह समझ जाता है। इस प्रकार यहाँ जगतके म्लेच्छस्थानीयपना होनेसे
और व्यवहारनयके म्लेच्छ भाषाके तुल्य होनेसे व्यवहार परमार्थ का कहने वाला होनेसे

उपदेश करने योग्य है। और ब्राह्मण को म्लेच्छित आचरण करना योग्य नहीं है, इस वचन से निष्पत्ति करें कि व्यवहारनय परमार्थदर्शी के अनुसरण करने योग्य नहीं है। तीत्यात्मेत्यात्मपदस्याभिधेयं प्रतिपाद्यते तदा सद्य एवोद्यदमदानंदान्तः सुन्दरबंधुरबोधतरंगस्त-त्प्रतिपाद्यत एव। एवं म्लेच्छस्थानीयत्वाज्जगतो व्यवहारनयोऽपि म्लेच्छभाषास्थानीयत्वेन पर-मार्थप्रतिपादकत्वादुपन्यसनीयोऽथ च ब्राह्मणो न म्लेच्छितव्य इति वचनाद्व्यवहारनयो नानु-सर्तव्यः। ॥४॥

भाषा अनार्यभाषा तां। विना-अव्यय। तु-अव्यय। ग्राहयितुं-गुहलन्तं प्रेरयितुं। तथा-अव्यय। व्यहारेण-तृ० ए०। विना-अव्यय। परमार्थोपदेशनं-प्र० ए०। अषक्यं-षक्तं योग्यम् 'क्यं, न 'क्यं इति अषक्यम्-प्रथमा एकवचन। ॥४॥

भावार्थ—षुद्धनयका विषय अभेद एकरूप वस्तु है, इस तथ्य को लोक जानते नहीं, किन्तु अषुद्धनयको ही जानते हैं, क्योंकि इसका विषय भेदरूप अनेक प्रकार है, इसलिये व्यवहार के द्वारा ही 'षुद्धनयरूप परमार्थको समझ सकते हैं। इस कारण व्यवहारनयका परमार्थोपदेशक होनेसे उपदेश किया जाता है। सो व्यवहारोपदेशमें आचार्य व्यवहारका आलंबन नहीं कराते हैं, किन्तु व्यवहारका आलंबन छुड़ाकर परमार्थमें पहुंचाते हैं।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि ज्ञानी के (आत्माके) ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र्य है यह उपदेश व्यवहारसे ही है, परमार्थसे तो वह 'षुद्ध ज्ञायक ही है। इस तथ्यके प्रतिपादन पर यह जिज्ञासा होना प्राकृतिक है कि फिर तो व्यवहार कहा ही क्यों जाता, सिर्फ परमार्थ ही कहा जाना चाहिये। इसके समाधान के लिये इस गाथा का अवतार हुआ है।

तथ्यप्रकाश—(1) भेदविधिसे प्रतिपादनस्वरूप व्यवहारके बिना अभेद स्वतत्त्वके अपरिचित जीवों को यह परमार्थ नहीं समझाया जा सकता। (2) अभेद ज्ञायकस्वरूपसे अपरिचित यह जीव अनादि से है, अतः व्यवहारनय व व्यवहार इस जीवका उपकारी है, हस्तावलम्बनरूप है। (3) परमार्थ अन्तस्तत्त्वका दर्शन अनुभव करने वाले पवित्र आत्मावों को व्यवहारनय व व्यवहार अनुसरणीय (प्रयोजनवान) नहीं है।

सिद्धान्त—(1) भेदविधिसे सहज तत्त्वका प्रतिपादन अनुसरणीय व्यवहार है। (2) व्यवहार परमार्थ के प्रतिबोध का प्रयोजक है। (3) परमभावदर्शी पुरुषों को व्यवहारनय व व्यवहार अनुसरणीय नहीं होता।

दृष्टि—1—अनुपचरित परमषुद्ध सद्भूतव्यवहार व उपचरित परमषुद्ध सद्भूतव्यवहार (69अ-70)। 2—भेदकल्पनानिरपेक्ष 'षुद्ध द्रव्य प्रतिपादक व्यवहार (80)। 3—षुद्धनय (49)।

प्रयोग—हम अपने आत्माकी सहजषक्तियों से अपने आत्मस्वरूपका परिचय करके 'विक्रमभेदके विकल्पको त्यागकर अपने में विश्राम करें और चिद्ब्रह्मप्रकाशका अनुभव करें। ॥४॥

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि व्यवहारनय परमार्थका प्रतिपादक कैसे है? उसके उत्तरमें गाथा सूत्र कहते हैं—[यः] जो जीव [हि] निष्पत्तिः [श्रुतेन] श्रुतज्ञानसे [तु इमं] इस अनुभवगोचर [केवलं 'षुद्धं] केवल एक 'षुद्ध [आत्मानं] आत्माको [अभिगच्छति] सम्मुख हुआ जानता है [तं] उसे [लोकप्रदीपकराः] लोकको प्रकाश करने वाले [ऋषयः] ऋषीष्वर [श्रुतकेवलिनं] श्रुतकेवली [मणंति] कहते हैं। [यः] जो जीव [सर्वं] सब [श्रुतज्ञानं] श्रुतज्ञान को [जानाति] जानता है [तं] उसे [जिनाः] जिनदेव [श्रुतकेवलिनं] श्रुतकेवली [आहुः] कहते हैं [यस्मात्] क्योंकि [सर्वं ज्ञानं] सब ज्ञान [आत्मा] आत्मा ही है [तस्मात्] इस कारण [श्रुतकेवली] वह श्रुतकेवली है।

तात्पर्य—परमार्थतः आत्मा क्या जानता है इसका प्रतिपादन बाह्य ज्ञेयोंके निर्देषसे हो पाता है।

कथं व्यवहारस्य परमार्थ प्रतिपादकत्वमिति चेत्—

जो हि सुएणहिगच्छइ अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं ।
तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पईवयरा ॥9॥
जो सुयणाणं सव्वं जाणइ सुयकेवलिं तमाहु जिणा ।
णाणं अप्पा सव्वं जह्मा सुयकेवली तह्मा ॥10॥ (जुम्मं)
जो श्रुतवेदित केवल, 'जुद्ध निजात्मा हि जानता होवे ।
ज्ञानी ऋशिवर उसको, निश्वयश्रुतकेवली कहते ॥9॥
जो सब श्रुतको जाने, उसको श्रुतकेवली प्रकट कहते ।
क्योंकि सकल श्रुतका जो, ज्ञान है सो आत्मा ही है ॥10॥

यो हि श्रुतेनाभिगच्छति आत्मानमिमं तु केवलं 'जुद्धम् । तं श्रुतकेवलिनमृषयो भणंति लोकप्रदीपकराः ॥9॥
यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति श्रुतकेवलिनं तमाहुजिनाः । ज्ञानमात्मा सर्वं यस्माच्छ्रुतकेवली तस्मात् ॥10॥

यः श्रुतेन केवलं 'जुद्धमात्मानं जानाति स श्रुतकेवलीति तावत्परमार्थो यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति स श्रुतकेवलीति तु व्यवहारः । तदत्र सर्वमेव तावत् ज्ञानं निरूप्यमाणं किमात्मा किमनात्मा? न तावदनात्मा समस्तस्याप्यनात्मनश्चेतनेतपरपदार्थपंचतयस्य ज्ञानतादात्म्यानुपपत्तेः । ततो गत्यंतराभावात् ज्ञानमात्मेत्यायात्यतः श्रुतज्ञानमप्यात्मैव स्यात् । एवं सति य आत्मानं जानाति स श्रुतकेवलीत्यायाति स तु परमार्थ एव । एवं ज्ञानज्ञानिनी भेदेन व्यपदिषता व्यवहारेणापि परमार्थमात्रमेव प्रतिपाद्यते न किंचिदप्यतिरिक्तं । अथ व यः श्रुतेन केवलं 'जुद्धमात्मानं जानाति स श्रुतकेवलीति परमार्थस्य प्रतिपादयितुमषक्यत्वाद्यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति स श्रुतकेवलीति व्यवहारः परमार्थप्रतिपादकत्वेनात्मानं प्रतिष्ठापयति ॥9, 10॥

नामसंज्ञ—ज, हि, सुय, अप्प, इम, तु, केवल, सुद्ध, त, सुयकेवलि, इसि, लोयप्पईवयर, ज, सुयणाण, सव्व, सुयकेवलि, त जिण, णाण, अप्प, सव्व, त, सुयकेवलि, त। **धातुसंज्ञ**—अभि—गच्छ गतौ, भण व्यक्तायां वाचि, जाण अवबोधने। **प्रकृतिशब्द**—यत्, हि, श्रुत, आत्मन्, इदम्, तु, केवल, 'जुद्ध, तत्, श्रुतकेवलिन, ऋषि, लोकप्रदीपकर, यत्, श्रुतज्ञान, सर्व, श्रुतकेवलिन, तत्, जिन, ज्ञान, आत्मन्, सर्व, यत्, श्रुतकेवलिन, तत्। **मूलधातु**—श्रु श्रवणे। अभि—गम्लृ गतौ, अत सातत्यगमने ब्रूञ् व्यक्ताणां वाचि, ज्ञा अवबोधने। **पदविवरण**—यः—प्रथमा ए०। हि—अव्यय। श्रुतेन—तृ० ए०। अभिगच्छति—लट् अन्य० एक०। आत्मानं—द्वि० ए०। इमम्—द्वि० एकवचन। तु—अव्यय। केवलं—द्वि० ए०। 'जुद्धं—द्वि० ए०। तं—द्वितीया एक० कर्मकारक। श्रुतकेवलिनं—द्वितीया एकवचन कर्मविषेषण। भणंति—लट् वर्तमान, अन्य पुरुष बहु०।

टीकार्थ—जो श्रुतज्ञानसे केवल 'जुद्ध आत्मा को जानता है वह श्रुतकेवली है, यह तो परमार्थ है, और जो सब श्रुतज्ञानको जानता है वह श्रुतकेवली है यह व्यवहार है। अब यहाँ विचारिये कि यहां निरूपण किया जाने वाला सब ही ज्ञान आत्मा है कि अनात्मा? उनमें से अनात्मा कहना तो ठीक नहीं है, क्योंकि जड़रूप अनात्मा आकाषादि पांच द्रव्य हैं उनका ज्ञानके साथ तादात्म्य नहीं है। इसलिए अन्य उपायका अभाव होनेसे ज्ञान आत्मा ही है ऐसा तथ्य सिद्ध होता। श्रुतज्ञान भी आत्मा ही है ऐसा होनेपर यह सिद्ध हुआ कि जो आत्मा को जानता है वह श्रुतकेवली है और वही परमार्थ है। इस तरह ज्ञान और ज्ञानी को भेदसे कहने वाले व्यवहारसे भी परमार्थमात्र ही कहा जाता है, उससे अधिक कुछ भी नहीं। अथवा जो श्रुतज्ञान से केवल 'जुद्ध आत्मा को जानता है वह श्रुतकेवली है, इस परमार्थका निष्चयनयके द्वारा कहना अषक्य है, इसलिए जो समस्त श्रुतज्ञान को जानता है, वह श्रुतकेवली है, ऐसा बताने वाला व्यवहारनय परमार्थका प्रतिपादक होने के कारण अपने को प्रतिष्ठित कराता है।

भावार्थ—जो द्वादषाङ्ग के जाननरूप परिणत मात्र आत्मा को जानता है, वह श्रुतकेवली है यह तो परमार्थ का कथन है और वही सब द्वादषाङ्ग 'आस्त्रज्ञान को जानता है यह कहना व्यवहारकथन है। वस्तुविषयक ज्ञान आत्मा है ऐसा जिसने ज्ञान को जाना कुतो व्यवहारनयो नानुसर्त्तव्य इति चेत्—

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।

भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥11॥

व्यवहार अभूतार्थ रु, भूतार्थ 'दुद्धनय कहा गया है ।

भूतार्थ आश्रयी ही, सम्यग्दृष्टी पुरुश होता ॥11॥

व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो दर्षितस्तु 'दुद्धनयः । भूतार्थमाश्रितः खलु सम्यग्दृष्टिर्भवति जीवः ॥11॥

व्यवहारनयो हि सर्व एवाभूतार्थत्वादभूतमर्थं प्रद्योतयति । 'दुद्धनय एक एव भूतार्थत्वाद् भूतमर्थं प्रद्योतयति । तथाहि—यथा प्रबलपंकसंवलनतिरोहितसहजैकाच्छभावस्य पयसोऽनु- भवितारः पुरुषाः पंकपयसोर्विवेकमकुर्वन्तो बहवोऽनच्छमेव तदनुभवति । केचित्तु स्वकरविकोर्ण- कतकनिपातमात्रोपजनितपंकपयसोर्विवेकतया स्वपुरुषाकाराविर्भावितसहजैकाच्छभावत्वादच्छमेव

लोकप्रदीपकराः—प्रथमा० एक० कर्ताकारक । यः—प्रथमा एकवचन सर्वनाम कर्ता । श्रुतज्ञानं—द्वितीया० एक० कर्म० । सर्व—द्वि० ए० कर्मविषेषण । जानाति—लट् वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन । श्रुतकेवलिनं—द्वि० एकवचन । तं—द्वि० ए० कर्म । आहुः—लट् वर्तमान अन्य० बहुवचन । जिनाः—प्रथमा बहु० । ज्ञानं—प्र० ए० । आत्मा—प्र० एक० । सर्व—प्र० ए० । यस्मात्—पंचमी० एक० । श्रुतकेवली—प्रथमा० एक० कर्ताकारक । तस्मात्—पंचमी विभक्ति एकवचन ॥9-10॥

उसने आत्मा को ही जाना यही परमार्थ है । इस प्रकार ज्ञान और ज्ञानी के भेद कहने वाले व्यवहारने भी परमार्थ ही कहा, अन्य कुछ नहीं कहा । यहाँ ऐसा है कि परमार्थ का विषय तो कथंचित् वचनगोचर नहीं भी है; इसलिए व्यवहारनय ही परमार्थ आत्मा का प्रतिपादन करता है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तर पूर्व गाथा में कहा गया था कि व्यवहार के बिना परमार्थका समझाया जाना अषक्य है, अतः व्यवहार परमार्थ का प्रतिपादक है । सो यहाँ उसके विवरण की जिज्ञासा का समाधान है कि व्यवहार परमार्थका प्रतिपादक कैसे है?

तथ्यप्रकाश—(1) परमार्थतः आत्मा अपने को (ज्ञेयाकारपरिणत अपने को) ही जानता है । (2) परमार्थतः आत्मा किसे जानता है यह सीधा कहना अषक्य है सो आत्मा जिस समय जिस वस्तुके विषयमें जानकारी कर रहा है उस वस्तुको जानता है यों कहकर समझाया जाता है । (3) अन्य दृष्टान्त से इस तथ्य को समझें जैसे घटको जानने वाला आत्मा परमार्थसे क्या जान रहा है? परमार्थ से वह घटके विषयके ज्ञानरूपसे परिणत मात्र (षुद्ध) अपने आत्मा को जान रहा है, किन्तु परमार्थतः वह किसे जान रहा है यह सीधा कहना अषक्य है सो वह घटको जान रहा है यों कहकर समझाया जाता है । (4) परवस्तुको जानने की बात कहना व्यवहार है और उस प्रकारके ज्ञानसे परिणत मात्र (षुद्ध) आत्माको जानना यह परमार्थ है । (5) इस प्रकरणमें दृष्टान्त श्रुतकेवलीका दिया है जो द्वादषाङ्ग श्रुतको जानता है वह श्रुतकेवली परमार्थसे किसको जानता है? वह परमार्थसे द्वादषाङ्ग श्रुतके विषयके ज्ञानसे परिणत मात्र (षुद्ध) आत्मा को जानता है, किन्तु परमार्थतः वह किसे जानता यह सीधा कहना अषक्य है सो वह द्वादषाङ्ग श्रुतको जानता है यों व्यवहारसे समझाया जाता है । (6) अन्तर्दृष्टिसे व्यवहार व परमार्थ देखिये—श्रुतकेवली द्वादषाङ्गश्रुत ज्ञानको जानता है । यहाँ ज्ञान ज्ञानी का भेद किया वह व्यवहार है, भेद न कर आत्मा ही लक्षित हो वह परमार्थ है । (7) अन्तर्दृष्टि का दूसरा दृष्टान्त—घटज्ञानी व्यवहारसे घटज्ञान

को जानता है, परमार्थतः वहां आत्माको जानता है। यहां ज्ञान ज्ञानी का भेद किया वह व्यवहार है, भेद न कर वहां आत्मा ही लक्षित हो वह परमार्थ है।

सिद्धान्त—(1) परमार्थतः आत्मा आत्माको जानता है। (2) व्यवहारतः आत्मा परवस्तुको जानता है।

तदनुभवन्ति। तथा प्रबलकर्मसंवलनतिरोहितसहजैकज्ञायकस्यात्मनोऽनुभवितारः पुरुषा आत्म-कर्मणोर्विवेकमकुर्वन्तो व्यवहारविमोहितहृदयाः प्रद्योतमानभाववैष्वरूप्यं तमनुभवन्ति। भूतार्थ-दर्शिनस्तु स्वमतिनिपातितषुद्धनयानुबोधमात्रोपजनितात्मकर्मविवेकतया स्वपुरुषाकाराविर्भावित-सहजैकज्ञायकस्वभावत्वात् प्रद्योतमानैकज्ञायकभावं तमनुभवन्ति। तदत्र ये भूतार्थमाश्रयन्ति त एव सम्यक् पश्यन्तः सम्यग्दृष्टयो भवन्ति न पुनरन्ये कतकस्थानीयत्वाच्छुद्धनयस्यातः प्रत्यगात्मदर्षिभिर्यवहारनयो नानुसर्तव्यः। अथ च केषांचित्कदाचित्सोपि प्रयोजनवान्। यतः—

नामसंज्ञ—व्यवहार, अभूयत्थ, भूयत्थ, देसिद्, हु, सुद्धनय, भूयत्थ, अस्सिद्, खलु, सम्माइटिठ जीव।
धातुसंज्ञ—वि-अव हर हरणे, भव सत्ताया, सुज्ज नैर्मल्ये, ने प्रापणे, अस्स आश्रयणे, हव सत्तायां, जीव प्राणधारणे, समअंच पूजायां। **प्रकृतिशब्द**—व्यवहार, अभूतार्थ, भूतार्थ, देषित, खलु, 'ुद्धनय, भूतार्थ, आश्रित, खलु, सम्यग्दृष्टि, जीव। **मूलधातु**—वि-अव-हृ हरणे। भू सत्तायां। आ-श्रिञ् सेवायां।
पदविवरण—व्यवहारः—प्रथमा विभक्ति एकवचन कर्ताकारक, अभूतार्थः—प्रथमा विभक्ति एकवचन कर्तृविषेषण, भूतार्थः—प्रथमा० एक०, देषितः—प्रथमा एकवचन कृदन्त क्रिया, खलु—अव्यय, 'ुद्धनयः—प्रथमा० एक०, भूतार्थ—द्वितीया एकवचन, आश्रितः—प्रथमा एकवचन, खलु—अव्यय, सम्यग्दृष्टिः—प्रथमा विभक्ति एकवचन, भवति—लट् वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन, जीवः—प्रथमा विभक्ति एकवचन।।11।।

दृष्टि—1—कारककारकिभेदक सदभूतव्यवहार (73)। 2—स्वाभाविक उपचरित स्वभाव व्यवहार, परकर्तृत्व व्यवहार (105, 129)।

प्रयोग—व्यवहार से अपनी सर्व कलायें जानकर अन्तर्दृष्टिसे परमार्थ सहज ज्ञानमात्र अपने आत्मा को अनुभवना चाहिये।।9-10।।

अब प्रश्न उठता है कि पहले कहा था कि व्यवहारको अंगीकार नहीं करना, परन्तु जब यह परमार्थका कहने वाला है तो ऐसे व्यवहारको क्यों नहीं अंगीकार करना चाहिये? इसके उत्तर में गाथासूत्र कहते हैं—[व्यवहारः] व्यवहारनय [अभूतार्थः] अभूतार्थ है [तु] और [‘ुद्धनयः] ‘ुद्धनय [भूतार्थः] भूतार्थ है ऐसा [दर्शितः] ऋषीष्वरो ने दिखलाया है। [भूतार्थ] भूतार्थ के [आश्रितः] आश्रय को प्राप्त [जीवः] जीव [खलु] निष्चयतः [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [भवति] है।

तात्पर्य—सहज स्वयं सिद्ध अन्तस्तत्त्व भूतार्थ है, अन्य सब अभूतार्थ है।

टीकार्थ—समस्त व्यवहारनय अभूतार्थ होनेसे अभूतार्थ को प्रकट करता है और केवल 'ुद्धनय ही भूतार्थ होने के कारण सहज सत्यभूत अर्थ को प्रकट करता है। जैसे प्रबल कीचड़ के मिलनेसे जिसका निर्मल स्वभाव आच्छादित हो गया है, ऐसे जलके अनुभव करने वाले बहुत से पुरुष तो ऐसे हैं कि जल और कीचड़ का भेद न करके उस मैले जलका ही अनुभव करते हैं और कोई पुरुष अपने हाथसे निर्मली औषधि डालकर कर्दम और जलको भिन्न-भिन्न करने से जिसमें अपना पुरुषाकार दिखलाई दे ऐसे स्वाभाविक निर्मल स्वभावरूप जलको पीनेका अनुभव करते हैं। उसी प्रकार प्रबल कर्मके संयोग होने से जिसका स्वाभाविक एक ज्ञायकभाव आच्छादित हो गया है, ऐसे आत्मा के अनुभव करने वाले पुरुष आत्मा और कर्मका भेद न करके व्यवहारमें विमोहित चित्त होते हुए, जिसके भावों का अनेकरूपपना प्रकट है ऐसे अषुद्ध आत्मा का ही अनुभव करते हैं और 'ुद्धनयके देखने वाले जीव अपनी बुद्धि से प्रयुक्त 'ुद्धनयके अनुसार ज्ञानमात्र से उत्पन्न हुए आत्मा और कर्मकी विवेक-बुद्धि से अपने पुरुषाकाररूप स्वरूप से प्रकट हुए स्वाभाविक एक

ज्ञायकभावपने जिसमें एक ज्ञायकभाव प्रकाशमान है ऐसे 'जुद्ध आत्मा का अनुभव करते हैं। इसलिए जो पुरुष 'जुद्धनय का आश्रय करते हैं वे ही सम्यक् अवलोकन करते हुए सम्यग्दृष्टि हैं और जो अषुद्धनयका सर्वथा आश्रय करते हैं वे सम्यग्दृष्टि नहीं हैं, क्योंकि 'जुद्धनय निर्मली द्रव्य के समान है। इस कारण कर्मसे भिन्न आत्मा को जो देखना चाहते हैं उन्हें व्यवहारनय अंगीकार नहीं करना चाहिये।

सुद्धो सुद्धादेसो गायव्वो परमभावदरिसीहिं ।

ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे टिठदा भावे ॥12॥

'जुद्ध 'जुद्धदेशक नय—को जानो परमभावदर्शी गण ।

जो अपरमभावस्थित, उनको व्यवहारदेशन है ॥12॥

'जुद्धः 'जुद्धादेशो ज्ञातव्यः परमभावदर्षिभिः । व्यवहारदेशिताः पुनर्ये त्वपरमे स्थिता भावे ॥12॥

ये खलु पर्यतपाकोत्तरणजात्यकार्तस्वरस्थानीयं परमं भावमनुभवन्ति, तेषां प्रथमद्विती—याद्यनेकपाकपरम्परापच्यमानकार्तस्वरानुभवस्थानीयपरमभावानुभवनधून्यत्वाच्छुद्धद्रव्यादेशितया समुद्योतितास्खलितैकस्वभावैकभावः 'जुद्धनय एवोपरितनैकप्रतिवर्णिकास्थानीयत्वात्परिज्ञायमानः प्रयोजनवान् । ये तु प्रथमद्वितीयाद्यनेकपाकपरंपरापच्यमानकार्तस्वरस्थानीयमपरमं भावमनुभवन्ति

नामसंज्ञ—सुद्ध, सुद्धादेस, गायव्व, परमभावदरिसि, ववहारदेसिद, पुण, ज, दु, अपरम, भाव, टिठदा।
धातुसंज्ञ—सुञ्ज नैर्मल्ये, दिस प्रेक्षणे, दरिस दर्शनायां, ट्ठा गतिनिवृत्तौ। **प्रकृतिशब्द—**षुद्ध, 'जुद्धा—

भावार्थ—यहाँ व्यवहारनयको अभूतार्थ और 'जुद्धनयको भूतार्थ कहा है। जो सहज अस्तित्वमय है उसे भूतार्थ कहते हैं और जो सहज नहीं है, किन्तु औपाधिक है उसे अभूतार्थ कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि 'जुद्धनयका विषय सहज अभेद एकाकाररूप नित्य द्रव्य है इसकी दृष्टि में भेद नहीं दीखता। इसलिये इसकी दृष्टि में वह अभूतार्थ अविद्यमान—असत्यार्थ ही कहना चाहिये। यहाँ ऐसा समझिये कि जिनवाणी स्याद्वादरूप है, प्रयोजन के वष से नयको मुख्य गौण करके कहती है। भेदरूप व्यवहारका पक्ष तो प्राणियों को अनादिकालसे है ही और उसका उपदेश भी बहुधा सभी परस्पर में करते हैं, किन्तु आगम में व्यवहार का उपदेश 'जुद्धनय का सहायक जानकर किया है। चूँकि 'जुद्धनयका पक्ष इस जीवने कभी नहीं ग्रहण किया तथा उसका उपदेश भी कहीं कहीं है, इसलिये भगवन्तों ने 'जुद्धनय के ग्रहण का फल मोक्ष जानकर इसी का उपदेश मुख्यता से दिया है कि 'जुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है, इसीका आश्रय करनेसे सम्यग्दृष्टि हो सकता है, इसके जाने बिना व्यवहारमें जब तक मग्न है तब तक आत्मा का ज्ञान श्रद्धानरूप निष्चयसम्यक्त्व नहीं हो सकता।

प्रसङ्गविवरण—षुद्ध ज्ञायकस्वरूप आत्मा परमार्थ है उसको समझाने के लिये भेदविधिसे प्रतिपादन करने वाला व्यवहार प्रयोजनवान है, किन्तु परमभावदर्शी पुरुषोंको व्यवहारनय प्रयोजनवान नहीं, अतः व्यवहारनयका अनुसरण नहीं करना चाहिये यह प्रसंग इस स्थल तक चल रहा है। सो उसी विषय में यह जिज्ञासा होना प्राकृतिक है कि व्यवहारनयका अनुसरण क्यों नहीं करना चाहिये। इसके ही उत्तरमें इस गाथा का अवतार हुआ है।

तथ्यप्रकाश—(1) जो सहज 'गष्यत सत् (भूत) अर्थ है वह भूतार्थ है। (2) जो सहज 'गष्यत सत् (भूत) अर्थ नहीं वह अभूतार्थ है। (3) अभूतार्थ मिथ्या नहीं, किन्तु सहज 'गष्यत स्वभाव अनुभूयमान होने पर अभूतार्थ मिथ्या है। (4) उपाधिसंसर्ग, बन्धन, क्षणिक भाव,

विकार, गुणभेद, कारककारकिभेद, गुणगुणिभेद, उपचार—ये सब अभूतार्थ हैं। (5) अभूतार्थ से हटकर भूतार्थ का आश्रय करने के लिये प्रथम कदम भेदविज्ञान है, द्वितीय कदम 'जुद्धनयका आलम्बन है।

सिद्धान्त—(1) सहज 'ष्वत अभेद चैतन्यस्वभाव भूतार्थ है। (2) गुणगुणिभेद, कारककारकिभेद, गुणभेद, क्षणिकभाव, विकार, उपाधिबन्धन, उपचार आदि ये सब अभूतार्थ हैं।

दृष्टि—1—षुद्धनय, परमषुद्धनिष्चयनय भेदकल्पनानिरपेक्ष 'जुद्धद्रव्यार्थिकप्रतिपादक (44, 49, 80)। 2—गुणगुणिबोधक परमषुद्ध सद्भूतव्यवहार (69अ), कारककारकिभेदकसद्भूत—तेषां पर्यन्तपाकोत्तीर्णजात्यकार्तस्वरस्थानीय परमभावानुभवनषून्यत्वादषुद्धद्रव्यादेषितयोपदर्षि—तप्रतिविषिष्टैकभावानेकभावो व्यवहारनयो विचित्रवर्णमालिकास्थानीयत्वात्परिज्ञायमानस्तदात्वे प्रयोजनवान्, तीर्थतीर्थफलयोरित्यमेव व्यवस्थितत्वात्। उक्तं च—जइ जिणमयं पवज्जहं देष, परमभावदर्षिन्, व्यवहारदेषित, पुनस्, यत्, तु, अपरम, स्थित, भाव। **मूलधातु**—दृष्टिर् अवलोकने, व्यवहार (73), भेदकल्पनासापेक्ष अषुद्ध द्रव्यार्थिकप्रतिपादकव्यवहार, उपचरित परम—'जुद्धसद्भूतव्यवहार, भेदकल्पनासापेक्ष अषुद्ध द्रव्यार्थिकनय (82, 70, 26), सत्तागौणोत्पाद—व्ययग्राहकनित्य अषुद्ध पर्यायार्थिकनय (37), उपाधिसापेक्ष अषुद्ध द्रव्यार्थिकनय (24), परसम्बन्धव्यवहार (125), उपचार (103 से 151) आदि।

प्रयोग—परमषुद्धनिष्चयनय अथवा 'जुद्धनय भूतार्थ को विषय करते हैं 'ष सभी नय अभूतार्थ को विषय करते हैं, किन्तु वस्तुका परिचय कराते हैं। सो वस्तुपरिचयके लिये सर्व नयों का उपयोग कर भूतार्थसम्मुख होते हुए सर्वनयों का परित्याग करके एक 'जुद्ध नयका आलम्बन लेकर भूतार्थ सहज अन्तस्तत्त्वको अनुभवना चाहिये।।11।।

अब कहते हैं कि यह व्यवहारनय भी किसी किसी को, किसी काल में प्रयोजनवान् है, सर्वथा निषेध्य करने योग्य नहीं है, इसलिये इसका उपदेश है—[परमभावदर्शिभिः] जो 'जुद्धनय तक पहुंचकर श्रद्धावान् हुए तथा पूर्ण ज्ञानचारित्रवान् हो गये उनको तो [जुद्धादेशः] 'जुद्ध ज्ञायकमात्र आत्मा का उपदेश करने वाला [जुद्धः] 'जुद्धनय [ज्ञातव्यः] जानने योग्य है [पुनः] और [ये तु] जो जीव [अपरमे भावे] अपरमभावमें अर्थात् श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र के पूर्ण भावको नहीं पहुंच सके ऐसी अवस्था में तथा साधक अवस्था में ही [स्थिताः] ठहरे हुए हैं वे [व्यवहारदेशिताः] व्यवहार द्वारा उपदेश करने योग्य हैं।

तात्पर्य—प्राक् पदवी में व्यवहारनयका उपदेश प्रयोजनवान् है।

टीकार्थ—जो पुरुष अन्तिम पाकसे उतरे हुए 'जुद्ध सोने के समान वस्तुके उत्कृष्ट असाधारण भाव का अनुभव करते हैं उनको प्रथम द्वितीय आदि अनेक पाकों की परम्परा से पच्यमान (पकाये जाते हुए) अषुद्ध सुवर्ण के समान अपरमभावका अर्थात् अनुत्कृष्ट मध्यम भावका अनुभव नहीं होता। इस कारण 'जुद्धद्रव्यका ही कहने वाला होनेसे जिसने अचलित अखंड एकस्वभावरूप एक भाव प्रकट किया है, ऐसा 'जुद्धनय ही उपरितन एक 'जुद्ध सुवर्णावस्था के समान जाना हुआ प्रयोजनवान् है। परन्तु जो पुरुष प्रथम द्वितीय आदि अनेक पाकों की परम्परा से पच्यमान अषुद्ध सुवर्ण के समान वस्तु के अनुत्कृष्ट मध्यम भावका अनुभव करते हैं उनको अन्तिम पाकसे उतरे हुए 'जुद्ध सुवर्ण के समान वस्तु के उत्कृष्ट भावका अनुभव न होनेसे उस काल में जाना हुआ व्यवहारनय ही प्रयोजनवान् है। (क्योंकि व्यवहारनय अषुद्ध द्रव्यको कहने वाला होनेसे भिन्न—भिन्न एक एकभावस्वरूप अनेकभाव दिखलाता है तथा वह विचित्र अनेक वर्णमाला के समान है। इस तरह अपने—अपने समय में दोनों ही नय कार्यकारी हैं) क्योंकि तीर्थ और तीर्थ के फल की ऐसी

ही व्यवस्थिति है। (जिससे तरा जावे वह तीर्थ है, ऐसा तो व्यवहार धर्म है और जो पार होना वह व्यवहारधर्मका फल है अथवा अपने स्वरूप का पाना वह तीर्थफल है)। ऐसा ही दूसरी जगह भी 'जइ जिणमयं' इत्यादि गाथा में कहा है। **अर्थ**—यदि तुम जैनधर्म का प्रवर्तन चाहते हो तो व्यवहार और निष्चय इन दोनों नयों को मत छोड़ो, क्योंकि एक व्यवहारनयके बिना तो तीर्थ याने व्यवहारमार्ग का नाश हो जायगा चिहिनत जिनेन्द्र भगवान के वचनमें जो पुरुष रमण करते हैं—प्रचुर प्रीतिसहित अभ्यास करते हैं, वे पुरुष स्वयं मिथ्यात्व-कर्म के उदयका वमन करते हुए इस उत्कृष्ट परमज्योतिस्वरूप सनातन सर्वथा एकांतरूप कुनयके पक्षसे खंडित नहीं होने वाले समयसार को निरखते हैं।

ता मा व्यवहारणिच्छए मुयह। एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण अध तच्चं। उभयक्य-विरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके, जिनवचसि रमंते ये स्वयं वांतमोहाः। सपदि समयसारं ते परं

दिषि देषने, ष्ठा गतिनिवृत्तौ। **पदविवरण**—षुद्धः—प्रथमा एक०। 'जुद्धादेषः—प्रथमा एक०। ज्ञातव्यः—

भावार्थ—जिनवचन स्याद्वादरूप हैं, जहाँ दो नयों के विषयका विरोध है, जैसे जो और दूसरे निष्चयके विना तत्त्व (वस्तु) का नाश हो जायगा।

भावार्थ—लोकमें सोनेके सोलह ताव प्रसिद्ध हैं उनमें पन्द्रह ताव तक तो परसंयोग की कालिमा रहती है, अतः तब तक उसे अषुद्ध कहते हैं और फिर ताव देते-देते जब अंतिम तावसे उतरे, तब सोलहवान 'जुद्ध सुवर्ण' कहलाता है। जिन जीवों को सोलहवान वाले सोने का ज्ञान, श्रद्धान तथा उसकी प्राप्ति हुई है उनको पंद्रहवान तकका सोना कुछ प्रयोजनवान् नहीं है। और जिनको सोलहवान वाले 'जुद्ध सुवर्ण' की प्राप्ति जब तक नहीं हुई तब तक पंद्रहवान तक का भी प्रयोजनीय है। उसी तरह यह जीव पदार्थ पुद्गल के संयोग से अषुद्धअनेकरूप हो रहा है। सो जिनको सब परद्रव्यों से भिन्न एक ज्ञायकतामात्रका ज्ञान, श्रद्धान तथा आचरणरूप प्राप्ति हो गई है उनको तो पुद्गलसंयोगजनित अनेकरूपताको कहने वाला अषुद्धनय कुछ प्रयोजनवान् नहीं है, और जब तक 'जुद्धभावकी प्राप्ति नहीं हुई है तब तक जितना अषुद्धनयका कथन है उतना यथापदवी प्रयोजनवान् है। अतः जिनवचनों का सुनना, धारण करना तथा जिनवचनके कहने वाले श्री जिनगुरुकी भक्ति, जिनबिंबका दर्शन इत्यादि व्यवहार मार्ग में प्रवृत्त होना प्रयोजनवान् है। और जिसके श्रद्धान और ज्ञान तो हुआ, पर साक्षात्प्राप्ति न हुई, तब तक परद्रव्यका आलंबन छोड़ने रूप अणुव्रत और महाव्रत का ग्रहण, समिति, गुप्ति, पंचपरमेष्ठीके ध्यानरूप प्रवर्तन तथा उसी प्रकार प्रवर्तन करने वालों की संगति करना और विषेण जानने के लिए 'गास्त्रों का अभ्यास करना इत्यादि व्यवहारमार्गमें स्वयं प्रवर्तन करना तथा अन्यको प्रवृत्त करना आदि सब व्यवहारनयका उपदेश अंगीकार करना प्रयोजनवान् है। व्यवहारनयको 'जुद्धनयके समक्ष असत्यार्थ' कहा गया है, यदि कोई उसे सर्वथा असत्यार्थ जानकर छोड़ दे तो वह 'जुभोपयोगरूप व्यवहारको ही छोड़ देगा और चूंकि 'जुद्धोपयोग की साक्षात् प्राप्ति हुई नहीं, इसलिये उल्टा अषुभोपयोगमें ही आकर भ्रष्ट होकर यथाकथंचित् स्वेच्छारूप प्रवृत्ति करेगा तब नरकादिगति तथा परम्परा से निगोदको प्राप्त होकर संसारमें ही भ्रमण करेगा। इस कारण साक्षात् 'जुद्धनयका विषय जो 'जुद्ध आत्मा है उसकी प्राप्ति जब तक न ही तब तक व्यवहार भी प्रयोजनवान् है। ऐसा स्याद्वादषासनमें श्री गुरुओं का उपदेश है।

इसी अर्थ का कलषरूप काव्य टीकाकार कहते हैं—“उभय” इत्यादि। **अर्थ**—निष्चय व्यवहाररूप दो नयों में विषयके भेदसे होने वाले परस्पर के विरोधको दूर करने वाले स्यात्पदसे चिह्नित जिनेन्द्र भगवान के वचन में जो पुरुष रमण करते हैं—प्रचुर प्रीतिसहित अभ्यास करते हैं, वे पुरुष स्वयं मिथ्यात्वकर्मके उदयका वमन करते हुए इस उत्कृष्ट

परमज्योतिस्वरूप सनातन, सर्वथा एकांतरूप कुनयके पक्षसे खंडित होने वाले समयसार को निरखते हैं।

भावार्थ—जिनवचन स्याद्वादरूप है, वहाँ दो नयों के विषयका विरोध है, जैसे जो सद्रूप है वह असद्रूप नहीं होता, जो एक है वह अनेक नहीं होता, नित्य है वह अनित्य नहीं होता, भेदरूप है वह अभेदरूप नहीं होता, 'जुद्ध' है वह अषुद्ध नहीं होता इत्यादि नयों के विषयों में विरोध है, वहाँ जिनवचन कथंचित् विवक्षासे सत्-असद्रूप, एक-अनेकरूप, नित्य-अनित्यरूप, भेद-अभेदरूप, 'जुद्ध-अषुद्धरूप जिस प्रकार विद्यमान वस्तु है, उसी प्रकार कहकर विरोध मिटा देता है, झूठी कल्पना नहीं करता। इसलिये द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक दोनों नयों में प्रयोजन के वष 'जुद्ध द्रव्यार्थिक को मुख्यकर निष्चयनय कहता है और अषुद्ध ज्योतिरुच्चैरनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षत एव।।4।। व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्यामिह निहितपदानां हंत हस्तावलंबः। तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं परविरहितमंतः पष्यतां नैष किंचित्।।5।। एकत्वे नियतस्य 'जुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः। पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यांतरेभ्यः पृथक्।। सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं। तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसंतति—

प्रथमा एकवचन, कृदन्त क्रिया, परमभावदर्षिभिः—तृतीया बहु० कर्ताकारक। व्यवहारदेषिताः—प्रथमा० बहु०, पुनः—अव्यय, ये—प्रथमा बहु०, तु—अव्यय, अपरमे—सप्तमी एक०, स्थिताः—प्रथमा बहु०, भावे—द्रव्यार्थिकरूप पर्यायार्थिक को गौणकर व्यवहारनय कहता है। इस प्रकार जिनवचनमें जो पुरुष रमण करते हैं, वे इस 'जुद्ध आत्मा को यथार्थ पाते हैं, अन्य सर्वथा एकांतवादी वस्तुतथ्य को नहीं पाते।

अब कहते हैं कि व्यवहारनयको कथञ्चित् प्रयोजनवान् कहा है तो भी यह कुछ वस्तुभूत नहीं है। "व्यवहरण" इत्यादि। **अर्थ**—यद्यपि इस प्रथम पदवीमें याने जब तक 'जुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति न हुई हो तब तककी स्थिति में जिन्होंने अपना पैर रखा है, ऐसे पुरुषों के लिये व्यवहारनयको हस्तावलम्बतुल्य कहा है तो भी जो पुरुष चैतन्यचमत्कारमात्र, परद्रव्यभावों से रहित 'जुद्धनय के विषयभूत परम अर्थ को अंतरंगमें अवलोकन करते हैं, उसका श्रद्धान करते हैं तथा उस स्वरूपमें लीनतारूप चारित्रभावको प्राप्त होते हैं, उनके लिये यह व्यवहारनय कुछ भी प्रयोजनवान् नहीं है अर्थात् 'जुद्धस्वरूपका ज्ञान, श्रद्धान तथा आचरण होने के पश्चात् अषुद्ध नय कुछ भी प्रयोजनभूत नहीं है।

अब आगे के कलष में निष्चयसम्यक्त्व का स्वरूप कहते हैं—“एकत्वे” इत्यादि। **अर्थ**—षुद्धनयसे एकत्वमें नियत, अपने गुण पर्यायोंमें व्यापक, पूर्ण ज्ञानघन, अन्य द्रव्योंसे पृथक् इस आत्माका जो दर्शन है यह ही नियम से सम्यग्दर्शन है और यह आत्मा उतने ही मात्र है। इस नव तत्त्व की परिपाटी को छोड़कर हमको तो एक यह आत्मा ही प्राप्त होओ।

भावार्थ—अपनी सभी स्वाभाविक तथा नैमित्तिक अवस्थारूप गुणपर्यायभेदों में व्यापक रहने वाला यह आत्मा 'जुद्धनय के द्वारा एकत्वमें निष्चित किया गया है—षुद्धनय से ज्ञायकमात्र एक आकार दिखलाया गया है, उसको सब अन्य द्रव्यों और अन्य द्रव्योंके भावों से पृथक् देखना और श्रद्धान करना सो नियम से सम्यग्दर्शन है। 'जुद्धनय का विषयभूत आत्मा पूर्ण ज्ञानघन है सब लोकालोकका जाननहार ज्ञानस्वरूप है, ऐसे आत्माका श्रद्धानरूप जो सम्यग्दर्शन है वह कुछ आत्मा से भिन्न पदार्थ नहीं है, आत्मा का ही परिणाम है। इसलिए आत्मा ही है। इस कारण जो सम्यग्दर्शन है वह आत्मा है, अन्य नहीं है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि नय श्रुतप्रमाण के अंश हैं, इसलिए 'जुद्धनय भी श्रुतप्रमाण का ही अंश हुआ। श्रुतप्रमाण है वह परोक्ष प्रमाण है, क्योंकि श्रुतप्रमाण ने वस्तुको आगमसे जाना है। यह 'जुद्धनय भी सब द्रव्यों से भिन्न आत्मा की सब पर्यायों में व्याप्त पूर्णचैतन्य केवलज्ञानरूप

सब लोकालोक के जानने वाले असाधारण चैतन्यधर्मको परोक्ष दिखलाता है, उसको यह व्यवहारी छद्मस्य अल्पज्ञानी जीव आगम से प्रमाण मानकर सानुभव आत्मा का श्रद्धान करे, वही श्रद्धान निष्चयसम्यग्दर्शन है। जब तक व्यवहारनय के विषयभूत जीवादिक भेदरूप तत्त्वों का ही श्रद्धान रहता है तब तक निष्चयसम्यग्दर्शन नहीं होता। इसलिए आचार्य कहते हैं कि इन तत्त्वों की संतति याने परिपाटी को छोड़कर 'जुद्धनय का विषयभूत एक यह आत्मा ही हमको प्राप्त होओ, हम अन्य कुछ नहीं चाहते। यह वीतरागता पाने की प्रार्थना है, कुछ नयपक्ष नहीं है। सर्वथा नयों का पक्षपात मिथ्यात्व है। जैसे आत्मा चैतन्य है मात्र इतना ही आत्मा को माने तो चैतन्यमात्र तो नास्तिक के अतिरिक्त सभी मत वाले आत्मा को मानते हैं, यदि इतने ही श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा जाय तो सभी के सम्यक्त्व सिद्ध हो जायगा। सो ऐसा नहीं, तो क्या है? सर्वज्ञकी वाणी में जैसा पूर्ण आत्माका स्वरूप कहा है

मिमामात्मायमेकोस्तु नः॥६॥ अतः 'जुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिष्चकास्ति तत्। नवतत्त्वगतत्वेपि यदेकत्वं न मुंचति॥७॥

सप्तमी एकवचन॥१२॥

वैसा श्रद्धान होनेसे निष्चयसम्यक्त्व होता है। अब आगे के वक्तव्य की उत्थानिकारूप कलष कहते हैं, 'अतः' इत्यादि। **अर्थ**—अब 'जुद्धनयके आधीन वह भिन्न आत्मज्योति प्रगट होती है जो नवतत्त्वमें प्राप्त होने पर भी अपने एकत्वको नहीं छोड़ती। **भावार्थ**—नवतत्त्वों में प्राप्त हुआ आत्मा अनेकरूप दीखता है। वास्तव में यदि इसका भिन्न स्वरूप विचारा जाय तो यह अपनी चैतन्यचमत्कारमात्र ज्योति को नहीं छोड़ता।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व यह बताया था कि किन्हीं को कभी व्यवहारनय भी प्रयोजनवान् है। इसके विवरणके साथ अब यह निश्चित किया जा रहा है कि जिनषासन में दोनों ही नय अपनी-अपनी भूमिका में उपयोगी हैं।

तथ्यप्रकाश—(1) जो सहज 'जुद्ध चिन्मात्र परमभावके अनुभवी हैं उनको 'जुद्धादेशक 'जुद्धनय ही ज्ञातव्य है। (2) जो जब तक परमभावमें स्थित नहीं हो सकते हैं उनको तब तक व्यवहारोपदेश उपकारी है। (3) 'जुद्धनय एकत्वविभक्त 'जुद्धद्रव्यका आदेश करता है। (4) व्यवहारनय गुणगुणीभेदरूप, नानागुणरूप, पर्यायभेदरूप अषुद्ध (भेदरूप अथवा मलिन) द्रव्यका आदेश करता है। (5) व्यवहारनय के उच्छेदसे तीर्थ का (आत्मलाभोपायका) उच्छेद हो जायगा। (6) निष्चयनय के उच्छेद से तीर्थफल का (आत्मलाभका) उच्छेद हो जायगा। (7) स्याद्वादरूप जिनवचनका जो सादर अभ्यास करते हैं वे यथाशीघ्र अखंड समयसार (सहज परमात्मतत्त्व) का अवलोकन कर लेते हैं। (8) प्राक् पदवी में व्यवहारनय उपादेय है। (9) चैतन्यचमत्कारमात्र परम भावके अनुभवने वालों को व्यवहारनय कुछ भी प्रयोजक नहीं है। (10) ज्ञानमात्र ज्ञानघन अन्तस्तत्त्व का दर्शन सम्यग्दर्शन है। (11) सहज परमात्मतत्त्व 'जुद्धनय से ज्ञातव्य है।

सिद्धान्त—(1) 'जुद्धनयका विषय नयपक्षसे आतक्रान्त अनुभाव्य समयसार है। (2) समस्त 'शास्त्र तत्त्व के प्रतिपादक हैं, अतः सभी व्यवहाररूप हैं, सो व्यवहारनयके उच्छेद से मोक्षमार्ग व उसके उपाय का विनाश हो जायगा। (3) निष्चयनय परमार्थज्ञानरूप है सो निष्चयनयके उच्छेद से आत्मोपलब्धि का उच्छेद हो जायगा।

दृष्टि—1—षुद्धनय (49)। 2—व्यवहार (62 से 102)। 3—परमषुद्धनिष्चयनयादि (44 से 49 तक)

प्रयोग—व्यवहारनय व निष्चयनयसे आत्मविज्ञान करके सर्व नयपक्षको गौण कर 'जुद्धनयसे अखंड एकत्वविभक्त समयसारको ध्यान में रखे रहना चाहिये॥१२॥

अब 'दुद्धनय से जानना ही सम्यक्त्व है, ऐसा सूत्रकार कहते हैं—[भूताथेन अभिगताः] भूतार्थनयसे ज्ञात [जीवाजीवौ] जीव, अजीव [च] और [पुण्यपापं] पुण्य, पाप [च] तथा [आस्रवसंवरनिर्जराः] आस्रव, संवर, निर्जरा [बंधः] बंध [च] और [मोक्षः] मोक्ष [सम्यक्त्व] यह नवतत्त्व सम्यक्त्व है।

तात्पर्य—एकत्वकी अभिमुखता लाकर नवतत्त्वों का जानना सम्यक्त्वको संपादित करता ही है।

टीकार्थ—जो जीवादि नौ तत्त्व हैं वे भूतार्थनयसे जाने हुए सम्यग्दर्शन ही हैं, क्योंकि तीर्थ (व्यवहारधर्म) की प्रवृत्ति के लिये अभूतार्थनयसे कहे जाने वाले जो जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष लक्षण वाले जीवादि नवतत्त्व हैं उनमें एकत्व प्रगट करने वाले भूतार्थनय से एकत्व प्राप्त कर 'दुद्धनय से स्थापित किए गए आत्मा की ख्याति लक्षण वाली अनुभूति की प्राप्ति होती है, क्योंकि 'दुद्धनय से नवतत्त्व को जानने से

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्यपापं च।

आस्रवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मतं ॥13॥

भूतार्थतया सुविदित, जीव अजीव अरु पुण्यपापास्रव।

संवर निर्जर बन्धन, मोक्ष हि सम्यक्त्व के साधक ॥13॥

भूतार्थेनाभिगता जीवाजीवौ च पुण्यपापं च। आस्रवसंवरनिर्जरा बंधो मोक्षश्च सम्यक्त्वम् ॥13॥

अमूनि हि जीवादीनि नवतत्त्वानि भूतार्थेनाभिगतानि सम्यग्दर्शनं संपद्यंत एवामीषु तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तमभूतार्थनयेन व्यपदिष्यमानेषु जीवाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षलक्षणेषु नवतत्त्वेष्वेकत्वद्योतिना भूतार्थनयेनैकत्वमुपानीय 'दुद्धनयत्वेन व्यवस्थापितस्यात्मनोनुभूतेरात्म-ख्यातिलक्षणायाः, संपद्यमानत्वात्। तत्र विकार्यविकारकोभयं पुण्यं तथा पापं। आस्राव्या-स्रावकोभयमास्रवः, संवार्यसंवारकोभयं संवरः, निर्जयनिर्जरकोभयं निर्जरा, बंध्यबंधकोभयं बंधः, मोच्यमोचकोभयं मोक्षः। स्वयमेकस्य पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षानुपपत्तेः। तदुभयं च नामसंज्ञ-भूयत्थ, अभिगद, जीवाजीव, य, पुण्यपाप, च, आस्रवसंवरणिज्जर, बंध, मोक्ख, य, सम्मत।

आत्मा की अनुभूति होती है। वहाँ विकारी होने योग्य और विकार करने वाला—ये दोनों पुण्य भी हैं और पाप भी हैं तथा आस्राव्य व आस्रावक (आस्रव करने वाले) ये दोनों आस्रव हैं; संवार्य (संवररूप होने योग्य) व संवारक (संवर करने वाले) ये दोनों संवर हैं, निर्जरने योग्य व निर्जर कराने वाले—ये दोनों निर्जर हैं; बंधने योग्य व बंधन करने वाले ये दोनों बंध हैं और मोक्ष होने योग्य व मोक्ष करने वाले—ये दोनों मोक्ष हैं। क्योंकि एकके ही अपने आप पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जर, बंध और मोक्ष की उपपत्ति (सिद्धि) नहीं बनती। वे दोनों जीव और अजीव हैं। इनको बाह्यदृष्टि से देखा जाय तब जीव पुद्गल की अनादिबंधपर्याय को प्राप्त करके उनका एकत्व अनुभव किये जाने पर तो ये नौ भूतार्थ हैं—सत्यार्थ हैं तथा एक जीवद्रव्य के ही स्वभाव को लेकर अनुभव किये जाने पर ये अभूतार्थ हैं—असत्यार्थ हैं। जीव के एकाकार स्वरूपमें ये नहीं हैं। इसलिए इन तत्त्वों में भूतार्थनयसे जीव एकरूप ही प्रकाशमान है। उसी तरह अंतर्दृष्टि से देखा जाय तब ज्ञायकभाव जीव है और जीवके विकार का कारण अजीव है, और केवल जीवविकार पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जर, बंध और मोक्ष लक्षण वाले हैं व जीवविकारके कारणरूप केवल अजीव पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जर, मोक्ष ये नवतत्त्व जीवस्वभाव को छोड़कर स्वपरनिमित्तक एक द्रव्यपर्यायरूपसे अनुभव किए जानेपर भूतार्थ हैं तथा सब काल में नहीं चिगते एक जीवद्रव्यके स्वभावको अनुभव करने पर ये अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं। इसलिए इन नौ तत्त्वों में भूतार्थनयसे देखा जाय तब जीव तो एकरूप ही प्रकाशमान है। ऐसे यह

जीवतत्त्व एकत्वरूपसे प्रकट प्रकाशमान हुआ 'जुद्धनयसे अनुभव किया जाता है। यह अनुभवन ही आत्मख्याति है—आत्माका ही प्रकाश है, जो आत्मख्याति है वही सम्यग्दर्शन है। इस प्रकार यह सब कथन निर्दोष है, बाधारहित है।

भावार्थ—इन नवतत्त्वों में 'जुद्धनयसे देखा जाय तो जीव ही एक चैतन्यचमत्कारमात्र प्रकाशरूप प्रकट हो रहा है। इसके अतिरिक्त जुदे-जुदे नवतत्त्व कुछ दिखाई नहीं देते। जब तक इस तरह जीवतत्त्व का जानना नहीं है, तब तक व्यवहारदृष्टिमें होकर पृथक् पृथक् नवतत्त्वों का मानना है याने जीव पुद्गल की बंधपर्यायरूप दृष्टिसे ये पदार्थ भिन्न-भिन्न दीखते हैं और जब 'जुद्धनयसे जीव पुद्गलका निज स्वरूप जुदा-जुदा देखा जाय, तब ये पुण्य पाप आदि सात तत्त्व कुछ भी वस्तु नहीं दीखती, वे निमित्तनैमित्तिक भावसे हुए थे सो निमित्तनैमित्तिक भाव जब मिट गया तब जीव पुद्गल जुदे-जुदे होनेसे दूसरा कोई पदार्थ सिद्ध नहीं हो सकता। वस्तु तो द्रव्य है और द्रव्यका निजभाव द्रव्यके ही साथ रहता है तथा निमित्तनैमित्तिक भाव का अभाव ही होता है, इसलिए 'जुद्धनयसे जीवको जीवाजीवाविति। बहिर्दृष्टया नवतत्त्वान्यमूनि जीवपुद्गलयोरनादिबंधपर्यायमुपेत्यैकत्वेनानुभूयमानतायां भूतार्थानि, अथ चैकजीवद्रव्यस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थानि। ततोऽमीषु नवतत्त्वेषु भूतार्थनयेनैको जीव एव प्रद्योतते। तथातर्दृष्टया ज्ञायको भावो जीवो जीवस्य विकारहेतुरजीवः। केवला जीवविकाराच्च पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षलक्षणाः, केवला जीवविकारहेतवः पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षा इति। नवतत्त्वान्यमून्यपि जीवद्रव्यस्वभावमपोह्य स्वपरप्रत्ययैकद्रव्यपर्यायत्वेनानुभूयमानतायां भूतार्थानि, अथ च सकलकालमेवास्खलंतमेकं जीवद्रव्यस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थानि। ततोऽमीष्वपि नवतत्त्वेषु भूतार्थनयेनैको जीव एव प्रद्योतते। एवमसावेकत्वेन द्योतमानः 'जुद्धनयत्वेनानुभूयत एव। या त्वनुभूतिः सात्मख्यातिरेवात्मख्यातिस्तु सम्यग्दर्शनमेवेति समस्तमेवं निरवद्यं।

धातुसंज्ञ—अभि-गम गतौ, बंध बंधने। **प्रकृतिशब्द**—भूतार्थ अभिगत, जीवाजीव, च, पुण्यपाप, च आस्रवसंवरनिर्जरा, बन्ध, मोक्ष, सम्यक्त्व। **मूलधातु**—अभि-गम्लु गतौ, पुण्य-पुञ् पवने, पाप-पारक्षणे,

जाननेसे ही सम्यग्दर्शन प्राप्त हो सकता है। जब तक भिन्न-भिन्न नव ही पदार्थों को जाने, और 'जुद्धनयसे आत्मा को नहीं जाने तब तक पर्यायबुद्धि होनेसे सम्यक्त्व नहीं होता है।

अब यहाँ इसी अर्थ का कलषरूप काव्य कहते हैं "चिर" इत्यादि। **अर्थ**—इस प्रकार नौ तत्त्वों में बहुत कालसे छुपी हुई यह आत्मज्योति 'जुद्धनयसे प्रकट की गई है। जैसे कि वर्णों (रंगों) के समूह में छुपे हुए एकाकार सुवर्ण को प्रकट किया जाता है। अब हे भव्य जीवो, सदा अन्य द्रव्यों से तथा उनके निमित्त से हुए नैमित्तिक भावों से भिन्न एकरूप देखो जो हर एक पर्यायमें एकरूप चिच्चमत्कारमात्र उद्योतमान है।

भावार्थ—यह आत्मा सब अवस्थाओं में नानारूप दीखता था, उसे 'जुद्धनयने एक चैतन्यचमत्कार मात्र दिखलाया है सो अब सदा एकाकार ही अनुभवन करो। पर्यायबुद्धिका एकांत मत रखो।

टीकार्थ—अब जैसे नवतत्त्वों में एक जीवका ही जानना भूतार्थ कहा है, उसी तरह एकत्वसे प्रकाशमान आत्मा के अधिगम के उपाय जो प्रमाण, नय और निक्षेप हैं, वे भी निष्चय से अभूतार्थ हैं, उनमें भी एक आत्मा ही भूतार्थ है, क्योंकि ज्ञेय और वचनके भेदों से वे प्रमाणादि अनेक भेदरूप होते हैं। उनमें से प्रमाण दो प्रकार है—परोक्ष और प्रत्यक्ष। उपत्ति अर्थात् इन्द्रिय और मन, अनुपात्त अर्थात् प्रकाश उपदेशादि इन दोनों परद्वारों से प्रवर्तमान ज्ञान को परोक्ष कहते हैं तथा जो आत्मा के प्रतिनियतपने से प्रवर्तमान हो वह

प्रत्यक्ष है अर्थात् प्रमाण ज्ञान है और वह पाँच प्रकार का है—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान। उनमें से मति और श्रुत—ये दो ज्ञान परोक्ष हैं, अवधि, मनःपर्यय—ये दो विकल प्रत्यक्ष हैं और केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है। ये दोनों तरह के ही प्रमाण याने ये सब भेद प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय के भेदका अनुभव करनेपर तो भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं और जिसमें सब भेद गौण हो गये हैं, ऐसे एक जीवके स्वभावका अनुभव करने पर अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं।

नय दो प्रकार के हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। उनमें से जो द्रव्यपर्यायस्वरूप वस्तु को द्रव्यत्व की मुख्यता से अनुभव कराता वह द्रव्यार्थिकनय है और पर्यायकी मुख्यता से अनुभव कराता वह पर्यायार्थिकनय है। ये दोनों ही नय द्रव्य और पर्यायको भेदरूप अनुभव करने पर भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं और द्रव्य तथा पर्याय इन दोनों से अनालीढ (स्वादन लिये गये) 'जुद्ध वस्तुमात्र जीवके स्वभाव चैतन्यमात्र का अनुभव करनेपर वे भेदरूप नय अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं। निक्षेप भी नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे चार तरह का है। जिसमें वह गुण तो न हो, किन्तु व्यवहार के लिये उसकी संज्ञा करना वह नामनिक्षेप है; अन्य वस्तु में अन्य को प्रतिनिधिरूप स्थापना करना कि यह वही है यह स्थापनानिक्षेप है;

चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे।

अथ सततविविक्तं दृष्यतामेकरूपं प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम् ॥8॥

अर्थवमेकत्वेन द्योतमानस्यात्मनोऽधिगमोपायाः प्रमाणनयनिक्षेपाः ये ते खल्वभूतार्था—स्तेष्वप्ययमेक एव भूतार्थः। प्रमाणं तावत्परोक्षं प्रत्यक्षं च। तत्रोपात्तानुपात्तपरद्वारेण प्रवर्तमानं परोक्षं, केवलात्मप्रतिनियतत्वेन प्रवर्तमानं प्रत्यक्षं च, तदुभयमपि प्रमातृप्रमाणप्रमेयभेद—स्यानुभूयमानतायां भूतार्थनथ च व्युदस्तसमस्तभेदैकजीवस्वभावस्यानुभूयमानतायामभूतार्थं। नयस्तु द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च। तत्र द्रव्यपर्यायात्मके वस्तुनि द्रव्यं मुख्यतयानुभावयतीति

पति रक्षति 'जुभात् इति पापं, मुच्लु मोक्षणे। पदविवरण—भूतार्थेन—तृतीया वि० एक०, अभिगताः—प्रथमा

वर्तमान पर्यायसे अन्यका याने अतीत व भविष्य पर्यायों का वर्तमान में आरोप करना द्रव्यनिक्षेप है, और वर्तमान पर्याय रूप वस्तुको वर्तमान में कहना यह भावनिक्षेप है। ये चारों ही निक्षेप अपने-अपने लक्षण भेदसे भिन्न-भिन्न विलक्षण रूप अनुभव किये जाने पर भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं और भिन्न लक्षणसे रहित एक अपने चैतन्य-लक्षणरूप जीवस्वभाव का अनुभव किये जाने पर चारों ही अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं। इस तरह इन प्रमाण, नय और निक्षेपों में भूतार्थपने से एक जीव ही प्रकाशमान है।

भावार्थ—इन प्रमाण, नय और निक्षेपों का विस्तारसे व्याख्यान तद्विषयक ग्रंथों में से जानना। इन्हीं से द्रव्यपर्यायस्वरूप वस्तुकी सिद्धि होती है। ये साधक अवस्थामें तो सत्यार्थ ही हैं, क्योंकि ये ज्ञानके ही विषेय हैं, इनके बिना वस्तुको यथाकथंचित् (एकान्तरूपसे) साधा जाय तब विपरीत हो जाता है। अवस्थानुसार व्यवहारके अभावकी तीन पदवियाँ हैं। प्रथम अवस्थामें प्रमाण आदिसे यथार्थ वस्तुको जानकर ज्ञान और श्रद्धान की सिद्धि करना। ज्ञान और श्रद्धान सिद्ध होने के बाद प्रमाणादिकसे श्रद्धान करने का कुछ प्रयोजन नहीं है। किन्तु अब यहाँ दूसरी अवस्थामें प्रमाणादि के आलम्बन से विषेय ज्ञान होता है और राग, द्वेष, मोह, कर्म का सर्वथा अभावरूप यथाख्यात चारित्र प्रकट होता है, इसी से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, केवलज्ञान होने के बाद प्रमाणादिक का आलम्बन नहीं रहता। उसके बाद तीसरी साक्षात् सिद्ध अवस्था है। वहाँ पर भी कुछ आलम्बन नहीं है इस कारण सिद्ध अवस्था में भी प्रमाण-नय-निक्षेप का अभाव ही है।

इसी अर्थ का कलषरूप “उदयति” इत्यादि ‘लोक कहते हैं। अर्थ—इन सब भेदों का नाश करने वाले ‘जुद्धनयके विषयभूत चैतन्यचमत्कारमात्र तेजपुंज आत्मा के अनुभव में आने पर नयों की लक्ष्मी उदय को प्राप्त नहीं होती, प्रमाण अस्तको प्राप्त हो जाता है और निक्षेपों का समूह भी कहाँ चला जाता है यह हम नहीं जानते। इससे अधिक क्या कहें कि द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता अर्थात् यहाँ भेद को अत्यंत गौण कर रहा है कि ‘जुद्ध एकाकार चिन्मात्र के अनुभव होने पर प्रमाणनयादिक भेद की तो बात क्या है, द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता।

इस विषय में विज्ञानाद्वैतवादी तथा वेदांती का मत है कि परमार्थ में (असल में) तो अद्वैत का ही अनुभव हुआ, यही हमारा मत है, तुने विषेय क्या कहा? इसका उत्तर यह है कि तुम्हारे मतमें सर्वथा अद्वैत मानते हैं। यदि सर्वथा अद्वैत ही माना जाय तो बाह्य वस्तुका अभाव ही हो जाय, किन्तु ऐसा अभाव प्रत्यक्षविरुद्ध है। जिनषासनमें नयविवक्षा है, वह बाह्य वस्तुका लोप नहीं करती। ‘जुद्ध अनुभवसे विकल्प नष्ट हो जाता है, तब आत्मा परमानन्द को प्राप्त हो जाता है, इसलिये अनुभव कराने को ऐसा कहा गया है। यदि बाह्य वस्तु का लोप किया जावे तो आत्मा का भी लोप हो जाने से ‘न्यवाद का प्रसंग आ सकता है। इसलिये मुखसे कहने से ही वस्तुस्वरूपकी सिद्धि नहीं हो जाती और वस्तुस्वरूपकी यथार्थ द्रव्यार्थिकः, पर्यायं मुख्यतयानुभावयतीति पर्यायार्थिकः, तदुभयमपि द्रव्यपर्याययोः पर्यायेणानु-भूयमानतायां भूतार्थ। अथ च द्रव्यपर्यायानालीढ‘जुद्धवस्तुमात्रजीवस्वभावस्यानुभूयमानतायाम-भूतार्थ। निक्षेपस्तु नाम, स्थापना, द्रव्यं, भावष्व। तत्रातद्गुणे वस्तुनि संज्ञाकरणं नाम। सोऽयमित्यन्यत्र प्रतिनिधिव्यवस्थापनं स्थापना। वर्तमानतत्पर्यायादन्यद्द्रव्यं, वर्तमानतत्पर्यायो भावस्तच्चतुष्टयं स्वस्वलक्षणवैलक्षण्येनानुभूयमानतायां भूतार्थ। अथ च निर्विक्षणस्वलक्षणैक-जीवस्वभावस्यानुभूयमानतायामभूतार्थ। अर्थवममीषु प्रमाणनयनिक्षेपेषु भूतार्थत्वेनैको जीव एव प्रद्योतते ॥13॥

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं क्वचिदपि च न विद्यो याति निक्षेपचक्रं ।

किमपरमभिदध्यो धाम्नि सर्वकषेऽस्मिन्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥9॥

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यंतविमुक्तमेकम् ।

विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् ‘जुद्धनयोभ्युदेति ॥10॥

बहुवचन, जीवाजीवौ—प्रथमा द्विवचन, च—अव्यय, पुण्यपापं—प्रथमा एक०, च—अव्यय, आस्रवसंवरनिर्जराः—प्रथमा विभक्ति बहुवचन, बन्धः—प्रथमा एक०, मोक्षः—प्रथमा एक०, च—अव्यय, सम्यक्त्वम्—प्रथमा विभक्ति एकवचन ॥13॥

श्रद्धाके बिना जो ‘जुद्ध अनुभव भी किया जाय वह भी मिथ्यारूप है। ऐसा होनेसे ‘न्यवादका प्रसंग आता है तब आकाष के फूल के समान अनुभव असत् हो जायगा।

अब ‘जुद्धनय का उदय होता है उसकी सूचनारूप ‘लोक कहते हैं—‘आत्मस्वभावं’ इत्यादि। अर्थ—परभावसे भिन्न, परिपूर्ण, आदि—अन्तरहित, एक, संकल्पविकल्पजालधून्य आत्मस्वभावको प्रकट करता हुआ अब ‘जुद्धनय उदयरूप (उदीयमान) होता है। भावार्थ—‘जुद्धनय आत्मा को परद्रव्य, परद्रव्य के भाव तथा परद्रव्य के निमित्त से हुए अपने विभाव सब तरह के परभावों से भिन्न प्रकट करता है। ‘जुद्धनय समस्त रूपसे पूर्ण सब लोकालोक के जानने वाले स्वभाव को प्रकट करता है, क्योंकि ज्ञानमें भेद कर्मसंयोग से हैं, ‘जुद्धनयमें कर्म गौण हैं। ‘जुद्धनय आदिअंत रहित (कुछ आदि लेकर किसी से उत्पन्न नहीं हुआ और न कभी किसी से नष्ट होगा) ऐसे पारिणामिक भाव को प्रकट करता है। ‘जुद्धनय एक, (द्वैत

भावों से रहित) एकाकार तथा जिसमें समस्त संकल्प-विकल्पों के समूह का विलय (नाश) हो गया है, ऐसे आत्मस्वभाव को प्रकट करता है। द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म आदि पुद्गलद्रव्यों में अपनी कल्पना करने को **संकल्प** और ज्ञेयों के भेद से ज्ञानमें भेदों की प्रतीति को **विकल्प** कहते हैं।

प्रसंगविवरण—अनन्तर पूर्व गाथा में 'जुद्धनय का आदेश दिया गया है उसी 'जुद्धनय के प्रयोग की इस गाथा में झाँकी है।

तथ्यप्रकाश—(1) नवतत्त्व आदि का विविध प्रकाशन तीर्थप्रवृत्ति के लिये है। (2) एकत्वप्रकाशक भूतार्थनयसे नवतत्त्वों के मूल स्रोत में विलीन हो जाने से 'जुद्ध ज्ञायकस्वभाव आत्मतत्त्व की अनुभूति होती है। (3) जीव और कर्मविषयक आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्षमें परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव है, इसी कारण भूतार्थनयसे निरखनेपर ये तत्त्वभेद कुछ भी नहीं रहते। (4) वस्तुके अधिगमके उपायभूत प्रमाण नय निक्षेप उनके भेद प्रभेद तीर्थप्रवृत्ति के लिये हैं। (5) 'जुद्ध वस्तुमात्र जीवस्वभावका अनुभव होने पर प्रमाण नय निक्षेप आदि विकल्प कुछ भी नहीं रहते।

सिद्धान्त—(1) भूतार्थ का आश्रय सम्यक्त्व का कारण है। (2) व्यवहार का अनुसरण तीर्थप्रवृत्तिका कारण है।

दृष्टि—1—परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय (30)। 2—भेदकल्पनासापेक्ष अषुद्ध द्रव्यार्थिक, भेदकल्पनासापेक्ष अषुद्ध द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (26, 82)।

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणणयं णियदं ।

अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणाहि ।।14।।

जो लखता अपने को, अबद्ध अस्पृष्ट अनन्य व नियमित ।

अविशेश असंयोगी, उसको ही 'जुद्धनय जानो ।।14।।

यः पश्यति आत्मानं अबद्धस्पृष्टमनन्यकं नियतं । अविषेसमसंयुक्तं तं 'जुद्धनयं विजानीहि ।।14।।

या खल्वबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्याविषेस्यसंयुक्तस्य चात्मनोऽनुभूतिः स 'जुद्धनयः सात्त्वनुभूतिरात्मैवेत्यात्मैक एव प्रद्योतते । कथं यथोदितस्यात्मनोऽनुभूतिरिति चेद्बद्धस्पृष्टत्वादी-नामभूतार्थत्वात्तथाहि—यथा खलु बिसिनीपत्रस्य सलिलनिमग्नस्य सलिलस्पृष्टत्वपर्यायेणानुभूय-मानतायां सलिलस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्येकांततः सलिलास्पृष्टं बिसिनीपत्रस्वभावमुपेत्यानुभूयमान-

नामसंज्ञ—ज, अप्प, अबद्धपुट्ठ, अणणय, णियद, अविसेस, असंजुत्त, तं सुद्धणय । **धातुसंज्ञ**—पास दर्शने, बंध बंधने, जाण अवबोधने । **प्रकृतिशब्द**—यत्, आत्मन्, अबद्धस्पृष्ट, अनन्यक, नियत, अविषेस,

प्रयोग—व्यवहारनय व निष्चयनयसे आत्माके गुण पर्याय तत्त्वों को जानकर उनका मूल स्रोत जो सहज चैतन्य है उस पर दृष्टि देकर परमविश्राम पावें ।।13।।

अब निर्विकल्प 'जुद्धनयको गाथासूत्रसे कहते हैं—(यः) जो नय (आत्मानं) आत्मा को (अबद्धस्पृष्टं) बंधरहित और परके स्पर्शरहित (अनन्यं) अन्यत्वरहित (नियतं) चलाचलतारहित (अविशेशं) विषेसरहित (असंयुक्तं) अन्यसे संयोगरहित—ऐसे पाँच भावरूप (पश्यति) अवलोकन करता है (तं) उसे (जुद्धनयं) 'जुद्धनय (विजानीहि) जानो ।

तात्पर्य—सहजसिद्ध केवल अन्तस्तत्त्व का अवलोकनहार ज्ञान 'जुद्धनय (नयपक्षसे दूर) है ।

टीकार्थ—निष्चयसे जो अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविषेस, असंयुक्त—आत्मा का अनुभव है वह 'जुद्धनय है । और वह अनुभूति निष्चय से आत्मा ही है । ऐसा आत्मा ही एक प्रकाशमान है अर्थात् 'जुद्धनय, आत्मा की अनुभूति या आत्मा इन सबका एक ही

अभिप्राय है। यहाँ शिष्य पूछता है कि आपने जैसा कहा है, वैसा आत्माकी अनुभूति कैसे हो सकती है? इसका समाधान—जो बद्धस्पृष्टत्व आदि पाँच भाव हैं उनमें अभूतार्थता है, असत्यार्थता है, इसलिये 'जुद्धनयात्मक ही आत्मा की अनुभूति है। इसी बात की दृष्टान्त से प्रकट करते हैं—जैसे कमलिनी का पत्र जल में डूबा हुआ है उसका जल-स्पर्शनरूप अवस्थासे अनुभव किये जाने पर जल-स्पर्शनरूप दषा भूतार्थ है, सत्यार्थ है तो भी वास्तवमें जलके स्पर्शनयोग्य नहीं, ऐसे कमलिनीपत्रस्वभावको लेकर अनुभव किये जाने पर जल-स्पर्शनरूप दषा अभूतार्थ है, असत्यार्थ है। उसी तरह आत्मा के अनादि पुद्गलकर्मसे बद्धस्पृष्टत्वरूप अवस्थासे अनुभव किये जाने पर बद्धस्पृष्टत्व भूतार्थ है, सत्यार्थ है तो भी वास्तव में जो पुद्गल के स्पर्श योग्य नहीं, ऐसे आत्मस्वभाव को लेकर अनुभव किये जाने पर बद्धस्पृष्टत्व असत्यार्थ है। और जैसे मिट्टी का कुण्डो, घट, कलष, खप्पर आदि पर्यायभेदों का अनुभव करने पर अन्यत्व सत्यार्थ है तो भी सब पर्यायों के भेदरूप नहीं होते हुए एक मिट्टी के स्वभावका अनुभव करने पर यह पर्यायभेद अभूतार्थ है, असत्यार्थ है। उसी तरह आत्माको नारक आदि पर्यायभेदों के रूपमें अनुभवने पर पर्यायों का अन्यत्व सत्यार्थ है, तो भी सब पर्यायभेदों में अचल एक चैतन्याकार आत्मस्वभावको लेकर अनुभव करने पर अन्यत्व अभूतार्थ है, असत्यार्थ है। जैसे समुद्र को वृद्धि-हानि अवस्थारूप अनुभव करनेसे अनियतता भूतार्थ है तो भी नित्य स्थिर समुद्रस्वभावको अनुभवने पर अनियतता अभूतार्थ है, असत्यार्थ है। उसी तरह आत्मा का वृद्धि हानि पर्यायभेदों रूप अनुभव करने पर अनियतता भूतार्थ है, सत्यार्थ है तो भी नित्य व्यवस्थित निष्चल आत्मा के स्वभावका अनुभव करने पर अनियतता अभूतार्थ है, असत्यार्थ है। जैसे सुवर्ण का चिकना, भारी और पीला तायामभूतार्थ। तथात्मनोनादिबद्धस्पृष्टत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां बद्धस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्येकांततः पुद्गलास्पृश्यमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थ। यथा च मृत्तिकायाः करककरीरकक-रीकपालादिपर्यायेणानुभूयमानतायामन्यत्वं भूतार्थमपि सर्वतोप्यस्खलंतमेकं मृत्तिकास्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थ। तथात्मनो नारकादिपर्यायेणानुभूयमानतायामन्यत्वं भूतार्थमपि सर्वतोप्यस्खलंतमेकमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थ। यथा च वारिधेर्वृद्धिहानिपर्यायेणानुभूयमानतायामनियतत्वं भूतार्थमपि नित्यव्यवस्थितं वारिधिस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायाम-

असंयुक्त, तत्, 'जुद्धनय। मूलधातु—दृषि अवलोकने, णीञ्-प्रापणे। पदविवरण—यः-प्रथमा एकवचन

आदि गुणरूप भेदों से अनुभव करने पर विशेषता सत्यार्थ है तो भी जिसमें सब विशेष विलय हो गये हैं, ऐसे सुवर्णस्वभावको लेकर अनुभव करने से विशेषता अभूतार्थ है, असत्यार्थ है। उसी तरह आत्मा का ज्ञान, दर्शन आदि गुणरूप भेदों से अनुभव करने पर विशेषता भूतार्थ है, सत्यार्थ है तो भी जिसमें सब विशेष विलय हो गये हैं, ऐसे चैतन्यमात्र आत्मस्वभावको लेकर अनुभव करने पर विशेषता अभूतार्थ है, असत्यार्थ है। जैसे अग्नि के निमित्त से उत्पन्न उष्णता से मिले हुए जल की तप्तरूप अवस्था का अनुभव करने पर जलमें उष्णता की संयुक्तता भूतार्थ है, सत्यार्थ है तो भी वास्तव में 'गीतल स्वभावको लेकर जल का अनुभव करने पर उष्णता की संयुक्तता अभूतार्थ है, असत्यार्थ है। उसी तरह कर्म निमित्तक मोहसंयुक्ततारूप अवस्था द्वारा आत्मा का अनुभव करने पर संयुक्तता भूतार्थ है, सत्यार्थ है तो भी वास्तव में आत्मबोध का बीजरूप चैतन्यस्वभावको लेकर अनुभव करने पर मोहसंयुक्तता अभूतार्थ है, असत्यार्थ है।

भावार्थ—आत्मा पाँच तरहसे अनेक रूप दीखता है—(1) अनादिकालसे कर्म पुद्गल के सम्बन्ध से बंधा हुआ व कर्मपुद्गल से स्पर्श वाला दीखता है। (2) वह कर्म के निमित्त से हुए नर नारकादिपर्यायों में भिन्न-भिन्न स्वरूप दीखता है। (3) 'विक्रि के अविभागप्रतिच्छेद

(अंश) घटते भी हैं, बढ़ते भी हैं, यह वस्तु का स्वभाव है, इसलिए वह नित्य नियत एकरूप नहीं दीखता। (4) वह दर्शन ज्ञान आदि अनेक गुणों से विशेषरूप दीखता है। (5) वह कर्म के निमित्त से उत्पन्न हुए मोह रागद्वेषादिक परिणामसहित सुख दुःख स्वरूप दीखता है। यह सब अषुद्ध द्रव्यार्थिकरूप व्यवहारनयका विषय है। उस दृष्टिसे देखा जाय तो यह सब ही सत्यार्थ है, परन्तु आत्मा का एकस्वभाव नयसे ग्रहण नहीं होता और एकस्वभावके जाने बिना यथार्थ आत्मा को कोई कैसे जान सके, इस कारण दूसरे नयको—इसके प्रतिपक्षी 'जुद्ध द्रव्यार्थिकको ग्रहण कर एक असाधारण ज्ञायकमात्र आत्मा का भाव लेकर 'जुद्धनय की दृष्टि से सब परद्रव्यों से भिन्न, सब पर्यायों में एकाकार, हानि-वृद्धि से रहित, विषेषों से रहित, नैमित्तिक भावों से रहित देखा जाय तब सभी (पाँच) भावों द्वारा अनेकरूपता है वह अभूतार्थ है, असत्यार्थ है। यहाँ ऐसा जानना कि वस्तु का स्वरूप जो अनन्तधर्मात्मक है, वह स्याद्वादसे यथार्थ सिद्ध होता है। आत्मा भी अनन्तधर्मा है, उसके कितने ही धर्म तो स्वाभाविक हैं और कितने ही पुद्गल के संयोग से उत्पन्न हैं। जो कर्मके संयोग से होते हैं, उनसे तो आत्मा के संसार की प्रवृत्ति होती है, और तत्सम्बन्धी सुख-दुःखादिक होते हैं उनको यह भोगता है। इस आत्मा के अनादि अज्ञान से पर्यायबुद्धि है, अनादि अनन्त एक आत्मा का ज्ञान नहीं है। उसको बतलाने वाला सर्वज्ञ का आगम है। उसमें 'जुद्ध द्रव्यार्थिकनय से यह बतलाया गया है कि आत्मा का एक असाधारण चैतन्यभाव है—जो कि अखंड है, नित्य है, अनादिनिधन है। इसी के जानने से पर्यायबुद्धिका पक्षपात मिट जाता है। परद्रव्यों से तथा उनके भावोंसे अथवा उनके निमित्त से हुए अपने विभावों से पृथक् अपने आत्मा को जानकर इसका अनुभव करें, तब परद्रव्य के भावस्वरूप परिणमन नहीं होता। उस समय कर्म नहीं बंधते तथा संसार से निवृत्ति हो जाती है। इसलिए भूतार्थ तथात्मनो वृद्धिहानिपर्यायेणानुभूयमानतायामनियतत्वं भूतार्थमपि नित्यव्यवस्थितमात्म-स्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थ। यथा च कांचनस्य स्निग्धपीतगुरुत्वादिपर्यायेणानुभूय-मानतायां विषेषत्वं भूतार्थमपि प्रत्यस्तमितसमस्तविषेषं कांचनस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायाम-भूतार्थ तथात्मनो ज्ञानदर्शनादिपर्यायेणानुभूयमानतायां विषेषत्वं भूतार्थमपि प्रत्यस्तमितसमस्त-विषेषमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थ। यथा चापां सप्तार्चिः प्रत्ययोष्यसमाहितत्व-पर्यायेणानुभूयमानतायां संयुक्तत्वं भूतार्थमप्येकांततः 'गीतमप्स्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थ तथात्मनः कर्मप्रत्ययमोहसमाहितत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां संयुक्तत्वं भूतार्थमप्येकांततः स्वयं-बोधबीजस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् ॥14 ॥

कर्ताकारक, पश्यति-लट् वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन, आत्मानं-द्वितीया एक० कर्मकारक, अबद्धस्पृष्ट-द्वितीया एकवचन कर्मविषेषण, अनन्यकं-द्वि० ए० कर्मविषेषण, नियंत-द्वि० ए० कर्मविषेषण, अविषेष-

पर्यायार्थिकरूप व्यवहारनय को गौण करके अभूतार्थ (असत्यार्थ) कहकर, 'जुद्धनिष्चयनयको सत्यार्थ कहकर आलम्बन दिया है। वस्तुस्वरूपकी प्राप्ति होने के बाद उसका भी आलम्बन नहीं रहता। इस कथन से ऐसा नहीं समझ लेना कि 'जुद्धनय को जो सत्यार्थ कहा है, इस कारण अषुद्धनय सर्वथा असत्यार्थ ही है। ऐसा मानने से वे एकांत मत वाले जो कि संसार को सर्वथा अवस्तु मानते हैं उनका सर्वथा एकान्त पक्ष आ जायगा, तब मिथ्यात्व आ जायगा और उस समय इस 'जुद्धनयका भी आलम्बन उन एकांतियों की तरह मिथ्यादर्शन हो जायगा। इसलिए सभी नयों का कथंचित् रीति से श्रद्धान करने पर सम्यग्दर्शन होता है। इस प्रकार स्याद्वादको समझकर जिनमत का सेवन करना; मुख्य गौण कथन सुनकर सर्वथा एकांत पक्ष न पकड़ लेना। इसी प्रकार इस गाथासूत्र का व्याख्यान टीकाकारने किया है कि आत्मा व्यवहारनयकी दृष्टि में जो बद्धस्पृष्ट आदि रूप दिखता है, यह इस दृष्टि में तो

सत्यार्थ ही है, परंतु 'जुद्धनयकी दृष्टि में बद्धस्पृष्ट आदि रूप असत्यार्थ है। इस कथन में स्याद्वाद बतलाया गया है, उसे जानना। जो ये नय हैं वे श्रुतज्ञान प्रमाण के अंश हैं। वह श्रुतज्ञान वस्तुको परोक्ष बतलाता है सो ये नय भी परोक्ष ही बतलाते हैं। 'जुद्ध द्रव्यार्थिकनयका विषय बद्धस्पृष्टत्वादि पाँच भावों से रहित आत्मा चैतन्यषक्तिमात्र है, वह 'वक्ति तो परोक्ष आत्मा में है ही और उसकी व्यक्तियाँ कर्मसंयोगसे मति, श्रुत आदि ज्ञानरूप हैं, वे कथंचित् अनुभवगोचर हैं सो वे प्रत्यक्ष रूप भी कहलाती हैं तथा सम्पूर्ण ज्ञान केवलज्ञान यद्यपि छद्मस्थके (अल्पज्ञानीके) प्रत्यक्ष नहीं है तो भी यह 'जुद्धनय आत्माके केवलज्ञानरूपको परोक्ष बतलाता है। जब तक जीव इस नय को नहीं जानता तब तक आत्मा के पूर्ण रूपका ज्ञान श्रद्धान नहीं होता। इसलिए श्रीगुरुने इस 'जुद्धनयको प्रकट कर दिखलाया है कि बद्धस्पृष्टत्व आदि पाँच भावों से रहित पूर्ण ज्ञानघन स्वभाव आत्मा को जानकर श्रद्धान करना, पर्यायबुद्धि नहीं करना।

यहाँ इस 'जुद्धनयको मुख्य करके कलषरूप काव्य "न हि विदधति" इत्यादि कहते हैं। अर्थ—टीकाकार यहाँ उपदेश करते हैं कि तुम उस सम्यक्स्वभाव का अनुभव करो जिसमें ये बद्धस्पृष्ट आदि भाव प्रकटपने से इस स्वभावके ऊपर तरते हैं तो भी प्रतिष्ठा नहीं पाते। क्योंकि द्रव्यस्वभाव नित्य है, एकरूप है और ये भाव अनित्य हैं, अनेकरूप हैं। पर्याय द्रव्यस्वभावमें प्रवेश नहीं करता है, वह ऊपर ही रहता है। यह 'जुद्धस्वभाव सब अवस्थाओं में प्रकाशमान है। ऐसे स्वभावका मोहरहित होकर अनुभव करो, क्योंकि मोहकर्मके उदयसे उत्पन्न मिथ्यात्वरूप अज्ञान जब तक रहता है तब तक यह अनुभव यथार्थ नहीं होता। अतः 'जुद्धनयके विषयरूप आत्माका अनुभव करो, यह उपदेश है।

अब इसी अर्थ का कलषरूप काव्य "भूतं" इत्यादि कहते हैं। अर्थ—यदि कोई सुबुद्धि सम्यग्दृष्टि भूत (पहले हुआ), भांत (वर्तमान) और अभूत (आगामी होने वाला) ऐसे न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी स्फुटमुपरि तरंताप्येत्य यत्र प्रतिष्ठां।

अनुभवतु तमेव द्योतमानं समंतात् जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावं ॥11॥

भूतं भांतमभूतमेव रभसान्निर्भिद्य बंधं सुधी—

र्यद्यंतः किल कोप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात् ।

आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोयमास्ते ध्रुवं,

नित्यं कर्मकलंकपंकविकलो देवः स्वयं 'गाष्वतः ॥12॥

आत्मानुभूतिरिति 'जुद्धनयात्मिका या ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा ।

आत्मानमात्मनि निवेष्य सुनिष्प्रकंपमेकोस्ति नित्यमवबोधघनः समंतात् ॥13॥

द्वितीया एक० कर्मविषेषण, असंयुक्त—द्वि० ए० कर्मविषेषण, तं—द्वि० ए०, 'जुद्धनयं—द्वितीया एक०, विजा—नीहि—वि—जानीहि—लोद् आज्ञार्थं मध्यम पुरुष एकवचन ॥14॥

तीनों कालके कर्मों के बंध को अपने आत्मा से तत्काल पृथक् करके तथा उस कर्मके उदयके निमित्त से उत्पन्न हुए मिथ्यात्वरूप अज्ञानको अपने बल (पुरुषार्थ) से पृथक् कर अन्तरंग में अभ्यास करे तो देखता है कि यह आत्मा, अपने अनुभवसे ही जानने योग्य प्रगट महिमामय, व्यक्त, अनुभवगोचर, निष्चल, 'गाष्वत (नित्य) और कर्म—कलंक—कर्दम से रहित स्वयं स्तुति करने योग्य देव विराजमान हो रहा है। भावार्थ—'जुद्धनयकी दृष्टिसे देखा जाय तो सब कर्मों से रहित चैतन्यमात्र देव अविनाषी आत्मा अन्तरंगमें स्वयं विराजमान है। पर्यायबुद्धि बहिरात्मा इसको बाहर दूढ़ता है सो बड़ा अज्ञान है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व यह कहा जा रहा था कि 'जुद्धनय अथवा भूतार्थनयसे आत्मतत्त्वका ज्ञान सम्यक्त्व को सम्पादित करता है सो यहाँ उसी 'जुद्धनयका विवरण दिया गया है।

तथ्यप्रकाश—(1) आत्मस्वभाव न किसी पदार्थ से बंधा हुआ है और न किसी पदार्थ से छुआ हुआ है। (2) आत्मस्वभाव नर नारक तिर्यच आदि किसी भी आकार पर्यायरूप नहीं है। (3) आत्मस्वभाव नित्य चैतन्यरूप व्यवस्थित है। (4) आत्मस्वभाव गुणभेदसे भी परे अखण्ड चिन्मात्र है। (5) आत्मस्वभाव अविकार है।

सिद्धान्त—(1) पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे पृथक् सत् होने के कारण आत्मा वस्तुतः अबद्ध व अस्पृष्ट है। (2) आत्मा परमभावस्वरूप होनेसे स्वतः निराकार है। (3) आत्मा 'षष्ठ चिन्मात्र है। (4) आत्मा गुणपर्यायस्वभावसे अभिन्न है। (5) आत्मा स्वयं विकार रूप परिणमने का निमित्त न हो सकने से स्वरूपतः अविकार है।

दृष्टि—1—परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (29)। 2—परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय (30)। 3—उत्पादव्ययगौणसत्ताग्राहक द्रव्यार्थिकनय (22)। 4—भेदकल्पनानिरपेक्ष 'जुद्ध द्रव्यार्थिकनय (23)। 5—उपाधिनिरपेक्ष 'जुद्ध द्रव्यार्थिकनय (21)।

प्रयोग—उपाधिका निमित्त पाकर होने वाले विभावों से पृथक् तथा प्रतिबोधके लिये किये जाने वाले भेदविकल्पों से परे 'जुद्ध ज्ञायकस्वभावमय आत्मा की 'जुद्धनय के आलम्बन से उपासना करना चाहिये ॥14॥

'जुद्धनय के विषयभूत आत्मा की जो अनुभूति है, वही ज्ञान की अनुभूति है, ऐसा आगे की गाथा की उत्थानिकारूप काव्य कहते हैं 'आत्मानुभूति' इत्यादि। **अर्थ**—इस प्रकार जो पूर्वकथित 'जुद्धनय स्वरूप आत्मा की अनुभूति है, वही इस ज्ञान की अनुभूति है, ऐसा अच्छी तरह जानकर तथा आत्मा में आत्मा को निष्चल स्थापित करके सदा सब तरफ ज्ञानघन एक आत्मा ही है, इस प्रकार देखना चाहिये। **भावार्थ**—पहिले सम्यग्दर्शन को प्रधान मानकर आत्मतत्त्व कहा गया था, अब ज्ञान को मुख्य करके कहते हैं कि यह 'जुद्धनय के

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणणमविसेसं ।

अपदेससुत्तमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ॥15॥

जो लखता अपने को, अबद्ध अस्पृष्ट अनन्य अविशेश ।

मध्यान्त आदि अपगत, वह लखता सर्व जिनशासन ॥15॥

यः पश्यति आत्मानं अबद्धस्पृष्टमनन्यमविषेषम् । अपदेशसूत्रमध्यं पश्यति जिनशासनं सर्वम् ॥15॥

येयमबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्यासंयुक्तस्य चात्मनोनुभूतिः सा खल्वखिलस्य जिन-
'शासनस्यानुभूतिः श्रुतज्ञानस्य स्वयमात्मत्वात्ततो ज्ञानानुभूतिरेवात्मानुभूतिः, किन्तु तदानीं सामान्यविषेषाविर्भावतिरोभावाभ्यामनुभूयमानमपि ज्ञानमबुद्धलुब्धानां न स्वदते । तथाहि—

<p>नामसंज्ञ—ज, अप्प, अबद्धपुट्ठ, अणण, अविसेस, अपदेससुत्तमज्झ, जिणसासण, सव्व । धातुसंज्ञ—पास दर्शने, सास 'शासने । प्रकृतिशब्द—यत्, आत्मन्, अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, अविषेष, अपदेशसूत्रमध्य, जिन—</p>
--

विषयस्वरूप आत्मा की अनुभूति है वही सम्यग्ज्ञान है। अब इसी को गाथा से स्पष्ट करते हैं—

(यः) जो (आत्मानं) आत्मा को (अबद्धस्पृष्टं) अबद्धस्पृष्ट (अनन्यं) अनन्य (अविशेशं) अविषेष तथा पूर्वगाथा में कथित नियत और असंयुक्त (पश्यति) देखता है वह

(अपदेशसूत्रमध्य) द्रव्यश्रुत और भावश्रुत रूप अथवा 'ब्रह्मसमयसे वाच्य व ज्ञानसमयसे परिच्छेद्य (सर्व जिनशासन) समस्त जिनशासन को (पश्यति) देखता है।

तात्पर्य—जिनशासनका उद्देश्य सहजसिद्ध केवल अन्तस्तत्त्व को प्रसिद्ध करना है।

टीकार्थ—अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविषेय और असंयुक्त—ऐसे पाँच भावरूप आत्माकी जो यह अनुभूति है, वही निष्कल से समस्त जिनशासन की अनुभूति है। क्योंकि श्रुतज्ञान स्वयं आत्मा ही है, इसलिये जो यह ज्ञानकी अनुभूति है वही आत्मा की अनुभूति है। किन्तु सामान्यज्ञानाकार तो प्रकट होने और विषेय ज्ञेयाकार ज्ञानके आच्छादित होने से इस विधि से ज्ञानमात्र ही अनुभवमें आनेपर भी जो अज्ञानी है व ज्ञेयों (पदार्थों) में आसक्त हैं, उनको वह नहीं रुचता। वह इस प्रकार है—जैसे अज्ञानी व्यञ्जनलोभी लोगों को अनेक तरह के 'गाक आदि भोजनों के सम्बन्ध से उत्पन्न सामान्य लवण का तिरोभाव (अप्रकटता) तथा विषेय व्यञ्जनमिश्रितका आविर्भाव (प्रकटता) रूपसे आ रहा लवण स्वादमें आता है। परन्तु अन्यके असंयोग से उत्पन्न सामान्य के आविर्भाव तथा विषेयके तिरोभावसे एकाकार अभेदरूप लवण का स्वाद नहीं आता। और जब परमार्थ से देखा जाय तब जो विषेय के आविर्भाव से अनुभवमें आया क्षार रसरूप लवण है, वही सामान्य के आविर्भावसे अनुभवमें आया हुआ क्षार रसरूप लवण है। उसी तरह अबुद्ध ज्ञेयलुब्धों को अनेकाकार ज्ञेयों के आकारों की मिश्रता से जिसमें सामान्यका तिरोभाव और विषेय का आविर्भाव ऐसे भावसे अनुभवमें आ रहा ज्ञान विषेयभावरूप, भेदरूप, अनेकाकाररूप स्वादमें आता है, परन्तु अन्य ज्ञेयाकार के संयोग से रहित सामान्य का आविर्भाव और विषेय का तिरोभाव ऐसा एकाकार अभेदरूप ज्ञानमात्र अनुभवमें आता हुआ स्वादमें नहीं आता। और परमार्थसे विचारा जाय तब जो विषेय के आविर्भावसे ज्ञान अनुभवमें आता है, वही सामान्य के आविर्भाव से ज्ञानियों के और ज्ञेयमें अनासक्तों के अनुभवमें आता है। जैसे लवण की डली अन्य द्रव्यों के संयोग के अभावसे केवल लवणमात्र अनुभव किये जाने पर एक लवण रस सर्वतः क्षाररूपसे स्वादमें आता है, उसी तरह आत्मा भी परद्रव्यों के संयोग से भिन्न केवल एक भावसे अनुभव किये जाने पर सब तरफ से एक विज्ञानघन रूप होनेके कारण ज्ञानरूपसे स्वाद में आता है।

भावार्थ—यहाँ ज्ञान की अनुभूति को आत्मानुभूति कहा गया है। अज्ञानी जन इन्द्रियज्ञानके विषयों में ही लुब्ध हो रहे हैं, अतः विविध ज्ञेयों के प्रतिफलनसे अनेकाकार हुए ज्ञानका ही ज्ञेयों में आकर्षित होते हुए आस्वादन करते हैं, ज्ञेयों से भिन्न सामान्य ज्ञानमात्र यथा विचित्रव्यंजनसंयोगोपजातसामान्यविषेयतिरोभावाविर्भावाभ्यामनुभूयमानं लवणं लोका—नामबुद्धानां व्यंजनलुब्धानां स्वदते न पुनरन्यसंयोगषून्यतोपजातसामान्यविषेयाविर्भावतिरोभावाभ्यां। अथ च यदेव विषेयाविर्भावेनानुभूयमानं लवणं तदेव सामान्याविर्भावेनापि। तथा विचित्रज्ञेयाकारकरंबितत्वोपजातसामान्यविषेयतिरोभावाविर्भावाभ्यामनुभूयमानं ज्ञानमबुद्धानां ज्ञेयलुब्धानां स्वदते न पुनरन्यसंयोगषून्यतोपजातसामान्यविषेयाविर्भावतिरोभावाभ्यां। अथ च यदेव विषेयाविर्भावेनानुभूयमानं ज्ञानं तदेव सामान्याविर्भावेनाप्यलुब्धबुद्धानां। यथा सैधवखि—

'शासन, सर्व। मूलधातु—दृषिर् दर्शने, बधि बन्धने, स्पृष स्पर्शने। पदविवरण—यः—पुल्लिग प्रथमा एक० कर्ताकारक, पश्यति—लट् वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन, आत्मानं—द्वितीया विभक्ति एकवचन कर्मकारक, का आस्वाद नहीं लेते। और जो ज्ञानी हैं, ज्ञेयों में आसक्त नहीं हैं, वे ज्ञेयों से भिन्न एकाकार ज्ञान को ही आस्वाद लेते हैं, जैसे कि व्यञ्जनों (भोजनों) से जुदी सिर्फ लवणकी डली का आस्वाद लेनेसे क्षारमात्र स्वाद जिस भाँति आता है, उसी भाँति आस्वाद लेते हैं। चूंकि ज्ञान है, वही आत्मा है और आत्मा है वही ज्ञान है, सो इस तरह गुणगुणी की अभेददृष्टिमें आया हुआ जो सब पर द्रव्यों से भिन्न, अपने सहज पर्यायों में एकरूप, निष्कल, अपने गुणों में एकरूप, पर निमित्त से उत्पन्न हुए भावों से भिन्न अपने ज्ञानका जो अनुभव

है वही आत्मानुभव है। यही अनुभव भावश्रुतज्ञानरूप जिनषासन का अनुभव है। 'बुद्धनयसे इसमें कुछ भेद नहीं है।

अब इसी अर्थ का कलषरूप काव्य कहते हैं—'अखंडित' इत्यादि। अर्थ—वह उत्कृष्ट तेज प्रकाशरूप हमें होवे, जो सदा काल चैतन्यके परिणमनसे भरा हुआ है। जैसे लवण की डली एक क्षाररस की लीला का आलम्बन करती है, उसी भाँति जो तेज एक ज्ञानरसस्वरूपको आलम्बन करता है। जो कि तेज अखंडित है—याने ज्ञेयों के आकार से खंडित नहीं होता; अनाकुल है अर्थात् जिसमें कर्मके निमित्त से हुए रागादिकों से उत्पन्न आकुलता नहीं है; अविनाशी है; जो अंतरंगमें तो चैतन्यभावसे देदीप्यमान अनुभवमें आता है और बाह्य में वचनकाय की क्रिया से प्रकट देदीप्यमान है, जो सदा सहज आनन्दविलासमय है, जिसे किसी ने रचा नहीं है और सदैव जिसका विलास उदयरूप है; एकरूप प्रतिभासमान है, ऐसा चैतन्यतेज हमारे उपयोग में रहे।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व यह कहा गया था कि 'बुद्धनयात्मिका जो ज्ञानानुभूति है वही आत्मानुभूति है, अब उसी के समर्थन में कहते हैं कि जो ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्माको देखता है वह भावश्रुतज्ञानरूप सर्व जिनषासन को देखता है अर्थात् द्रव्यश्रुतके द्वारा वाच्य व भावश्रुत के द्वारा ज्ञेय जैनषासनके निष्कर्षरूप आदिमध्यान्तरहित समयसार को देखता है।

तथ्यप्रकाश—(1) जिनषासन भावश्रुतरूप है, भावश्रुतज्ञानरूप है, ज्ञान की अनुभूति आत्मानुभूति है, अतः आत्मदर्शन सर्वजिनषासन का दर्शन है। (2) सर्वत्र जीव ज्ञान का ही स्वाद लेता है, परन्तु इस तथ्य का अज्ञान होनेसे परज्ञेयमें आसक्त होकर, लुब्ध होकर मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञेयाभिमुखरूपसे ज्ञानको स्वादता है, ज्ञानाभिमुखरूपसे ज्ञानको नहीं स्वादता। (3) जैसे नमकीन पकोड़ी खाने वाला नमकका स्वाद ले रहा है, परन्तु अबुद्ध जन पकोड़ी का आसक्त होकर पकोड़ी का ही स्वाद मानता हुआ नमक को स्वादता है, नमक का स्वाद मानता हुआ नमक को नहीं स्वादता है। (4) कोई केवल नमक की डली को ही स्वादे तो वहाँ भ्रम की गुंजाइष नहीं, मात्र नमक का ही स्वाद अनुभवा जाता है ऐसे ही कोई केवल ज्ञानस्वरूपको ही जाने अनुभवे तो वहाँ भ्रम की गुंजाइष नहीं, मात्र ज्ञानका ही स्वाद अनुभवा जाता है।

ल्योन्यद्रव्यसंयोगव्यवच्छेदेन केवल एवानुभूयमानः सर्वतोप्येकलवणरसत्वाल्लवणत्वेन स्वदते तथात्मापि परद्रव्यसंयोगव्यवच्छेदेन केवल एवानुभूयमानः सर्वतोप्येकविज्ञानघनत्वात् ज्ञानत्वेन स्वदते ॥15॥

अखंडितमनाकुलं ज्वलदन्तमंतर्बहिर्महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा ।

चिदुच्छलनिर्भरं सकलकालमालंबते यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितं ॥14॥

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः । साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यतां ॥15॥

अबद्धस्पृष्टं—द्वितीया एक० कर्मविषेण, अनन्यं—द्वितीया एक० कर्मविषेण, अविषेण—द्वितीया एक० कर्म—विषेण अपदेशसूत्रमध्यं—द्वितीया एक०, द्वितीय क्रियाके कर्मका विषेण, पष्यति—लट् वर्तमान अन्य पुरुष एक०, जिनषासनं—द्वितीया एक० कर्मकारक ॥15॥

सिद्धांत—(1) आत्मा ज्ञानस्वरूप है वह जाननका ही कर्ता है चाहे विकल्परूप जानन का कर्ता रहे, चाहे अविकार जाननका कर्ता रहे। (2) अविकार मात्र ज्ञाता समयसार का द्रष्टा है।

दृष्टि—1—कारककारकभेदक सद्भूतव्यवहारनय (73) । 2—बुद्धनय (49) ।

प्रयोग—स्वाद तो सदा ज्ञानका ही लिया जा रहा, किन्तु परपदार्थोंमें, विषयों में सुख पाने का भ्रम होनेसे ज्ञेयों की ओर ही झुककर ज्ञानका स्वाद लिया जा रहा है अर्थात्

ज्ञेयमिश्रित ज्ञानका स्वाद लिया जा रहा है यह प्रक्रिया अनर्थकारी है। अतः इस तथ्यको जानकर सर्व परज्ञेयों की उपेक्षा करके अथवा परका ख्याल छोड़ करके मात्र ज्ञानस्वरूपका ज्ञान रखकर केवल ज्ञानका ही स्वाद लो।।15।।

अब अगली गाथा की उत्थानिकारूप “एश ज्ञान” इत्यादि ‘लोक कहते हैं।
अर्थ—पूर्वकथित ज्ञानस्वरूप जो नित्य आत्मा है उसकी सिद्धि के इच्छुक पुरुषों के द्वारा साध्य—साधक भावके भेदसे दो तरह का होने पर भी एकरूप ही सेवनीय है, उसे सेवन करो अर्थात् दर्शन, ज्ञान, चारित्र साधक भाव है यही गाथा में कहते हैं—

[साधुना] साधु पुरुषों को [दर्शनज्ञानचरित्राणि] दर्शन, ज्ञान और चारित्र [नित्यं] निरन्तर [सेवितव्याति] सेवन करने योग्य हैं [पुनः] और [तानि त्रीणि अपि] उन तीनों को ही [निश्चयतः] निष्चयनयसे [आत्मानं एव] एक आत्मा ही [जानीहि] जानो।

तात्पर्य—अनुरूप भेदोपासना व अभेदोपासना से अपने आत्मा की सेवा करनी चाहिये।

टीकार्थ—यह आत्मा जिस भावसे साध्य तथा साधन हो उसी भाव से नित्य सेवने योग्य है, ऐसा स्वयं विचार करके, दूसरों के लिए व्यवहारनयसे ऐसा प्रतिपादन करते हैं कि साधु पुरुषों को दर्शन, ज्ञान, चारित्र सदा सेवने योग्य हैं, किन्तु परमार्थ से देखा जाय, तो ये तीनों एक आत्मा ही हैं, क्योंकि ये अन्य वस्तु नहीं हैं, आत्मा के ही पर्याय हैं। जैसे किसी देवदत्त नामक पुरुष के ज्ञान, श्रद्धान और आचरण हैं, वे उसके स्वभावको उल्लंघन नहीं करते, इसलिए वे देवदत्त पुरुष ही हैं, अन्य वस्तु नहीं हैं, उसी प्रकार आत्मा में भी आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और आचरण आत्मा के स्वभाव को नहीं उल्लंघन करते, इस कारण ये आत्मा ही हैं, अन्य वस्तु नहीं हैं। इस कारण यह सिद्ध हुआ कि एक आत्मा ही सेवन करने योग्य है, यह अपने आप ही प्रसिद्ध होता है। **भावार्थ**—दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों आत्मा के ही पर्याय हैं, कुछ जुदी वस्तु नहीं हैं, इसलिये साधु पुरुषों को एक आत्मा का ही सेवन करना चाहिये, यह निष्चय है और व्यवहार से अन्य को भी सव्यवहार निष्चयका उपदेश करना चाहिये।

अब इसी अर्थ का कलषरूप ‘लोक कहते हैं—“दर्शन” इत्यादि। **अर्थ**—यह आत्मा प्रमाणदृष्टिसे देखा जाय तब एक काल में मेचक याने अनेक अवस्थारूप भी है और अमेचक

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्याणि साहुणा णिच्चं ।

ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चव णिच्छयदो ।।16।।

चारित्र ज्ञान दर्शन, पालो सेवो सदा हि साधुजनो ।

किन्तु तीनों हि समझो, निश्चयसे एक आत्मा ही ।।16।।

दर्शनज्ञानचरित्राणि सेवितव्यानि साधुना नित्यं। तानि पुनर्जानीहि त्रीण्यप्यात्मानमेव निष्चयतः।।16।।

येनैव हि भावेनात्मा साध्यः साधनं च स्यात्तेनैवायं नित्यमुपास्य इति स्वयमाकूय परेषां व्यवहारेण साधुना दर्शनज्ञानचारित्राणि नित्यमुपास्यानीति प्रतिपाद्यते। तानि पुनस्त्रीण्यपि परमार्थेनात्मैक एव वस्त्वंतराभावाद् यथा देवदत्तस्य कस्यचिद् ज्ञानं श्रद्धानमनुचरणं च देवदत्तस्य स्वभावानतिक्रमाद्देवदत्त एव न वस्त्वंतरं। तथात्मन्यप्यात्मनो ज्ञानं श्रद्धानमनुचरणं चात्मस्वभावानतिक्रमादात्मैव न वस्त्वंतरं, तत आत्मा एक एवोपास्य इति स्वयमेव

नामसंज्ञ—दंसणणाणचरित्त, सेविदव्व, साहु, णिच्चं, त, पुण, ति, वि, अप्प, चव, णिच्छयदो।
धातुसंज्ञ—सेव सेवायां, साह साधने तृतीयगणी, जाण अवबोधने। **प्रकृतिशब्द**—दर्शनज्ञानचरित्र, सेवितव्य, साधु, नित्यं, तत्, पुनस्, त्रि, अपि, आत्मन्, च, एव, निष्चयतः। **मूलधातु**—दृषिर् दर्शने, ज्ञा अवबोधने, चर गत्यर्थः, साध संसिद्धौ। **पदविवरण**—दर्शनज्ञानचरित्राणि—प्रथमा बहुवचन कर्मवाच्यमें कर्म।

सेवति-व्यानि- प्रथमा बहुवचन, कृदन्त क्रिया। साधुना-तृतीया एक०, कर्मवाच्य में कर्ता। नित्यं-अव्यय। तानि-

याने एक अवस्थारूप भी है। क्योंकि भेददृष्टि से इसके दर्शन, ज्ञान, चारित्र ऐसो तीनरूपता है और स्वयं परमार्थ एकरूप ही है।

आगे कहते हैं—“दर्शन” इत्यादि। अर्थ—व्यवहारदृष्टि से देखा जाय तब आत्मा एक है तो भी तीन स्वभावरूप होनेसे अनेकाकार है; क्योंकि वह दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप परिणमता है। भावार्थ—षुद्ध द्रव्यार्थिकनय से आत्मा एक है; इस नयकी मुख्यता में कहा जाय, तब पर्यायार्थिकनय गौण हो जाता है। सो एकको तीनरूप परिणमता कहना यही व्यवहार हुआ, ऐसे व्यवहारनयसे दर्शन, ज्ञान, चारित्र परिणाम होनेसे आत्मा को मेचक कहा है।

अब परमार्थनय से कहते हैं “परमार्थन” इत्यादि। अर्थ—परमार्थदृष्टिसे देखा जाय तब प्रकट ज्ञायकज्योतिमात्र आत्मा एकस्वरूप है, क्योंकि इसका ‘षुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे सभी अन्य द्रव्य के स्वभाव तथा अन्य के निमित्त से हुए विभावों को दूर करने रूप स्वभाव है। अतः अमेचक है, अर्थात् ‘षुद्ध एकाकार है।

यहाँ प्रमाणनयसे मेचक अमेचक कहा सो इस चिन्ता को मेट जैसे साध्य की सिद्धि हो वैसे करना यह “आत्मनः” इस काव्य में कहते हैं। अर्थ—यह आत्मा मेचक है, भेदरूप अनेकाकार है तथा अमेचक है, अभेदरूप एकाकार है, ऐसी चिन्ता को छोड़ो। साध्य आत्मा की सिद्धि तो दर्शन, ज्ञान और चारित्र—इन तीनों भावों से ही होती है दूसरी तरह नहीं, यह नियम है। भावार्थ—आत्मस्वभावकी सिद्धि ‘षुद्ध द्रव्यार्थिकनय से होती है। ऐसा जो ‘षुद्ध स्वभाव साध्य है, वह पर्यायार्थिकस्वरूप व्यवहारनयसे ही साधा जाता है, इसलिये ऐसा कहा गया है कि भेदाभेद की कथनी से क्या, जिस तरह साध्य की सिद्धि हो वैसे करना। व्यवहारी जन भेद द्वारा ही तथ्य समझते हैं। इस कारण दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीनों परिणामरूप ही आत्मा है, इस तरह भेदकी प्रधानता से अभेदकी सिद्धि करने के लिये कहा गया है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व जिस ‘षुद्ध आत्मा के दर्शन का आदेश था उसकी दृष्टि व उपासना किस प्रकार करना चाहिये, इस उत्सुकता की पूर्ति इस गाथा से हो जाती है।

तथ्यप्रकाश—(1) आत्मा ही साध्य है और आत्मा ही साधन है अर्थात् ‘षुद्धात्मोपलब्धि साध्य है और ‘षुद्धात्मानुवृत्ति साधन है। (2) निष्चयनयसे आत्मा सेवने योग्य है। (3) व्यवहारनय से दर्शन, ज्ञान व चारित्र सेवने योग्य है। (4) परमार्थतः दर्शन, ज्ञान, चारित्र यह प्रद्योतते। स किल—

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वादेकत्वतः स्वयं। मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणतः॥16॥

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभिः परिणतत्वतः। एकोपि त्रिस्वभावत्वाद् व्यवहारेण मेचकः॥17॥

परमार्थन तु व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषैककः। सर्वभावांतरध्वंसिस्वभावत्वादमेचकः॥18॥

आत्मनश्चित्तयैवालं मेचकामेचकत्वयोः। दर्शनज्ञानचारित्रैः साध्यसिद्धिर्न चान्यथा॥19॥16॥

द्वितीया बहु० कर्मकारक। पुनः—अव्यय। जानीहि—लोड मध्यम एक०। त्रीणि—द्वितीया बहु०। अपि—अव्यय। आत्मानं—द्वि० ए०। च—अव्यय। एव—अव्यय। निष्चयतः—हेत्वार्थे तस् अव्यय॥16॥

सब एक आत्मा ही है। (5) दर्शनज्ञानचारित्ररूप परिणमता हुआ आत्मा वस्तुतः एक है सो आत्मा मेचकामेचक है। (6) दर्शनज्ञानचारित्ररूप परिणत होनेसे आत्मा मेचक है। (7) ज्ञानज्योतिर्मात्र होने से आत्मा अमेचक है। (8) सहजात्मोपलब्धि का सुगम उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्ररूप परिणमना है।

सिद्धान्त—(1) वस्तुतः आत्मा ही साध्य है व आत्मा ही साधन है। (2) आत्मा मेचकामेचक है। (3) आत्मा मेचक है। (4) आत्मा अमेचक है।

दृष्टि—1—कारककारकिभेदक सदभूतव्यवहार (73)। 2—प्रमाणसिद्ध। 3—सत्ता—सापेक्षानानात्मक पर्यायार्थिक (60)। 4—परमषुद्धनिष्चयनय (44)।

प्रयोग—आत्मा का परिचय करके, आत्मतत्त्व का श्रद्धान करके, आत्मा के सानुभव ज्ञान द्वारा आत्मा में रमण करके सहज आनंदमय ज्ञायकभावरूप अपने को अनुभवना चाहिये।।16।।

अब इसी रत्नत्रयको दो गाथाओं में दृष्टान्त द्वारा व्यक्त कहते हैं—[यथा नाम] जैसे [कोपि] कोई [अर्थार्थिकः पुरुशः] धन का चाहने वाला पुरुष [राजानं] राजा को [ज्ञात्वा] जानकर [श्रद्धधाति] श्रद्धान करता है [ततः] उसके बाद [तं] उसकी [प्रयत्नेन अनुचरति] अच्छी तरह सेवा करता है [एवं हि] इसी तरह [मोक्षकामेन] मोक्ष को चाहने वाला [जीवराजः] जीवरूप राजाको [ज्ञातव्यः] जाने [पुनः च] और फिर [तथैव] उसी तरह [श्रद्धातव्यः] श्रद्धान करे [तु च स एव] उसके बाद [अनुचरितव्यः] उसका अनुचरण करे अर्थात् तन्मय हो जाये।

तात्पर्य—भेदोपासनाकी विधि आत्मतत्त्व का ज्ञान, श्रद्धान, आचरण है।

टीकार्थ—निष्चयसे जैसे कोई धन को चाहने वाला पुरुष प्रयत्न से पहले तो राजा को जानता है पश्चात् उसी का श्रद्धान करता है उसके पश्चात् उसी का सेवन करता है उसी तरह मोक्ष को चाहने वाला पहले तो आत्मा को जाने, अनन्तर उसी का श्रद्धान करे उसके पश्चात् उसी का अनुचरण करे, क्योंकि निष्कर्म अवस्थारूप अभेद 'षुद्धस्वरूप साध्य की इसी प्रकार उपपत्ति (सिद्धि) है अन्यथा अनुपपत्ति है। जिस समय आत्मा के अनुभवमें आये हुए अनेक पर्यायरूप भेदभावों से मिश्रितता होने पर भी परम भेदज्ञान की प्रवीणता से जो यह अनुभूति है कि "यही मैं हूँ" ऐसे आत्मज्ञानसे युक्त होता हुआ यह आत्मा जैसा जाना वैसा ही है, ऐसी प्रतीतिस्वरूप श्रद्धान प्रकट होता है उसी समय समस्त अन्य भावों से भेद होने के कारण निःषंक ही ठहरने में समर्थ होनेसे उदीयमान हुआ आत्मा का आचरण आत्मा को साधता है। इस तरह तो साध्य आत्मा की सिद्धि की तथोपपत्ति प्रसिद्ध है। परन्तु जिस समय ऐसा अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा बाल गोपाल तक सदाकाल स्वयं ही अनुभवमें आता भी अनादिबंधके वष से परद्रव्यों सहित एकत्वका निष्चय कर अज्ञानी के "यह मैं हूँ" ऐसा अनुभूतिरूप आत्मज्ञान नहीं प्रकट होता, उसके अभावसे अज्ञात गधे के सींग के समान श्रद्धान का भी उदय नहीं होता। उस समय समस्त अन्य भावों से भेद न होने के कारण निःषंक आत्मा में ही ठहरने की असामर्थ्य से आत्मा का आचरण न होनारूप

जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिरुण सदहदि।

तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण।।17।।

एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सदहेदव्वो।

अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण।।18।।

(युगलम्)

ज्यों कोई पुरुश धनका, इच्छुक नृपको सु जानकर माने।

सेवा भि करे उसकी, उसके अनुकूल यत्नों से।।17।।

त्यों मोक्षरुचिक पुरुशो, 'षुद्धात्मा देवको सही जानो।

मानो व भजो उसको, स्वभावसदभाव यत्नों से।।18।।

यथा नाम कोपि पुरुषो राजानं ज्ञात्वा श्रद्धधाति। ततस्तमनुचरति पुनरर्थार्थिकः प्रयत्नेन।।17।।

एवं हि जीवराजो ज्ञातव्यस्तथैव श्रद्धातव्यः। अनुचरितव्यञ्च पुनः स चैव तु मोक्षकामेन।।18।।

यथा हि कञ्चित्पुरुषोऽर्थार्थी प्रयत्नेन प्रथममेव राजानं जानीते ततस्तमेव श्रद्धते तत-
स्तमेवानुचरति। तथात्मना मोक्षार्थिना प्रथममेवात्मा ज्ञातव्यः, ततः स एव श्रद्धातव्यः, ततः स
एवानुचरितव्यञ्च साध्यसिद्धेस्तथान्यथोपपत्त्यनुपपत्तिभ्यां। तत्र यदात्मनोनुभूयमानानेकभाव-
संकरेपि परमविवेककौशलेनायमहमनुभूतिरित्यात्मज्ञानेन संगच्छमानमेव तथेतिप्रत्ययलक्षणं
श्रद्धानमुत्प्लवते तदा समस्तभावान्तरविवेकेन निःषङ्कमेव स्यात् 'इत्यत्वादात्मानुचरणमुत्प्लव-
मानमात्मानं साधयतीति साध्यसिद्धेस्तथोपपत्तिः। यदात्वाबालगोपालमेव सकलकालमेव स्वय-
मेवानुभूयमानेपि भगवत्यनुभूत्यात्मन्यात्मन्यनादिबंधवषात् परैः सममेकत्वाध्यवसायेन विमूढ-
स्यायमहमनुभूतिरित्यात्मज्ञानं नोत्प्लवते तदभावादज्ञातखरशृङ्गश्रद्धानसमानत्वाच्छ्रद्धानमपि
नोत्प्लवते तदा समस्तभावांतराविवेकेत निःषङ्कमेव स्थातुमषक्यत्वादात्मानुचरणमनुत्प्लवमानं
नात्मानं साधयतीति साध्यसिद्धेरन्यथानुपपत्तिः।

नामसंज्ञ—जह, णाम, क, वि, पुरिस, राय, तो, त, पुणो, अत्थत्थि, पयत्त, एवं, हि, जीवराय, तह, य, य, पुणो, त, चेव, दु, मोक्खकाम। **धातुसंज्ञ**—जाण अवबोधने, सद्-दह धारणे, अनु-चर गतौ, काम इच्छायां। **प्रकृतिशब्द**—यथा, नामन्, किम्, अपि, पुरुष, राजन्, तत्, तत्, पुनर्, अर्थार्थिक, प्रयत्न, एवं, हि जीवराज, तथा, एव, च, पुनर्, तत् च, एव, तु, मोक्षकाम। **मूलधातु**—श्रुत्-डुधाञ् धारणपोषणयोः। अनु-चर गत्यर्थः। ज्ञा अवबोधने। मुच प्रमोचने मोदे च। कमु कान्तौ, कान्तिरिच्छा। **पदविवरण**—यथा- अव्यय। नाम-प्रथमा एक०। कः-प्र० एक०। अपि-अव्यय। पुरुषः-प्रथमा एक० कर्ताकारक। राजन्-द्वितीया एक०। ज्ञात्वा-असमाप्ति की क्रिया, श्रद्दधाति-श्रत् दधाति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष ए०।

परिणमन आत्मा को नहीं साध सकता। इस तरह साध्य आत्मा की सिद्धि की अन्यथानुपपत्ति प्रसिद्ध है।

भावार्थ—साध्य आत्मा की सिद्धि दर्शनज्ञानचारित्रसे ही है, अन्य प्रकार नहीं है। क्योंकि पहले तो आत्मा को जाने कि "यह मैं हूँ" उसके अनन्तर इसकी प्रतीतिरूप श्रद्धान होता है। बिना जाने श्रद्धान किसका हो? फिर समस्त अन्य भावों से भेद करके अपने में स्थिर होवे ऐसे आत्मा की सिद्धि है। जब जानेगा नहीं तब श्रद्धान भी नहीं हो सकेगा। तब स्थिरता किसमें कर सकता है? इसलिये दूसरी तरह सिद्धि नहीं है, ऐसा निष्चय है।

अब इसी को दृढ़ करने के लिये कलषरूप काव्य कहते हैं—**"कथमपि"** इत्यादि। **अर्थ**—किसी भी प्रकार तीनपने को प्राप्त होने पर भी एकरूपता से च्युत न हुई, निर्मल उदयको प्राप्त हुई, अनंत चैतन्य चिह्न वाली इस आत्मज्योति को हम निरन्तर अनुभवते हैं, क्योंकि अन्य प्रकार से साध्य आत्मा की सिद्धि कभी नहीं होती किसी तरह नहीं होती। **भावार्थ**—आचार्य कहते हैं कि जिसके किसी तरह पर्यायदृष्टि से तीनपना प्राप्त है तो भी 'बुद्धद्रव्यदृष्टिसे एकरूपता नहीं छूटी है तथा अनन्त चैतन्यस्वरूप निर्मल उदय को प्राप्त है ऐसी आत्मज्योतिका हम निरन्तर अनुभव करते हैं।

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्यकताया अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम्।

सततमनुभवामोऽनंतचैतन्यचिह्नं न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः।।20।।17-18।।

ननु ज्ञानतादात्म्यादात्मा ज्ञानं नित्यमुपास्त एव कुतस्तदुपास्यत्वेनानुषास्यत इति चेत्तन्न, यतो न खल्वात्मा ज्ञानतादात्म्येपि क्षणमपि ज्ञानमुपास्ते स्वयंबुद्ध-बोधितबुद्धत्वकारण-पूर्वकत्वेन ज्ञानस्योत्पत्तेः। तर्हि तत्कारणात्पूर्वमज्ञान एवात्मा, नित्यमेवाप्रतिबुद्धत्वादेवमेतत्। तर्हि कियंतं कालमयमप्रतिबुद्धो भवतीत्यभिधीयतां—

ततः हेत्वर्थे पंचम्यां तस्-अव्यय। तं-द्वितीया एक०, अनुचरति-अनु-चरति-अन्य पुरुष एक० क्रिया। पुनः-अव्यय। अर्थार्थिकः-प्रथमा एक० कर्तृविषेण। प्रयत्नेन-तृतीया एक०। एवं-अव्यय। जीवराजः-प्रथमा

एक० कर्मवाच्यमें कर्म। ज्ञातव्यः—प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया। तथा च—अव्यय। श्रद्धातव्यः—प्रथमा ए० कृदन्त क्रिया। अनुचरितव्यः—प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया। सः—प्रथमा एक० कर्मवाच्य में कर्म। तु—अव्यय। मोक्षकामेन—तृतीया एक०, कर्मवाच्य में कर्ता कर्तृविषेण।

प्रसंगविवरण—अनन्तर पूर्व गाथा में कहा गया था कि व्यवहार से दर्शन, ज्ञान, चारित्र सेवनीय है, निष्चय से आत्मा सेवनीय है उसी कथन का प्रेक्टिकल रूपमें यहाँ विवरण किया गया है।

तथ्यप्रकाश—(1) मोक्षमार्ग पाने के लिये प्रथम आत्मा का कुछ परिचय आवश्यक है। (2) आत्मपरिचयके बाद आत्मा का अनुभवपूर्वक श्रद्धान होता है। (3) सानुभव श्रद्धान के साथ ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है। (4) आत्मा का श्रद्धान ज्ञान होने पर आत्मा के अनुरूप आचरण होता है। (5) आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान, आचरणसे सहजपरमात्मतत्त्वकी सिद्धि होती है। (6) आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान, आचरण के न होने पर सहजपरमात्मतत्त्व की सिद्धि कभी नहीं होती।

सिद्धान्त—(1) 'जुद्धात्मा निर्विकार स्वसंवेदनज्ञानसे ज्ञातव्य है। (2) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की एकता मोक्षमार्ग है।

दृष्टि—1—षुद्धनय (49)। 2—एवंभूतनय (43)।

प्रयोग—आत्मा को व्यवहारनयसे (गुणादिपरिचयसे) पहिचानकर सहजज्ञानानन्दस्वभाव 'जुद्ध अन्तस्तत्त्वका श्रद्धान कर निर्विकल्प स्वसंवेदन समाधिसे निरन्तर अनुभव करना ॥17-18॥

प्रश्न—आत्मा तो ज्ञानसे तादात्म्यस्वरूप है, जुदा नहीं है, इसलिये आत्मा ज्ञानका नित्य सेवन करता ही है, फिर ज्ञानकी ही उपासना करने की शिक्षा क्यों दी जाती है? **समाधान**—यह कहना ठीक नहीं, यद्यपि आत्मा ज्ञानसे तादात्म्यरूप है तो भी यह एक क्षणमात्र भी ज्ञान की उपासना नहीं करता। इसके ज्ञानकी उत्पत्ति स्वयं ही जानने से अथवा दूसरे के बतलाने से होती है; क्योंकि या तो काललब्धि आये तब आप ही जान लेता है या कोई जनावे तब जान सकेगा। **प्रश्न**—यदि इस तरह है तो जानने के कारण के पहले आत्मा अज्ञानी ही है, क्योंकि सदा ही इसके अप्रतिबुद्धपना है? **उत्तर**—यह बात ऐसे ही है कि वह अज्ञानी ही है। तो फिर यह आत्मा कितने समय तक अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) रहता है? उसके स्वयं एकरूप गाथासूत्र कहते हैं—

[यावत्] जब तक इस आत्मा के [कर्मणि] ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म व भावकर्ममें [वा] और [नोकर्मणि] 'रीर आदि नोकर्ममें [अहं कर्म नोकर्म] मैं कर्म नोकर्म हूं [च इति अहकं] और ये कर्म नोकर्म मैं हूं [एशा खलु] ऐसी निष्चयसे [मतिः] बुद्धि है [तावत्] तक तब [अप्रतिबुद्धः] यह आत्मा अप्रतिबुद्ध याने अज्ञानी [भवति] है।

तात्पर्य—विकार व 'रीर में आत्मत्व का अनुभवन होना अज्ञान है।

टीकार्थ—जैसे स्पर्श, रस, गंध और वर्ण आदि भावों में चौडत्रा नीचे अवगाहरूप उदर आदि के आकार परिणत हुए पुद्गल के स्कंधों में यह घट है ऐसा और घट में स्पर्श, रस,

कम्मे णोकम्महि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं।

जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ॥19॥

विधि विभाव देहों में, 'यह मैं मैं यह' की एकता जब तक।

जिसकी मति में रहती, अज्ञानी जीव है तब तक ॥19॥

कर्मणि नोकर्मणि चाहमित्यहकं च कर्म नोकर्म। यावदेषा खलु बुद्धिरप्रतिबुद्धो भवति। तावत् ॥19॥

यथा स्पर्शरसगंधवर्णादिभावेषु पृथुबुध्नोदराद्याकारपरिणतपुद्गलस्कंधेषु घटोयमिति घटे च स्पर्शरसगंधवर्णादिभावाः पृथुबुध्नोदराद्याकारपरिणतपुद्गलस्कंधाष्वाामी इति वस्त्वभेदेना—नुभूतिस्तया कर्मणि मोहादिष्वंतरंगेषु, नोकर्मणि 'रीरादिषु बहिरंगेषु चात्मतिरस्कारिषु

नामसंज्ञ—कम्म, णोकम्म, य, अम्ह, इदि, अम्ह, च, कम्म, णोकम्म, ज, एत, खलु, बुद्धि, अप्पडिबुद्ध, ताव। **धातुसंज्ञ**—बुज्ज अवगमने, हो सत्तायां। **प्रकृतिशब्द**—कर्मन्, नोकर्मन्, च, अस्मत्, इति, अहक, च, कर्मन्,

गंध और वर्णादि भाव हैं तथा पृथुबुध्नोदर आदि के आकार परिणत पुद्गल स्कंध हैं, ऐसा वस्तु के अभेद से अनुभव है, उसी तरह कर्म—मोह आदि अंतरंग परिणाम और नोकर्म—षरीर आदि बाह्य वस्तुयें सब पुद्गलके परिणाम हैं जो कि आत्मा के तिरस्कार करने वाले हैं, उनमें ये कर्म नोकर्म 'मैं हूँ' तथा मोहादिक अंतरंग और 'रीरादि बहिरंग कर्म आत्मा के तिरस्कार करने वाले पुद्गल परिणाम मुझ आत्मा में हैं, इस प्रकार वस्तु के अभेद से जब तक अनुभूति है तब तक आत्मा अप्रतिबुद्ध है, अज्ञानी है। और जब किसी समय जैसे रूपी दर्पण के आकार को प्रतिभास करने वाली स्वच्छता ही है तथा उष्णता और ज्वाला अग्नि की है, उसी तरह अरूपी आत्मा की अपने परके जानने वाली ज्ञातृता (ज्ञातापना) ही है और कर्म नोकर्म पुद्गल के ही हैं, ऐसी अपने आप ही अथवा दूसरे के उपदेश से भेदविज्ञानमूलक अनुभूति उत्पन्न हो जायगी तब ही यह आत्मा प्रतिबुद्ध (ज्ञानी) होगा।

भावार्थ—जब तक जीव ऐसा जानता है कि जैसे स्पर्श आदिक पुद्गल में हैं और पुद्गल स्पर्शादि में है उसी तरह जीव में कर्म नोकर्म हैं और कर्म नोकर्म में जीव है तब तक तो वह अज्ञानी है और जब यह जान ले कि आत्मा तो ज्ञानस्वरूप ही है और कर्म नोकर्म पुद्गल ही हैं तभी यह ज्ञानी होता है। जैसे दर्पण में अग्नि की ज्वाला दीखती हो, वहाँ ऐसा जाने कि ज्वाला तो अग्नि में ही है, दर्पण में नहीं बैठी, जो दर्पण में दीख रही है वह दर्पण की स्वच्छता ही है। इसी तरह कर्म नोकर्म अपने आत्मा में नहीं बैठे, आत्मा के ज्ञानकी स्वच्छता ऐसी है जिसमें ज्ञेयका प्रतिभास होता है। इस प्रकार कर्म नोकर्म ज्ञेय हैं, वे मात्र प्रतिभासित होते हैं, ऐसा अनुभव स्वयमेव हो अथवा उपदेश से हो तब ही ज्ञानी होता है।

अब इसी अर्थ का कलषरूप काव्य कहते हैं "कथमपि" अत्यादि। **अर्थ**—जो पुरुष आपसे ही अथवा परके उपदेश से किसी तरह भेदविज्ञानमूलक अविचल निष्चल अपने आत्मा की अनुभूति को प्राप्त करते हैं, वे ही पुरुष दर्पण की तरह अपने आत्मा में प्रतिबिम्बित हुए अनंत भावों के स्वभावों से निरन्तर विकाररहित होते हैं। **भावार्थ**—ज्ञानमें प्रतिफलित ज्ञेयाकारों से ज्ञानी विकृत नहीं बनते।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें ज्ञानमय आत्मा की उपासना के प्रकरण में यह प्रश्न हुआ था कि आत्मा तो ज्ञानमय है ही उसकी उपासना का उपदेश बेकार है उसके उत्तर में कहा था कि आत्मा ज्ञानमय तो है, किन्तु उसका ज्ञान न होनेसे अज्ञानी है, अतः उसे ज्ञान की उपासना का उपदेश किया जाता है। इस पर यह प्रश्न हुआ कि फिर यह कितने समय तक अज्ञानी रहता है। इस प्रश्न का उत्तर इस गाथा में दिया गया है।

पुद्गलपरिणामेष्वहमित्यात्मनि च कर्ममोहादयोऽन्तरंगा नोकर्मषरीरादयो बहिरंगाष्वात्मतिर—स्कारिणः पुद्गलपरिणामा अमी इति वस्त्वभेदेन यावंतं कालमनुभूतिस्तावंतं कालमात्मा भव—त्यप्रतिबुद्धः। यदा कदाचिद्यथा रूपिणो दर्पणस्य स्वपराकारावभासिनी स्वच्छतैव वहेरौष्यं ज्वाला च तथा नीरूपस्यात्मनः स्वपराकारावभासिनी ज्ञातृतैव, पुद्गलानां कर्म नोकर्म चेति स्वतःपरतो वा भेदविज्ञानमूलानुभूतिरुत्पत्स्यते तदैव प्रतिबुद्धो भविष्यति।

कथमपि हि लभन्ते भेदविज्ञानमूलामचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा ।

प्रतिफलननिमग्नानन्तभावस्वभावैर्मुकुरवदविकाराः संततं स्युस्त एव ॥21॥19॥

नोकर्मन्, यावत्, एतत्, खलु, बुद्धि, अप्रतिबुद्ध, तावत् । **मूलधातु**—डकृञ् करणे, बुध अवगमने, भू सत्तायां । **पदविवरण**—कर्मणि—सप्तमी एकवचन । नोकर्मणि—सप्तमी एक० । च—अव्यय । अहं—प्रथमा एक० । इति—अव्यय । अहकं—प्रथमा एक० । कर्म—प्रथमा एक० । नोकर्म—प्रथमा एक० । यावत्—अव्यय । एषा—प्रथमा एक० स्त्रीलिङ्ग । खलु—अव्यय । बुद्धिः—प्रथमा एक० । अप्रतिबुद्धः—प्रथमा एक० । भवति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । तावत्—अव्यय ।

तथ्यप्रकाश—(1) अज्ञानी को घटमें घटाकारादिके अभेद की भाँति विभाय व देहमें “मैं हूँ” की अभेद से अनुभूति रहती है। (2) ज्ञानी को दर्पण और जिसका दर्पण में प्रतिबिम्ब हुआ, ऐसे अग्नि की उष्णता व ज्वाला के भेद की तरह, अपनी ज्ञातृता (ज्ञातापन) व पुद्गलों की देहादिदषाका भेद ज्ञात रहता है और इस भेदविज्ञानके परिणाम में अपने को ज्ञानमात्र अनुभवता है।

सिद्धान्त—(1) ज्ञानी सहज अन्तस्तत्त्व में आत्मत्व मानता है। (2) अज्ञानी पर पदार्थ व विभाव में आत्मत्व मानता है।

दृष्टि—1—परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय, ‘बुद्धनय (30, 49) ।
2—संश्लिष्टविजात्युपचरित असद्भूतव्यवहार (125) ।

प्रयोग—परपदार्थ व परभावों से भिन्न आत्मा को अविकार चैतन्यस्वरूप निरखकर अपने सहज आनन्द का अनुभव करते हुए परम विश्राम पावें ॥19॥

अब शिष्य प्रश्न करता है कि यह अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) किस तरह पहचाना जा सकता है उसके उत्तररूप गाथा कहते हैं—[यः] जो पुरुष [अन्यत् यत् परद्रव्यं] अपने से अन्य जो परद्रव्य [सचित्ताचित्तमिश्रं वा] सचित् स्त्री—पुत्रादिक, अचित्त धनधान्यादिक, मिश्र ग्रामनगरादिक—इस सबको ऐसा समझे कि [अहं एतत्] मैं यह हूँ [एतत् अहं] यह सब द्रव्य मैं हूँ [एतस्य अहं] मैं इसका हूँ [एतत् मम अस्ति] यह मेरा है [एतत् मम पूर्व आसीत्] यह मेरा पूर्व में था [एतस्य अहमपि पूर्व आसं] इसका मैं भी पहले था [पुनः] तथा [एतत् मम भविष्यति] यह सब मेरा होगा [अहमपि एतस्य भविष्यामि] मैं भी इसका आगामी होऊँगा [एतत् असद्भूतं] ऐसा झूठा [आत्मविकल्पं] आत्मविकल्प करता है वह [संमूढः] मूढ़ है [तु] किन्तु जो पुरुष [भूतार्थ] परमार्थ वस्तुस्वरूपको [जानन्] जानता हुआ [तं] ऐसे झूठे विकल्प को [न करोति] नहीं करता है वह [असंमूढः] मूढ़ नहीं है, ज्ञानी है।

तात्पर्य—परमें व परभाव में आत्मत्व का अनुभवन करने वाला अज्ञानी है व सहज सिद्ध चैतन्यमात्र अन्तस्तत्त्व में आत्मत्व का अनुभवन करने वाला ज्ञानी है।

टीकार्थ—जैसे कोई पुरुष ईंधन और अग्नि को मिला हुआ देखकर ऐसा झूठा विकल्प करता है कि अग्नि ईंधन है तथा ईंधन अग्नि है, अग्नि का ईंधन पहले था, ईंधन की अग्नि पहले थी, अग्नि का ईंधन आगामी होगा, ईंधन की अग्नि आगामी होगी, इस तरह ईंधन में ही अग्नि का विकल्प करता है वह झूठा है। इसी से अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) पहचाना जा सकता है। उसी तरह (दार्ष्टान्त में देखिये) कोई परद्रव्य में असत्यार्थ आत्मविकल्प करे कि मैं यह परद्रव्य हूँ और यह परद्रव्य मैं हूँ, मेरा यह परद्रव्य है, इस परद्रव्य का मैं हूँ, मेरा

ननु कथमयमप्रतिबुद्धो लक्ष्येत—

अहमेदं एकमेहं अहमेदस्सेव होमि मम एदं ।

अण्णं जं परदव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा ॥20॥

आसि मम पुव्वमेदं एदस्स अहंपि आसि पुव्वं हि ।

होहिदि पुणोवि मज्झं एयस्स अहंपि होस्सामि ।।21।।
 एयं तु असंभूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो ।
 भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु ते असंमूढो ।।22।। (त्रिकलम)
 जगमें जो कुछ दिखता, सजीव निर्जीव मिश्र वा वस्तु ।
 मैं यह यह मैं मैं हूं, इसका यह सब तथा मेरा ।।20।।
 यह पहले मेरा था, इसका मैं था भि पूर्व समयों में ।
 मैं होऊंगा इसका, यह सब होगा तथा मेरा ।।21।।
 ऐसा असत्य अपना, करता मानन विकल्प यह मोही ।
 किन्तु नहिं भ्रान्ति करता, भूतार्थात्मज्ञ निर्माही ।।22।।

अहमेतदेतदहमहेतस्यैवास्मि ममैतत् । अन्यद्यत्परद्रव्यं सचित्ताचित्तमिश्रं वा ।।20।।

आसीन्मम पूर्वमेतद् एतस्याहमप्यासं पूर्वं हि । भविष्यति पुनरपि मम एतस्याहमपि भविष्यामि ।।21।।

एतत्त्वसद्भूतमात्मविकल्पं करोति संमूढः । भूतार्थं जानन्न करोति तमसंमूढः ।।22।।

यथाग्निरिंधनमस्तींधनमग्निरस्त्यग्नेरिंधनमस्तींधनस्याग्निरस्त्यग्नेरिंधनं पूर्वमासीदिंधन-
 स्याग्निः पूर्वमासीदग्नेरिंधनं पुनर्भविष्यतींधनस्याग्निः पुनर्भविष्यतींधन एवासद्भूताग्निक-

नामसंज्ञ—अम्ह, एत, अम्ह, अम्ह, एत, एव, अम्ह, एत, अण्ण, ज, परदव्व, सच्चित्ताचित्तमिस्स, वा, अम्ह, पुव्वं, एत, एत, अम्ह, पि, पुव्वं, हि, पुणो, वि, अम्ह, एत, अम्ह, पि, एत, तु, असंभूद, आदवियप्प, संमूढ, भूदत्थ, जाणंत, ण, दु, त, असंमूढ । **धातुसंज्ञ**—हो सत्तायां, ह्व प्राप्तौ, अस सत्तायां, कर

यह पहले था, इसका मैं पहले था, मेरा यह फिर होगा, इसका मैं फिर होऊंगा, ऐसे झूठे विकल्प से अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) पहचाना जाता है। तथा अग्नि ईंधन नहीं है, ईंधन अग्नि नहीं है, अग्नि अग्नि ही है, ईंधन ईंधन ही है, अग्नि का ईंधन नहीं है, ईंधन की अग्नि नहीं है, अग्नि की अग्नि है, ईंधन का ईंधन है, अग्नि का ईंधन पहले हुआ नहीं, ईंधन की अग्नि पहले हुई नहीं, अग्नि की अग्नि पहले थी, ईंधन का ईंधन पहले था तथा अग्नि का ईंधन आगामी नहीं होगा, ईंधन की अग्नि आगामी नहीं होगी, अग्नि की अग्नि ही आगामी काल में होगी, ईंधन का ईंधन ही आगामी होगा। इस तरह किसी के अग्नि में ही सत्यार्थ अग्नि का विकल्प जिस प्रकार हो जाता है, उसी तरह मैं यह परद्रव्य नहीं हूं, तथा यह परद्रव्य मुझ स्वरूप नहीं है, मैं तो मैं ही हूं, परद्रव्य परद्रव्य ही है तथा मेरा यह परद्रव्य नहीं है, इस परद्रव्यका मैं नहीं हूं, अपना ही मैं हूं, परद्रव्य का परद्रव्य है तथा इस परद्रव्य का मैं पहले नहीं था, यह परद्रव्य मेरा पहले नहीं था, अपना मैं ही पूर्व में था, परद्रव्य का परद्रव्य पहले था तथा यह परद्रव्य मेरा आगामी न होगा, उसका मैं आगामी न होऊंगा, मैं अपना ही आगामी होऊंगा, इस (परद्रव्य) का यह (परद्रव्य) आगामी होगा। ऐसा जो स्वद्रव्य में ही सत्यार्थ आत्मविकल्प होता है, यही प्रतिबुद्ध ज्ञानी का लक्षण है, इसी से ज्ञानी पहचाना जाता है। **भावार्थ**—जो परद्रव्य में आत्मा का विकल्प करता है, वह तो अज्ञानी है। और जो अपने आत्माको ही अपना मानता है वह ज्ञानी है। ऐसा अग्नि ईंधन के दृष्टान्त से दृढ़ निर्णय किया है।

अब इसी अर्थ का कलषरूप काव्य कहते हैं—'त्यजतु' इत्यादि। **अर्थ**—हे लोक के जीवो, अनादि संसार से लेकर अब तक अनुभव किए मोह को अब तो छोड़ो और रसिक जनों को रुचने वाला उदीयमान जो ज्ञान है उसे आस्वादन करो, क्योंकि इस लोक में ल्यत्वेनाप्रतिबुद्धः कषिल्लक्ष्येत तथाहमेतदस्म्येतदहमस्ति ममैतदस्त्येतस्याहमस्मि ममैतत्पूर्वमासीदेतस्याहं पूर्वमासं ममैतत्पुनर्भविष्यत्येतस्याहं पुनर्भविष्यामीति परद्रव्य एवासद्भूतात्मविकल्पत्वेनाप्रतिबुद्धो लक्ष्येतात्मा । नाग्निरिंधनमस्ति नैंधनमग्निरस्त्यग्निरग्निरस्तींधनमिंधनमस्ति

नाग्नेरिधनमस्ति नेंधनस्याग्निरस्त्यग्नेरग्निरस्तीधनस्येंधनमस्ति नाग्नेरिधनं पूर्वमासीन्नेध-
नस्याग्निः पूर्वमासीदग्नेरग्निः पूर्वमासीदिधनस्येंधनं पूर्वमासीन्नाग्नेरिधनं पुनर्भविष्यति नेंधनस्या-
ग्निः पुनर्भविष्यत्यग्नेरग्निः पुनर्भविष्यतीधनस्येंधनं पुनर्भविष्यतीति कस्यचिदग्नावेव सदभूता-
ग्निविकल्पवन्नहमेतदस्मि नैतदहमस्त्यहमहमस्म्येतदेतदस्ति न ममैतदस्ति नैतस्याहमस्मि ममा-
हमस्म्येतस्यैतदस्ति न ममैतत्पूर्वमासीन्नेतस्याहं पूर्वमासं ममाहं पूर्वमासमेतस्यैतत्पूर्वमासीन्न
ममैतत्पुनर्भविष्यति नैतस्याहं पुनर्भविष्यामि ममाहं पुनर्भविष्याम्येतस्यैतत्पुनर्भविष्यतीति स्वद्रव्य
एव सदभूतात्मविकल्पस्य प्रतिबुद्धलक्षणस्य भावात्। त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीढं
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत्। इह कथमपि नात्मात्मात्मना साकमेकः किल कलयति
काले क्वापि तादाम्यवृत्तिं।।22।।20-21-22।।

करणे। प्रातिपादिक—अस्मद्, एतत्, एतत्, अस्मद्, अस्मद्, एतत्, अन्यत्, यत्, परद्रव्य, सचित्ताचित्तमिश्र,
वा, अस्मद्, पूर्व, एतत्, एतत्, अस्मद् अपि, पूर्व, हि, पुनर्, अपि, अस्मद्, एतत्, अस्मद्, अपि, एवं, तु,
असद्भूत, आत्मविकल्प, संमूढ, भूतार्थ, जानत्, न, तु तत् असंमूढ। मूलधातु—भू सत्तायां, द्रु, गतौ, अस्
भुवि, डुकृञ् करणे, मुह वैचित्ये वैचित्यमविवेकः, ज्ञा अवबोधने। पदविवरण—अहं—प्रथमा एक०।
एतत्—प्रथमा एक०। एतत्— प्रथमा एक०। अहं—प्रथमा एक०। अहं—प्रथमा एक०। एतस्य—षष्ठी एक०।
एव—अव्यय। भवामि—वर्तमान लट् उत्तम पुरुष एक० क्रिया। मम—एकवचन। परद्रव्यं—प्रथमा एक।
सचित्ताचित्तमिश्रं—प्रथमा एक०। वा—अव्यय। आसीत्—भूत लृट् अन्य पुरुष एक० क्रिया। मम—षष्ठी एक०।
पूर्व—प्रथमा एक० अथवा अव्यय। एतत्—प्रथमा एक०। एतस्य—षष्ठी एक०। अहं—प्रथमा एक०।
अपि—अव्यय। आसम्—भूते लृट् उत्तम एक० क्रिया। भविष्यति—लृट् भविष्यत् अन्य० ए० क्रिया,
पुनः—अव्यय। मम—षष्ठी एक०। भविष्यामि—भविष्यत् लृट् उत्तम पुरुष एक० क्रिया। एतत्—प्रथमा एक०।
तु—अव्यय। असद्भूतं—द्वितीया एक० कर्मविषेण। आत्मविकल्पं—द्वितीया एक० कर्मकारक।
करोति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया। संमूढः—प्रथमा एकवचन। भूतार्थ—द्वितीया एकवचन।
जानन्—प्रथमा विभक्ति एकवचन कृदन्त। न—अव्यय। करोति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया।
तु—अव्यय। तं—द्वि० ए० कर्म। असंमूढः—प्रथमा एकवचन कर्ता।।20-21-22।।

आत्मा है वह परद्रव्य के साथ किसी समय में प्रगट रीति से एकत्व को किसी प्रकार प्राप्त नहीं होता। इसलिए आत्मा एक है, वह अन्य द्रव्य के साथ एकरूप नहीं होता।
भावार्थ—आत्मा परद्रव्य के साथ किसी प्रकार किसी काल में एकता को प्राप्त नहीं होता। इसलिए आचार्य ने ऐसी प्रेरणा की है कि अनादि से लगा हुआ जो परद्रव्य से मोह है उस एकपने के मोह को अब छोड़ो और ज्ञान का आस्वादन करो। मोह वृथा है, मिथ्या है, दुःखका कारण है। ऐसा भेदविज्ञान करना है।

प्रसंगविवरण—अनन्तर पूर्व बताया गया था कि यह आत्मा कब तक अज्ञानी रहता है। अब उसी के विषय में बताना है कि वह कैसे पहिचाना जाता है कि यह अज्ञानी है, इसका विवरण इन तीन गाथाओं में बताया गया है।

तथ्यप्रकाश—(1) जो परद्रव्य में ऐसा विष्वास रखता है कि “मैं यह हूँ या यह मैं है” वह जीव अज्ञानी है। (2) जो परद्रव्य में ऐसा विष्वास रहता है “मेरा यह है या इसका मैं हूँ” वह अज्ञानी है। (3) जो परद्रव्य में ऐसा विष्वास रखता है कि मेरा यह पहिले था या इसका मैं पहिले था” वह अज्ञानी है। (4) जो परद्रव्य में ऐसा विष्वास रखता है कि मेरा यह फिर होगा या इसका मैं फिर होऊँगा वह अज्ञानी है।

सिद्धान्त—उक्त चार बातें मिथ्या हैं जिनकी दृष्टियां उपचारसम्बन्धी निम्नलिखित हैं।

दृष्टि—1—द्रव्ये द्रव्योपचारक असद्भूतव्यवहार (106)। 2, 3, 4—परसम्बन्धव्यवहार (135)।

अथाप्रतिबुद्धबोधनाय व्यवसाय—

**अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दव्वं ।
बद्धमबद्धं च तहा जीवो बहुभावसंजुत्तो ।।23।।**

सव्वणहुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं ।
 कह सो पुग्गलदव्वी—भूदो जं भणसि मज्झमिणं ।।24।।
 जदि सो पुग्गलदव्वी—भूदो जीवत्तमागदं इदरं ।
 तो सत्तो वुत्तुं जे मज्झमिणं पुग्गलं दव्वं ।।25।।

अज्ञानमुग्धबुद्धी, जीव बना बिबिधभावसंयोगी ।
 इससे कहता तन सुत, नारी भवनादि मेरे हैं ।।23।।
 सर्वज्ञज्ञान में यह, झलका चित् नित्य ज्ञानदर्शनमय ।
 वह पुद्गल क्यों होगा, फिर क्यों कहता कि यह मेरा ।।24।।
 यदि जीव बने पुद्गल, पुद्गल बन जाय जीव जो कबहूँ ।
 तो कहना बन सकता, पुद्गल मेरा न पर ऐसा ।।25।।

अज्ञानमोहितमतिर्ममेदं भणति पुद्गलं द्रव्यं । बद्धमबद्धं च तथा जीवो बहुभावसंयुक्तः ।।23।।
 सर्वज्ञज्ञानदृष्टो जीव उपयोगलक्षणो नित्यं । कथं स पुद्गलद्रव्यीभूतो यद्भणसि ममेदं ।।24।।
 यदि स पुद्गलद्रव्यीभूतो जीवत्वमागतमितरत् । तर्हि 'वक्तो वक्तुं यन्ममेदं पुद्गलं द्रव्यं ।।25।।

नामसंज्ञ—अष्णाणमोहिदमदि, अम्ह, इम, पुग्गल, दव्व, बद्ध, अबद्ध, च, तथा, जीव, बहुभावसंयुक्त, सव्वणहुणाणदिट्ठ, जीव, उवओगलक्खण णिच्चं, कह, त, पुग्गलदव्वीभूद, ज, अम्ह, इम, जदि, त, पुग्गल—दव्वीभूत, ज, अम्ह, इमं, जदि, त, पुग्गलदव्वीभूद, जीवत्त आगद, इदर, तो, सत्त, जे, अम्ह, इम, पुग्गल, दव्व । **धातुसंज्ञ**—भण कथने, बु व्यक्तायां वाचि, सक्क सामथर्ये । **प्रातिपदिक**—अज्ञानमोहितमति, अस्मद्,

प्रयोग—तथ्यप्रकाषमें बताये गये उपचार को मिथ्या जानकर अपने में परद्रव्य के विषय में ऐसा निर्णय करना चाहिये कि मैं यह नहीं हूँ, यह मैं नहीं हूँ, मेरा यह नहीं है, इसका मैं नहीं हूँ, मेरा यह नहीं था, इसका मैं नहीं था, मेरा यह कभी नहीं होगा, इसका मैं कभी नहीं होऊँगा । ऐसे परिपूर्ण निर्णय के साथज्ञ सर्व परसे उपेक्षा करें और अपने में परम—विश्राम करें ।।20—21—22।।

अब अप्रतिबुद्धकं समझाने के लिये उद्यम करते हैं—[अज्ञानमोहितमतिः] अज्ञानसे जिसकी मति मोहित है ऐसा [जीवः] जीव [भणति] कहता है कि [इदं] यह [बद्धं च अबद्धं] 'रीरादि बद्धद्रव्य, धनधान्यादि अबद्ध परद्रव्य [मम] मेरा है सो वह जीव [बहुभावसंयुक्तः] मोह रागद्वेषादि बहुत भावों से सहित है । परन्तु [जीवः] जीव पदार्थ तो [सर्वज्ञज्ञानदृष्टः] सर्वज्ञ के ज्ञानमें देखा गया [नित्यं] नित्य [उपयोगलक्षणः] उपयोग लक्षण वाला है [सः] वह [पुद्गलद्रव्यीभूतः] पुद्गलद्रव्यरूप [कथं] कैसे हो सकता है? [यत्] जो [भणसि] तू कहता है कि [इदं मम] यह पुद्गलद्रव्य मेरा है । [यदि] यदि [सः] जीवद्रव्य [पुद्गलद्रव्यीभूतः] पुद्गलद्रव्यरूप हो जाय और [इतरत्] पुद्गलद्रव्य भी [जीवत्वं] जीवपने को [आगतं] प्राप्त हो जाय । कदाचित् भी ऐसा हो सके [तत्] तो [वक्तुं] 'वक्तः] तुम कह सकते हो [यत्] कि [इदं पुद्गलद्रव्यं] यह पुद्गलद्रव्य [मम] मेरा है, किन्तु ऐसा ही नहीं सकता ।

तात्पर्य—स्व आत्मा का लक्षण व परका लक्षण विज्ञात होते ही अज्ञान दूर हो जाता है ।

टीकार्थ—एक साथ अनेक प्रकार की बन्धनोपाधिके सन्निधानसे वेगपूर्वक बहते हुए अस्वभाव भावों के संयोगवष अज्ञानी जीव, विचित्र आश्रयसे उपरक्त स्फटिक पाषाण की तरह स्वभावभाव अत्यन्त तिरोहित होनेसे जिसकी समस्त भेदविज्ञानज्योति अस्त हो गई ऐसा स्वयं अज्ञानसे विमुखहृदय होकर जो अपने स्वभाव नहीं है, ऐसे विभावों को करता

युगपदनेकविधस्य बंधनोपाधेः सन्निधानेन प्रधावितानामस्वभावभावानां संयोगवषाद्धि—चित्रोपाश्रयोपरक्तः स्फटिकोपल इवात्यंततिरोहितस्वभावभावतया अस्तमितसमस्तविवेकज्योति—र्महता स्वयमज्ञानेन विमोहितहृदयो भेदमकृत्वा तानेवास्वभावभावान् स्वीकुर्वाणः पुद्गलद्रव्यं ममेदमित्यनुभवति किलाप्रतिबुद्धो जीवः। अथायमेव प्रतिबोध्यते रे दुरात्मन्, आत्मपंसन्, जहीहि जहीहि परमाविवेकघस्मरसतृणाभ्यवहारित्वं। दूरनिरस्तसमस्तसंदेहविपर्यासानध्यवसायेन विष्वैकज्योतिषा सर्वज्ञानेन स्फुटीकृतं किल नित्योपयोगलक्षणं जीवद्रव्यं। तत्कथं पुद्गल—द्रव्यीभूतं येन पुद्गलद्रव्यं ममेदमित्यनुभवसि। यतो यदि कथंचनापि जीवद्रव्यं पुद्गलद्रव्यीभूतं स्यात्। पुद्गलद्रव्यञ्च जीवद्रव्यीभूतं स्यात् तदैव लवणस्योदकमिव ममेदं पुद्गलद्रव्यमित्यनु—भूतिः किल घटेत तत्तु न कथंचनापि स्यात्। तथाहि—यथा क्षारत्वलक्षणं लवणमुदकीभवत् द्रवत्वलक्षणमुदकं च लवणीभवत् क्षारत्वद्रवत्वसहवृत्त्यविरोधादनुभूयते, न तथा नित्योपयोग—

इदम्, पुद्गल, द्रव्य, बद्ध, अबद्ध, च, तथा, जीव, बहुभावसंयुक्त, सर्वज्ञानदृष्ट, जीव, उपयोगलक्षण, नित्य, कथं, तत्, पुद्गलद्रव्यीभूत, यत्, अस्मद्, इदम्, यदि, तत्, पुद्गलद्रव्यीभूत, जीवत्व, आगत, इतर तर्हि—अव्यय, 'वत्, यत्, अस्मद्, इदम्, पुद्गल, द्रव्य। **मूलधातु**—ज्ञा अवबोधने, मुह वैचित्ये, भण 'ब्दार्थः, दृषिर् प्रेक्षणे, 'क्लृ—षक्तौ, वच परिभाषणे। **पदविवरण**—अज्ञानमोहितमतिः—प्रथमा एकवचन कर्तृविषेषण। मम—षष्ठी एक०। इदम्—प्रथमा एक०। भणति—लट् अन्य पुरुष एक०। पुद्गलं—प्रथमा एकवचन। द्रव्यम्—प्रथमा एक०। बद्धं—प्रथमा एक०। अबद्धं—प्रथमा एक०। च—अव्यय। तथा—अव्यय। जीवः—प्रथमा एकवचन कर्ता। बहुभावसंयुक्तः—कर्तृविषेषण। सर्वज्ञानदृष्टः—प्रथमा एकवचन। जीवः—प्रथमा एकवचन। उपयोगलक्षणः—प्रथमा एकवचन। नित्यं—प्रथमा एकवचन या अव्यय। कथं अव्यय।

हुआ वह पुद्गलद्रव्यको अपना मानता है। ऐसे अज्ञानी को समझाते हैं कि रे दुरात्मन्! आत्मा का घातक! तू परम अविवेक से जैसे तृणसहित सुन्दर आहार को हाथी आदि पशु खाते हैं उसी तरह के खाने का स्वभाव छोड़-छोड़। जो सर्वज्ञ के ज्ञानसे प्रकट किया नित्य उपयोग स्वभावरूप जीवद्रव्य वह कैसे पुद्गलरूप हो सकता जिससे कि तू "यह पुद्गल मेरा है" ऐसा अनुभव करता है। कैसा है सर्वज्ञ का ज्ञान जिसने समस्त संदेह विपर्यय अनध्यवसाय दूर कर दिये हैं समस्त वस्तुके प्रकाषने को एक अद्वितीय ज्योति है। ऐसे ज्ञानसे दिखलाया गया है। और कदाचित् किसी प्रकार जैसे लवण तो जलरूप तथा जल लवणरूप हो जाता है उसी प्रकार जीवद्रव्य तो पुद्गल हो जाय तथा पुद्गलद्रव्य जीवरूप हो जाय तो तेरी "पुद्गलद्रव्य मेरा है" ऐसी अनुभूति बन जाय, किन्तु ऐसा तो किसी तरह भी द्रव्यस्वभाव बल नहीं सकता। यही दृष्टांत से अच्छी तरह बतलाते हैं जैसे क्षारस्वभाव वाला लवण तो जलरूप हुआ दीखता है और द्रवत्वलक्षण वाला जल लवणरूप हुआ देखा जाता है, क्योंकि लवणका क्षारपना तथा जलका द्रवपना इन दोनों के साथ रहने में अवरोध है इसमें कोई बाधा नहीं है। उसी तरह नित्य उपयोगलक्षण वाला जीवद्रव्य तो पुद्गलद्रव्य हुआ देखने में नहीं आता और नित्य अनुपयोग (जड़) लक्षण वाला पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्यरूप हुआ नहीं दीखता, क्योंकि प्रकाष तथा अन्धकार—इन दोनों की तरह उपयोग तथा अनुपयोग के एक साथ रहने का विरोध है, जड़ चेतन—ये दोनों किसी समय भी एक नहीं हो सकते। इसलिए तू सब तरह से प्रसन्न हो अर्थात् अपना चित्त उज्ज्वल कर सावधान हो, अपने ही द्रव्यको अपने अनुभवरूप कर, ऐसा श्री गुरुओं का उपदेश है।

यह अज्ञानी जीव पुद्गलद्रव्यको अपना मानता है उसको उपदेश देकर सावधान किया है कि सर्वज्ञने ऐसा देखा है कि जड़ और चेतनद्रव्य ये दोनों सर्वथा पृथक्-पृथक् हैं कदाचित् किसी प्रकार से भी एकरूप नहीं होते। इस कारण हे अज्ञानी, तू परद्रव्यको एकरूपसे मानना छोड़ दे, ऐसा वृथा मानने से कुछ लाभ नहीं है।

अब इसी अर्थ का कलषरूप काव्य कहते हैं—'अयि' इत्यादि। अर्थ—हे भाई, तू किसी तरह भी महान् कष्ट से अथवा मरणावस्थाको प्राप्त हुआ भी तत्त्वों का कौतूहली हुआ

लक्षणं जीवद्रव्यं पुद्गलद्रव्यीभवन्नित्यानुपयोगलक्षणं पुद्गलद्रव्यं च जीवद्रव्यीभवद् उपयोगा-
नुपयोगयोः प्रकाषतमसोरिव सहवृत्तिविरोधादनुभूयते। तत्सर्वथा प्रसीद विबुध्यस्व, स्वद्रव्यं
ममेदमित्यनुभव। अपि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन् अनुभव भव मूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तं।
पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन त्यजसि झगिति मूर्त्या
साकमेकत्वमोहं।।23।।23-24-25।।

सः-प्रथमा एक०। पुद्गलद्रव्यीभूतः-प्रथमा एक०। जीवत्वं-प्रथमा एक०। आगतं-प्रथमा एक०। कृदन्त
आ-गत, इतरत्-प्रथमा एक०। तर्हि-अव्यय। 'क्तः-प्रथमा एक० कृदन्त। वक्तुं-प्रयोजने अव्यय कृदन्त।
यत्-प्रथमा एक० या अव्यय। मम-षष्ठी एक०। इदं-प्रथमा एक०। पुद्गलं-प्रथमा एक०। द्रव्यम्-प्रथमा
एक०।।23-24-25।।

इस 'रीरादि मूर्तद्रव्यका एक मुहूर्त (48 मिनट) अपने को पड़ौसी मानकर आत्मा का अनुभव
कर, जिससे कि अपने आत्मा को विलासरूप सर्व परद्रव्योंसे पृथक् देखकर इस 'रीरादि
मूर्तिक पुद्गलद्रव्यके साथ एकत्वके मोह को 'गीघ ही छोड़ सके।

भावार्थ—यदि यह आत्मा दो बड़ी पुद्गलद्रव्यसे भिन्न अपने 'द्वस्वरूपका अनुभव
करे, उसमें लीन होवे और परीषह (कष्ट) आने पर भी विचलित न हो तो घातियाकर्मका
नाष कर केवलज्ञान उत्पन्न करके मोक्षको प्राप्त हो लेगा। आत्मानुभवका ऐसा माहात्म्य है,
तब मिथ्यात्वका नाष करना व सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होना तो बहुत ही सुगम है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया गया था कि अज्ञानी जीवका परिचय क्या
है? अब यहाँ उस अज्ञानी जीवको समझाने के लिये उद्यम हो रहा है।

तथ्यप्रकाश—(1) निमित्तका सन्निधान होने पर अस्वभावभाव त्वरित होते हैं। (2)
स्वभावभाव तिरोहित होने से विवेकज्योति अस्त हो जाती है। (3) विवेकज्योतिरहित अज्ञानी
भेदज्ञान न होने से अस्वभावभाव (विकारभाव) को स्वीकार कर लेता है याने मान्यता में
अपने कर लेता है। (4) ज्ञानी जानता है कि कोई द्रव्य अन्य द्रव्यरूप कभी नहीं हो सकता
है, अतः अपने को ज्ञानस्वरूप ही स्वीकार करता है।

सिद्धान्त—(1) निमित्त सात्रिध्यमें उपादान तदनुरूप परिणमन करता है। (2) अपने
को ज्ञानमात्र अनुभव कर लेने पर निमित्त और नैमित्तिक भाव विघटने लगते हैं।

दृष्टि—1—उपाधिसापेक्ष अषुद्ध द्रव्यार्थिकनय (24)। 2—उपाध्यभावापेक्ष 'द्व
द्रव्यार्थिकनय (24अ)।

प्रयोग—अपना सर्वस्व ज्ञानस्वरूप, उपयोग निरखकर उसी के प्रति अभिमुख रहें,
कल्याण के लिये जो होना होता है वह स्वयं होगा।।23-24-25।।

अब अप्रतिबुद्ध कहता है कि [यदि] जो [जीवः] जीव है वह [रीरं न] 'रीर नहीं है
तो [तीर्थकराचार्यसंस्तुतिः] तीर्थकर व आचार्यों की स्तुति [सर्वापि] सब ही [मिथ्या
भवति] मिथ्या हो जाती है [तेन तु] इसलिए हम समझते हैं कि [आत्मा] आत्मा [देहः चैव]
यह देह ही [भवति] है।

तात्पर्य—अज्ञानी जीव दिखने वाले परमौदारिक 'रीर को ही भगवान समझता है।

टीकार्थ—यदि जो आत्मा है वह ही पुद्गलद्रव्यस्वरूप 'रीर न हो तो तीर्थकरो व
आचार्यों की जो स्तुति की गई है वह सब मिथ्या हो जायगी। वह स्तुति इस तरह
है—'कांत्यैव' इत्यादि। **अर्थ**—जो अपने 'रीर की कांति से दसों दिशाओं को स्नान
कराते हैं—निर्मल करते हैं, जो अपने तेज से उत्कृष्ट तेज वाले सूर्यादिक के तेज को भी
छिपा देते हैं, जो अपने रूपसे लोकों का मन हर लेते हैं ऐसे दिव्यध्वनि (वाणी) द्वारा भव्यों

के कानों में साक्षात् सुख अमृत बरसाते हुए तथा एक हजार आठ लक्षणों को धारणा करने वाले वे तीर्थकर सरि (मोक्षमार्गोपदेशक) वंदने योग्य हैं। इत्यादिक तीर्थङ्करों की स्तुति है अथाहाप्रतिबुद्धः—

जदि जीवो ण सरीरं तित्थयरायरियसंथुदी चेव ।
सव्वावि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो ।।26।।
यदि जीव देह नहिं है, तो जो प्रभु आर्य की स्तुती की है ।
वह सर्व झूठ होगा, इससे हि तन आत्मा जचता ।।16।।

यदि जीवो न 'रीरं तीर्थकराचार्यसंस्तुतिष्वैव । सर्वापि भवति मिथ्या तेन तु आत्मा भवति देहः ।।26।।

यदि य एवात्मा तदेव 'रीरं पुद्गलद्रव्यं न भवेत्तदा—कांत्यैव स्नपयंति ये दष दिषो धाम्ना निरुन्धंति ये धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णंति रूपेण ये । दिव्येन ध्वनिना सुखं

नामसंज्ञ—जदि, जीव, ण, सरीर, तित्थयरायरियसंथुदि, च, एव, सव्वा, वि, मिच्छा तेण, दु, अत्त, देह । **धातुसंज्ञ**—हव सत्तायां, दिह वृद्धौ । **प्रातिपदिक**—यदि, जीव, न, 'रीर, तीर्थकराचार्यसंस्तुति, च, एव, सर्वा, अपि, मिथ्या, तत्, तु, आत्मन्, देह । **मूलधातु**—जीव प्राणधारणे, तृ प्लवनतरणयोः, ष्टुम् स्तुतौ, भू सत्तायां, दिह उपचये । **पदविवरण**—यदि—अव्यय । जीवः—प्रथमा एकवचन । न—अव्यय ।

वह सभी मिथ्या ठहरेगी । इसलिये हमारे तो यही एकान्त से निष्चय है कि आत्मा है वह 'रीर ही है पुद्गल द्रव्य ही है । ऐसा अप्रतिबुद्धने कहा । उसको आचार्य उत्तर देते हैं कि इस तरह नहीं है, अभी तूने नयविभाग नहीं समझा है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व कुलक गाथाओं में अप्रतिबुद्ध जीवको भेदविज्ञानका प्रतिबोध कराया गया था उसको सुनकर यहाँ अप्रतिबुद्ध पुरुष अपने मनकी घुली—छुपी बात स्पष्ट कह रहा है ।

तथ्यप्रकाश—(1) स्तवनग्रन्थों में स्तुति देहकी स्तुति करते हुए भी आती है सो उसमें भी प्रयोजन निमित्तनैमित्तिक भाव द्वारा आत्मगुणों को ही बताने का है, ऐसी स्तुति औपचारिक स्तुति कहलाती हैं । (2) औपचारिक स्तुति की वचन भाषा का अर्थ कोई सीधा उपादानभाषामें लगाये तो वह मिथ्या होता है ।

सिद्धान्त—(1) उपचारस्तवनादिमें प्रयोजन व निमित्त का परिचय होता है । (2) देहादि संश्लिष्ट पदार्थ के स्तवन से प्रभुस्तवन मान लेना मिथ्या है ।

दृष्टि—1—परकर्तृत्व व्यवहारादि परसम्बंधपर्यन्तव्यवहार (129—135) । (2) संश्लिष्टविजात्युपचरित असद्भूतव्यवहार (125) ।

प्रयोग—प्रभु के देहातिषय आदि को जानकर प्रभु के गुणों की निर्मलतापर दृष्टि जाना चाहिये कि धन्य है प्रभुत्वविकास को जिसका निमित्त पाकर देहादि में भी अलौकिक अतिषय हो जाता है । उपचारस्तवनों में इस प्रकार प्रभुत्वविकासपर ही दृष्टि होनी चाहिये ।।26।।

वह नयविभाग कैसा है उसको गाथा द्वारा बतलाते हैं—[व्यवहारनयः] व्यवहारनय तो [भाशते] ऐसा कहता है कि [जीवः च देहः] जीव और देह [एकः खलु] एक ही [भवति] है [च] और [निश्चयनयस्य] निष्चयनय का मत है कि [जीवः देहः तु] जीव और देह—ये दोनों [कदापि] कभी [एकार्थः] एक पदार्थ [न] नहीं हो सकते ।

तात्पर्य—व्यवहारनय के दर्शन में जीव और देह एक है, किन्तु निष्चयनयके दर्शन में जीव और देह कभी भी एक नहीं हो सकते । क्योंकि प्रभु व देह व्यवहार में एकक्षेत्रावगाही है, परन्तु सत्त्व, स्वरूप अलग—होने से वे दोनों एक वस्तु नहीं ।

टीकार्थ—जैसे इस लोक में सुवर्ण और चांदी को गलाकर मिलाने से एक पिंड का व्यवहार होता है, उसी तरह आत्मा के और 'रीर के परस्पर एक जगह रहने की अवस्था होनेसे एकत्व का व्यवहार होता है। इस प्रकार व्यवहारमात्र से ही आत्मा और 'रीर का एकत्व है, परन्तु निष्चयसे एकत्व नहीं है; क्योंकि पीले स्वभाव वाला सोना है और सफेद श्रवणयोः साक्षात्क्षरंतोऽमृतं वद्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेष्वराः सूरयः॥24॥ इत्यादिका तीर्थङ्कराचार्यस्तुतिः समस्तापि मिथ्या स्यात्। ततो य एवात्मा तदेव 'रीरं पुद्गलद्रव्यम्। इति ममैकान्ति की प्रतिपत्तिः॥26॥

'रीरं—प्रथमा एक०। तीर्थकराचार्यस्तुतिः—प्रथमा एक०। च—अव्यय। एव—अव्यय। सर्वा—प्रथमा एक०। अपि—अव्यय। भवति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया। मिथ्या—अव्यय। तेन—तृतीया एक०। तु—अव्यय। आत्मा—प्रथमा एक०। भवति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया। देहः—प्र० एकवचन॥26॥

स्वभाव वाली चांदी है, उनको जब निष्चयसे विचारा जाय तब अत्यन्त भिन्नता होने से एक पदार्थ की असिद्धि है, इसलिये अनेकरूपता ही है। उसी तरह आत्मा और 'रीर उपयोग तथा अनुपयोग स्वभाव वाले हैं। उन दोनों के अत्यंत भिन्नपना होनेसे एक पदार्थपने की प्राप्ति नहीं है, इसलिये अनेकता ही है। ऐसा यह प्रकट नयविभाग है। इस कारण व्यवहारनयसे ही 'रीर की स्तुति करने से आत्मा की स्तुति हो सकती है।

भावार्थ—व्यवहारनय तो आत्मा और 'रीर को एक कहता है और निष्चयनय एक द्रव्यसत्त्व को निरखने के कारण उन्हें भिन्न—भिन्न कहता है, इसलिये व्यवहारनयसे ही 'रीर का स्तवन करके आत्मा का स्तवन माना जाता है, निष्चय से नहीं।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में अज्ञानी का विचार दिखाया था कि जीव और देह एक है। अब उसके समाधान में कहा जा रहा है कि जीव और देह को एक कहना व्यवहार मात्रसे है, परमार्थ से तो जीव और देह कभी भी एक पदार्थ नहीं हो सकते।

तथ्यप्रकाश—(1) सिद्धान्तग्रन्थों में जीव की संयोगी पर्यायों का वर्णन है, वहाँ भी सिर्फ देहमें ही जीवका व्यवहार नहीं, किन्तु उस समावर्तित अवस्था में जीवका निर्देश है। (2) मात्र जीवस्वभावको निरखने पर जीव देह से तो भिन्न प्रकट सिद्ध है ही, किन्तु विकारभावसे भी यह जीव भिन्न है।

सिद्धान्त—(1) देहको आत्मा कहना उपचार है। (2) देहको देह व आत्माको आत्मा कहना यथार्थ व्यवहार है।

दृष्टि—1—द्रव्येद्रव्योपचारक असद्भूतव्यवहार (106)। 2—अनेक अपरसंग्रहभेदक व्यवहारनय (11)।

प्रयोग—अपने आत्मा को देह से भिन्न जानकर, देहका ख्याल छोड़कर ज्ञानमात्र आत्मस्वरूपमें विश्राम करना चाहिये॥27॥

यही बात आगे की गाथा में स्पष्ट करते हैं—[जीवात् अन्यं] जीव से भिन्न [इमं पुद्गलमयं देहं] इस पुद्गलमय देहकी [स्तुत्वा] स्तुति करके [मुनिः] साधु [खलु मन्यते] निष्चयतः ऐसा मानता है कि [मया] मैंने [केवलीभगवान्] केवलीभगवान् की [स्तुतः] स्तुति की और [वंदितः] वन्दना की।

तात्पर्य—देह की स्तुति करने पर प्रभु की ही स्तुति होना अज्ञानी मानता है।

टीकार्थ—जैसे चाँदी के गुण 'वेतपने के नाम से सुवर्ण को भी 'वेत कहते हैं सो परमार्थ से विचारा जाय तब सुवर्ण का स्वभाव सफेद नहीं है, पीला है; तो भी व्यवहारमात्रसे ही स्वर्ण 'वेत है, ऐसा कहा जाता है। उसी तरह से 'कुल रक्तपना आदिक 'रीर के गुण हैं, उनके स्तवन से परमार्थ से 'कुलपना आदि तीर्थकर केवली पुरुष का स्वभाव न होने पर

भी तीर्थङ्कर केवली पुरुषका व्यवहारमात्रसे ही तीर्थङ्कर केवली पुरुष 'कुललोहित है, ऐसा स्तवन होता है। परन्तु निष्चयनय से 'रीर का स्तवन करने से आत्मा का स्तवन नहीं बन सकता।

प्रश्न—व्यवहारनयको तो असत्यार्थ कहा है और 'रीर जड़ है सो व्यवहारका आश्रय करके जड़की स्तुति करने का क्या फल है? **उत्तर**—व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ नहीं है

नैव नयविभागानभिज्ञोऽसि—

व्यवहारणयो भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को ।

ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो ।।27 ।।

व्यवहारनय बताता, जीव तथा देह एक ही समझो ।

निश्चयमें नहीं कबहूँ, जीव तथा देह इक वस्तु ।।27 ।।

व्यवहारनयो भाषते जीवो देहश्च भवति खल्वेकः । न तु निष्चयस्य जीवो देहश्च कदाप्येकार्थः ।।27 ।।

इह खलु परस्परवागगाढावस्थायामात्मषरीरयोः समावर्तितावस्थायां कनककलधौतयोरे—कस्कंधव्यवहारवद्व्यवहारमात्रेणैकत्वं न पुनर्निष्चयतः । निष्चयतो ह्यात्मषरीरयोरुपयोगानु—पयोगस्वभावयोः कनककलधौतयोः पीतपांडुरत्वादिस्वभावयोरिवात्यंतव्यतिरिक्तत्वेनैकार्थत्वानु—पपत्तेः नानात्वमेवेत्येवं हि किल नयविभागः ततो व्यवहारनयेनैव 'रीरस्तवनेनात्मस्तवनंमुप—पन्नं ।।27 ।।

नामसंज्ञ—व्यवहारणय, जीव, देह, य, खलु, इक्को, ण, दु, णिच्छय, जीव, देह, य, कदा, वि, एकट्ठ ।
धातुसंज्ञ—ने प्रापणे, भास व्यक्तायां वाचि, हव सत्तायां, जीव प्राणधारणे । **प्रकृतिशब्द**—व्यवहारनय, जीव, देह, च, खलु, एक, न, तु, निष्चय, जीव, देह, च, कदा, अपि, एकार्थ । **मूलधातु**—वि-अव-हृञ् हरणे, भाष व्यक्तायां वाचि, भू सत्तायां, ऋ गतिप्रापणयोः । **पदविवरण**—व्यवहारनय-प्रथमा एक० कर्ता । भाषते-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । जीवः-प्रथमा एक० । देहः-प्रथमा एक० । च-अव्यय । भवति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । खलु-अव्यय । एकः-प्रथमा एक० । न-अव्यय । तु-अव्यय । निष्चयस्य-षष्ठी एक० । जीवः-प्रथमा एक० । देहः-प्रथमा एक० । च-अव्यय । कदा-अव्यय । अपि-अव्यय । एकार्थ-प्रथमा एकवचन ।।27 ।।

निष्चयको प्रधान कर असत्यार्थ कहा है, छद्मस्थ (अल्पज्ञानी) को अपना परका आत्मा साक्षात् दीखता नहीं है 'रीर ही दीखता है, उसकी 'ान्तरूप मुद्रा को देख अपने भी 'ान्तभाव हो जाते हैं। अतः ऐसा उपकार जान 'रीर के आश्रय से भी स्तुति करता है, 'ान्तमुद्रा देख अन्तरंग में वीतराग भाव का निष्चय होता है यह भी तो उपकार है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में प्रासंगिक स्तुति के विषय में बताया गया था कि अप्रतिबुद्ध व्यवहार व निष्चय का विभाग नहीं जानता। उसके सम्बन्ध में यहाँ व्यवहारस्तुति का विभाग बताया गया है।

तथ्यप्रकाश—(1) प्रभु की निर्मलताके अतिषयसे वह देह भी निर्मल हो गया है, निमित्तप्रदर्शनार्थ व प्रयोजनवष प्रभुस्तवन के लिये देहके गुणों का स्तवन किया जाता है। (2) निष्चयनयसे आत्मा के स्तवन से ही आत्मा का स्तवन माना जाता है।

सिद्धान्त—(1) निमित्तका प्रसाद बताने के लिये अन्य द्रव्यके नैमित्तिक अतिषयकी प्रषंसा बताई जाती है। (2) परमार्थतः खुद के गुण की प्रषंसा से उसकी प्रषंसा होती है।

दृष्टि—1—संश्लिष्ट विजात्यसद्भूतव्यवहार (125) । 2—षुद्ध निष्चयनय (46) ।

प्रयोग—देहसे अत्यन्त भिन्न ज्ञानमात्र प्रभु को निरखकर प्रभुसमान अपने स्वभावको निरखें ।।28 ।।

ऊपर की बात को गाथा से कहते हैं—[तत्] वह स्तवन [निश्चये] निष्चयमें [न युज्यते] ठीक नहीं है [हि] क्योंकि [‘रीरगुणाः] ‘रीर के गुण [केवलिनः] केवली के [न भवति] नहीं है। [यः] जो [केवलिगुणान्] केवली के गुणों की [स्तौति] स्तुति करता है [स] वही [तत्त्वं] परमार्थसे [केवलिनं] केवली की [स्तौति] स्तुति करता है।

तात्पर्य—वास्तव में प्रभु परमात्मा के गुणों के स्तवन से ही प्रभु परमात्मा की स्तुति बनती है।

टीकार्थ—जैसे सुवर्ण में चाँदी के सफेद गुणका अभाव होने के कारण निष्चय से सफेदपने के नामसे सोने का नाम नहीं बनता, सुवर्ण के गुण जो पीतपना आदि हैं उनके तथाहि—

**इणमणणं जीवादो देहं पुगलमयं थुणित्तु मुणी ।
मणणदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं ।।28 ।।
वित्से न्यारे भौतिक, तनकी स्तुति कर भले मुनी माने ।
श्री भगवत्केवलिकी, मैंने थुति वन्दना की है ।।28 ।।**

इममन्यं जीवाददेहं पुद्गलमयं स्तुत्वा मुनिः। मन्यते खलु संस्तुतो वंदितो मया केवली भगवान् ।।28 ।।

यथा कलधौतगुणस्य पांडुरत्वस्य व्यपदेशेन परमार्थतोऽतत्स्वभावस्यापि कार्त्तस्वरस्य व्यवहारमात्रेणैव पांडुरं कार्त्तस्वरमित्यस्ति व्यपदेशः। तथा ‘रीरगुणस्य ‘कुललोहितत्वादेः स्तवनेन परमार्थतोऽतत्स्वभावस्यापि तीर्थकरकेवलिपुरुषस्य व्यवहारमात्रेणैव ‘कुललोहितस्तीर्थ-करकेवलिपुरुष इत्यस्ति स्तवनं। निष्चयनयेन तु ‘रीरस्तवनेनात्मस्तवनमनुपपन्नमेव ।।28 ।।

नामसंज्ञ—इम, अण्ण, जीव, देह, पुगलमय, मुणि, हु, संथुद, वंदिद, अम्ह, केवलि, भगवंत ।
धातुसंज्ञ—त्थुण स्तुतौ, वंद स्तुतौ, मन्न अवबोधने। **प्रकृतिशब्द**—इदम्, अन्य, जीव, देह, पुद्गलमय, मुनि, खलु, संस्तुत, वंदित, अस्मद् केवलिन, भगवत् । **मूलधातु**—ष्टुञ् स्तुतौ, मन-ज्ञाने दिवादि ।
पदविवरण—इमं—द्वितीया एक०। अन्यं—द्वि० ए०। जीवात्—पंचमी एक०। देहं—द्वि० एक०। पुद्गलमयं—द्वितीया ए०। स्तुत्वा—असमाप्ति की क्रिया। मुनिः—प्रथमा एक०। मन्यते—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। खलु—अव्यय। संस्तुतः—प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया। वंदितः—प्रथमा एक० क्रिया कृदन्त। मया—तृतीया एक० कर्मवाच्ये कर्ता, केवली—प्रथमा एक०। भगवान्—प्रथमा ए० कर्मवाच्य में कर्म ।।28 ।।

ही नाम से सुवर्ण का नाम होता है। उसी तरह तीर्थकर केवली पुरुष में ‘रीर के ‘कुल रक्तता आदि गुणों का अभाव होनेसे निष्चयतः ‘रीर के गुणों के स्तवन करने से तीर्थकर केवली पुरुषका स्तवन नहीं होता। तीर्थकर केवली पुरुषके गुणों के स्तवन करनेसे ही केवली का स्तवन होता है।

प्रसंगविवरण—प्रकरण में यह कहा गया था कि देह के स्तवन से आत्मा का स्तवन अप्रतिबुद्ध मानता है, क्योंकि वह नयविभागको नहीं जानता। उसमें से व्यवहारनयका विभाग तो अनन्तरपूर्व गाथा में बताया गया था। अब निष्चयनय का विभाग बता रहे हैं।

तथ्यप्रकाश—(1) निष्चयसे देह के गुणों के स्तवन से तीर्थकर केवली प्रभु के गुणों का स्तवन नहीं बनता, क्योंकि देहके गुण तीर्थङ्कर केवली प्रभु में नहीं हैं। (2) तीर्थङ्कर केवली प्रभु के गुणके स्तवन से ही तीर्थङ्कर केवली प्रभु की स्तुति परमार्थतः है।

सिद्धान्त—(1) किसी द्रव्यके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अन्य द्रव्यमें नहीं होते। (2) किसी द्रव्यकी प्रषंसा उस ही के गुणों के कथन से है।

दृष्टि—1—परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (29)। 2—स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (28)।

प्रयोग—प्रभु के गुणों के स्तवन से प्रभु का ध्यान बनाकर 'बुद्ध पर्याय को स्रोत में मग्न कर सहजात्मस्वरूपका ध्यान करना चाहिये।।29।।

अब जिज्ञासा होती है कि आत्मा तो 'रीर का अधिष्ठाता है, इसलिये 'रीर की स्तुति करने से आत्मा का स्तवन निष्चयसे क्यों ठीक नहीं है? इसका समाधानरूप गाथा दृष्टांतसहित कहते हैं—[यथा] जैसे [नगरे] नगर का [वर्णिते] वर्णन करने पर [राज्ञः वर्णना] राजा का वर्णन [नापि कृता] किया नहीं [भवति] होता उसी तरह [देहगुणे स्तूयमाने] देह के गुणों का स्तवन होने पर [केवलिगुणः] केवली के गुण [स्तुता न] स्तवनरूप किये नहीं [भवन्ति] होते।

तात्पर्य—नगरी का वर्णन होने पर राजा का वर्णन न होने की तरह देह के गुणों का वर्णन होने पर परमात्मा का वर्णन नहीं हो पाता।

तथाहि—

तं णिच्छये ण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति कवलिणो ।

केवलिगुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि ।।29।।

यह न सही निश्चयसे, होते तनके न केवली में गुण।

जो प्रभु के गुण कहता, वही प्रभु का स्तवन करता ।।29।।

तन्निष्चये न युज्यते न 'रीरगुणा हि भवति केवलिनः। केवलिगुणान् स्तौति यः स तत्त्वं केवलिनं स्तौति।

यथा कार्तस्वरस्य कलधौतगुणस्य पांडुरत्वस्याभावान् निष्चयतस्तद्व्यपदेशेन व्यपदेशः कार्तस्वरगुणस्य व्यपदेशेनैव कार्तस्वरस्य व्यपदेशात्, तथा तीर्थकरकेवलिपुरुषस्य 'रीरगुणस्य 'कुललोहितत्वादेरभावान् निष्चयतस्तत्स्तवनेन स्तवनं, तीर्थङ्करकेवलिपुरुषगुणस्य स्तवनेनैव तीर्थङ्करकेवलिपुरुषगुणस्य स्तवनात् ।।29।।

<p>नामसंज्ञ—त, णिच्छय, ण, ण, सरीरगुण, हि, केवलि, केवलिगुण ज, त, तच्च, केवलि। धातुसंज्ञ—जुंज योगे, हो सत्तायां, थुण, स्तुतौ। प्रकृतिशब्द—तत्, निष्चय, न, न, 'रीरगुण, हि, केवलिन, केवलिगुण, यत्, तत्, तत्त्व, केवलिन। मूलधातु—युजिर् योगे रुधादि, ष्टुञ्, स्तुतौ, भू सत्तायां। पदविवरण—तत्—प्रथमा एक०। निष्चये—सप्तमी एक०। न—अव्यय। युज्यते—वर्तमान लट् कर्मवाच्य अन्य पुरुष एक०। न—अव्यय। 'रीरगुणाः—प्रथमा बहु०। हि—अव्यय। भवति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु०। केवलिनः—षष्ठी एक०। केवलिगुणान्—द्वितीया बहु०। स्तौति—अन्य पुरुष एक० क्रिया। यः—प्रथमा एक० कर्ता। सः—प्रथमा ए० कर्ता। तत्त्वं—अव्यय। केवलिनं—द्वि० ए०। स्तौति—अन्य पुरुष एक० क्रिया।।29।।</p>

इसी अर्थ का टीका में काव्य कहा गया है—'प्राकार' इत्यादि। **अर्थ**—यह नगर ऐसा है कि जिसने कोट (परकोटा) से आकाष को ग्रस लिया है अर्थात् इसका कोट बहुत ऊँचा है। बगीचों की पंक्तियों से जिसने भूमितल को निगल लिया है अर्थात् चारों ओर के बागों से पृथ्वी ढक गई है। कोट के चारों तरफ खाई के घरे से मानो पाताल को पी रहा है अर्थात् खाई बहुत गहरी है। लोग ऐसे नगर का वर्णन करते हैं सो यद्यपि इसका अधिष्ठाता राजा है तो भी कोट, बाग, खाई आदि वाला राजा नहीं है, इसलिये ऐसे नगर के वर्णनसे राजा का वर्णन नहीं हो सकता। उसी तरह तीर्थङ्करका स्तवन 'रीर की स्तुति करने से नहीं हो सकता है। इसी अर्थ को काव्य में कहते हैं—

'नित्य' इत्यादि। **अर्थ**—अच्छी तरह सुखरूप सर्वाण जिसमें अविकार स्थित है, अपूर्व स्वाभाविक लावण्य है जिसमें याने जो सबको प्रिय लगता है, जो समुद्र की तरह क्षोभरहित है, ऐसा जिनेन्द्ररूप सदा जयवंत हो। इस प्रकार 'रीर की स्तुति की, सो यद्यपि तीर्थङ्कर केवली पुरुष के 'रीर का अधिष्ठातापना है तो भी सुस्थित सर्वांगपना लावण्यपना

आत्मा का गुण नहीं है, इसलिये तीर्थकर केवली पुरुष के इन गुणों का अभाव होनेसे 'रीर की स्तुति द्वारा उनकी स्तुति नहीं हो सकती।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में यह बताया गया था कि निष्चयतः 'रीर की स्तुति से प्रभु की स्तुति नहीं होती, उसी का विवरण इस गाथा में है।

तथ्यप्रकाश—(1) परमात्मा की विषेषता समझाने के लिये 'रीर की विषेषता बताने में परमात्मा के 'रीर का अधिष्ठातृत्व सम्बन्ध सूचित होता है। (2) परमौदारिक 'रीर का अधिष्ठातृत्व होने पर भी 'रीर का गुण परमात्मा में न होनेसे 'रीरस्तवनसे परमात्मस्तवन नहीं होता।

सिद्धान्त—(1) एकसे सम्बंधित विजातीय पदार्थ की विषेषता से उस एककी विषेषता बताना उपचारभाषाकी विधि है। (2) किसी एक पदार्थ का गुण किसी अन्य पदार्थ में संक्रान्त नहीं होता।

दृष्टि—1—परसम्बन्धव्यवहार (135)। 2—परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (29)।

कथं 'रीरस्तवनेन तदधिष्ठातृत्वादात्मनो निश्चयेन स्तवनं न युज्यत इति चेत्—

णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि।

देहगुणे थुव्वंते ण केवलिगुणा थुदा होंति।।30।।

नगरी के वर्णन में, ज्यों राजा की न वर्णना होती।

तन गुणके वर्णनमें, त्यों नहिं प्रभुकी स्तुती होती।।30।।

नगरे वर्णिते यथा नापि राज्ञो वर्णना कृता भवति। देहगुणे स्तूयमाने न केवलिगुणाः स्तुता भवन्ति।।30।।

तथाहि—प्राकारकवलितांवरमुपवनराजीनिगीर्णभूमितलं। पिवतीव हि नगरमिदं परिखावलयेन पातालं।।25।। इति नगरे वर्णितेपि राज्ञः तदधिष्ठातृत्वेपि प्राकारोपवनपरिखा—दिमत्त्वाभावाद् वर्णनं न स्यात्। तथैव—नित्यमविकारसुस्थितसर्वागमपूर्वसहजलावण्यं। अक्षोभमिव समुद्रं जिनेन्द्ररूपं परं जयति।।26।। इति 'रीरे स्तूयमानेपि तीर्थङ्करकेवलिपुरुषस्य तद—धिष्ठातृत्वेपि सुस्थितसर्वागत्वलावण्यादिगुणाभावात्स्तवनं न स्यात्।।30।।

नामसंज्ञ—णयर, वण्णिद, जह, ण, वि, राय, वण्णणा, कदा, देहगुण, थुव्वंते ण, केवलिगुण, थुदा।
धातुसंज्ञ—वण्ण वर्णने, हो सत्तायां। **प्रकृतिशब्द**—नगर, वर्णित, यथा, न, अपि, राजन्, वर्णनञ्, कृता, देहगुण, स्तूयमान, न केवलिगुण, स्तुत। **मूलधातु**—वर्ण-वर्णने, राजृ दीप्तौ, भू सत्तायां, ष्टञ् स्तुतौ।
पदविवरण—नगरे—सप्तमी एक०। वर्णिते—सप्तमी एक०। यथा—अव्यय। न—अव्यय। अपि—अव्यय। राज्ञः—षष्ठी एक०। वर्णना—प्रथमा एक०। कृता—प्र० ए०। अपि—अव्यय। भवति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। देहगुणे—सप्तमी एक०। स्तूयमाने—सप्तमी एक०। न—अव्यय। केवलिगुणाः—प्रथमा बहु०। स्तुताः—प्रथमा बहु०। भवन्ति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु०।।30।।

प्रयोग—षरीर की विषेषताओं को 'रीर में परिसमाप्त जानकर उसका ख्याल छोड़कर अपने को चैतन्यात्मक स्वरूपमें तन्मय अनुभवना चाहिये।।30।।

अब जिस तरह तीर्थङ्कर केवली की निष्चय स्तुति हो सकती है उसी रीति से कहते हैं उसमें भी पहले ज्ञेय ज्ञायक के संकरदोषका परिहार करके स्तुति करते हैं—[यः] जो [इन्द्रियाणि] इन्द्रियों को [जित्वा] जीतकर [ज्ञानस्वभावाधिकं] ज्ञानस्वभाव द्वारा अन्य द्रव्यसे अधिक [आत्मानं] आत्मा को [जानाति] जानता है [तं खलु] उसको नियमसे [ये निश्चिताः साधवः] जो निष्चयनयमें स्थित साधुजन हैं [ते] वे [जितेन्द्रियं] जितेन्द्रिय ऐसा [भणन्ति] कहते हैं।

तात्पर्य—जो सहज ज्ञानस्वभावमय आत्मा को अनुभव कर इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेते हैं वे जितेन्द्रिय कहलाते हैं।

टीकार्थ—जो मुनि द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय तथा इन्द्रिय के विषयों के पदार्थ इन तीनों को ही अपने से पृथक् कर सब अन्य द्रव्यों से भिन्न अपने आत्मा का अनुभव करता है, वह निष्चय से जितेन्द्रिय है। कैसी हैं द्रव्येन्द्रियाँ? अनादि अमर्यादरूप बंधपर्याय के वषसे जिनसे समस्त स्वपरका विभाग नष्ट हो गया है और जो 'रीर परिणाम को प्राप्त हुई हैं अर्थात् आत्मा से ऐसे एक हो रही है कि भेद नहीं दिखता, उनको तो निर्मल भेदके अभ्यास की प्रवीणता से प्राप्त अन्तरंग में प्रकट अति सूक्ष्म चैतन्यस्वभावके अवलम्बन से अपनेसे पृथक् किया है, यही द्रव्येन्द्रियों का जीतना हुआ। कैसी हैं भावेन्द्रियाँ? पृथक्-पृथक् विषयों को लिये हुए जो अपने विषय उनमें व्यापार करने के कारण जो विषयों को खंडखंड ग्रहण करती हैं अर्थात् ज्ञानको खंडखंडरूप जानती हैं, उनको प्रतीति में आती हुई अखंड एक चैतन्यवृत्ति से अपनेसे भिन्न जानती है, यही भावेन्द्रियों का जीतना हुआ। इंद्रियों के विषयभूत पदार्थ कैसे हैं? ग्राह्यग्राहकलक्षण सम्बन्ध की निकटता के वषसे अपने समवेदन (अनुभव) के साथ परस्पर मानो एक सरीखे हो गये हों ऐसे दीखते हैं, उनको अपनी चैतन्यवृत्ति के अपने आप अनुभवमें आता हुआ जो असंगपना—एकत्व उसके द्वारा भावेन्द्रियसे ग्रहण किये हुए स्पर्शादिक पदार्थों को अपनेसे पृथक् किया है। यही विषयभूत अथ निश्चयस्तुतिमाह, तत्र ज्ञेयज्ञायकसंकरदोषपरिहारेण तावत्—

जो इन्द्रिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं ।

तं खलु जिदिदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहु ॥31॥

जो जीति इन्द्रियों को, ज्ञानस्वभावी हि आपको माने ।

नियत जितेन्द्रिय उसको, परम कुशल साधुजन कहते ॥31॥

यः इन्द्रियाणि जित्वा ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानं । तं खलु जितेन्द्रियं ते भणंति ये निष्चिताः साधवः ।

यः खलु निरवधिबंधपर्यायवषेण प्रत्यस्तमितसमस्तस्वपरविभागानि निर्मलभेदाभ्यास-कौषलोपध्यातः स्फुटातिसूक्ष्मचित्स्वभावाष्टम्बलेन 'रीरपरिणामापन्नानि द्रव्येन्द्रियाणि प्रति-विषिष्टस्वस्वविषयव्यवसायितया खंडषः आकर्षन्ति प्रतीयमानाखंडैकचिच्छक्तितया भावेन्द्रियाणि ग्राह्यग्राहकलक्षणसम्बन्धप्रत्यासत्तिवषेण सह संविदा परस्परमेकीभूतानिव चिच्छक्तेः स्वयमेवा-नुभूयमानासंगतया भावेन्द्रियावगृह्यमाणान् स्पर्शादीनिन्द्रियार्थाञ्च सर्वथा स्वतः पृथक्करणेन विजित्योपरतसमस्तज्ञेयज्ञायकसंकरदोषत्वेनैकत्वे टंकोत्कीर्ण विष्वस्याप्यस्थीपरि तरता प्रत्यक्षो-द्योततया नित्यमेवांतः प्रकाषमानेनानपायिना स्वतः सिद्धेन परमार्थसता भगवता ज्ञानस्वभावेन सर्वभ्यो द्रव्यांतरेभ्यः परमार्थतोतिरिक्तमात्मानं संचेतयते स खलु जितेन्द्रियो जिन इत्येका निष्चयस्तुतिः ॥31॥

नामसंज्ञ—ज, इंदिय, णाणसहावाधिय, अत्त, त, खलु, जिदिदिय, त, ज, णिच्छिद, साहु ।
धातुसंज्ञ—जिण जये, मुण ज्ञाने, भण कथने । **प्रकृतिशब्द**—यत्, इन्द्रिय, ज्ञानस्वभावाधिक, आत्मन्, तत्, खलु, जितेन्द्रिय, तत्, यत्, निष्चित, साधु । **मूलधातु**—इदि परमैष्वर्ये, जि-जये, मन-ज्ञाने, अत सातत्यगमने, भण-षब्दार्थः, साध-संसिद्धौ । **पदविवरण**—यः-प्रथमा एक० पुं० कर्ता । इन्द्रियाणि-द्वितीया बहु० । असमाप्ति की क्रिया का कर्म । जित्वा-असमाप्ति की क्रिया । ज्ञानस्वभावाधिकं-द्वितीया एक० । मन्यते-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । आत्मानं-द्वितीया एक० । तं-द्वितीया एक० । खलु-अव्यय । जितेन्द्रियं-द्वितीया एक० । ते-पुं० प्रथमा बहु० । भणंति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु० । ये-प्रथमा बहु० पुं० । निष्चिताः-प्रथमा बहु० कर्तृविषेषण । साधवः-प्रथमा बहु० कर्ता ॥31॥

पदार्थों का जीतना हुआ। इस प्रकार इन्द्रियज्ञानके और विषयभूत पदार्थों के ज्ञेयज्ञायकका संकरनामक दोष आता था, उसके दूर होनेसे आत्मा एकपने में टंकोत्कीर्णवत् निष्चल स्थित समस्त पदार्थों के ऊपर तैरता, जानता हुआ भी उनरूप नहीं होता, प्रत्यक्ष उद्यातपने से नित्य ही अन्तरंग में प्रकाषमान, अविनष्ट, आप ही से सिद्ध और परमार्थरूप ऐसे भगवान

ज्ञानस्वभावके द्वारा सब अन्य द्रव्यों से अतिरिक्त परमार्थतः जो जानता है वह जितेन्द्रिय जिन है, इस प्रकार एक निष्चयस्तुति तो यह हुई।

भावार्थ—अज्ञान में ज्ञेय तो इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थ और ज्ञायक आप आत्मा इन दोनों का अनुभव विषयों की आसक्तता से एकसा होता था, सो जब ज्ञेय व ज्ञायक की भेदज्ञान से भिन्नता जानी तब ज्ञेयज्ञायकसंकर दोष दूर हुआ, ऐसा जानना।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया था कि देहकी स्तुति से प्रभु की स्तुति नहीं, किन्तु प्रभु के गुणों की स्तुति से प्रभु की स्तुति होती है। उसी प्रसंग से सम्बन्धित प्रथम निष्चय स्तुति इस गाथा में की गई है।

तथ्यप्रकाश—(1) सम्यक्त्व हुए बाद मोक्षमार्ग की प्रगति में प्रथम कदम इन्द्रियविजय का बताया गया है। (2) इन्द्रियविषयोपभोग में अन्तरंग बहिरंग साधन कुल 3 होते हैं—द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय व विषयसंग; सो इन तीनों के विजय में इन्द्रियविजय है। (3) द्रव्येन्द्रियाँ स्थूल, भौतिक (षारीरिक) हैं उनका विजय अन्तःप्रकाषमान सूक्ष्म चैतन्यस्वभावके अवलम्बन से होता है। (4) भावेन्द्रियाँ खण्डखण्ड जाननरूप हैं उनका विजय अखण्ड एक चित् 'विक्रित के अवलम्बन से होता है। (5) विषयभूत पदार्थ संग कहलाते हैं उनका विजय असंग चैतन्यमात्र अन्तस्तत्त्व के अनुभवसे होता है। (6) यहाँ ज्ञेय हैं विषयभूत पदार्थ और अथ भाव्यभावकसंकरदोशपरिहारेण—

जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणइ आदं ।

तं जिदमोहं साधुं परमट्ठवियाणया वित्ति ।।32 ।।

जो जीति मोह सारे, ज्ञानस्वभावी हि आपको माने ।

जितमोह साधु उसको, परमार्थग साधुजन कहते ।।32 ।।

यो मोहं तु जित्वा ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानं । तं जितमोहं साधुं परमार्थविज्ञायका विन्दन्ति ।।32 ।।

यो हि नाम फलदानसमर्थतया प्रादुर्भय भावकत्वेन भवंतमपि दूरत एव तदनुवृत्तेरात्मनो भाव्यस्य व्यावर्तनेन हटान्मोहं न्यक्कृत्योपरतसमस्तभाव्यभावकसंकरदोषत्वेनैकत्वे टंकोत्कीर्ण विष्वस्याप्यस्योपरि तरता प्रत्यक्षोद्योततया नित्यमेवांतः प्रकाषमानेनानपायिना स्वतः सिद्धेन

<p>नामसंज्ञ—ज, मोह, तु, णाणसहावाधिय, अत्त, त, जिदमोह, साधु, परमट्ठवियाणया । धातुसंज्ञ—जिण जये, मुण, ज्ञाने, विद ज्ञाने । प्रकृतिशब्द—यत्, मोह, तु, ज्ञानस्वभावाधिक, आत्मन्, तत्, जितमोह, साधु, परमार्थविज्ञायक । मूलधातु—मुह वैचित्ये, जि जये, मन—ज्ञाने, अत—सातत्यगमने, साध—संसिद्धौ, विद्लृ लाभे । पदविवरण—यः—प्रथमा एक० पुं० कर्ता । मोहं—द्वितीया एक० असमाप्ति की क्रिया का कर्म । तु—अव्यय । जित्वा—असमाप्ति की क्रिया । ज्ञानस्वभावाधिकं—द्वितीया एक० कर्मविषेषण । मन्यते—वर्तमान</p>
--

प्रासांगिक ज्ञायक है द्रव्येन्द्रिय व भावेन्द्रिय उन तीनों का जो सहज ज्ञायकस्वरूप जीवके साथ सांकर्य है, सम्बन्ध है उस दोष को दूर किया गया होनेसे ज्ञेयज्ञायकसंकरदोषका परिहार हो जाता है।

सिद्धान्त—(1) भूतार्थ के आश्रय से उपाधियों का परिहार होता है। (2) 'जुद्धनयके आश्रय से एकत्वविभक्त अन्तस्तत्त्व का प्रकाष होता है।

दृष्टि—1—षुद्धभावनापेक्ष 'जुद्ध द्रव्यार्थिकनय (24ब) । 2—षुद्धनय (49) ।

प्रयोग—विषयभूत पदार्थ, द्रव्येन्द्रिय व भावेन्द्रिय के लगाव से हटकर सहजसिद्ध चिन्मात्र अन्तस्तत्त्वरूप अपने को अनुभवना चाहिये ।।31 ।।

अब भाव्य भावक संकरदोष दूर कर स्तुति कहते हैं—[यः तु] जो मुनि [मोहं] मोह को [जित्वा] जीतकर [आत्मानं] अपने आत्मा को [ज्ञानस्वभावाधिकं] ज्ञानस्वभावके द्वारा अन्य द्रव्यभावों से अधिक [जानाति] जानता है [तं साधु] उस मुनि को [परमार्थविज्ञायकाः] परमार्थ के जानने वाले [जितमोहं] जितमोह ऐसा [विन्दन्ति] जानते हैं।

तात्पर्य—जो सहजज्ञानस्वभावमय आत्मा को अनुभव कर मोह को जीत लेते हैं वे जितमोह कहलाते हैं।

टीकार्थ—जो मुनि फल देने की सामर्थ्य से प्रकट उदयरूप होकर भावकरूपसे प्रगट हुए भी मोहकर्म को तदनुकूल परिणत आत्मा भाव्यके व्यावर्तन से तिरस्कार करके (पृथक् करके) जिसमें समस्त भाव्यभावक संकरदोष दूर हो गया है, उसके रूपसे एकत्व होने पर टंकोत्कीर्णवत् निष्चल, समस्त लोकके ऊपर तैरता, प्रत्यक्ष उद्योतरूपसे नित्य ही अन्तरंगमें प्रकाशमान, अविनाषी और आपसे ही सिद्ध हुआ परमार्थरूप भगवान् ऐसा यह ज्ञानस्वभाव उसके द्वारा अन्य द्रव्य के स्वभावसे होने वाले सब ही अन्य भावों से परमार्थतः अतिरिक्त ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा को अनुभव करता है वह निष्चयतः जितमोह जिन है। इस प्रकार यह द्वितीय निष्चयस्तुति हुई। इस ही प्रकार मोह के पद को बदलकर उसकी जगह राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय—ये ग्यारह तो इस सूत्र द्वारा और श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन—ये पाँच इन्द्रियसूत्र द्वारा ऐसे सोलह पद पलटने से सोलह सूत्र पृथक्-पृथक् व्याख्यानरूप करने चाहिये और इसी उपदेश से अन्य भी विचार लेने चाहिये।

परमार्थसता भगवता ज्ञानस्वभावेन द्रव्यांतरस्वभावभावेभ्यः सर्वेभ्यो भावान्तरेभ्यः परमार्थतोऽतिरिक्तमात्मानं संचेतयते स खलु जितमोहो जिन इति द्वितीया निष्चयस्तुतिः। एवमेव च मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायसूत्राप्येकादश पञ्चानां श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणामिन्द्रियसूत्रेण पृथग्व्याख्यातत्वाद्वाख्यायानि। अनया दिषान्यान्यप्यूह्यानि।।32।।

लट् अन्य पुरुष एक०। आत्मानं—द्वितीया एक० कर्ता०। तं—द्वितीया एक०। जितमोहं—द्वितीया एक० कर्म—विषेषण। साधु—द्वितीया एक० कर्म। परमार्थविज्ञायकाः—प्रथमा बहुवचन कर्ता या कर्तृविषेषण। विंदति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु० क्रिया।।32।।

भावार्थ—जो अपने आत्मा को जो भावक मोह के अनुसार प्रवर्तन से भाव्यरूप हुआ, उसे भेदज्ञान के बलसे पृथक् अनुभव करता है, वह जितमोह जिन है। इस तरह भाव्यभावक भावके संकरदोष को दूर कर दूसरी निष्चयस्तुति हुई। यहाँ ऐसा आशय है कि जो श्रेणी चढ़ने पर मोह का उदय अनुभव में न रहकर अपने बलसे उपषमादि कर आत्मा को अनुभव करता है, उसको जितमोह कहा है। यहाँ पर मोह को जीता है, उसका नाश हुआ मत जानना।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया था कि ज्ञेयज्ञायकभावसंकरदोष दूर कर प्रभु जितेन्द्रिय बने यह प्रथम निष्चयस्तुति है। अब उससे ही सम्बन्धित द्वितीय निष्चयस्तुति यहाँ कही जा रही है।

तथ्यप्रकाश—(1) फलदानसमर्थरूपसे उघड़कर भावकरूपसे हुआ मोह है और उसके अनुरूप प्रवृत्ति होनेसे आत्मा भाव्य है इस कथनसे निमित्तनैमित्तिक भावका सही स्वरूप प्रसिद्ध हुआ है। (2) भाव्य और भावकसे पृथक् 'बुद्ध ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व का संचेतन करना मोहपर विजय करना कहलाता है।

सिद्धान्त—(1) भावक का निमित्त पाकर आत्मा विभाव्य होता है। (2) मोह से विविक्त ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व का संचेतन करना मोह का परभाव है।

दृष्टि—1—उपाधिसापेक्ष अषुद्ध द्रव्यार्थिकनय (24)। 2—उपाध्यभावापेक्ष 'बुद्ध द्रव्यार्थिकनय (24अ)।

प्रयोग—विकारभावको नैमित्तिक अतएव अस्वाभाविक जानकर उससे अत्यंतउ पेक्षा करके अपने को ज्ञानमात्र अनुभवना चाहिये।।32।।

आगे भाव्यभावकभावके अभाव द्वारा निष्चयस्तुति कहते हैं—[जित मोहस्य तु साधोः] जिसने मोह को जीत लिया है ऐसे साधुके [यदा] जिस समय [मोहः क्षीणः] मोह क्षीण याने नष्ट [भवेत्] होता है [तदा] उस समय [निष्चयविद्भिः] निष्चय के जानने वाले [खलु] निष्चय से [सः] उस साधु को [क्षीणमोहः] क्षीणमोह ऐसे नामसे [भण्यते] कहते हैं।

तात्पर्य—जितमोह साधु के निर्विकल्प समाधिबल से जब मोह समूल नष्ट हो जाता है तब उसे क्षीणमोह कहते हैं।

टीकार्थ—इस निष्चयस्तुतिमें पूर्वोक्त विधान द्वारा आत्मा से मोह का तिरस्कार कर जैसा कहा, वैसे ज्ञानस्वभाव द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक आत्मा का अनुभव करने से जितमोह हुआ, उसके जिस समय अपने स्वभावभावकी भावना का अच्छी तरह अवलम्बन करने से मोह की संतान का ऐसा अत्यंत विनाश हो जाता है कि फिर उसका उदय नहीं होता, ऐसा भावकरूप मोह जिस समय क्षीण होता है, उस समय याने भावकमोह का क्षय होने पर आत्मा के विभावरूप भाव्यभाव का भी अभाव हो जाता है उस समय भाव्यभावकभावके अभावसे एकत्व होने पर टङ्कोत्कीर्णवत् निष्चल परमात्मा को प्राप्त हुआ 'क्षीणमोह जिन' ऐसा कहा जाता है अर्थात् साधु पहले अपने बलसे उपषमभाव द्वारा मोह को जीते, पीछे अथ भाव्यभावकभावाभावेन—

जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स ।

तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्चयविदूहिं ।।33।।

मोहजयी साधूके, ज्यों हि सकल मोह क्षीण हो जाता ।

त्यों हि परमार्थ ज्ञायक, कहते हैं क्षीणमोह उन्हें ।।33।।

जितमोहस्य तु यदा क्षीणो मोहो भवेत्साधोः । तदा खलु क्षीणमोहो भण्यते स निष्चयविद्भिः ।।33।।

इह खलु पूर्वप्रक्रांतेन विधानेनात्मनो मोहं न्यक्कृत्य यथोदितज्ञानस्वभावानतिरिक्तात्म-संचेतनेन जितमोहस्य सतो यदा स्वभावभावभावनासौष्टवावष्टंभात्तत्संतानात्यंतविनाषेण पुनर-प्रादुर्भावाय भावकः क्षीणो मोहः स्यात्तदा स एव भाव्यभावकभावाभावेनैकत्वे टंकोत्कीर्णपरमा-त्मीनमवाप्तः क्षीणमोह जिन इति तृतीया निष्चयस्तुतिः । एवमेव च मोहपदपरिवर्तनेन राग-द्वेषक्रोधमान मायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्ये-

नामसंज्ञ—जिदमोह, हु, जइया, खीण, मोह, साहु, तइया, हु, खीणमोह, त, णिच्चयविदु ।
धातुसंज्ञ—क्खि क्षये, हव सत्तायां तृतीयगणे, भण कथने, विद ज्ञाने । प्रकृतिशब्द—जितमोह, तु, यदा, क्षीण, मोह, साधु, तदा, खलु, क्षीणमोह, तत्, निष्चयवित् । मूलधातु—जि जये, क्षि क्षये, मुह—वैचित्ये, भू

जिस समय अपनी बड़ी सामर्थ्य से मोह का सत्ता में से नाश कर ज्ञानस्वरूप परमात्मा को प्राप्त होता है तब 'क्षीणमोह जिन' कहा जाता है। यहाँ भी जैसे पूर्व कहा था, उसी तरह मोह पदको पलटकर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन वचन, कास, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन—ये पद रखकर सोलह सूत्र पढ़ना और व्याख्यान करना तथा इसी प्रकार उपदेश कर अन्य भी विचारना ।

अब इस निष्चय व्यवहाररूप स्तुति के अर्थ को कलषरूप काव्य में कहते हैं—'एकत्वं' इत्यादि । अर्थ—शरीर और आत्मा का व्यवहारनय से एकत्व है, किन्तु निष्चयनयसे एकत्व नहीं है । इसी कारण 'शरीर के स्तवन से आत्मा—पुरुष का स्तवन व्यवहारनय से हुआ कहा जाता है, किन्तु निष्चयनयसे नहीं । निष्चयसे तो चैतन्य के स्तवन से ही चैतन्य का स्तवन होता है । यह चैतन्य का स्तवन तो जितेन्द्रिय, जितमोह, क्षीणमोह कहने से होता है । इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि जो अज्ञानी ने तीर्थकर के स्तवन का

प्रज्ञ किया था, उसका यह नयविभाग द्वारा उत्तर दिया। उसके बलसे आत्मा और 'रीरका एकत्व निष्चय से नहीं है।

अब फिर इसी अर्थ के जानने से भेदज्ञान की सिद्धि होती है, ऐसा अर्थरूप काव्य कहते हैं—'इति परिचित' इत्यादि। अर्थ—इस तरह जिसने वस्तुके यथार्थस्वरूपका परिचय किया है, ऐसे मुनिजनों के द्वारा आत्मा और 'रीर के एकत्व के नयविभाग की युक्ति द्वारा अत्यन्त उच्छदित किये जाने पर निजरसके वेग द्वारा खेंचा हुआ एकस्वरूप होकर वह ज्ञान यथार्थरूप में किस पुरुष के प्रकट नहीं होता अर्थात् अवष्य प्रगट होता ही है।

भावार्थ—निष्चय व्यवहारनयके विभाग से आत्मा का और परका अत्यन्त भेद जो दिखलाया है, उसको जानकर ऐसा कौन पुरुष है कि जिसके भेदज्ञान नहीं होगा? क्योंकि ज्ञान अपने स्वरससे आप अपना स्वरूप जानता है। इस प्रकार अप्रतिबुद्धने जो ऐसा कहा था कि हमें तो यह निष्चय है कि जो देह है वही आत्मा है, उसका निराकरण (समाधान) किया।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में निष्चयस्तुतिके प्रकरण में भाव्यभावकसंकर दोष दूर करने वाली द्वितीय निष्चयस्तुति की गई थी अब भाव्यभावकभावके अभाव से होने वाले क्षीणमोहत्व की उत्कृष्टता बताने वाली तृतीय निष्चयस्तुति की जा रही है।

यानि। अनया दिषान्यान्यप्यूह्यानि। इत्यप्रतिबुद्धोक्तिनिरासः।

एकत्वं व्यवहारतो न तु पुनः कायात्मनोर्निष्चया—

नुः स्तोत्रं व्यवहारतोस्ति वपुषः स्तुत्या न तत्तत्त्वतः।

स्तोत्रं निष्चयतष्वितो भवति चित्स्तुत्यैव सैवं भवे—

त्रातस्तीर्थंकरस्तवोत्तरवलादेकत्वमात्मांगयोः॥२७॥

इति परिचिततत्त्वैरात्मकायैकतायां नयविभजनयुक्त्यात्यंतमुच्छादितायां।

अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्य स्वरसरभसकृष्टः प्रस्फुटन्नेक एव॥२८॥॥३३॥

सत्तायां, साध संसिद्धौ, भण-षब्दार्थः। पदविवरण —जितमोहस्य-षष्ठी एक०। तु-अव्यय। यदा-अव्यय। क्षीणः-प्रथमा एक०। मोहः-प्रथमा एक०। साधोः-षष्ठी एक०। तदा-अव्यय। खलु-अव्यय। क्षीणमोहः-प्रथमा एक०। भण्यते-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० भावकर्मलिङ्। सः-प्रथमा एक० कर्मवाच्य में कर्म। निष्चयविदिभः-तृतीया बहुवचन कर्मवाच्य में कर्ता॥३३॥
--

तथ्यप्रकाश—1—परमात्मपद के लाभ के लिये अनिवारित 4 पौरुषों का इस निष्चय स्तुति के प्रकरण में वर्णन हुआ है—(1) जितेन्द्रिय होना, (2) मोह का तिरस्कार होना, (3) जितमोह होना और (4) क्षीणमोह होना। 2—यहाँ क्षीणमोह होने का उपाय स्वभावभावकी निरन्तर दृढ़ भावना होना बताया गया है। 3—ज्ञानमें आत्मा व देहकी एकता पूर्णतया नष्ट होने पर ज्ञान मात्र जाननरूपसे बर्तता हुआ प्रकट व प्रगत होता ही है।

सिद्धान्त—(1) स्वभावभावकी भावना का निमित्त पाकर भावक मोहकर्म कर्मत्वरहित हो जाता है। (3) आत्मा व देहादि परभावमें एकत्वबुद्धिके पूर्णतया नष्ट होने पर जाननमात्र बर्तता हुआ ज्ञान विलसित होता है।

दृष्टि—1—षुद्धभावनापेक्ष 'ुद्ध द्रव्यार्थिकनय (24 ब)। 2—उपाध्यभावापेक्ष 'ुद्ध द्रव्यार्थिकनय (24 अ)।

प्रयोग—इन्द्रियविजय व मोहविजय करने के लिये एकमात्र चैतन्यस्वभावकी आराधना का पौरुष करना चाहिये॥३३॥

आगे कहते हैं कि इस तरह यह अज्ञानी जीव अनादिकालीन मोहसंतान से निरूपित किये गये आत्मा और 'रीर के एकत्व के संस्कार से अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था, सो अब

तत्त्वज्ञान स्वरूप ज्योति के प्रकट होने से नेत्र के विकार की तरह (जैसे किसी पुरुष के नेत्र में विकार था तब वर्णादिक अन्यथा दीखते थे, जब विकार मिट गया तब जैसे का तैसा दीखने लगा) अच्छी तरह उघड़ गया है पटलरूप आवरण कर्म जिसका ऐसा प्रतिबुद्ध हुआ तब साक्षात् देखने वाला अपने को अपने से ही जान श्रद्धान कर उसके आचरण करने का इच्छुक हुआ पूछता है कि इस आत्माराम के अन्य द्रव्यों का प्रत्याख्यात (त्यागना) क्या है, उसका समाधान आचार्य करते हैं—[यस्मात्] जिस कारण [सर्वान् भावान्] अपने सिवाय सभी पदार्थ [परान्] पर हैं [इति ज्ञात्वा] ऐसा जानकर [प्रत्याख्याति] त्यागता है [तस्मात्] इस कारण [ज्ञानं] पर हैं यह जानना ही [नियमात्] निष्चय से [प्रत्याख्यानं] प्रत्याख्यान है।

तात्पर्य—अपने ज्ञानमें त्यागरूप अवस्था ही प्रत्याख्यान है ज्ञानका जाननरूप ही रहने, ग्रहणविकल्पका परिहार हो जावे, ऐसे ज्ञानको निष्चय से प्रत्याख्यान कहते हैं।

टीकार्थ—जिस कारण यह ज्ञाता द्रव्य भगवान् आत्मा अन्य द्रव्यके स्वभावसे हुए अन्य समस्त परभावों को अपने स्वभावभाव से व्याप्त न होने से पररूप जानकर त्यागता है, इस कारण जिसने पहले जाना है, वही पीछे त्याग करता है, दूसरा तो कोई त्यागने वाला नहीं है, ऐसे त्यागभाव आत्मा में ही निष्चित करके, त्याग के समय प्रत्याख्यान करने योग्य परभाव की उपाधिमात्र से प्रवृत्त त्याग के कर्तृत्व का नाम होने पर भी परमार्थ से देखा जाय

एवमयमनादिमोहसंताननिरूपितात्मषरीरैकत्वसंस्कारतयात्यन्तमप्रतिबुद्धोपि प्रसभोज्जृ-
म्भिततत्त्वज्ञानज्योतिर्नेत्रविकारीव प्रकटोद्घाटितपटलष्टसितिप्रतिबुद्धः साक्षात् द्रष्टारं स्व-
स्वयंमेव हि विज्ञाय श्रद्धाय च तं चैवानुचरितुकामः स्वात्मारामस्यास्यान्यद्रव्याणां प्रत्याख्यानं
किं स्यादिति पृच्छन्नित्थं वाच्यः—

सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खाई परेत्ति णादूणं ।

तह्मा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेयव्वं ।।34 ।।

चूकि सकल भावोंको, पर हैं यह जानि त्यागना होता ।

इस कारण निश्चयसे, प्रत्याख्यान ज्ञानको जानो ।।34 ।।

सर्वान् भावान् यस्मात्प्रत्याख्याति परानिति ज्ञात्वा । तस्मात्प्रत्याख्यानं ज्ञानं नियमात् ज्ञातव्यं ।।34 ।।

यतो हि द्रव्यांतरस्वभावभाविनोऽन्यानखिलानपि भावान् भगवज्ज्ञातृद्रव्यं स्वस्वभाव-
भावाव्याप्यतया परत्वेन ज्ञात्वा प्रत्याचष्टे ततो य एव पूर्वं जानाति स एव पश्चात्प्रत्याचष्टे न
पुनरन्य इत्यात्मनि निष्चित्य प्रत्याख्यानसमये प्रत्याख्येयोपाधिमात्रप्रवर्तितकर्तृत्वव्यपदेशत्वेपि

<p>नामसंज्ञ—सव्व, भाव, ज, पर, इत्ति, त, पच्चक्खाण, णाण, णियम । धातुसंज्ञ—पडि—आ—क्खा कथने तृतीयगणे उपसर्गादर्थान्तरम्, जाण अवबोधने, मुण ज्ञाने । प्रातिपदिक—सर्व, भाव, यत्, पर इति, तत्, प्रत्याख्यान, ज्ञान, नियम । मूलधातु—प्रति—आ—ख्या प्रकथने उपसर्गादर्थपरिवर्तनम्, नि—यम परिवेष्टने, ज्ञा अवबोधने । पदविवरण—सर्वान्—द्वितीया बहुवचन पुल्लिङ्ग कर्मविषेषण, भावान्—द्वितीया बहुवचन कर्म, यस्मात्—हेत्वर्थे पंचमी एक०, प्रत्याख्याति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया, परान्—द्वि०</p>

तब परभाव के त्याग के कर्तृत्व का नाम अपने को नहीं है, स्वयं तो इस नाम से रहित ज्ञानस्वभाव से नहीं छूटा है, इसलिये प्रत्याख्यान ज्ञान ही है, ऐसा अनुभव करना चाहिये।

भावार्थ—आत्मा को परभावके त्याग का कर्तृत्व है, वह नाममात्र है। आप तो ज्ञानस्वभाव है। परद्रव्यको पर जानो, फिर परभावका ग्रहण नहीं किया, यही त्याग है। ऐसा स्थिर हुआ ज्ञान ही प्रत्याख्यान है, ज्ञानके सिवाय कुछ भी दूसरा भाव नहीं है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व प्रकरण में अज्ञानी को आत्मस्वरूपका प्रतिबोध किया है तब वह स्वयं को जानकर व श्रद्धान कर स्वयं के आचरणरूप ही रहना चाहता है सो यह

अन्य द्रव्यों के त्याग बिना नहीं बनता है सो वह जानना चाहता है कि अन्य द्रव्यों का प्रत्याख्यान क्या है? उसके ही समाधान में इस गाथा का अवतार हुआ है।

तथ्यप्रकाश—(1) नैमित्तिक भाव ज्ञाता भगवान आत्मा के स्वभावमें व्याप्य न हो सकने से परभाव हैं। (2) पर व परभावको पररूप दृढता से जान लेना ही प्रत्याख्यान है, क्योंकि आत्मा परपदार्थ को न ग्रहण करता है, न त्यागता है। (3) जिस परपदार्थ के विषय में यह जीव लगाव की कल्पना करता है उसका तो ग्रहण करने में नाम लिया जाता है और जब उस पदार्थ के विषय में लगाव की कल्पना नहीं रहती तब उसका त्याग करने में नाम लिया जाता है।

सिद्धान्त—(1) यह जीव परद्रव्य को न ग्रहण करता है, न त्यागता है। (2) आत्म-स्वभाव में व्याप्य नहीं होने से विकार परभाव हैं, पौद्गलिक हैं।

दृष्टि—1—परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (29)। 2—विवक्षितैकदेश 'जुद्धनिष्चयनय (48)।

प्रयोग—मैं केवल ज्ञानमात्र हूँ, इसी स्वरूपमें जानन का कार्य किया करता हूँ, अन्य कुछ नहीं, ऐसी ज्ञानवृत्ति बनानी चाहिये।।34।।

आगे पूछते हैं कि ज्ञाता के प्रत्याख्यानको ज्ञान ही कहा गया है इसका दृष्टान्त क्या है? उसके उत्तररूप दृष्टान्त दार्ष्टान्त को गाथा द्वारा व्यक्त कर कहते हैं—[यथा नाम]

परमार्थेनाव्यपदेश्यज्ञानस्वभावादप्रच्यवनात्प्रत्याख्यानं ज्ञानमेवेत्यनुभवनीयम्।।34।।

बहु०, इति-अव्यय, ज्ञात्वा-असमाप्ति की क्रिया, तस्मात्-हेत्वर्थे पंचमी एक०, प्रत्याख्यानं-प्रथमा एक०, ज्ञानं-प्रथमा एक०, नियमात्-पंचमी एक०, ज्ञातव्यं-प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया।।34।।

जैसे लोक में [कोपि पुरुशः] कोई पुरुष [परद्रव्यं इति ज्ञात्वा] परवस्तुको हि यह परवस्तु है ऐसा जान करके [त्यजति] परवस्तुको त्यागता है [तथा] उसी तरह [ज्ञानी] ज्ञानी [सर्वान्] सब [परभावान्] परद्रव्यों के भावों को [ज्ञात्वा] ये परभाव हैं, ऐसा जानकर [विमुञ्चति] उनको छोड़ता है।

तात्पर्य—परद्रव्य में परत्व के जाननपूर्वक ही परपरिहार होने के दृष्टान्त से ज्ञाता के वास्तविक प्रत्याख्यान का समर्थन किया गया है।

टीकार्थ—जैसे कोई पुरुष धोबी के घर दूसरे का वस्त्र लाकर उसे भ्रम से अपना समझ ओढ़कर सो गया। उसके पश्चात् दूसरे ने उस वस्त्र का पल्ला पकड़ खींचकर उधाड़कर नंगा किया और कहा कि "तू 'गीघ्र जाग सावधान हो, मेरा वस्त्र बदले में आ गया है, सो मेरा मुझे दे" ऐसा बारम्बार वचन कहा। सो सुनता हुआ उस वस्त्रके सब चिह्न देख परीक्षा कर ऐसा जाना कि "वह वस्त्र तो दूसरे का ही है" ऐसा जानकर ज्ञानी हुआ उस दूसरे के कपड़े को 'गीघ्र ही त्यागता है। उसी तरह ज्ञानी भी भ्रम से परद्रव्य के भावों को ग्रहण कर अपने जान आत्मा में एकरूप मानकर सोता है, बेखबर हुआ आप ही से अज्ञानी हो रहा है। सो जब श्रीगुरु के द्वारा परभाव का भेदज्ञान कराके एक आत्मभाव रूप कराया गया "तू 'गीघ्र जाग, सावधान हो, यह तेरा आत्मा एक ज्ञानमात्र है, ऐसे बारम्बार आगमके वाक्य सुनता हुआ समस्त चिह्नों से अच्छी तरह परीक्षा करके निश्चित ये सब परभाव हैं। ऐसा जानकर ज्ञानी सब परभावों को तत्काल छोड़ देता है।

भावार्थ—जब तब परवस्तुको भूलकर अपनी जानता है, तब तक ही ममत्व रहता है और जब यथार्थज्ञान हो जानेसे परको पराई जाने, तब दूसरे की वस्तुसे ममत्व नहीं रहता।

अब इसी अर्थ का कलषरूप काव्य कहते हैं 'अवतरति' इति। अर्थ—यह परभावके त्याग के दृष्टान्त की दृष्टि जिस तरह पुरानी न पड़े, उस तरह अत्यन्त वेगसे जब तक

प्रवृत्ति को प्राप्त न हो; उसके पहले हो तत्काल सकल अन्य भावों से रहित आप ही यह अनुभूति प्रकट हो जाती है।

भावार्थ—यह परभावके त्याग का दृष्टान्त कहा, उसपर दृष्टि पड़े, उससे पहले सब अन्य भावों से रहित अपने स्वरूपका अनुभव तो तत्काल हो ही जाता है, क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि जब वस्तुको परकी जान ली, तब उसके पश्चात् ममत्व नहीं रहता।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में ज्ञानका प्रत्याख्यान बताया गया था, अब उसी विषय को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं।

तथ्यप्रकाश—(1) परकीयभावों में आत्मीय प्रतिपत्ति होना व्यामोह है। (2) आत्मा के सनातन असाधारण चिह्न से भिन्न नैमित्तिक चिह्न परभाव हैं।

सिद्धान्त—1—अन्य वस्तुमें आत्मा का आरोपण करना उपचार है, मिथ्या है। (2) आत्मा के असाधारण 'गुणों' से आत्मा का परिचय पाना समीचीन उपाय है।

दृष्टि—(1) संश्लिष्ट विजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार व असंश्लिष्ट विजात्युपचरित असद्भूतव्यवहार (123, 125)। 2—अभेद परमषुद्धनिष्चयनय, सभेद परमषुद्धनिष्चयनय (44, 45)।

प्रयोग—संश्लिष्ट व असंश्लिष्ट सब पर व परभावों से विविक्त सहजपरमात्मतत्त्वका भेदविधि में ज्ञान दर्शनादि गुणों रूप व अभेदविधि में चैतन्यस्वरूपमात्र अपने में अपने को अनुभवना चाहिये ॥35॥

अथ ज्ञातुः प्रत्याख्याने को दृष्टान्त इत्यत आह—

जह णाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणंति जाणिदुं चयदि ।

तह सव्वे परभावे णारुण विमुंचदे णाणी ॥25॥

जैसे कोई पुरुष पर, वस्तुको पर हि जानकर तजता ।

त्यों सब परभावों को, पर जानत विज्ञ है तजता ॥35॥

यथा नाम कोपि पुरुषः परद्रव्यमिदमिति ज्ञात्वा त्यजति । तथा सर्वान् परभावान् ज्ञात्वा विमुंचति ज्ञानी ।

यथा हि कश्चित्पुरुषः संभ्रान्त्या रजकात्परकीयं चीवरमादायात्मीयप्रतिपत्या परिधाय 'गानः स्वयमज्ञानी सन्नन्येन तदंचलमालंब्य बलान्नग्नीक्रियमाणो मंक्षु प्रतिबुध्यस्वार्पय परिवर्तितमेतद्वस्त्रं मामकमित्यसकृद्वाक्यं शृण्वन्नखिलैष्विन्दैः सुष्ठु परीक्ष्य निश्चितमेतत्परकीयमिति ज्ञात्वा ज्ञानी सन्मुंचति तच्चीवरमचिरात् तथा ज्ञातापि संभ्रान्त्य परकीयान्भावानादायात्मीय—प्रतिपत्यात्मन्यध्यास्य 'गानः स्वयमज्ञानी सन् गुरुणा परभावविवेकं कृत्वैकीक्रियमाणो मंक्षु प्रतिबुध्यस्वैकः खल्वयमात्मेत्यसकृच्छ्रौतं वाक्यं शृण्वन्नखिलैष्विन्दैः सुष्ठु परीक्ष्य निश्चितमेते परभावा इति ज्ञात्वा ज्ञानी सन् मुंचति सर्वान्परभावानचिरात् ।

अवतरति न यावद् वृत्तिमत्यंतवेगादनवमपरभावत्यागदृष्टान्तदृष्टिः ।

झटिति सकलभावैरन्यदीयैर्विमुक्ता स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्वभूव ॥29॥ ॥35॥ ।

नामसंज्ञ—जह, णाम, क, वि, पुरिस, परदव्व, इम, इति तह, सव्व, परभाव, णाणि । **धातुसंज्ञ**—जाण अवबोधने, चय त्यागे, वि—मुंच त्यागे तृतीयगणे । **प्रातिपदिक**—यथा, नामन्, किम्, अपि, पुरुष, परद्रव्य, इदम्, इति, तथा, सर्व, परभाव, ज्ञानिन् । **मूलधातु**—दु गतौ, ज्ञा अवबोधने, त्यज हानौ वि—मुच्छु मोक्षणे । **पदविवरण**—यथा—अव्यय, नाम—प्रथमा एक० या अव्यय, कः—प्रथमा एक०, अपि—अव्यय, पुरुषः—प्रथमा एक० कर्ता, परद्रव्यम्—प्रथमा एक० इदम्—प्रथमा एक०, इति—अव्यय ज्ञात्वा—असमाप्तिकी क्रिया, त्यजति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया, तथा—अव्यय, सर्वान्—द्वितीया बहु०, परभावान्—द्वि० बहु०, ज्ञात्वा—असमाप्तिकी क्रिया, विमुंचति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया, ज्ञानी—प्रथमा एक० कर्ता ॥35॥

आगे इस अनुभूति से परभाव का भेदज्ञान किस तरह हुआ, ऐसी आषंका करके प्रथम भावक जो मोहकर्म के उदयरूप भाव, उनके भेदज्ञानका प्रकार कहते हैं—[बुध्यते] जो ऐसा जाने कि [मोहः मम कोपि नास्ति] मोह मेरा कोई भी सम्बन्धी नहीं [एकः उपयोग एव अहं] एक उपयोग ही मैं हूँ [तं] ऐसे जानने को [समयस्य] सिद्धान्त के अथवा स्व-परस्वरूप के [विज्ञायकाः] जानने वाले [मोहनिर्मत्वं] मोहसे निर्ममत्व [विंदति] समझते हैं, कहते हैं।

तात्पर्य—मोहषून्य उपयोगमात्र अंतस्तत्त्व के जाननहार को मोहनिर्मम कहते हैं।

टीकार्थ—मैं सत्यार्थरूपसे ऐसा जानता हूँ कि यह मोह है, वह मेरा कुछ भी नहीं लगता है। निष्चय से इस मेरे अनुभवमें फल देने की सामर्थ्य द्वारा प्रकट होकर भावकरूप हुए पुद्गलद्रव्य परमार्थसे परके भावके भावसे भाव्य नहीं कर सकते। यहाँ यह समझना कि स्वयमेव सब वस्तुओं के प्रकाश करने में चतुर विकासरूप हुई और जिसमें निरंतर हमेषा प्रताप सम्पदा पायी जाती है, ऐसी चैतन्यशक्ति, उस मात्र स्वभावभाव द्वारा भगवान् आत्मा को ही जाना जाता है कि मैं परमार्थ से एक चित्शक्तिमात्र हूँ। इस कारण यद्यपि सब द्रव्यों के परस्पर साधारण एक क्षेत्रावगाह होनेसे मेरा आत्मा जड़के साथ श्रीखण्डकी तरह एकमेक हो रहा है तो भी श्रीखण्ड की तरह स्पष्ट स्वदमान स्वादभेद के कारण मोह के प्रति मैं निर्मम ही हूँ, क्योंकि यह आत्मा सदाकाल ही अपने एकरूपता को प्राप्त हुआ अपने स्वभावरूप समय महल में विराज रहा है। इस तरह भावकभावरूप मोह के उदयसे भेदज्ञान हुआ जानना।

भावार्थ—मोहकर्म जड़ पुद्गल द्रव्य है, इसका उदित कलुष (मलिन) भाव की पुद्गल का विकार है, यही भावक का भाव है। जब यह चैतन्य के उपयोग के अनुभव में आता है,

अथ कथमनुभूतेः परभावविवेको भूत इत्याशंक्य भावकभावविवेकप्रकारमाह—

णत्थि मम को वि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को ।

तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विति ।।36।।

मोह न मेरा कुछ है, मैं तो उपयोगमात्र एकाकी ।

यों जाने उसको मुनि, मोहनिर्ममत्व कहते हैं ।।36।।

नास्ति मम कोपि मोहो बुध्यते उपयोग एवाहमेकः । तं मोहनिर्ममत्वं समयस्य विज्ञायकाः विंदति ।।36।।

इह खलु फलदानसमर्थतया प्रादुर्भूय भावकेन सता पुद्गलद्रव्येणाभिनिर्वर्त्यमानष्टंको-त्कीर्णैकज्ञायकस्वभावभावस्य परमार्थतः परभावेन भावयितुमषक्यत्वात्कतमोपि न नाम मम मोहोस्ति किंचैतत्स्वयमेव च विष्वप्रकाशचंचुरविकस्वरानवरतप्रतापसंपदा चिच्छक्तिमात्रेण स्वभावभावेन भगवानात्मैवावबुध्यते । यत्किलाहं खल्वेकः ततः समस्तद्रव्याणां परस्परसाधारणावगाहस्य निवारयितुमषक्यत्वान्मज्जितावस्थायामपि दधिखंडावस्थायामिव परिस्फुटस्वदमानस्वादभेदतया मोहं प्रति निर्ममत्वोस्मि । सर्वदैवात्मैकत्वगतत्वेन समयस्यैवमेव स्थितत्वात् । इतीत्थं भावकभावविवेको भूतः ।

नामसंज्ञ—ण, अम्ह, क, वि, मोह, उवओग, एव, अम्ह, इक्क, त, मोहणिम्ममत्त, समय, वियाणय ।
धातुसंज्ञ—अस सत्तायां, बुज्झ अवगमने, विद ज्ञाने, वि-जाण अवबोधने । **प्रातिपदिक**—न, अस्मद्, किम्, अपि, मोह, उपयोग, एव, तत्, मोहनिर्ममत्व, समय, विज्ञायक । **मूलधातु**—अस भूवि, मुह वैचित्ये, बुध अवगमने, उप-युजिर् योगे, विद ज्ञाने । **पदविवरण**—न-अव्यय । अस्ति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक-

तब उपयोग भी विकारी हुआ रागादिरूप मलिन दीखता है । और जब इसका भेदज्ञान होवे कि चैतन्य की 'वक्ति की व्यक्ति तो ज्ञानदर्शनोपयोग मात्र है तथा यह कलुषता रागद्वेष मोहरूप है, और वह कलुषता द्रव्यकर्मरूप जड़ पुद्गलद्रव्य की है, ऐसा भेदज्ञान हो जाय

तब भावकभाव जो द्रव्यकर्मरूप मोहके भाव उनसे भेद अवश्य हो सकता है और आत्मा भी अपने चैतन्य के अनुभवरूप होगा।

अब इस अर्थ का कलषरूप काव्य कहते हैं 'सर्वतः' इत्यादि। अर्थ—मैं सर्वांग अपने निजरसरूप चैतन्यके परिणमनसे पूर्ण भाव वाले एक अपने आपको यहाँ स्वयं अनुभवता हूँ, इसी कारण यह मोह मेरा कुछ भी नहीं लगता अर्थात् इसका और मेरा कुछ भी नाता नहीं है। मैं तो 'जुद्ध चैतन्यका समूहरूप तेज पुंजका निधि हूँ। इस तरह आन्तरिक भावकभावका अनुभव करे। इसी प्रकार गाथा में जो मोहपद है, उसे पलटकर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन—ये सोलह पृथक्-पृथक् सोलह गाथा सूत्रों द्वारा व्याख्यान करना और इसी उपदेशसे अन्य भी विचार लेना।

प्रसंगविवरण—इस स्थल में निष्चयस्तुति से सम्बंधित परभावके विवेककी बात चल रही थी। अनन्तरपूर्व गाथामें दृष्टान्तपूर्वक परभावविवेक के परिणाम की बात कही थी। अब इस गाथा में परभावसे विवेक करने के याने जुदा होने के उपाय के निर्देशन में भावकभावके विवेक की रीति बताई गई है।

तथ्यप्रकाश—(1) द्रव्यमोह उपादानतया भावक पुद्गलद्रव्यके द्वारा रचा गया है। (2) भावमोह भावक पुद्गलद्रव्यके द्रव्यमोहका प्रतिफलन होने से नैमित्तिक है। (3) द्रव्यमोह तो उपादानतया प्रकट परभाव हैं। (4) भावमोह नैमित्तिक होनेसे परभाव है। (5) प्रत्येक पदार्थ सदाकाल ही अपने आपके स्वरूपमें ही रहा करता है।

सिद्धान्त—(1) जीवदषा व पुद्गलदषामें परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव होनेसे द्रव्यमोह भी नैमित्तिक है व भावमोह भी नैमित्तिक है। (2) निमित्त व नैमित्तिक का परिचय दोनों को परभाव जानकर उनका अपोहन करके 'जुद्ध द्रव्यका उपादान करने के लिये है।

सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं चेतये स्वयमहं स्वमिहैकं।

नास्ति नास्ति मम कष्यन मोहः 'जुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि।।30।।

एवमेव च मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्र-चक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि। अनया दिषान्यान्याप्यूह्यानि।।36।।

<p>वचन क्रिया। मम-षष्ठी एक०। कः-पुल्लिग प्रथमा एक०। अपि-अव्यय। मोहः-प्रथमा एक०। बुध्यते-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० दिवादि क्रिया। उपयोगः-प्रथमा एक०। एव-अव्यय। अहं-प्रथमा एक०। एकः-प्रथमा एक०। तं-द्वितीया एक०। मोहनिर्ममत्वं-द्वितीया एक०। समयस्य-षष्ठी ए०। विज्ञायकाः-प्रथमा बहु० कर्ता या कर्तृ विषेषण। विदन्ति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन क्रिया।।36।।</p>

दृष्टि—1—उपाधिसापेक्ष अषुद्ध द्रव्यार्थिकनय (24)। 2—विवक्षितैकदेशषुद्धनिष्चयनय (48)।

प्रयोग—द्रव्यमोह, भावमोह व भावमोह के आश्रयभूत विषयसंग इन सबसे विभक्त चित्षक्ति मात्र मैं सहज परमात्मतत्त्व हूँ, ऐसी अन्तः आराधना रहनी चाहिये।।36।।

आगे ज्ञेयभावसे भेदज्ञान करने की रीति बतलाते हैं—[बुध्यते] ऐसा जाने कि [धर्मादयः] ये धर्म आदि द्रव्य [मम न सन्ति] मेरे कुछ भी नहीं लगते [अहं] मैं तो [एक उपयोग एव] एक उपयोग ही हूँ [तं] ऐसा जानने को [समयस्य विज्ञायकाः] सिद्धान्त व स्वपरसमयरूप समय के जानने वाले [धर्मनिर्ममत्वं] धर्मद्रव्य से निर्ममत्व [विदन्ति] कहते हैं।

तात्पर्य—अपने को धर्मादि द्रव्यों से अत्यन्त विविक्त परखकर एक उपयोगमात्र अन्तस्तत्त्व के जाननहार को धर्मद्रव्यादिनिर्मम कहते हैं।

टीकार्थ—अपने निजरससे प्रकट और निवारण नहीं किया जाय ऐसा जिसका फैलाव है तथा समस्त पदार्थों के ग्रसने का जिसका स्वभाव है, ऐसी प्रचंड चिन्मात्रा 'विक्रम' द्वारा ग्रासीभूत होनेसे अत्यन्त निमग्न की तरह आत्मा में प्रकाशमान जो धर्म, अधर्म, आकाष, काल, पुद्गल व अन्य जीव ये समस्त परद्रव्य मेरे कुछ नहीं है। क्योंकि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभावरूपसे परमार्थतः अन्तरंग तत्त्व तो मैं हूँ और वे परद्रव्य उस मेरे स्वभावसे भिन्न होने के कारण परमार्थ से बाह्य तत्त्वरूप छोड़ने को असमर्थ हैं। यहाँ ऐसा समझना कि यह आत्मा चैतन्य में आप ही उपयुक्त हुआ परमार्थ से निराकुल एक आत्मा को ही अनुभवता हुआ भगवान् आत्मा ही जाना जाता है कि मैं प्रकट निष्चय से एक ही हूँ। इस कारण ज्ञेयज्ञायकभावमात्र से उपजात परद्रव्यों से परस्पर मिलन होने पर भी प्रकट स्वाद में आते हुए स्वभावभेद के कारण धर्म, अधर्म, आकाष, काल, पुद्गल व अन्य जीवों के प्रति मैं निर्मम हूँ। क्योंकि सदाकाल ही अपने एकत्वमें प्राप्त होने से पदार्थों की ऐसी ही व्यवस्था है कि अपने स्वभावको कोई नहीं छोड़ता। ऐसा यों ज्ञेयभावों से भेदज्ञान हुआ।

यहाँ पर इसी अर्थ का कलषरूप काव्य कहते हैं—'इति सति' इत्यादि।
अर्थ—इस तरह पूर्वकथित रीति से भावकभावों से और ज्ञेयभावों से भेदज्ञान होने पर सभी अन्य भावों से जब भिन्नता हुई, तब यह उपयोग स्वयं ही अपने एक आत्मा को ही धारता हुआ, जिनका परमार्थ प्रकट हुआ है, ऐसे जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य अनुरूप जिसने परिणमन किया है ऐसा होता हुआ अपने आत्मा रूपी बाग (क्रीड़ावन) में प्रवृत्ति करता है, अन्य जगह नहीं जाता। **भावार्थ**—सब परद्रव्यों से तथा उनसे उत्पन्न हुए भावों से जब भेद जाना, तब उपयोग को रमने के लिए अपना आत्मा ही रहा, दूसरा स्थान नहीं रहा। इस तरह दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य से एकरूप हुआ ज्ञानी आत्मा में ही रमण करता है, अन्यत्र नहीं।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में भावकभावके विवेक का प्रकार बताया था, अब निष्चयस्तुति के प्रकरण से सम्बंधित ज्ञेयभावके विवेक का प्रकार बताया जा रहा है।

अथ ज्ञेयभावविवेकप्रकारमाह—

णत्थि मम धम्म आदी बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को ।

तं धम्मणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विति ।।37 ।।

धर्मादि पर न मेरे, मैं तो उपयोगमात्र एकाकी ।

यों जाने उसको मुनि, धर्मनिर्ममत्व कहते हैं ।।37 ।।

न सन्ति मम धर्मादयो बुध्यते उपयोग एवाहमेकः । तं धर्मनिर्ममत्वं समयस्य विज्ञाय का विदन्ति ।।37 ।।

अमूनि हि धर्माधर्माकाषकालपुद्गलजीवांतराणि स्वरसविजृम्भितानिवारितप्रसरविष्व-
घस्मरप्रचंडचिन्मात्रा 'विक्रम' कवलिततयात्यंतमंतर्मग्नानीवात्मनि प्रकाशमानानि टंकोत्कीर्णकज्ञाय-
कस्वभावत्वेन तत्त्वतोस्तत्त्वस्य तदतिरिक्तस्वभावतया तत्त्वतो बहिस्तत्त्वरूपतां परित्यक्तुम-
'अक्यत्वात्त्र नाम मम संति । किंचैतत्त्वयमेव च नित्यमेवोपयुक्तस्तत्त्वत एवैकमनाकुलमात्मानं
कलयन् भगवानात्मैववाबुध्यते । यत्किलाहं खल्वेकः ततः संवेद्यसंवेदकभावमात्रोपजातेतरतरसं-
बलनेपि परिस्फुटस्वदमानस्वभावभेदतया धर्माधर्माकाषकालपुद्गलजीवांतराणि प्रति निर्ममत्वो-
स्मि । सर्वदैवात्मैकत्वगतत्वेन समयस्यैवमेव स्थितत्वात् इतीत्थं ज्ञेयभावविवेको भूतः ।

इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके स्वयमयमुपयोगो विभ्रदात्मानमेकं ।

प्रकटितपरमार्थैर्दर्शनज्ञानवृत्तैः कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृत्तः ।।31 ।। ।।37 ।।

नामसंज्ञ—ण, अम्ह, धम्मआदि, उवओग, अम्ह, इक्क, त, धम्मणिम्ममत्त, समय, वियाणया ।
धातुसंज्ञ—अस्स सत्तायां, बुज्झ अवगमने, विद ज्ञाने । **प्रातिपदिक**—न, अस्मद्, एक, तत्, धर्मनिर्ममत्व,

समय, विज्ञायक। **मूलधातु**—अस भुवि, बुध अवगमने, विद ज्ञाने। **पदविवरण**—न-अव्यय अस्ति-वर्त- मान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया, मम-षष्ठी एक०, धर्मादयः-प्रथमा बहु०, बुध्यते-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया दिवादिगणे, उपयोगः-प्रथमा ए०, एव-अव्यय, अहं-प्रथमा एक०, एकः-प्रथमा एक०, तं-द्वितीया ए०, धर्मनिर्ममत्वं-द्वि० एक०, समयस्य-षष्ठी एक०, विज्ञायकाः-प्रथमा बहु०, विदन्ति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु० क्रिया।।37।।

तथ्यप्रकाश—(1) एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाषद्रव्य, असंख्यात कालद्रव्य, अनंत पुद्गलद्रव्य व अनंत जीवांतर इनका एक ज्ञाता जीवके साथ मात्र ज्ञेयज्ञायक संबंध है। (2) ज्ञाता अन्तस्तत्त्व है, ज्ञेय बहिस्तत्त्व है। (3) प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वरूपके एकत्व में प्राप्त है, अतः किसी भी पदार्थ का दूसरा कुछ भी सम्बंधी नहीं है।

सिद्धान्त—(1) ज्ञाता का ज्ञेयों के साथ ज्ञेयज्ञायक सम्बंध है। (2) प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपके एकत्व में प्राप्त है अन्य सबसे विभक्त है।

दृष्टि—1—स्वजातिविजात्यसद्भूतव्यवहार (99)। 2—स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय, परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (28, 29)।

प्रयोग—मुझ ज्योतिस्वरूपका स्वभाव है कि जो सत् है तद्विषयक जानन परिणमन चलता है, किन्तु बाह्य ज्ञेय से मेरा कुछ सम्बन्ध नहीं और तद्विषयक प्रतिभास भी औपाधिक है, मैं प्रतिभासमात्रस्वभावी हूँ, अतः मैं अपने में अपना जानन बर्तता हुआ रहूँ ऐसा अन्तः पौरुष करना चाहिये।।37।।

स्वयं नहीं परिणमने के कारण वास्तव में सदा ही अरूपी हूँ। ऐसे सबसे पृथक् स्वरूपका अनुभव करता हुआ मैं प्रताप सहित हूँ। ऐसे प्रताप रूप हुए मुझमें बाह्य अनेक प्रकार स्वरूपकी सम्पदा से समस्त परद्रव्य स्फुरायमान हैं तो भी परमाणु-मात्र द्रव्य भी मुझे आत्मीय रूप नहीं प्रतिभासित होता जिससे कि मेरे भावकरूपसे तथा ज्ञेयरूपसे मुझसे एक होकर फिर मोह उत्पन्न करे। क्योंकि मेरे निज रससे ही ऐसा महान् ज्ञान प्रकट हुआ है, जिसने मोहको मूलसे उखाड़ कर दूर किया है, जो फिर उसका अंकुर न उपजे ऐसा नाश किया है।

अथैवं दर्शनज्ञानचारित्रपरिणतस्यास्यात्मनः कीदृक् स्वरूपसंचेतनं भवतीत्यावेदयन्नुपसंहरति—

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी।

णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तंपि।।38।।

मैं एक 'ुद्ध चिन्मय, 'ुचि दर्शनज्ञानमय अरूपी हूँ।

अन्य परमाणु तक भी, मेरा कुछ भी नहीं होता।।38।।

अहमेकः खलु 'ुद्धो दर्शनज्ञानमयः सदाऽरूपी। नाप्यस्ति मम किंचिदप्यन्यत्परमाणुमात्रमपि।।38।।

यो हि नामानादिमोहोन्मत्ततयात्यंतमप्रतिबुद्धः सन् निर्विण्णेन गुरुणानवरतं प्रतिबो-
ध्यमानः कथंचनापि प्रतिबुध्य निजकरतलविन्यस्तविस्मृतचामीकरावलोकनन्यायेन परमेष्वरमा-
त्मानं ज्ञात्वा श्रद्धायानुचर्य च सम्यगेकात्मरामो भूतः स खल्वहमात्मात्मप्रत्यक्षं चिन्मात्रं
ज्योतिः। समस्तक्रमाक्रमप्रवर्तमानव्यावहारिकभावैच्चिन्मात्राकारेणाभिद्यमानत्वादेको नारका-
दिजीवविषेषाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षलक्षणव्यावहारिकनवतत्त्वेभ्यष्टंकोत्कीर्णकज्ञा-
यकस्वभावभावेनात्यंतविविक्तत्वाच्छुद्धः। चिन्मात्रतया सामान्यविषेषोपयोगात्मकतानतिक्रमणा-
द्वर्षनज्ञानमयः स्पर्शरसगंधवर्णनिमित्तसंवेदनपरिणतत्वेपि स्पर्शादिरूपेण स्वयमपरिणमनात्पर-
मार्थतः सदैवारूपीति प्रत्यगहं स्वरूपं संचेतयमानः प्रतपामि। एवं प्रतपतच्च मम बहिर्विचित्र-

नामसंज्ञ—अह, इक्क, खलु, सुद्ध, दंसणणाणमइअ, सदा, अरूवि, ण, वि, अह, किंचि, णि, अण्ण, परमाणुमित्त, पि। **धातुसंज्ञ**—सुज्झ 'गौचे, अस सत्तायां, दंस दर्शनायां। **प्रातिपदिक**—अस्मद्, एक, खलु,

‘जुद्ध, दर्शनज्ञानमय, सदा, अरूपिन्, न, अपि, मम किञ्चित्, अपि, अन्यत्, परमाणुमात्र, अपि। **मूलधातु**—
‘जुध ‘गौचे, दृषिर् प्रेक्षणे, ज्ञा अवबोधने। **पदविवरण**—अहं—प्रथमा एक०। एकः—प्रथमा एक०।
खलु—

भावार्थ—यह आत्मा अनादिकाल से लेकर मोह के उदय से अज्ञानी था, सो श्रीगुरु के उपदेश से और अपनी अच्छी होनहार से ज्ञानी हुआ, अपने स्वरूपको परमार्थ से जाना कि मैं एक हूँ, ‘जुद्ध हूँ, अरूपी हूँ, दर्शन ज्ञानमय हूँ। ऐसा अन्तस्तत्त्व जानने से मोहका समूल नाश हुआ, भावकभावसे और ज्ञेयभावसे भेदज्ञान हुआ, स्वरूपसम्पदा अनुभवमें आई, तब फिर मोह क्यों उत्पन्न होगा?

अब जिस आत्मा का अनुभव हुआ, उसकी महिमा आचार्य कहकर आशीर्वाद देते हैं कि ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा में समस्त लोक मग्न होवे ‘मज्जंतु’ इत्यादि। **अर्थ**—यह ज्ञानसमुद्र भगवान् आत्मा विभ्रमरूप चादर को ‘विक्रित से डुबोकर (दूर कर) आप सर्वांग प्रकट हुआ है सो अब समस्त लोक इसके ‘गान्तरसमें एक ही समय अतिषय से मग्न होवे। जो ‘गान्तरस समस्त लोक पर्यंत उछल रहा है।

भावार्थ—जैसे समुद्र की आड़ में कुछ आ जाय तब जल नहीं दिखता और जब आड़ दूर हो जाय तब प्रकट दीखता हुआ लोकको प्रेरणा योग्य हो जाता है कि इस जल में सब लोक स्नान करो। उसी तरह यह आत्मा विभ्रम द्वारा आच्छादित था, तब इसका रूप नहीं दीखता था, जब विभ्रम दूर हुआ, तब यथार्थ स्वरूप प्रकट हुआ। अब इसके वीतरागविज्ञान रूप ‘गान्तरसमें एक कालमें सब लोक मग्न हो जाओ, ऐसी आचार्य ने प्रेरणा की है अथवा जब आत्मा का अज्ञान दूर हो जाता है, तब केवलज्ञान प्रकट होता है, और तब समस्त लोकमें ठहरे हुए पदार्थ एक ही समय ज्ञानमें आकर झलकते हैं, उसको सब लोक देखो।

इस ग्रंथ का आषय अलंकार द्वारा नाटक रूपमें देखने से भाव सुगम हो जाता है। जैसे नाटक में पहले रंगभूमि रची जाती है, वहाँ देखने वाला नायक तथा सभा होती है और नृत्य करने वाले होते हैं, वे अनेक स्वांग रचते हैं तथा शृङ्गारादिक आठ रसों का रूप दिखलाते हैं उस जगह शृङ्गार, हास्य, रौद्र, करुणा, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत—ये आठ लौकिक रस हैं। नाटक में इनका ही अधिकार है। नवमा ‘गान्तरस है, वह लोकोत्तर है। इन रसों के स्थायीभाव, सात्त्विकभाव, अनुभावविभाव, व्यभिचारीभाव और इनकी दृष्टि स्वरूपसंपदा विष्ये परिस्फुरत्यपि न किञ्चनाप्यन्यत्परमाणुमात्रमप्यात्मीयत्वेन प्रतिभाति। यद्भावकत्वेन ज्ञेयत्वेन चैकीभूय भूयो मोहमुद्भावयति स्वरसत एवापुनः प्रादुर्भावाय समूलं मोहमुन्मूल्य महतो ज्ञानोद्योतस्य प्रस्फुरितत्वात्।

मज्जंतु निर्भरममी सममेव लोका आलोकमुच्छलति ‘गान्तरसे समस्ताः।

आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिंधुः।।32।। ।।38।।

इति श्रीसमयसार व्याख्यायामात्मख्यातौ ‘पूर्वरंगः’ समाप्तः।

अव्यय। ‘जुद्धः—प्रथमा एक०। दर्शनज्ञानमयः—प्रथमा एक०। सदा—अव्यय। अरूपी—प्रथमा एक०। न—अव्यय। अस्ति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया। मम—षष्ठी एक०। किञ्चित्—अव्यय। अन्यत्—प्रथमा एक०। अपि—अव्यय। अन्यत्—प्रथमा एक०। परमाणुमात्रं—प्रथमा एकवचन। अपि—अव्यय।।38।।

आदि का विषेष वर्णन रसग्रंथों में है वहाँ से जानना, किन्तु सामान्यपनेसे रसका यह स्वरूप है कि ज्ञान में जो ज्ञेय आया उससे ज्ञान तदाकार हो जाय, उसमें पुरुष का भाव लीन हो जाय अन्य ज्ञेयकी इच्छा न रहे वह रस है। सो नृत्य करने वाले नृत्यमें इन आठ रसों का रूप दिखलाते हैं। इसी प्रकार यहाँ पहले रंगभूमि स्थल कहा, वहाँ नृत्य करने वाले जीव

अजीव पदार्थ हैं और दोनों की एकरूपता व कर्तृकर्मत्व आदि उनके स्वांग हैं। उनमें परस्पर अनेक रूप होते हैं, वे आठ रसरूप होकर परिणत होते हैं, यही नृत्य है। वहाँ देखने वाला सम्यग्दृष्टि जीव अजीव के भिन्न स्वरूपको जानता है, वह तो इन सब स्वांगों को कर्मकृत जानकर 'गान्तरसमें ही मग्न है और मिथ्यादृष्टि प्राणी जीव अजीवका भेद नहीं जानते, इसलिए इन स्वांगों को सच्चा जानकर इनमें लीन हो जाते हैं। उनको सम्यग्दृष्टि यथार्थ दिखलाकर, उनका भ्रम मेटकर और 'गान्तरसमें उन्हें लीन कर सम्यग्दृष्टि बनाता है। उसकी सूचनारूप रंगभूमि के अन्तमें आचार्य ने "मज्जंतु" इत्यादि 'लोक जो रचा है, वह अब आगे जीव अजीव के एकत्व का स्वांग वर्णन करेंगे इसकी सूचनारूप है। इस प्रकार यहाँ तक रंगभूमिका वर्णन किया।

प्रसंगविवरण—वर्तमान निष्चयस्तुति के प्रकरण में अन्त में यह सिद्ध किया गया था कि आत्मा का दर्शन, ज्ञान, चारित्र में परिणत होने का वर्णन करना सत्य स्तवन है। अब यहाँ यह बता रहे हैं कि दर्शन, ज्ञान, चारित्र में परिणत हुये आत्मा को कैसा स्वरूपसंचेतन होता है।

तथ्यप्रकाश—(1) मोहोन्मत्त जीव अत्यन्त अप्रतिबुद्ध होता है। (2) अन्तस्तत्त्व तो सदा अन्तः है, उसकी सुध होना ही आत्मलाभ है। (3) अनन्तगुणपर्यायात्मकता विदित होने पर भी आत्मा चैतन्यमात्र स्वरूपमें अभेद होने से एक है। (4) ज्ञायकस्वभावमात्र होनेसे अनेक विध पर्याय व पुण्य—पापादि तत्त्वों से निराला होने के कारण आत्मा 'गुण' है। (5) सामान्य—विषेष्वात्मक प्रतिभासस्वरूप होनेसे आत्मा दर्शनज्ञानमय है। (6) रूपी पदार्थ भी ज्ञेय हों तो भी कभी भी रूपादिरूप न होने से आत्मा अरूपी है। (7) ज्ञानी को कुछ भी अन्य द्रव्य आत्मीय रूपसे विदित ही नहीं होता सो कोई भी अन्य द्रव्य भावकरूपसे या ज्ञेयरूपसे एकरूप हो ही नहीं सकता, अतः मोहकी उत्पत्ति असंभव है।

सिद्धान्त—(1) आत्मा स्वकीयचैतन्यस्वरूपमें अभेद होनेसे अखण्ड एक है। (2) आत्मा सर्वविकल्पों से विविक्त होनेसे 'गुण' है।

दृष्टि—1—परमषुद्धनिष्चयनय (44)। 2—षुद्धनय (49)।

प्रयोग—अपने को अरूपी व एक निरखकर सर्व विकल्पों से परे होकर 'गुण' प्रतिभासमात्र अनुभवना चाहिये।।38।।

इस प्रकार समयसारव्याख्या आत्मख्याति में 'पूर्व रंग' समाप्त हुआ।

जीवाजीवाधिकारः

अथ जीवाजीवावेकीभूतौ प्रविशतः।

जीवाजीवविवेकपुष्कलदृषा प्रत्याययत्पार्षदानासंसारनिबद्धबंधनविधिध्वंसाद्विषुद्धं स्फुटत्।
आत्माराममनंतधाममहसाध्यक्षेण नित्योदितं धीरोदात्तमनाकुलं विलसति ज्ञानं मनो ह्लादयत्।।33।।

अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई।

जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परुविति।।39।।

अवरे अज्झवसाणे—सु तिव्वमंदाणुभागगं जीवं।

मण्णंति तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवोत्ति।।40।।

कम्मस्सुदयं जीवं अवरे कम्माणुभागमिच्छंति।

तिव्वत्तणमंदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो।।41।।

जीवो कम्मं उहयं दोण्णिवि खलु केवि जीवमिच्छंति।

अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छति ।।42।।
 एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदन्ति दुम्मेहा ।
 ते ण परमट्ठवाई णिच्छयवाईहिं णिददिट्ठा ।।43।।
 आत्मा न जानि मोही, बहुतेरे परको आत्मा कहते ।
 अध्यवसान तथा विधि को आत्मरूपमें लखते ।।39।।

नामसंज्ञ—अप्प, अयाणंत, मूढ, दु, परप्पवादि, केई, जीव, अज्झवसाण, कम्म, च, तहा, अवर, अज्झवसाण, तिव्वमंदाणुभागग, जीव, तहा, अवर, णोकम्म, च, अवि, जीव, इत्ति, कम्म, उदय, जीव, कम्माणुभाग, तिव्वत्तणमंदत्तणगुण, ज, त, जीव, जीव, कम्म, उहय, दु, वि, खलु, क, वि, जीव, अवर,

आगे जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य ये दोनों एक होकर रंगभूमिमें प्रवेश करते हैं। इस के प्रारंभ में मंगल का अभिप्राय लेकर आचार्य ज्ञानकी प्रशंसा करते हैं कि जो सब वस्तुओं का जानने वाला यह ज्ञान है, वह जीव अजीव के सब स्वांगों को अच्छी प्रकार पहचानता है, ऐसा सम्यग्ज्ञान प्रकट होता है। इसी के अर्थरूप 'लोक कहते हैं—'जीवाजीव' इत्यादि।

अर्थ—ज्ञान है वह मनको आनंदरूप करता हुआ प्रगट होता है। वह जीव अजीवके स्वांगको देखने वाले महान् पुरुषों को जीव अजीव का भेद देखने वाली बड़ी उज्ज्वल निर्दोष दृष्टि से भिन्न द्रव्यकी प्रतीति कराता है, अनादि संसारसे जिनका बंधन दृढ़ बंधा हुआ है, ऐसे ज्ञानावरणादि कर्मों के नाश से विषुद्ध हुआ है, स्फुट हुआ है, जैसे फूल की कली खिलती है, उस तरह विकाषरूप है। जिसके रमने का क्रीडावन आत्मा ही है अर्थात् जिसमें अनंत ज्ञेयों (पदार्थों) के आकार आकर झलकते हैं तो भी आप अपने स्वरूपमें ही रमता है, जिसका प्रकाश अनंत है, प्रत्यक्ष तेज द्वारा नित्य उदयरूप है धीर है, उदात्त है, इसी से अनाकुल है सब इच्छाओं से रहित निराकुल है। यहाँ धीर, उदात्त, अनाकुल ये तीन विशेषण 'आंतरूप नृत्य के आभूषण जानने चाहिये। ऐसा ज्ञान विलास करता है।

भावार्थ—यहाँ ज्ञान की महिमा कही। जीव अजीव एक होकर रंगभूमिमें प्रवेश करते हैं, उनको यह ज्ञान ही भिन्न जानता है। जैसे कोई नृत्यमें स्वांग धारण कर आ जाय उसे यथार्थ जो जाने उसको स्वांग करने वाला नमस्कार कर अपना जैसा का तैसा रूप कर लेता है उसी तरह यहाँ भी जानना ऐसा ज्ञान सम्यग्दृष्टि पुरुषों के होता है, मिथ्यादृष्टि यह भेद नहीं जानता।

आगे जीव अजीव का एकरूपक स्वांगका वर्णन करते हैं:—[आत्मानं अजानंतः] आत्मा को न जानते हुए [परात्मवादिनः] परको आत्मा कहने वाले [केचित् मूढाः तु] कोई मोही अज्ञानी तो [अध्यवसानं] अध्यवसानको [तथा च] और कोई अज्ञानी [कर्म] कर्म को

कइ अध्यवसानों में, जीव कहें तीव्रमंदफलततिको ।
 कोई आत्मा माने, इन नाना रूप देहों को ।।40।।
 कोई कर्मोदय को, जीव कहें कर्मपाक सुख-दुखको ।
 तीव्र मंद अंशों में, जो नाना अनुभवा जाता ।।41।।
 जीव कर्म दोनों को, मिला हुआ कोई जीवको जाने ।
 अष्टकर्म संयोग हि, कितने ही जीवको मानें ।।42।।
 ऐसे नाना दुर्मति, परतत्त्वों को हि आत्मा कहते ।
 वे न परमार्थवादी, ऐसा तत्त्वज्ञ दर्शाते ।।43।।

आत्मानमजानंतो मूढास्तु परात्मवादिनः केचित् । जीवमध्यवसानं कर्म च तथा प्ररूपयन्ति ।।39।।
 अपरेऽध्यवसानेषु तीव्रमंदानुभागगं जीवं । मन्यन्ते तथाऽपरे नोकर्म चापि जीव इति ।।40।।
 कर्मण उदयं जीवमपरे कर्मानुभागमिच्छन्ति । तीव्रत्वमंदत्वगुणाभ्यां यः स भवति जीवः ।।41।।

जीवकर्मोभयं द्वे अपि खलु केचिज्जीवमिच्छन्ति। अपरे संयोगेन तु कर्मणां जीवमिच्छन्ति।।42।।
एवंविधा बहुविधाः परमात्मानं वदन्ति दुर्मेधसः। ते न परमार्थवादिनः निष्चयवादिभिर्निर्दिष्टाः।।43।।

इह खलु तदसाधारणलक्षणाकलनात्क्लीबत्वेनात्यंतविमूढाः संतस्तात्त्विकमात्मानमाज-
न्तो बहवो बहुधा परमप्यात्मानमिति प्रलपन्ति। नैसर्गिकरागद्वेषकल्माषितमध्यवसानमेव
जीवस्तथाविधाध्यवसानात् अंगारस्येव काष्ण्यादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्।

संयोग, दु, कम्म जीव, एवंविह, बहुविह, पर, अप्प, दुम्मेह, त, ण, परमट्ठवादि, णिच्छयवादि, णिद्विट्ठ।
धातुसंज्ञ—मुञ्ज मोहे, प—रुव घटनायां, मत्र अवबोधने तृतीयगणे, इच्छ इच्छायां, हव सत्तायां, वद
व्यक्तायां वाचि। **प्रकृतिशब्द**—आत्मन्, अजानत्, मूढ, तु, परात्मवादिन्, केचित्—अन्तः प्रथमा बहु०
अव्यय,

[जीवं प्ररूपयन्ति] जीव कहते हैं। [अपरे] अन्य कोई [अध्यवसानेशु] अध्यवसानों में
[तीव्रमंदानुभागगं] तीव्रमंद अनुभागगतको [जीवं मन्यन्ते] जीव मानते हैं। [तथा] और [परे]
अन्य कोई [नोकर्म अपि च] नोकर्म को [जीव इति] जीव मानते हैं [अपरे] अन्य कोई
[कर्मण उदयं] कर्म के उदयको [जीवं] जीव मानते हैं, कोई [कर्मानुभागं] कर्म के अनुभाग
को [यः] जो कि [तीव्रत्वमंदत्वगुणाभ्यां] तीव्रमंद रूप गुणों से भेदको प्राप्त होता [सः] वह
[जीवः भवति] जीव है [इच्छन्ति] ऐसा इष्ट करते हैं [केचित्] कोई [जीवकर्मोभयं] जीव
और कर्म [द्वे अपि] दोनों मिले हुए को [खलु] ही [जीवं इच्छति] जीव मानते हैं [तु] और
[अपरे] अन्य कोई [कर्मणां संयोगेन] कर्मों के संयोग से ही [जीवं इच्छति] जीव मानते
हैं। [एवंविधाः] इस प्रकार के तथा [बहुविधाः] अन्य भी बहुत प्रकार के [दुर्मेधसः] दुर्बुद्धि
मिथ्यादृष्टि [परं] परको [आत्मानं] आत्मा [वदन्ति] कहते हैं [ते न परमार्थवादिनः] वे
परमार्थ याने (सत्यार्थ कहनेवाले नहीं हैं) ऐसा [निश्चयवादिभिः] निष्चय तत्त्वके वादियों ने
[निर्दिष्टाः] कहा है।

तात्पर्य—अज्ञानी जीव अध्यवसान, भावकर्म, अध्यवसानसंतति, 'रीर', 'गुभाषुभभाव,
सुख—दुःखादि कर्मविपाक, आत्कर्मोभय व कर्मसंयोग को जीव कहते हैं, किन्तु परमार्थतः ये
कोई भी जीव नहीं है।

टीका—इस जगत में आत्मा का असाधारण लक्षण न जानने के कारण असमर्थ
होनेसे अत्यन्त विमूढ होते हुए परमार्थभूत आत्मा को न जानने वाले बहुतेरे अज्ञानी जन
बहुत प्रकार से परको ही आत्मा इस प्रकार कहते हैं। कोई तो ऐसा कहते हैं कि स्वाभाविक
स्वयमेव हुये रागद्वेष से मलिन अध्यवसान अर्थात् आषयरूप विभाव परिणाम ही जीव है,
क्योंकि जैसे कालिमा से अलग अंगार दिखाई नहीं देता है वैसे अध्यवसानसे अलग अन्य
कोई जीव दीखता नहीं। कोई कहते हैं कि पूर्व पञ्चात् अनादि से लेकर और आगामी
अनंतकाल तक अवयव रूप एक भ्रमण क्रियारूपसे क्रीडा करता हुआ कर्म ही जीव है,
क्योंकि इस कर्मसे भिन्न कुछ अन्य जीव देखने में नहीं आता। कोई कहते हैं कि तीव्र मंद
अनुभवसे भेदरूप हुआ और जिसका अंत दूर है ऐसे रागरूप रससे भरी जो अध्यवसान की
अनाद्यनंतपूर्वापरीभूतावयवैकसंसरणक्रियारूपेण क्रीडत्कर्मव जीवः कर्मणोतिरिक्तत्वेनान्यस्या-
नुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। तीव्रमंदानुभवभिद्यमानदुरंतरागरसनिर्भराध्यवसानसंतान एव
जीवस्ततोरिक्तस्यान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। नवपुराणावस्थादिभावेन प्रवर्तमानं
नोकर्मैव जीवः 'रीरादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। विष्वमपि पुण्यपाप-
रूपेणाक्रामन् कर्मविपाक एव जीवः 'गुभाषुभभावादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति
केचित्। सातासातरूपेणाभिव्याप्तसमस्ततीव्रमंदत्वगुणाभ्यां भिद्यमानः कर्मानुभव एव जीवः

जीव, अध्यवसान, कर्मन्, च, तथा, अपर, अध्यवसान, तीव्रमन्दानुभागग, जीव, तथा, अपर, नोकर्मन्, च,
अपि, जीव, इति, कर्मन्, उदय, जीव, अपर, कर्मानुभाग, तीव्रत्वमंदत्वगुण, यत्, तत्, जीव, जीवकर्मोभय,

द्वि, अपि, खलु, केचित्, जीव, अपर, संयोग, तु, कर्मन्, जीव, एवंविध, बहुविध, पर, आत्मन्, दुर्मधस्, तत्, न, परमार्थवादिन्, निष्कर्मणि, निर्दिष्ट। **मूलधातु**—वद संदेशवचने चुरादिगण, अधि-अव षिञ् बंधने, अनु-भाज पृथक्कर्मणि चुरादिगणे, इषु इच्छायां, मन ज्ञाने, वद व्यक्तायां वाचि। **पदविवरण**—आत्मानं-द्वितीया एक०। अजानन्तः-प्रथमा बहु०। मूढाः-प्र० बहु०। तु-अव्यय। परात्मवादिनः-प्रथमा बहु०। केचित्-अव्यय तथा अन्तः प्रथमा बहुवचन। जीवं-द्वि० ए०। अध्यवसानं-द्वितीया ए०। कर्म-द्वि० ए०। च-अव्यय। तथा-अव्यय। प्ररूपयन्ति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन चुरादिगणे क्रिया। अपरे-प्रथमा बहु०। अध्यवसानेषु-सप्तमी बहु०। तीव्रमन्दानुभागं-द्वि० ए०। जीवं-द्वि० ए०। मन्यन्ते-वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन क्रिया। तथा-अव्यय। अपरे-प्रथमा बहु०। नोकर्म-द्वि० ए०। जीवः-प्रथमा एक०।

संतान (परिपाटी) है वही जीव है, क्योंकि इससे अन्य कोई जुदा जीव देखने में वही आता। कोई कहते हैं कि नवीन और पुरानी अवस्था इत्यादि भावसे प्रवर्तमान जो नोकर्म वही जीव है, क्योंकि इस 'रीर से अन्य भिन्न कुछ जीव देखने में नहीं आता। कोई ऐसा कहते हैं कि समस्त लोकको पुण्यपाप रूपसे व्याप्त कर्मका विपाक ही जीव है, क्योंकि 'गुणभूभावसे अन्य भिन्न कोई जीव देखने में नहीं आता। कोई कहते हैं कि साता असातारूपसे व्याप्त समस्त तीव्र-मंदत्व गुणों से भेदरूप हुआ जो कर्म का अनुभव वही जीव है क्योंकि सुख-दुःखसे अन्य भिन्न कोई जीव देखने में नहीं आता कोई कहते हैं कि श्रीखण्ड की तरह दो रूप मिला जो आत्मा और कर्म ये दोनों मिले ही जीव हैं क्योंकि समस्त रूपसे कर्मसे भिन्न कोई जीव देखने में नहीं आता है। कोई कहते हैं कि प्रयोजनभूत क्रियामें समर्थ कर्मसंयोग ही जीव है, क्योंकि कर्म के संयोग से भिन्न कोई जीव देखने में नहीं आता जैसे कि आठ काठ के टुकड़े मिलकर खाट हुई, तब अर्थक्रिया में समर्थ हुई सो आठ काठ के संयोग से अलग कोई खाट नहीं इसी तरह यहां भी जानना ऐसा मानते हैं। इस प्रकार आठ प्रकार तो ये कहे और अन्य भी अनेक प्रकार परको जो आत्मा कहते हैं वे दुर्बुद्धि हैं, उनको परमार्थ से जानने वाले उन्हें सत्यार्थवादी नहीं कहते।

भावार्थ—जीव अजीव दोनों ही अनादिकालसे एक क्षेत्रावगाह संयोगरूप मिल रह हैं और अनादिसे ही पुद्गल के संयोग से जीव की विकार सहित अनेक अवस्थाएं हो रही हैं। यदि परमार्थदृष्टि से देखा जाय तब जीव तो अपने चैतन्य आदि भावको नहीं छोड़ता और पुद्गल अपने मूर्तिक जड़त्व आदि को नहीं छोड़ता। लेकिन जो परमार्थ को नहीं जानते हैं, वे संयोगजन्य भावों को ही जीव कहते हैं। परमार्थसे जीवका स्वरूप पुद्गल से भिन्न सर्वज्ञ को दीखता है तथा सर्वज्ञ की परंपरा के आगमसे जाना जाता है। जिनके मत में सर्वज्ञ नहीं माना गया है, वे ही अपनी बुद्धिसे अनेक कल्पना करके कहते हैं।

प्रसंगविवरण—सर्ववर्णनीयस्वरूप तथा अधिकारस्वरूप 13वीं गाथामें जीवाजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध व मोक्ष की चर्चा की गई थी। अतः पूर्वरंग के बाद इनका वर्णन आवश्यक है, सो उनमें से प्रथम क्रमप्राप्त जीव व अजीव का इस अधिकार में वर्णन किया जा रहा है, इसी कारण इस अधिकार का नाम जीवाजीवाधिकार है।

सुखदुःखातिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। मज्जितावदुभयात्मकत्वादात्मकर्मो-भयमेव जीवः कात्स्न्यतः कर्मणोतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। अर्थक्रिया-समर्थः कर्मसंयोग एव जीवः कर्मसंयोगात्खट्वाया इवाष्टकाष्टसंयोगादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानु-पलभ्यमानत्वादिति केचित् एवमेवंप्रकारा इतरेपि बहुप्रकाराः परमात्मेति व्यपदिषति दुर्मधसः किंतु न ते परमार्थवादिभिः परमार्थवादिनः इति निर्दिष्यन्ते। |39-40-41-42-43।।

इति-अव्यय। कर्मणः-षष्ठी एकवचन। उदयं-द्वि० ए०। जीवं-द्वि० एक०। अपरे-प्रथमा बहु०। कर्मानुभागं-द्वितीया बहु०। इच्छन्ति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु०। तीव्रत्वमंदत्वगुणाभ्यां-तृतीया द्विवचन। यः-प्रथमा एक०। सः-प्रथमा एकवचन। भवति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। जीवः-प्रथमा एक०। जीवकर्माभयं-प्रथमा एक०। द्वे-द्वितीया द्वि०। अपि-अव्यय। खलु-अ०। केचित्-अ० अंतः प्रथमा बहु०।

जीव-द्वितीया एक०। इच्छन्ति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु० क्रिया। अपरे-प्रथमा बहु०। संयोगेन-तृतीया एक०। कर्मणां-षष्ठी बहु०। जीव-द्वितीया एक०। एवंविधाः-प्रथमा ब०। बहुविधाः-प्रथमा ब०। परं-द्वि० ए०। आत्मानं-द्वि० ए०। वदन्ति-वर्तमान अन्य० ब०। दुर्मधसः-प्रथमा ब०। ते-प्रथमा ब०। न-अव्यय। परमार्थवादिनः-प्रथमा ब०। निष्चयवादिनः-तृ० ब०। निर्दिष्टाः-प्रथमा बहुवचन कृदन्त क्रिया कान्त ।।39-40-41-42-43 ।।

तथ्यप्रकाश—1—वेदान्तादिसम्मत जैसा नैसर्गिक रागद्वेष कलुषित अध्यवसान जीव नहीं है। 2—मीमांसकादिसम्मत जैसा संसरणक्रियाविलसित कर्म जीव नहीं है। 3—सांख्यादिसम्मत जैसा अध्यवसानसंतान जीव नहीं है। 4—वैशेषिकादिसम्मत जैसा नवीन-नवीन दषामें प्रवर्तमान 'रीर ही जीव हो ऐसा नहीं है। 5—बौद्धादिसम्मत जैसा क्षणिक 'भुभ अषुभभाव ही जीव हो, ऐसा नहीं है। 6—योगादिसम्मत जैसा सुख दुःख मात्र ही जीव हो ऐसा नहीं है। 7—नैयायिकादिसम्मत जैसा आत्मकर्माभय जीव हो ऐसा नहीं है। 8—चार्वाकादि सम्मत जैसा कर्मादि के संयोगमात्र जीव हो ऐसा नहीं है।

सिद्धान्त—1—परद्रव्य में जीवत्व का आरोप करना उपचार है। 2—नैमित्तिक भावों में जीवत्व का आरोप करना भी उपचार है।

दृष्टि—1—द्रव्ये द्रव्योपचारक व्यवहार (106), संश्लिष्टविजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार (125)। 2—उपाधिज उपचरित स्वभावव्यवहार (103)।

प्रयोग—परद्रव्यों से व परभावों से उपयोग हटा करके अपने में पूर्णविश्राम कर स्वयं अवपे कसे अनुभवना चाहिये।।39-40-41-42-43 ।।

ऐसा कहने वाले सत्यार्थवादी नहीं हैं, सो क्यों नहीं? उसका उत्तर कहते हैं—[एते] ये पूर्व कहे हुए अध्यवसान आदिक [सर्वे भावाः] सभी भाव [पुद्गलद्रव्यपरिणामनिष्पन्नाः] पुद्गलद्रव्यके परिणमन से उत्पन्न हुए हैं ऐसा [केवलिजिनैः] केवली सर्वज्ञजिनदेवने [भणिताः] कहा है सो [ते जीवाः] वे जीव हैं [इति कथं उच्यंते] ऐसा कैसे कह सकते हैं? अर्थात् नहीं कह सकते।

तात्पर्य—पूर्वोक्त गाथा में अज्ञानीसम्मत जीव कुछ तो उपादानतया पौद्गलिक हैं, कुछ निमित्ततया पौद्गलिक हैं।

टीकार्थ—चूँकि ये अध्यवसानादिक भाव सब पदार्थों को साक्षात् देखने वाले भगवान् वीतराग सर्वज्ञ अरहंतदेवके द्वारा "पुद्गलद्रव्यपरिणामजन्य" कहे गये अतः चैतन्यभावसे 'नून्य पुद्गलद्रव्यसे भिन्न रूपसे कहे गये चैतन्यस्वभावमय जीव द्रव्य होने को समर्थ नहीं हैं इस कारण निष्चयसे आगम, युक्ति और स्वानुभव इन तीनों द्वारा बाधित होनेसे जो इन अध्यवसानादिकों को जीव कहते हैं वे परमार्थवादी याने सत्यार्थवादी नहीं है। ये सब जीव नहीं है, ऐसा जो सर्वज्ञ का वचन है वह तो आगम है और यह स्वानुभवगर्भित युक्ति है, क्या, सो कहते हैं—स्वयमेव उत्पन्न हुआ रागद्वेष से मलिन अध्यवसान निष्चयतः जीव नहीं है, क्योंकि जैसे सुवर्ण कालिमा से पृथक् है, उसी प्रकार चित्स्वभावरूप ऐसे अध्यवसान से कतः—

ए ए सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा ।

केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवो ति वुच्चंति ।।44 ।।

एसे नाना दुर्मति, परतत्त्वों को हि आत्मा कहते ।

वे न परमार्थवादी, ऐसा तत्त्वज्ञ दर्शाते ।।44 ।।

एते सर्वे भावाः पुद्गलद्रव्यपरिणामनिष्पन्नाः। केवलिजिनैर्भणिताः कथं ते जीव इत्युच्यंते ।।44 ।।

यतः एतेऽध्यवसानादयः समस्ता एव भावा भगवद्भिर्विष्वसाक्षिभिरर्हद्भिः पुद्गलद्रव्य-परिणाममयत्वेन प्रज्ञप्ताः संतष्यैतन्यषून्यात्पुद्गलद्रव्यादतिरिक्तत्वेन प्रज्ञाप्यमानं चैतन्यस्वभावं

जीवद्रव्यं भवितुं नोत्सहंते ततो न खल्वागमयुक्तिस्वानुभवैर्बाधितपक्षत्वात् तदात्मवादिनः पर-
मार्थवादिनः एतदेव सर्वज्ञवचनं तावदागमः। इयं तु स्वानुभवगर्भिता युक्तिः न खलु नैसर्गिक-
रागद्वेषकल्माषितमध्यवसानं जीवस्तथाविधाध्यवसानात्कार्तस्वरस्येव 'यामिकायाः अतिरिक्तत्वे-

नामसंज्ञ—एत, सव्य, भाव, पुग्गलदव्यपरिणामणिष्पण, केवलिजिण, भणिय, कह, त, जीव इति।
धातुसंज्ञ—भण कथने, वच्च व्यक्तायां वाचि। **प्रकृतिशब्द**—एतत्, सर्व, भाव, पुद्गलद्रव्यपरिणामनिष्पन्न,
केवलिजिन, भणित, कथं, तत्, जीव, इति। **मूलधातु**—जि जये, भण व्यक्तायां वाचि, वच
परिभाषणे।

भिन्न जीव भेद विज्ञानियों को प्रतिभासित होता है, वे स्वयं प्रत्यक्ष चैतन्यभावको पृथक्
अनुभव करते हैं।॥१॥ अनाद्यनंत पूर्वापरीभूत एक संसरणक्रियारूप क्रीडा करता हुआ कर्म है
वह भी जीव नहीं है क्योंकि कर्मसे पृथक् अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदविज्ञानियों को
प्राप्त है, वे स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।॥२॥ तीव्रमंद अनुभवसे भेदरूप हुआ दुरंत
राग-रससे भरी अध्यवसान की संतान भी जीव नहीं है, क्योंकि उस संतान से अन्य पृथक्
चैतन्यस्वरूप जीव भेदविज्ञानियों को स्वयमेव प्राप्त है, वे स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।॥३॥
नई पुरानी अवस्थादिके भेदसे प्रवृत्त हुआ जो नोकर्म है वह भी जीव नहीं है, क्योंकि 'ारीर
से अन्य पृथक् चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदविज्ञानियों को स्वयंमेव प्राप्त है, वे स्वयं आप
प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।॥४॥ समस्त जगत को पुण्य-पापरूपसे व्यापता कर्मका विपाक भी
जीव नहीं है; क्योंकि 'ुभाषुभभावसे अन्य पृथक् चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदविज्ञानियों को
स्वयंमेव प्राप्त है, वे स्वयं आप प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।॥५॥ साता असाता रूपसे व्याप्त
समस्त तीव्रमंदतारूप गुणसे भेदरूप हुआ कर्मका अनुभव भी जीव नहीं है; क्योंकि
सुख-दुःखसे पृथक् अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव की भेदविज्ञानियों को स्वयं प्राप्ति है, वे
स्वयं आप प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।॥६॥ श्रीखंड की तरह दो स्वरूप मिले आत्मा और कर्म
दोनों ही जीव नहीं हैं, क्योंकि कर्मसे पूर्णरूपतः भिन्न अन्य चैतन्यस्वरूप जीव भेदज्ञानियों
को स्वयं प्राप्त है, वे स्वयं प्रत्यक्ष आप अनुभव करते हैं।॥७॥ अर्थक्रियामें समर्थ कर्मका
संयोग भी जीव नहीं है; क्योंकि 'जैसे आठ काठ के टुकड़ों रूप खाटपर सोने वाला पुरुष
अन्य है' उसी प्रकार कर्मसंयोग से भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव की भेदविज्ञानियों को
स्वयं प्राप्ति है, वे स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।॥८॥ **भावार्थ**—चैतन्यस्वभावरूप जीव सब
परभावों से भिन्न भेदज्ञानियों के अनुभवगोचर है, इस कारण अज्ञानी जिस प्रकार मानते हैं,
उस प्रकार नहीं है।

अब यहाँ पर पुद्गल से भिन्न जो आत्मा की उपलब्धि उसको अन्यथा ग्रहण करने
वाला याने पुद्गल को ही आत्मा जानने वाला जो पुरुष है उसको समभावसे ही उपदेश
करना चाहिए, ऐसा काव्य में कहते हैं 'विरम' इत्यादि। **अर्थ**—हे भव्य, तुझे निष्प्रयोजन
कोलाहल करने से क्या लाभ है, उस कोलाहल से तू विरक्त हो और एक चैतन्यमात्र
वस्तुको एकान्त में स्वयं निष्चय लीन होकर छः महीना अभ्यास कर देख तो कि जिसका
तेज प्रताप-प्रकाश पुद्गल से भिन्न है ऐसे आत्मा की अपने हृदयसरोवर में प्राप्ति होती है
नान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात्। न खलु सातासातरूपेणाभिव्याप्त
समस्ततीव्रमंदत्वगुणाभ्यां भिद्यमानः कर्मानुभावो जीवः सुखदुःखातिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य
विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात्। न खलु मज्जिताधदुभयात्मकत्वादात्मकर्मोभयं जीवः
कात्स्न्यतः कर्मणोतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात्। न
खल्वर्थक्रियासमर्थः कर्मसंयोगो जीवः कर्मसंयोगात्खट्वाषायिनः पुरुषस्येवाष्टकाष्ठ-
संयोगादतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वादिति। इह खलु
पुद्गलभिन्नात्मोपलब्धिं प्रति विप्रतिपन्नः साम्नैवैवमनुषास्यः। विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन,

स्वयमपि निभृतः सन् पष्य पण्मासमेकं। हृदयसरसि पुंसः पुद्गलादिभन्नधाम्ना, ननु किमनुपलब्धिर्भाति किंचोपलब्धिः।।34।।।।44।।

पदविवरण—एते—प्रथमा ब०। सर्वे—प्रथमा ब०। भावाः—प्रथमा ब० कर्मवाच्ये कर्म। पुद्गलद्रव्यपरिणाम—निष्पन्ना—प्रथमा बहु०। केवलजिनैः तृतीया ब० कर्मवाच्य में कर्ता। भणिताः—प्रथमा ब० कर्मवाच्य में क्रिया कान्त कृदन्त। कथं—अव्यय। ते—प्रथमा ब०। जीवः—प्रथमा एकवचन। इति—अव्यय। उच्यंते—वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन भावकर्मप्रक्रिया कर्मवाच्य में क्रिया।।44।।

या नहीं। **भावार्थ**—यदि अपने स्वरूपका अभ्यास करे तो उसकी प्राप्ति अवष्य होती है, हाँ पर वस्तुकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अपना स्वरूप तो विद्यमान ही है परन्तु भूल रहा है सो चेत कर देखे तो पास ही है। यहाँ छह महीने का अभ्यास कहा सो ऐसा नहीं समझना कि इतना ही समय लगेगा, इसका होना तो अन्तर्मुहूर्तमात्रमें ही है परन्तु षिष्य को बहुत कठिन मालूम पड़े तब उसको समझाया है कि यदि बहुत काल भी समझने में लगेगा तो छह महीने से अधिक नहीं लगेगा। इसलिए अन्य निष्प्रयोजन कोलाहलको छोड़ इसमें लगने से 'गीघ्न स्वरूपकी प्राप्ति होगी, ऐसा उपदेश किया है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व 5 गाथाओं में अज्ञजनसम्मत जीव के परिचय का निर्देश किया था और अन्तमें कहा था कि ऐसा कहने वाले याने परको आत्मा कहने वाले परमार्थवादी नहीं है। सो उसी तथ्य का इस गाथा में वर्णन है कि पूर्वोक्त परात्मवादी किस कारणसे परमार्थवादी नहीं है।

तथ्यप्रकाश—1—पूर्वगाथोक्त 8 प्रकार का परात्मवाद परमार्थवाद नहीं है यह आगम से सिद्ध है। 2—पूर्वगाथोक्त 8 प्रकार का परात्मवाद युक्ति और अनुभवसे अथवा स्वानुभवगर्भित युक्ति से भी सिद्ध नहीं होता। 3—स्वानुभवगर्भित युक्ति यह है कि—उन कल्पित 8 प्रकारों से अन्य चित्स्वभावमात्र अन्तस्तत्त्व भेदविज्ञानियों द्वारा स्वयं उपलभ्यमान हुआ है। 4—यहाँ आत्मोपलब्धि के अर्थ छह माह तक भी पुरुषार्थ करने का जो उपदेश किया है उसका कारण यह है कि अनंतानुबन्धी कषाय सम्यक्त्वघातक है और उस कषायका संस्कार छह माह से अधिक व भव भवान्तर तक भी रहता है, लेकिन जो अन्तस्तत्त्व की दृष्टि का अभ्यास अनंवरत बनावे तो उसे ज्यादा से ज्यादा छह महीने के अन्दर ही आत्मोपलब्धि हो जायगी, जल्दी से जल्दी अन्तर्मुहूर्त में हो जायगी।

सिद्धांत—1—अध्यवसान, भावकर्म, अध्यवसानसंतति, 'गुभाषुभभाव, जीव में हुए सुख दुःखादि ये पुद्गलकर्मोपाधि का निमित्त पाकर होने से पौद्गलिक हैं। 2—आत्मकर्मोभय आत्मा व कर्म इन दोनों का सम्मिश्रण मानने से पौद्गलिक हैं। 3—षरीर व कर्मसंयोग स्वयं आप ही उपादानतया पौद्गलिक हैं।

दृष्टि—1—विवक्षितैकदेषषुद्धनिष्चयनय (48)। 2—संश्लिष्ट स्वजातिविजात्युपचरित असद्भूतव्यवहार (127)। 3—कारककारकिभेदक सदभूतव्यवहार (73)।

प्रयोग—सहज एकत्वविभक्त अन्तस्तत्त्व चित्स्वभावके अतिरिक्त सभी भावों को परभाव निरखकर उनका ख्याल भी छोड़कर चित्स्वभावमात्र अपने को अपने में पा लेवे ऐसा परम विश्राम लेना चाहिये।।44।।

कथं चिदन्वयत्वप्रतिभासेप्यध्यवसानादयः पुद्गलस्वभावा इति चेत्—

अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति।

जस्स फलं तं वुच्चइ दुक्खं ति विपच्चमाणस्स।।45।।

आठों ही कर्मों को, पुद्गलमय ही जिनेन्द्र बतलाते।

जिनके कि उदय का फल, सारा दुखरूप कहलाता।।45।।

अष्टविधमपि च कर्म सर्वं पुद्गलमयं जिना विदंति। यस्य फलं तदुच्यते दुःखमिति विपच्यमानस्य।।45।।

अध्यवसानादिभावनिर्वर्तकमष्टविधमपि च कर्म समस्तमेव पुद्गलमयमिति किल सक-
लज्ञप्तिः तस्य तु यद्विपाककाष्ठामधिरूढस्य फलत्वेनाभिलप्यते तदनाकुलत्वलक्षणसौख्या-
नामसंज्ञ—अट्टविह, पि, य, कम्म, सव्व, पुग्गलमय, जिण, ज, फल, त, दुख, इति, विपच्चमाण।

धातुसंज्ञ—विद ज्ञाने, वच्च व्यक्तायां वाचि। प्रकृतिशब्द—अष्टविध, अपि, च, कर्मन्, सर्व, पुद्गलमय,
जिन, यत्, फल, तत्, दुःख, इति, विपच्चमान। मूलधातु—विद ज्ञाने, वच परिभाषणे, डुपचष् पाके।
पदविवरण—अष्टविधं—द्वि० एक०, अपि—अव्यय, च—अ०, कर्म—द्वि० एक०, सर्व—द्वि० एक०,
पुद्गलमयं—

अब षिष्य पूछता है कि इन अध्यवसानादिक भावों को तो जीव नहीं बतलाया, अन्य
चैतन्यस्वभावको जीव कहा सो ये भाव भी तो चैतन्य से ही सम्बन्ध रखने वाले मालूम होते
हैं, चैतन्य के बिना जड़ के तो होते नहीं, इनको पुद्गल के कैसे कहा? ऐसा पूछा जाने पर
उत्तर रूप गाथासूत्र कहते हैं—[अष्टविधमपि च] आठों ही तरह के [कर्म] कर्म [सर्व] सब
[पुद्गलमयं] पुद्गलस्वरूप हैं, ऐसा [जिनाः] जिन भगवान् सर्वज्ञदेव [दिन्दन्ति] कहते हैं।
[यस्य विपच्चमानस्य] जिस पचकर उदय में आने वाले कर्मका [फलं] फल [तत्] प्रसिद्ध
[दुःखं] दुःख है [इति उच्यते] ऐसा कहा गया है।

तात्पर्य—आठों ही प्रकार के कर्म पौद्गलिक हैं और जब वे उदय में आते हैं तब
उनका फल दुःख ही होता है।

टीकार्थ—अध्यवसान आदि समस्त भावों के उत्पन्न करने वाले आठ प्रकार के जो
ज्ञानावरणादि कर्म हैं, वे सभी पुद्गलमय हैं, ऐसा सर्वज्ञदेव का वचन है। विपाक की
पराकाष्ठा को प्राप्त कर्म को फलरूपसे जो कहा जाता है वह कर्मफल अनाकुलतास्वरूप
सुखनामक आत्मा के स्वभाव से विलक्षण है, आकुलतामय है, इसलिए दुःख है। उस दुःख में
ही आकुलतास्वरूप अध्यवसान आदिक भाव समाविष्ट हो जाते हैं, इसलिए वे यद्यपि चैतन्य
से सम्बन्ध होने का भ्रम उत्पन्न करते हैं, तो भी वे आत्मा के स्वभाव नहीं हैं, किन्तु
पुद्गलस्वभाव ही हैं।

भावार्थ—यह आत्मा कर्म का उदय आने पर दुःखरूप परिणमन करता है और जो
दुःखरूप भाव है वह अध्यवसान है, इसलिए दुःखरूप भावमें चेतन के सम्बन्ध का भ्रम बन
जाता है। परमार्थ से दुःखस्वरूप भाव चेतन नहीं है, कर्मजन्य है, इस कारण जड़ ही है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में कहा गया था कि अध्यवसान आदि भाव सब
पुद्गलकर्मनिष्पन्न हैं सो उस पर यह आशंका होती है कि अध्यवसान आदि भावों का तो
चेतन में अन्वय दिखता याने 'जुभाषुभ भाव, सुख—दुःख भाव आदि चेतन में ही पाये जाते,
फिर इनको पुद्गलस्वभाव क्यों कहा गया है? इसी प्रश्न का इस गाथा में समाधान किया
गया है।

तथ्यप्रकाश—(1) जिस समय नवीन कर्मवर्गणावों का बन्ध होता है उसी समय उन
कर्मवर्गणावों में प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, प्रदेशबन्ध व अनुभाग बन्ध चारों बन्ध पड़ जाते हैं।
(2) पूर्वबद्ध कर्म का जब अनुभाग उदित होता है तब उसका जो फल है वह दुःखरूप ही
है। (3) अध्यवसानादि भाव दुःखरूप कर्मफल ही हैं और कर्म हैं पुद्गलमय, अतः
अध्यवसानादि भाव पुद्गलस्वभाव कहे गये हैं।

यात्मस्वभावविलक्षणत्वात्किल दुःखं, तदंतःपातिन एव किलाकुलत्वलक्षणा अध्यवसानादिभावाः।
ततो न ते चिदन्वयत्वविभ्रमेप्याप्मस्वभावाः किंतु पुद्गलस्वभावाः।।45।।

द्वि० एक०, जिनाः—प्रथमा बहुवचन कर्ता, विदन्ति—वर्तमान अन्य पुरुष बहु० क्रिया, यस्य—षष्ठी एक०,
फलं—प्रथमा एक०, उच्यते—वर्तमान अन्य पुरुष एक०, भावकर्मप्रक्रिया क्रिया, दुःखं—प्रथमा एक०, इति—अ०,
विपच्चमानस्य—षष्ठी एकवचन।।45।।

सिद्धान्त—(1) अध्यवसान आदि भाव कर्मफल हैं, पुद्गलस्वभाव हैं, जीव नहीं हैं। (2) कर्मोदय का निमित्त पाकर जीवमें दुःखरूप परिणमन होता है।

दृष्टि—1—विवक्षितैकदेशषुद्धनिष्चयनय (48)। 2—उपाधिसापेक्ष अषुद्ध द्रव्यार्थिकनय (24)।

प्रयोग—कर्म व कर्मप्रतिफलनसे रहित चैतन्यस्वभावमात्र अपने को निरखकर चैतन्यस्वभावमात्र अपने को अनुभवना चाहिये।।45।।

यदि अध्यवसानादि भाव पुद्गलस्वभाव हैं तो सर्वज्ञ के आगम में इनको जीवके भाव कैसे कहा? उसके उत्तर में गाथासूत्र कहते हैं—[एते सर्वे] ये सब [अध्यवसानादयः भावाः] अध्यवसानादिक भाव [जीवाः] जीव हैं ऐसा [जिनवरैः] जिनवरदेवने [उपदेशः वर्णितः] जो उपदेश वर्णित किया है वह [व्यवहारस्य दर्शनं] व्यवहार का मत है।

तात्पर्य—अध्यवसान आदिक भावों को जीव व्यवहार से कहा गया है।

टीकार्थ—ये सब अध्यवसानादिक भाव 'जीव हैं' ऐसा जो भगवान् सर्वज्ञदेव ने कहा है, वह अभूतार्थरूप व्यवहार का है। व्यवहार व्यवहारी जीवों को परमार्थ का कहने वाला है जैसे कि म्लेच्छ भाषा म्लेच्छों को वस्तुस्वरूप बतलाती है, इस कारण अपरमार्थभूत होने पर भी धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करने के लिये व्यवहार का वर्णन होना न्याययुक्त है। क्योंकि व्यवहार के बिना जीव का 'रीर से परमार्थतः भेद देखने से त्रस स्थावर जीवों का घात निःषंकरूपसे करना ठहरेगा। जैसे भस्म के मर्दन करने में हिंसा का अभाव है, उसी प्रकार उनके मारने में भी हिंसा नहीं सिद्ध होगी, किन्तु हिंसा का अभास ठहरेगा तब उनके घात होनेसे बंधका भी अभाव ठहरेगा। उसी प्रकार बध्यमान रागी द्वेषी मोही जीव ही तो छुड़ाने योग्य है सो व्यवहार के बिना परमार्थतः रागद्वेष मोहसे भिन्न जीव को दिखलाने पर मोक्ष के उपाय का ग्रहण न होनेसे मोक्ष का भी अभाव ठहरेगा। इसलिये जिनेन्द्र देवने व्यवहार का उपदेश किया है।

भावार्थ—आत्मा स्वयं सहज अपने ही सत्त्व के कारण जिस स्वभावरूप है उस स्वभावमात्र देखना परमार्थनय है, वह तो जीव को 'रीर और राग द्वेष मोह से भिन्न दिखाता है। यदि इसी का एकांत किया जाय तब 'रीर तथा राग, द्वेष मोह पुद्गलमय ठहरेंगे, तब पुद्गलके घात से हिंसा नहीं हो सकती और राग, द्वेष, मोह से बंध नहीं हो सकता। इस प्रकार परमार्थ से संसार मोक्ष दोनों का अभाव हो जाएगा। ऐसा एकांतरूप वस्तु का स्वरूप नहीं है। अवस्तु का श्रद्धान, ज्ञान और आचरण मिथ्या अवस्तुरूप ही है, इसलिये व्यवहार का उपदेश न्यायप्राप्त है। इस प्रकार स्याद्वाद से दोनों नयों का विरोध मेटकर श्रद्धान करना सम्यक्त्व है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में अध्यवसानादिभावों को पुद्गलस्वभाव बताया गया था। सो उस विषय में यह आषंका होना प्राकृतिक है कि यदि अध्यवसानादि भाव पुद्गलस्वभाव है तो उन्हें सिद्धान्त ग्रन्थों में जीवरूपसे क्यों बताया गया है, इसी आषंकाका समाधान इस गाथा में किया गया है।

तथ्यप्रकाश—(1) अध्यवसानादिक भाव अभूतार्थ हैं अर्थात् स्वयं सहज भूत (सत्) अर्थ (वस्तु) नहीं है। (2) अभूतार्थ होने पर भी अध्यवसानादि को जीवरूप से व्यवहृत करना

यद्यध्यवसानादयः पुद्गलस्वभावास्तदा कथं जीवत्वेन सूचिता इति चेत्—

व्यवहारस्स दरीसणमुवएसो वणिणदो जिणवरेहिं ।

जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा ।।46।।

ये अध्यवसानादिक, जीव कहे कहीं ग्रन्थ में वह सब।

व्यवहार का हि दर्शन, जिनवरका पूर्व वर्णित है।।46।।

व्यवहारस्य दर्शनमुपदेशी वर्णितो जिनवरैः। जीवा एते सर्वेऽध्यवसानादयो भावाः।।46।।

सर्वे एवैतेऽध्यवसानादयो भावाः जीवा इति यद्भगवद्भिः सकलज्ञैः प्रज्ञप्तं तदभूतार्थ-
स्यापि व्यवहारस्यापि दर्शनं। व्यवहारो हि व्यवहारिणां म्लेच्छभाषेव म्लेच्छानां परमार्थप्रति-
पादकत्वादपरमार्थोपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याय्य एव। तमंतरेण तु 'रीराज्जीवस्य
परमार्थतो भेददर्शनात्त्रसस्थावराणां भस्मन इव निःषङ्कमुपमर्दनेन हिंसाऽभावाद्भवत्येव बंध-
स्याभावः। तथा रक्तो द्विष्टो विमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति रागद्वेषमोहेभ्यो जीवस्य
परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावात् भवत्येन मोक्षस्याभावः।।46।।

नामसंज्ञ—व्यवहार, दरीसण, उवएस, वणिणद, जिणवर, जीव, एत, सव्व, अज्झवसानादि, भाव।
धातुसंज्ञ—दरिस दर्शनायां, वण्ण वर्णने। **प्रकृतिशब्द**—व्यवहार, दर्शन, उपदेश, वर्णित, जिनवर, जीव,
एतत्, सर्व, अध्यवसानादि, भाव। **मूलधातु**—दृषिर् प्रक्षणे, वर्ण वर्णने, वर्ण स्तुतौ।
पदविवरण—व्यवहारस्य—षष्ठी एकवचन। दर्शनं—प्रथमा एकवचन। उपदेशः—प्रथमा एक०। वर्णितः—प्रथमा
एक० कृदंत क्रिया। जिनवरैः—तृतीया ब० कर्मवाच्य में कर्ता। जीवाः—प्रथमा ब०। एते—प्रथमा ब०।
सर्वे—प्रथमा ब०। अध्यवसानादयः—प्रथमा ब०। भावाः—प्रथमा बहुवचन।।46।।

तीर्थप्रवृत्ति के लिये न्याययुक्त है। (3) व्यवहार न माना जाय तो जीवों की हिंसा निःषङ्क होकर की जाने लगेगी, क्योंकि व्यवहार माना नहीं और परमार्थ का ही एकान्त किया और परमार्थ से तो जीव 'रीर से भिन्न ही है, फिर 'रीरपर 'स्त्र चलाने में क्या बुरा माना जायगा। (4) व्यवहार बिना तो जीव के कर्मबंध के अभाव का भी प्रसंग होगा, क्योंकि जीव तो रागद्वेष मोह से भिन्न है यह परमार्थेकान्त बन गया, फिर रागद्वेष मोहमूलक बन्ध कैसे होगा? (5) व्यवहार माने बिना मोक्ष के अभाव का प्रसंग होगा, क्योंकि परमार्थेकान्त में जीव के बन्ध ही नहीं तो अबद्ध को मोक्षोपाय की आवष्यकता नहीं, न उपाय बनेगा। (6) जैनागम में व्यवहारोपदेश न्याय है।

सिद्धान्त—(1) निमित्त पाकर उपादान में होने वाले नैमित्तिक भावों को ओघ उपादानरूप पदार्थ कह देना व्यवहार का अभिमत है।

दृष्टि—1—स्वजातिपर्याये स्वजातिद्रव्योपचारक असद्भूत व्यवहार (120)।

प्रयोग—औपाधिकभाव ओघ उपादानभूत मुझ आत्मा में व्याप्य नहीं है, औपाधिक भावों से मैं परे हूँ, चित्स्वभावमात्र हूँ, ऐसी अन्तः आराधना करनी चाहिये।।46।।

अब शिष्य पूछता है कि यह व्यवहार किस दृष्टान्त से प्रवृत्त हुआ? उसका उत्तर कहते हैं; जैसे [बलसमुदयस्य] सेना के समूह को [राजा खलु निर्गतः] राजा ही निकला [इत्येश आदेशः] ऐसा यह आदेश [व्यवहारेण तु उच्यते] व्यवहार से कहा जाता है। [तत्र] उस सेना में तो वास्तव में [एकः] एक [राजा निर्गतः] ही राजा निकला है [एवमेव च] इसी तरह [अध्यवसानाद्यन्यभावानां] इन अध्यवसान आदि अन्य भावों को [सूत्रे] परमागम में [जीव इति] ये जीव हैं, ऐसा [व्यवहारः कृतः] व्यवहार किया गया है [तत्र निश्चितः] वहाँ निश्चय से विचारा जाय तो उन भावों में [जीवः एकः] जीव तो एक ही है।

तात्पर्य—जीव के विपरिणमनों को जीव कहना व्यवहार है, परमार्थ से तो एक ज्ञायकस्वभावमात्र ही जीव है।

अथ केन दृष्टान्तेन प्रवृत्तो व्यवहार इति चेत्:—

राया हु णिग्गदोत्ति य एसो बलसमुदयस्स आदेशो।

ववहारेण दु उच्चदि तत्थेक्को णिग्गदो राया।।47।।

एमेव य व्यवहारो अज्झवसाणादिअण्णभावाणं ।
जीवो त्ति कदो सुत्ते तत्थेक्को णिच्छिदो जीवो ॥48॥
बलसमुदय को राजा, इतना विस्तृत चला हुआ कहना ।
व्यवहारमात्र चर्चा, निश्चयसे एक वर नृप है ॥47॥
त्यौं ही जहँ जीव कहा, अध्यवसानादि अन्य भावों को ।
व्यवहारमात्र चर्चा, निश्चित वहाँ जीव एक हि है ॥48॥

राजा खलु निर्गत इति चैष बलसमुदयस्यादेशः । व्यवहारेण तूच्यते तत्रैको निर्गतो राजा ॥47॥
एवमेव च व्यवहारोध्यवसानाद्यन्यभावानां । जीव इति कृतः सूत्रे तत्रैको निश्चितो जीवः ॥48॥

यथैष राजा पंच योजनान्यभिव्याप्य निष्क्रामतीत्येकस्य पंचयोजनान्यभिव्याप्तुमषक्य-
त्वाद् व्यवहारिणां बलसमुदाये राजेति व्यवहारः । परमार्थतस्त्वेक एव राजा । तथैष जीवः

नामसंज्ञ—राय, हु, णिग्गद, इत्ति, य, एत, बलसमुदय, आदेस, व्यवहार, दु, तत्थ, एक, णिग्गद, राय, एमेव, य, व्यवहार, अज्झवसाणादिअण्णभाव, जीव, कद, सुत्त, तत्थ, एक्क, णिच्छिद, जीव ।
धातुसंज्ञ—आ-दिस प्रेक्षणे, वच्च व्यक्तायां वाचि । **प्रकृतिशब्द**—राजन्, खलु, निर्गत, इति, एतत्, बलसमुदय, आदेश, व्यवहार, तु, तत्र, एक, निर्गत, राजन्, एवं, एव, च, व्यवहार, अध्यवसानद्यन्यभाव, जीव, इति, कृत, सूत्र, तत्र, एक, निश्चित, जीव । **मूलधातु**—राजृ दीप्तौ, निस्-गम्लृ गतौ, डुकृत् करणे, सूत्र वेष्टने, निस्-चिञ् चयने ।

टीकार्थ—जैसे कहा जाता है कि यह राजा पाँच योजन के फैलाव में निकल रहा है, वहाँ निश्चय से विचारा जाय तो एक राजा को पाँच योजन में व्यापना असम्भव है, तो भी व्यवहारी (अज्ञानी) जनों का सेना के समुदाय में राजा कहने का व्यवहार है। परमार्थ से तो राजा एक ही है, सेना राजा नहीं। उसी तरह यह जीव सब रागके स्थानों को व्यापकर प्रवृत्त हो रहा है, वहाँ निश्चय से विचारा जाय तो एक जीव का समस्त रागग्राम को व्यापकर रहना अषक्य है तो भी व्यवहारी लोकों का अध्यवसानादिक अन्य भावों में 'ये जीव हैं' ऐसा व्यवहार प्रवर्तता है, परमार्थ से तो जीव एक ही है, अध्यवसान आदि भाव जीव नहीं हैं ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया गया था कि अध्यवसानादि भावों को जीव व्यवहार से कहा गया है। सो अब उसी विषय का स्पष्टीकरण इन दो गाथाओं में दृष्टान्तपूर्वक किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(1) सेनासमूह राजासम्बंधित होने से और उसमें राजा का सद्भाव होने से सेनासमूह में राजा का व्यपदेश होता है कि राजा पाँच योजन में फैलकर जा रहा है। (2) सेनासमूह में राजा का व्यवहार होने पर भी वास्तव में तो राजा एक है और अपने ही एक व्यक्ति के प्रमाण हैं। (3) अध्यवसानादि भाव (रागादि भाव) जीवसम्बंधित होने से व अध्यवसानादि भाव का उस समय जीव आधार होने से अध्यवसानादि परभावों में जीव का व्यपदेश होता है कि अध्यवसानादि भाव जीव हैं। (4) अध्यवसानादि भावों में जीव का व्यवहार होने पर भी परमार्थ से तो जीव एक ज्ञायकस्वभाव है और वह अपने स्वरूपमात्र है ।

सिद्धान्त—(1) द्रव्य की औपधिक पर्यायों में द्रव्य का व्यवहार ईषत् प्रयोजन के लिये है। (2) 'गाष्वत स्वभावमय वस्तु वह एक ही 'गाष्वत है ।

दृष्टि—1—स्वजातिपर्याये स्वजातिद्रव्योपचारक असद्भूत व्यवहार (120) ।
2—परमषुद्धनिष्चयनय (44) ।

समग्रं रागग्राममभिव्याप्य प्रवर्तत इत्येकस्य समग्रं रामग्राममभिव्याप्तुमषक्यात्वाद् व्यवहारिणा-
मध्यवसानादिष्वन्यभावेषु जीव इति व्यवहारः । परामार्थतस्त्वेक एव जीवः ॥47-48॥

पदविवरण—राजा—प्रथमा एक० । खलु—अ० । निर्गतः—प्रथमा एक० कृदंत क्रिया । इति—अ० । एषः—प्रथमा

एक०। बलसमुदयस्य-षष्ठी एक०। तु-अ०। उच्यते-भावकर्म प्रक्रिया वर्तमान अन्य पुरुष एक०। तत्र-अ०। एकः-प्रथमा एक०। निर्गतः-प्रथमा एक०। राजा-प्रथमा एक०। एवं-अ०। एव-अ०। व्यवहारः-प्रथमा एक०। अध्यवसानाद्यन्यभावानां-षष्ठी ब०। जीवः-प्रथमा एक०। इति-अ०। कृतः-प्रथमा एकवचन कृदंत क्रिया कर्मवाच्यमें। सूत्रे-सप्तमी एक०। तत्र-अ०। निश्चितः-प्रथमा एकवचन। जीवः-प्रथमा एक०।।47-48।।

प्रयोग—अपने को समस्त विपरिणमनों से विविक्त निखकर केवल चित्स्वभावमात्र अनुभवना चाहिये।।47-48।।

अब शिष्य पूछता है कि ये अध्यवसानादिक भाव हैं, वे जीव नहीं हैं तो एक टंकोत्कीर्ण परमार्थ स्वरूप जीव कैसा है, उसका क्या लक्षण है? इसका उत्तर कहते हैं—हे भव्य तू **[जीव]** जीव को **[अरस]** रसरहित **[अरूप]** रूपरहित **[अगंध]** गंधरहित **[अव्यक्त]** इन्द्रियों के अगोचर **[चेतनागुण]** चेतनागुण वाला **[अशब्द]** 'ब्दरहित **[अलिंगग्रहण]** किसी चिह्न कर जिसका ग्रहण नहीं होता ऐसा व **[अनिर्दिष्टसंस्थान]** जिसका आकार कुछ कहने में नहीं आता, ऐसा **[जानीहि]** जानो।

तात्पर्य—परमार्थतः जीव रूपरसगन्धस्पर्षषब्दषून्य है, अव्यक्त, स्वयं निराकार व चैतन्यगुण वाला है।

टीकार्थ—जो (जीव) निश्चयसे पुद्गलद्रव्य से भिन्न होनेसे उसमें रस गुण विद्यमान नहीं हैं इस कारण अरस है।।1।। पुद्गलद्रव्य के गुणों से भी भिन्न होनेसे स्वयं रसगुण नहीं है इस कारण भी अरस है।।2।। परमार्थ से पुद्गलद्रव्यका स्वामित्व भी इसके नहीं है, इसलिये द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन से आप रसरूप परिणमन नहीं करता इस कारण भी अरस है।।3।। अपने स्वभाव की दृष्टि से देखा जाय तो क्षायोपषमिक भावका भी इसके अभाव है, इसलिये भावेन्द्रिय के अवलंबन से भी इसके रसरूप परिणाम का अभाव है, इस कारण भी अरस है।।4।। इसका सम्वेदन परिणाम तो एक ही है, वह सकल विषयों के विषेषों में साधारण है, उस स्वभाव से केवल एक रसवेदना परिणाम की प्राप्ति रूप नहीं है, इस कारण भी अरस है।।5।। इसके समस्त ही ज्ञेयों का ज्ञान होता है, परन्तु ज्ञेय ज्ञायकके एकरूप होने का निषेध ही है, इसलिये रसके ज्ञानरूप परिणमनेपर भी आप रसरूप नहीं होता, इस कारण भी अरस है।।6।। इस प्रकार छः प्रकार से रसके निषेध से जीव अरस है। (इसी तरह अरूप, अगंध, अस्पर्ष, अषब्द—इन चारों विषेषणों का छह-छह हेतुओं द्वारा निषेध किया है सो इसी उक्त रीति से जान लेना, विषेष यह है कि 'ब्द पर्याय है सो 'ब्द के साथ पर्याय कहना)।

अब अनिर्दिष्टसंस्थान को कहते हैं। पुद्गलद्रव्य से रचे हुए संस्थान (आकार) से ही जीव का संस्थान कहा नहीं जा सकता इस कारण, अपने नियत स्वभावसे अनियत संस्थानरूप अनन्त 'रीरों में बर्तता है इस कारण, संस्थान नामकर्मका विपाक (फल) पुद्गलद्रव्यमें ही है इस कारण, भिन्न-भिन्न आकार-रूप परिणत जो समस्त वस्तु, उनके स्वरूपसे तदाकार हुए अपने स्वभावरूप सम्वेदन की सामर्थ्य होने पर भी स्वयं समस्त लोकके संवलन से 'ून्य हुई जो अपनी निर्मल ज्ञानमात्र अनुभूति उस अनुभूति से किसी भी आकाररूप नहीं है, इस कारण जीव अनिर्दिष्टसंस्थान है। ऐसे चार हेतुओं से संस्थान का निषेध कहा। अब अव्यक्त विषेषण को सिद्ध करते हैं—छह द्रव्य स्वरूप लोक है, वह ज्ञेय है, व्यक्त है, ऐसे समस्त ज्ञेयसे अन्य होने के कारण, कषाय का समूह जो भावकभाव है व व्यक्त है उससे अन्य होने के कारण, चित्सामान्य में चैतन्य की सब व्यक्तियाँ अन्तर्भूत होने यद्येवं तर्हि किंलक्षणोऽसावेकशटंकोत्कीर्णः परमार्थजीव इति पृष्टः प्राह—

अरसमरूपमगंधं अव्यक्तं चेदणागुणमसद् ।

जाण अलिंगग्रहणं जीवमणिद्विट्ठसंठाणं ।।49।।

अरस अरूप अगंधी, अव्यक्त अशब्द चेतनागुणमय ।

चिह्नाग्रहण अरु स्वयं असंस्थान जीवको जानो ।।49।।

अरसरूपमगंधमव्यक्तं चेतनागुणमषब्दं । जानीहि अलिंगग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानं ।।49।।

यः खलु पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानरसगुणत्वात् पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमरसगुणत्वात् परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावात् द्रव्येन्द्रियावष्टंभेनारसनात् स्वभावतः क्षायोपषमिकभावाभावाद्भावेन्द्रियावलंबेनारसनात्, सकलसाधारणैकसम्वेदनपरिणामस्वभावत्वात्—त्केवलरसवेदनापरिणामापन्नत्वेनारसनात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाद्रसपरिच्छेद—परिणतत्वेपि स्वयं रसरूपेणापरिणमनाच्चारसः । तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानरूपगुणत्वात् पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमरूपगुणत्वात् परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावात् द्रव्येन्द्रियावष्टंभेनारूपणात्, स्वभावतः क्षायोपषमिकभावाभावाद्भावेन्द्रियावलंबेनारूपणात्सकल—साधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात्केवलरूपवेदनापरिणामापन्नत्वेनरूपणात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाद्रूपपरिच्छेदपरिणतत्वेपि स्वयं रूपरूपेणापरिणमनाच्चारूपः । तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानगंधगुणत्वात् पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वमगंधगुणत्वात् परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद् द्रव्येन्द्रियावष्टंभेनागंधनात् स्वभावतः क्षायोपषमिकभावा—भावाद्भावेन्द्रियावलंबेनागंधनात् सकलसाधारणैकसम्वेदनपरिणामस्वभावत्वात्केवलगंधवेदना—परिणामापन्नत्वेनागंधनात् सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाद्गंधपरिच्छेदपरिणतत्वेपि स्वयं गंधरूपेणापरिणमनाच्चागंधः । तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानस्पर्शगुणत्वात् पुद्गलद्रव्य—

नामसंज्ञ—अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त, चेतनागुण, अशब्द, अलिंगग्रहण, जीव, अणिद्विट्ठसंठाण ।

के कारण, क्षणिक व्यक्तिमात्र न होने के कारण, व्यक्त व अव्यक्त और दोनों मिले हुए मिश्र भाव इसके प्रतिभास में आते हैं तो भी केवल व्यक्त भाव की ही नहीं स्पर्शता इस कारण और आप ही बाह्य आभ्यंतर प्रकट अनुभूयमान है तो भी व्यक्तभावसे उदासीन (दूरवर्ती) प्रद्योतमान है, इस कारण जीव अव्यक्त कहा जाता है ।।6।। इस तरह छः हेतुओं द्वारा अव्यक्त सिद्ध किया । इसी प्रकार रस, रूप, गंध, स्पर्श, 'शब्द, संस्थान व व्यक्तपना का अभाव स्वरूप होनेपर भी स्वसंवेदन के बल से आप प्रत्यक्ष गोचर होनेसे अनुमेय मात्र के अभावसे अलिंगग्रहण कहा जाता है । अपने अनुभवमें आवे, ऐसे चेतनागुण द्वारा सदा अंतरंग में प्रकाशमान है, इस कारण चेतनागुण वाला है । जो चेतनागुण समस्त विप्रतिपत्तियों का (जीवको अन्य प्रकार माननेका) निषेध करने वाला है, जिसने अपना सर्वस्व भेदज्ञानी जीवों को सौंप दिया है, जो समस्त लोकालोक को ग्रासीभूत कर अत्यन्त सुखी हो उस तरह सदा किंचिन्मात्र भी चलायमान नहीं होनेसे अन्य द्रव्यसे साधारण नहीं है, इसलिये असाधारण स्वभावभूत है । ऐसे स्वयं अनुभूयमान चैतन्यगुणके द्वारा नित्य ही अंतःप्रकाशमान होनेसे चेतनागुण वाला है । ऐसा यह भगवान् निर्मल प्रकाश वाला जीव इस लोक में टंकोत्कीर्ण भिन्न ज्योतिस्वरूप विराजामान है ।

अब इसी अर्थ को कलषरूप काव्य में कहकर इसके अनुभव की प्रेरणा करते हैं । 'सकल' इत्यादि । **अर्थ**—हे भव्य आत्माओ! चिच्छक्ति से रहित अन्य सकल भावों को मूलसे 'गीघ्र छोड़कर और अच्छी प्रकार अपने चिच्छक्तिमात्र भावको अवगाहन करके समस्त पदार्थसमूह रूप लोक के ऊपर प्रवर्त रहे एकमात्र अविनाशी आत्मा का आत्मा में ही अभ्यास करो, उसका साक्षात् अनुभव करो । **भावार्थ**—एक चैतन्यव्यक्तिमात्र आत्मा में ही उपयुक्त होओ ।

गुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमस्पर्शगुणत्वात् परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद् द्रव्येन्द्रियावष्टं-
भेनास्पर्शनात् स्वभावतः क्षायोपषमिकभावाभावाद् भावेन्द्रियावलम्बेनास्पर्शनात्सकलसाधारणै-
कसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात् केवलस्पर्शवेदनापरिणामापन्नत्वेनास्पर्शनात् सकलज्ञेयज्ञायक-
तादात्म्यस्य निषेधात् स्पर्शपरिच्छेदपरिणतत्वेपि स्वयं स्पर्शरूपेणापरिणमनाच्चास्पर्शः। तथा
पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानषडपर्यायत्वात् पुद्गलद्रव्यपर्यायेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमषडपर्याय-
त्वात् परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावात् द्रव्येन्द्रियावष्टंभेन 'ब्दाश्रवणात् स्वभावतः
क्षायोपषमिकभावाभावाद्भावेन्द्रियावलम्बेन 'ब्दाश्रवणात् सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्व-
भावत्वात् केवलषडवेदनापरिणामापन्नत्वेन 'ब्दाश्रवणात् सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधा-
च्छब्दपरिच्छेदपरिणतत्वेपि स्वयं 'ब्दरूपेणापरिणामनाच्चाषडः। द्रव्यांतरारब्धषरीरसंस्थानेनैव
संस्थान इति निर्देष्टुमशक्यत्वात् नियतस्वभावेनानियतसंस्थानानंतषरीरवर्तित्वात्संस्थान-
नामकर्मविपाकस्य पुद्गलेषु निर्दिष्यमानत्वात् प्रतिविषिष्टसंस्थानपरिणतसमस्तवस्तुत्वसंव-
लितसहजसम्वेदनषक्तित्वेपि स्वयमखिललोकसंवलनधून्योपजायमाननिर्मलानुभूतितयात्यंतमसं-

धातुसंज्ञ—रस आस्वादनाक्रंदनयोः, सद आह्वाने, जाण अवबोधने, ग्गह ग्रहणे, सम्ट्टा गतिनिवृत्तौ
तृतीय

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व स्थल में यह बताते चले आ रहे थे कि अध्यवसानादिक
भाव (रागादिक भाव) पुद्गलस्वभाव हैं, ये जीव नहीं हैं। सो यहाँ यह जिज्ञासा होनी प्राकृ-
तिक ही है कि फिर वास्तव में किस लक्षण वाला जीव है याने जीव का यथार्थस्वरूप क्या
है? इसके समाधान में इस गाथा का अवतार हुआ है।

तथ्यप्रकाश—(1) पुद्गलद्रव्य से भिन्न होने के कारण, पुद्गलद्रव्य के गुणों से व
पर्यायों से भिन्न होने के कारण, पुद्गल द्रव्येन्द्रिय का स्वामी न होने के कारण, स्वभावतः
भावेन्द्रिय से छूना आदि न होने के कारण, सर्वसंवेदनस्वभाव होनेसे केवल स्पर्शज्ञान आदि
किसी ज्ञानपरिणाममय होकर न छूने आदि के कारण, स्पर्श आदि को जानकर भी उससे
तन्मय न होने के कारण जीव स्पर्शादिरहित व 'ब्दादिरहित है। (2) यद्यपि जीवका
संसारदषामें 'रीरप्रमाण आकार है, मुक्तदषामें घट-बढ़ का कारणभूत कर्म न रहने से कुछ
न्यून चरमषरीर के प्रमाण आकार है, तथापि जीव का स्वयं सहज निरपेक्ष कोई आकार नहीं
है। (3) आत्मा स्वसंवेदनप्रत्यक्षगम्य है वह अनुमानादि प्रमाण से ग्रहण में नहीं आता। (4)
आत्मा चैतन्यस्वभावमय है।

सिद्धान्त—(1) आत्मा परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे नहीं है। (2) आत्मा नयप्रमाणातीत
निर्विकल्पस्वसम्वेदन से गम्य है। (3) आत्मा चैतन्यस्वभावमात्र है।

दृशिट—1—परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (29)। 2—षुद्धनय (49)। 3—परम भावग्राहक
द्रव्यार्थिकनय (30)।

प्रयोग—अपने आपको सर्व ज्ञेयों से परे सहज चैतन्यस्वभावमात्र अनुभवना
चाहिये। 149।।

अब चिच्छक्ति से अन्य जो भाव हैं वे सब पुद्गलद्रव्यसम्बन्धी है, ऐसी आगे के गाथा
की सूचनि का रूप काव्य कहते हैं—'चिच्छक्ति' इत्यादि। **अर्थ**—चैतन्यषक्ति से व्याप्त
जिसका सर्वस्वसार है ऐसा यह जीव इतना है, और इस चिच्छक्ति से 'न्यून जो भाव हैं वे
सभी पुद्गलजन्य हैं, सो पुद्गलके ही हैं। ऐसे इन भावों का व्याख्यान छह गाथाओं में
करते हैं [जीवस्य] जीव के [वर्णः] रूप [नास्ति] नहीं है [गंधः अपि न] गंध भी नहीं है,
[रसः अपि न] रस भी नहीं है [च] और [स्पर्शः अपि न] स्पर्श भी नहीं है, [रूपं अपि न]
रूप भी नहीं है [रीरं न] 'रीर भी नहीं है [संस्थानं अपि न] संस्थान भी नहीं है

[संहननं न] संहनन भी नहीं हैं। [जीवस्य] तथा जीव के [रागः न अस्ति] राग भी नहीं है [द्वेषः अपि न] द्वेष भी नहीं है [मोहः एव] मोह भी [न विद्यते] विद्यमान नहीं है [प्रत्ययानो] आस्रव भी नहीं स्थानवाच्चानिर्दिष्टासंस्थानः। षट्द्रव्यात्मकलोकाद् ज्ञेयाद्व्यक्तादन्यत्वात्कषायचक्राद्भावकाद्— व्यक्तादयत्वाच्चित्सामान्यनिमग्नसमस्तव्यक्तित्वात् क्षणिकव्यक्तिमात्राभावात् व्यक्ताव्यक्तविमिश्र— प्रतिभासेपि व्यक्तास्पर्शत्वात् स्वयमेव हि बहिरंतः स्फुटमनुभूयमानत्वेपि व्यक्तोपेक्षणेन प्रद्योतमानत्वाच्चाव्यक्तः। रसरूपगंधस्पर्शषड्संस्थानव्यक्तत्वाभावेपि स्वसंवेदनबलेन नित्यमात्म— प्रत्यक्षत्वे सत्यनुमेयमात्रत्वाभावादलिंगग्रहणः। समस्तविप्रतिपत्तिप्रमाथिना विवेचकजनसमर्पित— सर्वस्वेन सकलमपि लोकालोकं कवलीकृत्यात्यंतसौहित्यमथेरेणेव सकलकालमेव मनागप्यविचलितानन्यसाधारणतया स्वभावभूतेन स्वयमनुभूयमानेन चेतनागुणेन नित्यमेवांतः प्रकाशमानत्वात् चेतनागुणश्च स खलु भगवानमलालोक इहैकष्टङ्कोत्कीर्णः प्रत्यग्ज्योतिर्जीवः।।49।।

सकलमपि विहायाहाय चिच्छक्तिरिक्तं स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रं।

इममुपरि चरंतं चारु विष्वस्य साक्षात् कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यन्तं।।35।।

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयं। अतोतिरिक्ताः सर्वेपि भावाः पौद्गलिका अमी।।36।।

गणे। प्रातिपदिक—अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त, चेतनागुण, अषब्द, अलिंगग्रहण, जीव, अनिर्दिष्टसंस्थान। मूलधातु—रस आस्वादनरस्नेहनयोः, रूप रूपक्रियायां, चिती संज्ञाने, षड् भाषणे, लिगि चित्रीकरणे, ग्रह उपादाने, जीव प्राणधारणे, सं—ष्ठा गतिनिवृत्तौ उपसर्गादर्थपरिवर्तनम्। पदविवरण—अरसं—द्वितीया एक० कर्मविषेषण, अगन्धं—द्वि० एक० कर्मविषेषण, अरूपं—द्वि० एक० कर्मविषेषण, अव्यक्तं—द्वि० एक० कर्मविषेषण, चेतनागुणं—द्वि० एक० कर्मविषेषण, अषब्दं—द्वि० एक० कर्मविषेषण, जानीहि—आज्ञार्थं लोट् मध्यम पुरुष एकवचन क्रिया, अलिंगग्रहणं—द्वि० ए० कर्मविषेषण, जीवं—द्वि० ए० कर्म, अनिर्दिष्ट—संस्थानं—द्वितीया एकवचन कर्मविषेषण।।49।।

हैं [कर्म न] कर्म भी नहीं हैं [च नो कर्म अपि] और नो कर्म भी [तस्य नास्ति] उसके नहीं हैं [जीवस्य] जीव के [वर्गः नास्ति] वर्ग नहीं हैं [वर्गणा न] वर्गणा नहीं हैं [कानिचित् स्पर्धकानि] कोई स्पर्धक भी [न एव] नहीं हैं [जीवस्य] जीवके [कानिचित् योगस्थानानि] कोई योगस्थान भी [न संति] नहीं हैं [वा] अथवा [बंधस्थानानि] बंधस्थान भी [न] नहीं हैं [च] और [उदयस्थानानि] उदयस्थान भी [न एव] नहीं हैं [कानिचित् मार्गस्थानानि] कोई मार्गस्थान भी [न] नहीं हैं [जीवस्य] जीवके [स्थितिबंधस्थानानि नो] स्थितिबंधस्थान भी नहीं हैं [वा] अथवा [संकलेशस्थानानि] संकलेशस्थान भी [न] नहीं हैं [विशुद्धिस्थानानि] विषुद्धिस्थान भी [न एव] नहीं हैं [वा] अथवा [संयमलब्धिस्थानानि] संयमलब्धिमान भी [नो] नहीं हैं [च] और [जीवस्य] जीवके [जीवस्थानानि] जीवस्थान भी [नैव] नहीं हैं [वा] अथवा [गुणस्थानानि] गुणस्थान भी [न संति] नहीं हैं [येन तु] क्योंकि [एते सर्वे] ये सभी [पुद्गलद्रव्यस्य] पुद्गलद्रव्यके [परिणामाः] परिणाम हैं।

तात्पर्य—वर्णसे लेकर गुणस्थानपर्यन्त ये उक्त भाव जीवके नहीं हैं, क्योंकि ये पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं।

टीकार्थ—जो काला, हरा, पीला, लाल और सफेद वर्ण (रंग) हैं वे सभी जीव के नहीं हैं क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणामनमय होने के कारण ये वर्ण आत्मा की अनुभूति से भिन्न हैं।1। सुगंध, दुर्गन्ध भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि ये पुद्गल परिणाममय हैं, इसलिये आत्मा की अनुभूति से भिन्न हैं।2। कटुक, कषैला, तिक्त (चर्परा), खट्टा और मीठा ये सब रस भी जीवके नहीं हैं, क्योंकि०.....।3। चिकना, रूखा, टंडा, गर्म, भारी, हल्का, कोमल और कठोर—ये सब स्पर्श भी जीव के नहीं हैं क्योंकि.....।4। स्पर्शादि सामान्य परिणाममात्र रूप

भी जीवके नहीं हैं, क्योंकि०.... 15। औदारिक, वैक्रिरिक, आहारक, तैजस और कर्मण 'रीर ये जीव के नहीं हैं, क्योंकि०.... 16। समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमंडल, स्वाति, कुब्जक, वामन और हुंडक—ये सब संस्थान भी जीवके नहीं हैं, क्योंकि०.... 17। वज्रर्षभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलक और असंप्राप्तासृपाटिका संहनन ये भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि०.... 18।

जीवस्य णत्थि वण्णो णवि गंधो णवि रसो णवि य फासी।

णवि रूवं ण सरीरं ण वि संठाणं ण संहणणं ॥50॥

जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो।

णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ॥51॥

जीवस्य णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई।

णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभायटाणाणि ॥52॥

जीवस्य णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बंधटाणा वा।

णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई ॥53॥

णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसटाणा वा।

णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिटाणा वा ॥54॥

णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।

जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ॥55॥

नहिं वर्ण जीवका है, न गंध न रस न कोई सपरस है।

रूप न देह न कोई, संस्थान न संहनन इसका ॥50॥

नहिं राग जीवका है, न दोश नहिं मोह वर्तता इसमें।

कर्म नहीं नहिं आस्रव, नहिं हैं नोकर्म भी इसका ॥51॥

नहिं वर्ग जीवके हैं, न वर्गणा नाहिं वर्णणाब्रज भी।

अध्यात्मस्थान नहीं, अनुभागस्थान भी नहिं है ॥52॥

योगस्थान न कोई, बन्धस्थान भी जीवके नहिं हैं।

उदयस्थान नहीं हैं, न मार्गणास्थान भी कोई ॥53॥

नामसंज्ञ—जीव, ण, अत्थि, वण्ण, ण, वि, गंध, रस, य, फास, रूव, सरीर, संठाण, संहणण, जीव, ण, अत्थि, राग, दोस, मोह, णो, पच्चय, कम्म, णोकम्म च, अपि, त, वग्ग, वग्गणा, फड्ढया, अज्झप्पट्ठाण, अणुभायटाण, जोयट्ठाण, बंधटाण, उदयट्ठाण, मग्गणट्ठाण, ठिदिबंधट्ठाण, संकिलेसटाण विसोहिट्ठाण, संजमलद्धिट्ठाण, जीवट्ठाण, गुणट्ठाण, ज, दु, एत, सव्व, पुग्गलदव्व, परिणाम। धातुसंज्ञ—अस सत्तायां,

प्रीतिरूप राग भी जीवका नहीं है, क्योंकि०.... 19। अप्रीतिरूप द्वेष भी जीवका नहीं है, क्योंकि०.... 110। यथार्थ तत्त्व की अप्राप्ति रूप मोह भी जीवका नहीं है, क्योंकि०.... 111। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगस्वरूप प्रत्यय (आस्रव) भी जीवके नहीं हैं, क्योंकि०.... 112। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, और अन्तरायस्वरूप कर्म भी जीवके नहीं हैं, क्योंकि०.... 113। छह पर्याप्तियों सहित 'रीरयोग्य वस्तुरूप (पुद्गलस्कंध) नोकर्म भी जीवके नहीं हैं, क्योंकि०.... 114। कर्मके रसकी 'क्ति के अविभागप्रतिच्छेदों का समूहरूप वर्ग भी जीवका नहीं है, क्योंकि०.... 115। वर्गोंका समूहरूप वर्गणा भी जीव की नहीं है, क्योंकि०.... 116। मंद तीव्र रसरूप कर्म के समूहके विषिष्ट वर्गोंकी वर्गणा के स्थापनरूप स्पर्धक जीवके नहीं हैं, क्योंकि०.... 117। स्वपरके एकत्व का अध्यास (मिथ्या आरोप) होने पर विषुद्ध चैतन्य परिणाम से भिन्न लक्षण वाले अध्यात्मस्थान भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि०.... 118। पृथक्-पृथक् विषेषरूप प्रकृतियों के रसरूप जिनका

लक्षण है ऐसे अनुभागस्थान भी जीवके नहीं हैं, क्योंकि०....।19। काय, वचन, मनोरूप वर्गणा का चलना जिनका लक्षण है, ऐसे योगस्थान भी जीवके नहीं हैं, क्योंकि०....।20। भिन्न-भिन्न विषेषों को लिये प्रकृतियों का परिणाम जिनका लक्षण है, ऐसे बंधस्थान भी जीवके नहीं हैं, क्योंकि०....।21। अपने फलके उत्पन्न करने में समर्थ कर्मकी अवस्था जिनका स्वरूप है, ऐसे उदयस्थान भी जीवके नहीं हैं, क्योंकि०....।22। गति, इन्द्रिय, काय,

स्थितिबन्धस्थान नहीं, संक्लेशस्थान भी नहीं इसके।

कोइ विशुद्धिस्थान न, संयमलब्धि के स्थान नहीं।।54।।

जीवस्थान न कोई, नहीं गुणस्थान जीवके होते।

क्योंकि ये भाव सारे, होते परिणाम पुद्गलके।।55।।

जीवस्य नास्ति वर्णो नापि गंधो नापि रसो नापि च स्पर्शः। नापि रूपं न 'रीरं नापि संस्थानं न संहननं। जीवस्य नास्ति रागो नापि द्वेषो नैव विद्यते मोहः। नो प्रत्यया न कर्म नोकर्म चापि तस्य नास्ति।।51।। जीवस्य नास्ति वर्गो न वर्गणा नैव स्पर्द्धकानि कानिचित्। नौ अध्यात्मस्थानानि नैव चानुभागस्थानानि। जीवस्य न संति कानिचिद्योगस्थानानि न बंधस्थानानि वा, नैव चोदयस्थानानि न मार्गणास्थानानि कानिचित् नो स्थितिबंधस्थानानि जीवस्य न संक्लेशस्थानानि वा। नैव विषुद्धिस्थानानि नो संयमलब्धिस्थानानि वा।

नैव च जीवस्थानानि न गुणस्थानानि वा संति जीवस्य। येन त्वेते सर्वे पुद्गलद्रव्यस्य परिणामाः।।55।।

यः कृष्णो हरितः पीतो रक्तः 'वेतो वर्णः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यः सुरभिरसुरभिर्वा गंधः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यः कटुकः कषायः तिक्तोऽम्लो मधुरो वा रसः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यः स्निग्धो रूक्षः 'पीतः उष्णो गुरुर्लघुर्मृदुः कठिनो वा स्पर्शः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यत्स्पर्शादिसामान्यपरिणाममात्रं रूपं तन्नस्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यदौदारिकं वैक्रियिकमाहारकं तैजसं कार्मणं वा 'रीरं तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यत्समचतुरस्रं न्यग्रोधपरिमंडलं स्वाति कुब्जं वामनं हुंडं वा संस्थानं तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य

विज्ज सत्तायां, मग्ग अन्वेषणे। **प्रकृतिशब्द**—जीव, न, वर्ण, न, अपि गंध, न, अपि, रस, न, अपि, च, स्पर्श, न, अपि, रूप, व, 'रीर, न, अपि, संस्थान, न, संहनन, जीव, न, राग, न, अपि, दोष, न, एव, मोह, नो, प्रत्यय, न, कर्मन्, नोकर्मन्, च, अपि, तत्, न जीव, न, वर्ग, न, वर्गणा, न, एव, स्पर्द्धक, किम्, नो, अध्यात्मस्थान, न, एव, अनुभागस्थान, जीव, न, किम्, योगस्थान, न, बंधस्थान, वा, न, एव, व, उदयस्थान, न, मार्गणास्थान, किम्, नो, स्थितिबंधस्थान, जीव, न, संक्लेशस्थान, वा, न, एव, विषुद्धिस्थान, नो, संयमलब्धिस्थान, वा, न, एव, जीवस्थान, न, गुणस्थान, च, जीव, यत्, तु, एतत्, सर्व, पुद्गलद्रव्य, परिणाम। **मूलधातु**—वर्ण वर्णने, रस आस्वादनस्नेहनयोः, स्पृष संस्पर्शने, विद सत्तायां दिवादि, बन्ध बन्धने, क्र्यादि, मृग अन्वेषणे, क्लिष उपतापे तुदादि, 'जुध 'ौचे दिवादि, सं-यम उपरमे भवादि।

योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेष्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहार जिनका स्वरूप है, ऐसे मार्गणास्थान भी जीवके नहीं हैं, क्योंकि०....।23। भिन्न-भिन्न विषेषों को लिये प्रकृतियों का कालान्तर में साथ रहना जिनका लक्षण है, ऐसे स्थितिबंधके स्थान भी जीवके नहीं हैं, क्योंकि०....।24। कषाय के विपाक की उत्कृष्टता जिनका लक्षण है, ऐसे संक्लेशस्थान भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि०....।25। कषायके विपाक की मंदता जिनका लक्षण है, ऐसे विषुद्धिस्थान भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि०....।26। चारित्रमोह के उदयकी क्रम से निवृत्ति जिनका लक्षण है, ऐसे संयमलब्धिस्थान भी जीवके नहीं हैं, क्योंकि०....।27। पर्याप्त, अपर्याप्त, वादर, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञी असंज्ञी, पञ्चेन्द्रिय जिनका लक्षण है, ऐसे जीवस्थान भी जीवके नहीं हैं, क्योंकि०....।28। मिथ्यादृष्टि,

सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय, उपषांतमोह, क्षीणमोह, संयोगकेवली और अयोगकेवली जिनका लक्षण है, ऐसे सब गुणस्थान भी जीवके नहीं हैं, क्योंकि०....।29। इस प्रकार ये सभी पुद्गलद्रव्यके परिणाममय भाव हैं वे सब जीवके नहीं हैं। जीव तो परमार्थ से चैतन्यषक्तिमात्र है।

पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यद्वज्रर्षभनाराचं वज्रनाराचं नाराचमर्द्धनाराचं कीलिका असंप्राप्तासृपाटिका वा संहननं तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यः प्रीतिरूपो रागः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यस्तत्त्वाप्रतिपत्तिरूपो मोहः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। ये मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणाः प्रत्ययास्ते सर्वेपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यद् ज्ञानावरणीयदर्शनावरणीयवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रांतरायरूपं कर्म तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यत्षट्पर्याप्तित्रिंशदरीरयोग्यवस्तुरूपं नोकर्म तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यः षड्विंशत्समूहलक्षणो वर्गः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। या वर्गसमूहलक्षणा वर्गणा सा सर्वापि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि मंदतीव्ररसकर्मदलविषिष्टन्यासलक्षणानि स्पृहकानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि स्वपरैकत्वाध्यासे सति विषुद्धवित्परिणामातिरिक्तत्वलक्षणान्यध्यात्मस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि प्रतिविषिष्टप्रकृतिरसपरिणामलक्षणान्यनुभागस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि कायवाङ्मनोवर्गणापरिस्पंदलक्षणानि योगस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्।

पदविवरण—जीवस्य—षष्ठी एक०। न—अव्यय। अस्ति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। वर्णः—प्रथमा एक०। न—अव्यय। अपि—अव्यय। गन्धः—प्रथमा एक०। न—अ०। अपि—अव्यय। रसः—प्रथमा एक०। न—अव्यय। अपि—अ०। च—अ०। स्पर्शः—प्रथमा एक०। न—अ०। अपि—अव्यय। रूपं—प्रथमा एक०। न, षीरं—प्रथमा एक०। न, अपि, संस्थानं—प्र० ए०। न, संहननं—प्र० ए०। जीवस्य—षष्ठी एक०। न, रागः—प्र० एक०। न, अपि, द्वेषः—प्र० एक०। न, एव, अस्ति, विद्यते—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। मोहः—प्र० ए०। नो—अव्यय। प्रत्ययः—प्रथमा बहु०। न, कर्म—प्रथमा एक०। नो—कर्म—प्रथमा एक०। च, अपि, तस्य—षष्ठी एक०। न, अस्ति, जीवस्य—षष्ठी एक०। न, अति, वर्गः—प्र० एक०। न, वर्गणा—प्र० एक०। न, एव, स्पृहकानि—प्रथमा बहु०। कानिचित्—अव्यय अंतः प्रथमा बहु०। नो, अध्यात्मस्थानानि—प्रथमा बहु०। न, एव,

अब इसी अर्थ का कलषरूप काव्य कहते हैं—'वर्णाद्या' इत्यादि। अर्थ—वर्णादिक अथवा रागमोहादिक उक्त सभी भाव इस पुरुष (आत्मा) से भिन्न हैं, इसी कारण अन्तः परमार्थतः देखने वाले को ये सब नहीं दीखते केवल एक चैतन्यभावस्वरूप अभेद आत्मा ही दीखता है। भावार्थ—परमार्थनय अभेदरूप है, इसलिये उस दृष्टि से देखने पर भेद नहीं दीखता, उस नयकी दृष्टिमें चैतन्यमात्र पुरुष (आत्मा) ही दीखता है, इस कारण वे वर्णादिक तथा रागादिक पुरुष से भिन्न ही हैं। (वर्ण को आदि लेकर गुणस्थानपर्यंत भावों का स्वरूप विषेषतया यदि जानना हो तो गोमटसार आदि ग्रन्थों से जान लेना चाहिये)।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया था कि आत्मा चेतनागुणमय है, चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसार है और इससे अतिरिक्त भाव सब पौद्गलिक हैं। सो इसी विषयको निषेधविवरणके साथ इन छह गाथाओं में कहा जा रहा है।

तथ्यप्रकाश—(1) चैतन्यस्वभावके अतिरिक्त अन्य भावों में कुछ भाव तो ऐसे हैं जो पुद्गल के ही परिणमन हैं, इस कारण वे अन्य भाव पौद्गलिक हैं। (2) चैतन्यस्वभावके अतिरिक्त अन्य भावों में कुछ भाव ऐसे हैं जो कर्मपुद्गलविपाक के प्रतिफलन हैं, इस कारण वे अन्य भाव पौद्गलिक हैं। (3) चैतन्यस्वभावके अतिरिक्त अन्य भावों में कुछ भाव ऐसे हैं जो पुद्गलकर्मदषा का निमित्त पाकर आत्मा के गुणों के विकृत परिणमन हैं, इस कारण वे अन्य भाव भी पौद्गलिक कहे गये हैं। (4) समस्त अन्य भावों से आत्माभिभव न होने देने यानि प्रतिविषिष्टप्रकृतिपरिणामलक्षणानि बन्धस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि स्वफलसंपादनसमर्थकर्मावस्थालक्षणान्युदयस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि गतीन्द्रियकाययोगवेदकषायज्ञानसंयमदर्शनलेष्याभव्यसम्यक्त्वसंज्ञाहारलक्षणानि मार्गणास्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि प्रतिविषिष्टप्रकृतिकालांतरसहत्वलक्षणानि स्थितिबंधस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि कषायविपाकोद्रेकलक्षणानि संक्लेशस्थानानि यानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि कषायविपाकानुद्रेकलक्षणानि विषुद्धिस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि चारित्रमोहविपाकक्रमनिवृत्तिलक्षणानि संयमलब्धिस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि पर्याप्तापर्याप्तवादरसूक्ष्मैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियसंज्ञयसंज्ञिपन्तेन्द्रियलक्षणानि जीवस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्टिसंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्तसंयताप्रमत्तसंयतापूर्वकरणोपषमकक्षपकानिवृत्तिवादरसांपरायोपषमकक्षपकसूक्ष्मसांपरायोपषमकक्षपकोपषांतकषायक्षीणाकषायसयोगकेवल्ययोगकेवलिलक्षणानि गुणस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः। तेनैवातस्तत्त्वतः पष्यतोऽमी नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात्।।37।।
।।50-51-52-53-54-55।।

च, अनुभागस्थानानि—प्र० बहु। जीवस्य—षष्ठी एक०। न, सन्ति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु० क्रिया। कानिचित्, योगस्थानानि—प्रथमा बहु०। न, बन्धस्थानानि—प्रथमा बहु०। वा—अव्यय। न, एव, च, उदयस्थानानि—प्रथमा बहु०। न, मार्गणास्थानानि—प्रथमा बहु०। कानिचित्, नो, स्थितिबंधस्थानानि—प्रथमा बहु०। जीवस्य—षष्ठी एक०। न, संक्लेशस्थानानि—प्रथमा बहु०, न, एव, विषुद्धिस्थानानि—प्र० ब०। नो, संयमलब्धिस्थानानि—प्र० ब०। न, नो, एव, व, जीवस्थानानि—प्र० ब०। न, गुणस्थानानि—प्र० बहु०। वा, संति, जीवस्य, येन—तृतीया एक० हेत्वर्थे, तु, एते सर्वे—प्र० ब०। पुद्गलद्रव्यस्य—षष्ठी एक०। परिणामाः—प्रथमा बहुवचन ।।50-51-52-53-54-55।।

का तथा अन्य भावों के दूर होने का तथा अन्य भाव के कारणों के दूर हो जाने का साधन केवल निज सहज अन्तस्तत्त्व का दर्शन है।

सिद्धान्त—(1) पुद्गलद्रव्यके परिणमनों का आत्मा में नास्तित्व है। (2) पुद्गलकर्मविपाक के सान्निध्य में उपयोग में वह विपाक प्रतिफलित होता है। (3) आत्मा के 'बुद्ध ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि व उमंग होने की घटना में विकार पुद्गलस्वामिक विदित होते हैं।

दृष्टि—1—परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (29)। 2—उपाधिज उपचरित प्रतिफलन व्यवहार (103 अ)। 3—विवक्षितैकदेषषुद्धनिष्चयनय (48)।

प्रयोग—निमित्त व नैमित्तिक अन्य भावों से हटकर 'बुद्ध ज्ञायकस्वभावमय अन्तस्तत्त्व में निःषङ्क आराम लेना चाहिये ॥ 50-51-52-53-54-55 ॥

अब षिष्य पूछता है कि वर्णादिक भाव जो कहे गये हैं वे यदि जीव के नहीं हैं तो अन्य सिद्धान्त ग्रन्थों में 'ये जीवके हैं' ऐसा क्यों कहा गया? उसका उत्तर गाथा में कहते हैं—[एते] ये [वर्णाद्याः गुणस्थानांताः भावाः] वर्ण आदि गुणस्थानपर्यन्त भाव [व्यवहारेण तु] व्यवहारनयसे तो [जीवस्य भवन्ति] जीवके होते हैं, इसलिये सूत्रमें कहे हैं, [तु] परंतु [निश्चयनयस्य] निश्चयनयके मतसे [केचित् न] उनमें से कोई भी भाव जीव के नहीं है। ननु वर्णादयो यद्यमी न संति जीवस्य तदा तत्रांतरे कथं संतीति प्रज्ञाप्यंते इति चेत्—

व्यवहारेण दु एदे जीवस्स हवन्ति वण्णमादीया ।

गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥56 ॥

भाव व्यवहारसे ये, वर्णादिक गुणस्थान तक सारे ।

बतलाये किन्तु निश्चय-नयसे नहीं जीव के कोई ॥56 ॥

व्यवहारेण त्वेते जीवस्य भवन्ति वर्णाद्याः । गुणस्थानांता भावा न तु केचिन्निश्चयनयस्य ॥56 ॥

इह हि व्यवहारनयः किल पर्यायाश्रितत्वाज्जीवस्य पुद्गलसंयोगवषादनादिप्रसिद्धबंध-पर्यायस्य कुसुंभरक्तस्य कार्पासिकवासस इवौपाधिकं भावमालंब्योत्प्लवमानः परभावं परस्य विदधाति । निश्चयनयस्तु द्रव्याश्रितत्वात्केवलस्य जीवस्य स्वाभाविकं भावमवलंब्योत्प्लवमानः परभावं परस्य सर्वमेव प्रतिषेधयति । ततो व्यवहारेण वर्णादयो गुणस्थानांता भावा जीवस्य संति निश्चयेन तु न संतीति युक्ता प्रज्ञप्तिः ॥56 ॥

नामसंज्ञ—व्यवहार, दु, एत, जीव, वण्णमादीय, गुणठाणंत, भाव, ण, दु, केई, णिच्छयणय ।
धातुसंज्ञ—हव सत्तायां, ने प्रापणे । **प्रकृतिशब्द**—व्यवहार, तु, एतत्, जीव, वर्णाद्य, गुणस्थानान्त, भाव, न, तु, किं, निश्चयनय । **मूलधातु**—वि-अव ह्रज हरणे भ्वादि, भू सत्तायां, णीञ् प्रापणे । **पदविवरण**—व्यवहारेण-तृतीया एक० । तु-अव्यय । एते-प्र० बहु० । जीवस्य-षष्ठी एक० । भवन्ति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु० । वर्णाद्याः-प्र० ब० । गुणस्थानान्ताः-प्र० ब० । भावाः-प्र० ब० । न, तु, केचित्-अव्यय । अन्तः-प्र० ब०, निश्चयनयस्य-षष्ठी एक० ॥56 ॥

तात्पर्य—वर्णादि गुणस्थानपर्यन्त भाव निश्चयनयसे जीवके नहीं, ये व्यवहारनयसे जीवके कहे गये हैं ।

टीकार्थ—यहाँ पर व्यवहारनय, पर्यायाश्रित होनेसे पुद्गलके संयोगवष अनादिकालसे प्रसिद्ध जिसकी बंधपर्याय है ऐसे जीवके 'कुसुम्भ के लाल रंगसे रंगे हुए रुई के वस्त्र की भांति' औपाधिक वर्णादिभावों को आलम्बन कर प्रवृत्त होता है, इसलिये वह व्यवहारनय दूसरे के भावों को दूसरों का कहता है । किंतु निश्चयनय द्रव्य के आश्रय होनेसे केवल एक जीवके स्वाभाविक भावको अवलम्बन कर प्रवृत्त होता है, वह सब परभावों को परके कहता है, निषेध करता है, इसलिये वर्ण आदि गुणस्थानपर्यंत भाव व्यवहारनयसे जीवके हैं, निश्चयनयसे नहीं हैं, इस प्रकार भगवान् का कथन स्याद्वादसहित युक्तिपूर्ण है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथाओं में बताया था कि वर्णादिक व अन्यवसानादिक पौद्गलिक हैं वे जीवके नहीं हैं तो इस पर एक आषङ्का होना प्राकृतिक है कि यदि ये वर्णादि भाव जीवके नहीं हैं तो सिद्धान्त ग्रन्थों में जीवके वे भाव हैं ऐसा क्यों वर्णन मिलता है? इस आषङ्का के समाधान में इस गाथा का अवतार हुआ है ।

तथ्यप्रकाश—(1) व्यवहारनय पर्यायदर्षक व भेददर्षक है । (2) निमित्त के परिणमनों को सम्बंधवष उपादान के कहने का व्यवहार होता है । (3) निश्चयनय एक द्रव्यका दर्षक

है। (4) जो निष्चयनय एक द्रव्यमें उसके पर्याय व गुणों को दिखाता है वह भेदविधि की ओर से व्यवहारनय बन जाता है।

सिद्धान्त—(1) वर्ण संस्थान संहनन वर्ग वर्गणा स्पर्द्धक आदि जीवके उपचार से कहे जाते हैं। (2) अध्यवसान गुणस्थान संयमस्थान आदि जीवके व्यवहारनयसे है। (3) 'उद्धनय से जीवके वर्णादिक अध्यवसानादिक कोई भी चित्स्वभावातिरिक्त भाव नहीं हैं।

दृष्टि—1—एकद्रव्यपर्याये अन्यद्रव्योपचारक असद्भूतव्यवहार (121)। 2—उपाधिसापेक्ष अषुद्धद्रव्यार्थिकनय (53)। 3—षुद्धनय (49)।

प्रयोग—पुद्गलकर्मका निमित्त पाकर होने वाले विकारों को कर्ममें थोपकर अपने को 'पुद्गल चित्स्वभावमात्र अनुभवना चाहिये।।56।।

कुतो जीवस्य वर्णादयो निश्चयेन न संतीति चेत्—

एएहिं य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो ।

ण य हुंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा ।।57।।

क्षीरनीरवत् जानो, व्यवहृत सम्बन्ध बाह्य भावों से ।

किन्तु नहिं जीवके वे, यह तो उपयोगमय न्यारा ।।57।।

एतैष्व सम्बंधो यथैव क्षीरोदकं ज्ञातव्यः। न च भवन्ति तस्य तानि तूपयोगगुणाधिको यस्मात्।।57।।

यथा खलु सलिलमिश्रितस्य क्षीरस्य सलिलेन सह परस्परवगाहलक्षणे संबन्धे सत्यपि स्वलक्षणभूतक्षीरत्वगुणव्याप्यतया सलिलादधिकत्वेन प्रतीयमानत्वाद्गनेरुष्णगुणेनेव सह तादात्म्यलक्षणसंबन्धाभावान्न निष्चयेन सलिलमस्ति। तथा वर्णादिपुद्गलद्रव्यपरिणाममिश्रितस्यास्यात्मनः पुद्गलद्रव्येण सह परस्परवगाहलक्षणे संबन्धे सत्यपि स्वलक्षणभूतोपयोगगुणव्याप्यतया सर्वद्रव्येभ्योऽधिकत्वेन प्रतीयमानत्वात् अग्नेरुष्णगुणेनेव सह तादात्म्यलक्षणसंबन्धाभावान्न निष्चययेन वर्णादिपुद्गलपरिणामाः जीवस्य संति।।57।।

नमसंज्ञ—एत, य, संबंध, जह, एव, खीरोदय, व, य, त, त, दु, उवओगगुणाधिग, ज।
धातुसंज्ञ—सम्-बंध बंधने, मुण ज्ञाने, हो सत्तायां। **प्रातिपदिक**—एतत्, च, सम्बंध, यथा, एव, क्षीरोदक, ज्ञातव्य, न, च, तत्, तु, उपयोगगुणाधिक, यत्। **मूलधातु**—सम्-बन्ध बन्धने, ज्ञा अवबोधने, भू सत्तायां, युजिर् योगे। **पदविवरण**—एतैः—तृतीया बहुवचन, च—अव्यय, सम्बन्धः—प्रथमा एक०, यथा—अव्यय, एव—अव्यय, क्षीरोदकं—प्रथमा एक०, ज्ञातव्यः—प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया, च—अव्यय, भवन्ति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन, तस्य—षष्ठी एक०, तानि—प्रथमा बहुवचन, तु—अव्यय, उपयोगगुणाधिकः—प्रथमा एक०, यस्मात्—हेत्वर्थे पंचमी एकवचन।।57।।

ये वर्णादिक निष्चयसे जीवके क्यों नहीं हैं? इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं:—[एतैः च संबन्धः] इन वर्णादिक भावों के साथ जीवका सम्बन्ध [क्षीरोदकं यथेव] जल और दूधके एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्धसदृष [ज्ञातव्यः] जानना [च] और [तानि] वे [तस्य तु न भवन्ति] उस जीव के नहीं हैं [यस्मात्] क्योंकि जीव [उपयोगगुणाधिकः] उपयोग गुणके कारण इनसे अधिक है।

तात्पर्य—ज्ञानमय आत्मा ज्ञानरहित सब पदार्थों से निराला है।

टीकार्थ—जैसे जल से मिला हुआ दूध जल के साथ परस्पर अवगाह स्वरूप संबंध होने पर भी अपने स्वलक्षणभूत क्षीरत्व गुणमें व्याप्त होने के कारण दूध जलसे पृथक् प्रतीत होता है इस कारण जैसे अग्नि का उष्णता गुणके साथ तादात्म्यसंबन्ध है, उस प्रकार दूधका जलके साथ सम्बन्ध न होनेसे निष्चयसे दूध का जल नहीं है। उसी प्रकार वर्णादिक पुद्गलद्रव्यके परिणामों से मिला हुआ आत्मा पुद्गलद्रव्यके साथ परस्पर अवगाह स्वरूप संबंध होनेपर भी अपने लक्षणस्वरूप उपयोग गुणसे व्याप्त होनेके कारण सब द्रव्यों से भिन्न प्रतीत होता है, इस कारण जैसे अग्नि का और उष्णता गुणके साथ तादात्म्य स्वरूप सम्बन्ध

है, उस प्रकार आत्मा का वर्णादिकों के साथ तादात्म्य संबन्ध नहीं है। इसलिये निष्चयनयसे ये वर्णादिक पुद्गलपरिणाम हैं, जीवके नहीं हैं।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया गया था कि वर्ण आदिक से लेकर गुणस्थानपर्यन्त भाव निष्चयनयसे जीवके नहीं हैं, सो अब उसी विषयमें जिज्ञासा हुई है कि वर्णादिक भाव निष्चयनयसे जीवके क्यों नहीं हैं, इसी जिज्ञासाका समाधान इस गाथामें दिया गया है।

तथ्यप्रकाश—1—दूध और जलका मोटे रूपसे परस्पर अवगाह तो है, किन्तु संबन्ध संयोग सम्बन्ध है, तादात्म्य नहीं। 2—अग्नि और उष्ण गुणका सम्बन्ध तादात्म्य सम्बन्ध है। 3—संयोगसंबन्ध में सम्बन्धी पदार्थ भिन्न—भिन्न हुआ करते हैं। 4—वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, संस्थान, संहनन आदि जिनका उपादान पुद्गल है उनका व जीवका वर्तमान संबन्ध परस्पर कथं तर्हि व्यवहारोऽविरोधक इति चेत्—

पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी ।

मुस्सदि एसो पंथो ण य पंथो मुस्सदे कोई ॥58 ॥

तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुवण्णं ।

जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो ॥59 ॥

गंधरसफासरूवा देहो संठाणमाइया जे य ।

सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति ॥60 ॥ (त्रिकलम्)

पथमें लुटते पथिकों—को देख कहें लोग लोकव्यवहारी ।

यह पथ लुटता निश्चय—से न कोई मार्ग लुटता है ॥58 ॥

कर्म नोकर्म वर्णों—को जीवैकक्षेत्रावगाही लखि ।

यह वर्ण जीवका है, ऐसा व्यवहारसे हि कहा ॥59 ॥

रूप रस गंध व फरस, 'रीर संस्थान आदि इन सबको ।

निश्चयस्वरूपदर्शी, कहते व्यवहारचर्चा यह ॥60 ॥

पथि मुष्यमाणं दृष्ट्वा लोका भणंति व्यवहारिणः । मुष्यते एष पंथा न च पंथा मुष्यते कच्चित् ॥58 ॥

तथा जीवे कर्मणां नोकर्मणां च दृष्ट्वा वर्णं । जीवस्यैष वर्णो जिनैर्व्यवहारत उक्तः ॥59 ॥

गंधरसस्पर्शरूपाणि देहः संस्थानं आदयः ये च । सर्वे व्यवहारस्य च निष्चयदृष्टारो व्यपदिषंति ॥60 ॥

यथा पथि प्रस्थितं कंचित्सार्थं मुष्यमाणमवलोक्य तास्थ्यात्तदुपचारेण मुष्यत एष पंथा इति व्यवहारिणां व्यपदेशेपि न निष्चयतो विषिष्टाकाषदेशलक्षणः कच्चिदपि पंथा मुष्येत । तथा जीवे बंधपर्यायेणावस्थितं कर्मणो नोकर्मणो वा वर्णमुत्प्रेक्ष्य तात्स्थ्यात्तदुपचारेण जीवस्यैष वर्ण इति व्यवहारतोऽर्हद्देवानां प्रज्ञापनेपि न निष्चयतो नित्समेवामूर्तस्वभावस्योपयोगगुणाधिकस्य जीवस्य कच्चिदपि वर्णोस्ति । एवं गंधरसस्पर्शरूपरीरसंस्थानसंहननरागद्वेषमोहप्रत्ययकर्मनो—

नामसंज्ञ—पंथ, मुस्संत, लोग, ववहारि, एत, पंथ, ण, य, पंथ, कोई, तह, जीव, कम्म, णोकम्म, च, वण्ण, जीव, एत, वण्ण, जिण, ववहारदो, उत्त, गंधरसफासरूव, देह, संठाणमाइय, ज, य, सव्व, ववहार, य, णिच्छयदण्हू । **धातुसंज्ञ**—पास दर्षने, भण कथने, मुस चौर्ये स्पर्षे, वच्च व्यक्तायां वाचि । **प्रातिपदिक**—पथिन्, लोक, व्यवहारिन्, एतत्, पथिन्, न च पथिन्, कच्चित्, तथा, जीव, कर्मन्, नोकर्मन्, वर्ण, जीव, कर्मन्, नोकर्मन्, वर्ण, जीव, एतत्, वर्ण, जिन, व्यवहारतः, उक्त गंधरसस्पर्शरूप, देह, संस्थान, आदि, यत्, च, सर्व, व्यवहार, च निष्चयद्रष्टु । **मूलधातु**—मुष स्तेये क्र्यादि, दृषिर् अवलोकने, भण 'ब्दार्थः पथि गतौ चुरादि । **पदविवरण**—पथि—सप्तमी एकवचन, मुष्यमाणं—द्वितीया एक० असामप्ति की क्रिया के कर्म का विषेषण, दृष्ट्वा—असामप्ति की क्रिया, लोकाः—प्रथमा ब०, भणंति—वर्तमान लट् अन्य

अवगाह होने पर भी मात्र संयोग संबन्ध है । 5—भिन्नता का परिचय असाधारण गुणसे होता है । 6—गुणस्थान, संयमस्थान, अध्यवसान आदि जिनका उपादान जीव है उन भावों

का जीव के साथ क्षणिक तादात्म्य संबंध तो है, किन्तु नैमित्तिक (पौद्गलिक) होनेसे, तुरन्त हट जाने से इनका भी संबंध संयोग संबंध कहलाता है। 7-वर्णादिकसे तो उपयोग अत्यन्त निराला है। 8-अध्यवसानादिकों से भी उपयोगस्वरूप आत्मा बिल्कुल विलक्षण है। 9-संयोग संबंध में एकको दूसरे का बताना प्रकट उपचार वाला व्यवहार है। 10-क्षणिक तादात्म्य में विभावको अषुद्ध निष्चयनयसे जीवका जो कहा है वह असद्भूतव्यवहार वाले द्रव्यकर्म बंधकी अपेक्षा तारतम्य बताने के लिए कहा है। वस्तुतः परमषुद्धनिष्चयनयकी अपेक्षा तो यह अषुद्धनिष्चयनय भी व्यवहार ही है। 11-षाष्वत सहज तादात्म्य सम्बन्धमें ही वास्तविक स्वरूप जाना जाता है। 12-जीव उपयोगमय है, जीवका उपयोग के साथ 'षाष्वत सहज तादात्म्य संबंध है। 13-आत्मा की वर्णादि से व रागादि से भिन्नता का परिचय आत्मा के उपयोग गुणके जानने से हो जाता है अर्थात् आत्मा उपयोगस्वरूप हैं और वर्णादिक व रागादिक जड़ स्वरूप है। 14-आत्मा का उपयोग से तादात्म्य संबंध है, जैसे अग्नि का कर्मनोकर्मवर्गवर्गणास्पृष्टकाध्यात्मस्थानानुभागस्थानयोगस्थानबन्धस्थानोदयस्थानमार्गणास्थान-स्थितिबंधस्थानसंक्लेशस्थानविषुद्धिस्थानसंयमलब्धिस्थानजीवस्थानगुणस्थानान्यपि व्यवहारतो-

पुरुष बहुवचन, व्यवहारिणः-प्रथमा बहु० कर्तृविषेषण, मुख्यते-कर्मवाच्य क्रिया वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०, कश्चित्-अव्यय अन्तः प्रथमा एक०, तथा-अव्यय, जीवे-सप्तमी एक०, कर्मणां-षष्ठी एक०, नोकर्मणां-षष्ठी एक०, वर्ण-द्वि० ए०, जीवस्य-षष्ठी एकवचन, एषः-प्रथमा एक०, जिनैः-तृतीया बहुवचन,

उष्णता से तादात्म्य संबंध है। 15-तादात्म्य तो 'षाष्वत रहता है, अतः उसके साथ संबन्ध 'ब्द तुक मिलाने के लिए लगाया जाता है। वस्तुतः तादात्म्य कोई संबंध नहीं है, वह तो तन्मय है। 16-वर्णादिक का व अध्यवसानादिका, गुणस्थान पर्यन्त इन सब भावों का जीव के साथ 'षाष्वत सहज तादात्म्य संबंध नहीं है, अतः ये सब भाव जीवके नहीं हैं।

सिद्धान्त-1-आत्मा उपयोग (चैतन्य) स्वरूप है। 2-षरीर को आत्मा कहना उपचार है, क्योंकि एक द्रव्यका अन्य द्रव्यके साथ संयोग सम्बन्ध ही हो सकता है। 3-नैमित्तिक भावों का उपादानके साथ अषुद्धिकालमें क्षणिक तादात्म्य रहता है।

दृष्टि-1-परमषुद्ध निष्चयनय (44)। 2-एकजातिद्रव्ये अन्यजातिद्रव्योपचारक असद्भूत व्यवहार (106)। 3-उपाधिसापेक्ष अषुद्ध द्रव्यार्थिकनय (53)।

प्रयोग-पानी से दूध की भिन्नता की तरह 'रीर को आत्मा से भिन्न निरखकर ज्ञान मात्र अन्तःस्वरूपमें उपयोग करना ॥57॥

यहाँ जिज्ञासा होती है कि व्यवहारनय फिर अविरोधक कैसे रहा? उसका उत्तर दृष्टान्त द्वारा तीन गाथाओं में कहते हैं—[पथि मुश्यमाणं] जैसे मार्गमें स्थित हुएको लुटा हुआ [दृष्ट्वा] देखकर [व्यवहारिणः] व्यवहारी [लोकाः] जन [भगंति] कहते हैं कि [एश पंथा] यह मार्ग [मुश्यते] लुटता है, वहाँ परमार्थ से विचारा जाय तो [कश्चित् पंथाः] कोई मार्ग [न च मुश्यते] नहीं लुटता, पहुंचे हुए लोक ही लुटते हैं [तथा] उसी तरह [जीवे] जीवमें [कर्मणां नोकर्मणां च] कर्मों का और नोकर्मों का [वर्ण] वर्ण [दृष्ट्वा] देखकर [जीवस्य] जीवका [एशः वर्णः] यह वर्ण है ऐसा [जिनैः] जिनदेवने [व्यवहारतः] व्यवहारसे [उक्तः] कहा है [एवं] इस प्रकार [गंधरसस्पर्शरूपाणि] गंध, रस, स्पर्श और रूप [देहः संस्थानादयः] देह संस्थान आदिक [ये च सर्वे] जो हैं वे सभी [व्यवहारस्य] व्यवहार के मतमें हैं, [निश्चयद्रष्टारः] ऐसा निष्चयनयके देखने वाले [व्यपदिशंति] कहते हैं।

तात्पर्य-निष्चयसे जीव अमूर्त है, फिर भी देहादिके रूपादि को देखकर इस जीवका ऐसा रूप है यों व्यवहारसे कहा गया है।

टीकार्थ—जैसे मार्गमें प्रस्थित किसी धनिक को लुटता हुआ देखकर धनिक की मार्गमें स्थिति होनेसे उपचार से कहा जाता है कि यह मार्ग लुटता है, तथापि निष्चयसे देखा जाय, तो जो आकाष के विषेष प्रदेशों रूप मार्ग है वह तो कोई लुटता नहीं है। उसी प्रकार जीवमें बंधपर्याय से अवस्थित जो कर्मका और नोकर्मका वर्ण है उसे देखकर जीवमें स्थित होनेसे उपचार से जीवका यह वर्ण है, ऐसे व्यवहारसे भगवान् अरहंत देव प्रज्ञापन करते हैं, प्रकट करते हैं, तो भी निष्चय से जीव नित्य ही अमूर्तस्वभाव है और उपयोग गुणके कारण अन्य द्रव्यसे अधिक है याने भिन्न है, इसलिये उसके कोई वर्ण नहीं है। इसी प्रकार गंध, रस, स्पर्श, रूप, 'रीर, संस्थान, संहनन, राग द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बंधस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबंधस्थान, संक्लेशस्थान, विषुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान, जीवस्थान और गुणस्थान—ये सभी व्यवहार से जीवके हैं ऐसा अरहंत देवों का प्रज्ञापन होने पर भी निष्चय से नित्य ही अमूर्त स्वभाव वाले व उपयोग गुणके कारण अन्यसे भिन्न जीव के ये हृद्देवानां प्रज्ञापनेपि निष्चयतो नित्यमेवामूर्तस्वभावस्योपयोगगुणेनाधिकस्य जीवस्य सर्वाण्यपि न संति तादात्म्यलक्षणसंबंधाभावात् ।। 58-59-60 ।।

व्यवहारतः—पंचम्यां तसल् अव्यय, उक्तः—प्रथमा एक० कृदंत, गंधरसस्पर्शरूपाणि—प्रथमा बहु०, देहः—प्रथमा एक०, संस्थानं—प्रथमा एक०, आदयः—प्रथमा बहु०, ये—प्रथमा बहु०, ये—प्रथमा बहु०, सर्वे—प्रथमा बहु०, व्यवहारस्य—षष्ठी एक०, निष्चयद्रष्टाचरः—प्रथमा ब०, व्यपदिषति—वि—अप दिषति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु० ।। 58-60 ।।

सब नहीं हैं, क्योंकि इन वर्णादि भावोंके और जीवके तादात्म्यलक्षण सम्बंध का अभाव है।

भावार्थ—ये जो वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यन्त भाव कहे हैं, वे सिद्धान्त में जीवके कहे हैं, सो व्यवहारनयसे कहे गये हैं, निष्चयनयसे तो जीवके नहीं हैं। क्योंकि जीव तो परमार्थतः उपयोगस्वरूप है। जहाँ पहले व्यवहारनयको असत्यार्थ कहा था वहाँ ऐसा नहीं समझना कि वह सर्वथा असत्यार्थ है, किन्तु कथंचित् असत्यार्थ जानना। क्योंकि जब एक द्रव्य को उसकी भिन्न-भिन्न पर्यायों से अभेदरूप असाधारण गुणमात्र को प्रधानरूपसे कहा जाय, तब परस्पर द्रव्यों का निमित्तनैमित्तिक भाव तथा निमित्त से हुए पर्याय ये सब गौण हो जाते हैं, वे एक अभेदद्रव्यकी दृष्टि में प्रतिभासित नहीं होते। इसलिये वे सब उस द्रव्यमें नहीं हैं, इस प्रकार कथंचित् निषेध किया जाता है। जब यह देखा जाय कि ये उस द्रव्यमें हैं तो व्यवहारनयसे यह जान सकते हैं, ऐसा नयविभाग है। यहाँ 'बुद्ध द्रव्य की दृष्टि से कथन है, इसलिये ऐसा सिद्ध किया है कि ये सब भाव सिद्धान्त में व्यवहारनयसे जीवके कहे हैं। यदि निमित्तनैमित्तिकभाव की दृष्टि से देखा जाय तो वह व्यवहार कदाचित् सत्यार्थ कहा जा सकता है। यदि सर्वथा असत्यार्थ ही कहें तो सब व्यवहार का लोप हो जायगा, और ऐसा होने से परमार्थ का भी लोप हो जायगा। इसलिये जिनेन्द्रदेव का उपदेश स्याद्वादरूप समझना ही सम्यग्ज्ञान है, सर्वथा एकांत करना मिथ्यात्व है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व प्रकरण में यह बताते चले आ रहे हैं कि सिद्धान्त में व्यवहारनयसे तो वर्णादिक जीवके कहे गये हैं, किन्तु निष्चयसे जीवके नहीं हैं। सो यहाँ यह जिज्ञासा हुई कि फिर व्यवहार निष्चयका अविरोधक कैसे रहा? इसके उत्तर में ये तीन गाथायें कही गई हैं।

तथ्यप्रकाश—(1) एक द्रव्य के द्रव्य गुण पर्याय में दूसरे द्रव्यके द्रव्य गुण पर्याय का आरोप किसी न किसी सम्बन्ध के होने के कारण हुआ करता है। (2) व्यवहारतः निर्णय यह है कि मार्ग में जाने ठहरने वाला धनिक मुसाफिर लुटेरों द्वारा लूट लिया जाता है सो उस मार्ग में ही न जाया जावे इस शिक्षा को देने के लिये यों ही कहा जाता है कि यह मार्ग

लुटता है या यह मार्ग लूट लेता है। (3) निष्चयतः निर्णय यह है कि मार्ग तो उस जगहके आकाषप्रदेश हैं, क्या वह आकाषका हिस्सा (मार्ग) लुटता है या लूटता है? न लुट सकता है, न लूट सकता है। (4) व्यवहारतः निर्णय यह है कि जीवके साथ बन्धपर्यायसे अवस्थित कर्म नोकर्म के वर्ण को देखते हैं सो तीर्थप्रवृत्ति के लिये दृष्यमान नर, पशु आदि को जीव बताया जाता है जिससे यह प्रसिद्ध होता है कि वर्णादिक जीवके हैं। (5) निष्चयतः निर्णय यह है कि वर्णादिक तो पुद्गल के आश्रित हैं वे जीव के नहीं हैं।

सिद्धान्त—(1) एक जाति के पदार्थ के आधारमें अन्य जातिके आधेय पदार्थ का आरोप करना आरोपक असद्भूतव्यवहार है। (2) जिस विभाव पर्यायका जो उपादान है उसको उसमें ही बताना प्रयोजक व्यवहार है।

दृष्टि—1—एकजात्याधारे अन्यजात्याधेयोपचारक व्यवहार (142)। 2—अषुद्ध निष्चयनय, अषुद्धपर्यायविषयी व्यवहारनय (47, 52)।

प्रयोग—किसी भी उपचार कथन से उसके प्रयोजनमात्र को जानकर आगे प्रगति के लिये निष्चयनय का आश्रय करके सर्वविकल्पातिक्रान्त अन्तस्तत्त्व को अनुभवना जीवस्य वर्णादितादात्म्यदुरभिनिवेशे दोशश्चायं—

जीवो चेव हि एदे सव्वे भावात्ति मण्णसे जदि हि ।

जीवस्साजीवस्य य णत्थि विसेसो दु दे कोई ।।62।।

यदि ऐसा मानोगे, ये सब वर्णादि जीव होते हैं ।

तो फिर अन्तर न रहा, जीव अरु अजीव द्रव्यों में ।।62।।

जीवश्चैव होते सर्वे भावा इति मन्यसे यदि हि । जीवस्याजीवस्य च नास्ति विशेषस्तु ते कञ्चित् ।।62।।

यथा वर्णादयो भावाः क्रमेण भाविताविर्भावतिरोभावाभिस्ताभिस्ताभिव्यक्तिभिः पुद्गल—द्रव्यमनुगच्छंतः पुद्गलस्य वर्णादितादात्म्यं प्रथयन्ति । तथा वर्णादयो भावाः क्रमेण भावि—ताविर्भावतिरोभावाभिस्ताभिस्ताभिव्यक्तिभिर्जीवमनुगच्छंतो जीवस्य वर्णादितादात्म्यं प्रथयन्तीति

नामसंज्ञ—जीव, च, एव, हि, एत, सव्व, भाव, इत्ति, जदि, हि, जीव अजीव, य, ण, विसेस, दु, कोई ।
धातुसंज्ञ—मन्न अवगमने, अस सत्तायां । **प्रातिपदिक**—जीव, च, एव, हि, एतत्, सर्व, भाव, इत्ति, यदि, हि, जीव, अजीव, च, न, विषेष, तु, तत्, कञ्चित् । **मूलधातु**—जीव प्राणधारणे, मन ज्ञाने, षिष असर्वोपयोगे । **पदविवरण**—जीवः—प्रथमा एक० । च—अव्यय । एव—अव्यय । हि—अव्यय । एते—प्रथमा बहु० । सर्वे—प्रथमा बहु० । भावाः—प्रथमा बहु० । इत्ति—अव्यय । मन्यसे—वर्तमान लट् मध्यम पुरुष एक० । यदि—अव्यय ।

चाहिये ।।58—59—60।।

यहाँ प्रश्न होता है कि वर्णादिके साथ जीवका तादात्म्य सम्बंध क्यों नहीं है? उसका उत्तर कहते हैं—[वर्णादयः] जो वर्ण आदिक हैं वे [संसारस्थानां जीवानां] संसार में स्थित जीवों के [तत्र भवे] उस भवमें [भवन्ति] होते हैं [संसारप्रमुक्तानां] किन्तु संसार से छूट गए याने मुक्त हुए जीवों के [खलु] निष्चयसे [वर्णादयः केचित्] वर्णादिक कोई भी [न संति] नहीं हैं । इसलिये तादात्म्य सम्बंध भी नहीं है ।

तात्पर्य—केवल संसारदषामें देहादिमें वर्णादि होते हैं मुक्तदषामें नहीं होते, अतः सदा न होनेसे जीवका वर्णादि से तादात्म्य सिद्ध नहीं होता ।

टीकार्थ—जो निष्चय से सब अवस्थाओं में जिस स्वरूपसे व्याप्त हो और जिस स्वरूपकी व्याप्ति से रहित न हो, उस वस्तुके साथ उन भावों का तादात्म्य सम्बंध होता है । इसलिए सब ही अवस्थाओं में वर्णादिरूपसे व्याप्त हुए और वर्णादिक की व्याप्ति से 'नून्य न हुए पुद्गल द्रव्य का वर्णादिक भावों के साथ तादात्म्य सम्बंध है । और संसार—अवस्था में कथंचित् वर्णादि स्वरूपसे हुए तथा वर्णादि स्वरूपकी व्याप्ति से 'नून्य न हुए जीवा का मोक्ष

अवस्थामें सर्वथा वर्णादि स्वरूपकी व्याप्ति से 'न्य होने के कारण तथा वर्णादि स्वरूपसे व्याप्त न होने के कारण वर्णादि भावोंके साथ तादात्म्य सम्बन्ध किसी प्रकार भी नहीं है।

भावार्थ—जो वस्तु जिन भावों से सब अवस्थाओं में व्याप्त हो उस वस्तु का उन भावों

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया था कि जीव का वर्णादिक के साथ तादात्म्य संबंध किस कारण से नहीं है, उस कारण के सुनने के बाद भी यदि कोई जीव का वर्णादिक के साथ तादात्म्य सम्बन्धका ही दुराग्रह करे तो क्या दोष होता है उस दोष, आपत्ति, विडम्बना का इस गाथा में कथन किया है।

तथ्यप्रकाश—(1) वर्णादिक भाव निरन्तर नवीन नवीन पर्यायों से जिस द्रव्य में अन्वयरूपसे संतानरूपसे होते ही रहे उसके साथ वर्णादिक का तादात्म्य है वह है पुद्गलद्रव्य। (2) यदि वर्णादिक भावों को उक्त प्रकारसे जीवमें अन्वित मान लिये जावें तो वह जीव नहीं रहा पुद्गल ही रहा, क्योंकि वर्णादिक से व्याप्त पुद्गल ही होता। (3) जीव तो विषुद्ध चैतन्यचमत्कारमात्र है उसका प्रतिषेध किया ही नहीं जा सकता, इस कारण जीवको वर्णादिव्याप्त मानने का दुराग्रह करने में विडम्बना व दोष होता है।

यस्याभिनिवेशः तस्य षड्रव्यासाधारणस्य वर्णाद्यात्मकत्वस्य पुद्गललक्षणस्य जीवेन स्वीकरणाज्जीवपुद्गलयोरविषेष्प्रसक्तौ सत्यां पुद्गलेभ्यो भिन्नस्य जीवद्रव्यस्याभावाद्भवत्येन जीवाभावः ।।62।।

हि—अव्यय। जीवस्य—षष्ठी एक०। अजीवस्य—षष्ठी एक०। च—अव्यय। न—अव्यय। अस्ति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। विषेष्—प्रथमा एक०। तु—अव्यय। ते—षष्ठी एकवचन। कश्चित्—अव्यय अन्तः प्रथमा एकवचन।।62।।

सिद्धान्त—(1) जो भाव अपनी निरन्तर व्यक्तियों से (पर्यायों से) सदा जिसमें अन्वित रहता है उस भावकी उस द्रव्य में तन्मया है। (2) एक द्रव्यके लक्षणको अन्य द्रव्यमें स्वीकार करने पर दोनों ही द्रव्यों का अभाव हो जाता है, किन्तु संयोग सम्बन्ध दिखाने को उपचारसे कह दिया जाता है।

दृष्टि—1—परमषुद्ध निष्चयनय (44-45)। 2—एकजातिद्रव्ये अन्यजातिगुणोपचारक व्यवहार (111)।

प्रयोग—अपने आत्मा व वर्णादिक भावों को बिल्कुल पृथक् निरखकर अपने चैतन्यचमत्कारमात्र स्वरूपमें उपयोग को लीन करने का भावपौरुष करना चाहिये।।62।।

अब संसार—अवस्था में ही जीवका वर्णादिक से तादात्म्य है, ऐसा अभिप्राय होने पर भी यही दोष आता है, ऐसा कहते हैं—[अथ] अब यदि [तव] तुम्हारे मतमें [संसारस्थानां जीवानां] संसार में स्थित जीवों के ही [वर्णादयः] वर्णादिक तादात्म्यस्वरूपसे [भवन्ति] हैं [तस्मात्] तो इसी कारण [संसारस्थाः जीवाः] संसार में स्थित जीव [रूपित्वं आपन्नाः] रूपीपने को प्राप्त हो गए। [एवं] ऐसा होनेपर [तथा लक्षणेन] पुद्गल के लक्षण के समान जीवका लक्षण होनेसे [मूढमते] हे मूढ़ बुद्धि [पुद्गलद्रव्यं] पुद्गलद्रव्य ही [जीवः] जीव सिद्ध हुआ [च निर्वाणं] और निर्वाणको [उपगतोपि] प्राप्त हुआ भी [पुद्गलः] पुद्गल ही [जीवत्वं] जीवपनेको [प्राप्तः] प्राप्त हुआ।

तात्पर्य—संसारदषामें ही सही, जीवका लक्षण रूपी मानने पर वह पुद्गल कहलाया और निर्वाण होने पर कहा जायगा कि पुद्गल का निर्वाण हुआ, पुद्गल ही जीव बन गया।

टीकार्थ—जिसके मतमें संसार—अवस्थामें जीवका वर्णादि भावों के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है, ऐसा अभिप्राय है, उसके संसार अवस्था के समय वह जीव रूपित्व दषाको अवष्य प्राप्त होता है। और रूपित्व किसी द्रव्यका असाधारण (अन्य द्रव्यों से पृथक् कराने वाला)

लक्षण है। इस कारण रूपित्व लक्षण मात्रसे जो कुछ लक्ष्यमाण है वही जीव है और रूपित्व से लक्ष्यमाण पुद्गलद्रव्य ही है। इस प्रकार पुद्गलद्रव्य ही स्वयं जीव सिद्ध होता है अन्य कोई नहीं। ऐसा होने पर मोक्ष अवस्था में भी पुद्गलद्रव्य ही आप जीव होता है। क्योंकि जो द्रव्य है, वह नित्य अपने लक्षणसे लक्षित है, वह सभी अवस्थाओं में अविनाषस्वभाव है इसलिये अनादिनिधन है, इस कारण पुद्गल ही जीव है, इससे भिन्न कोई जीव नहीं है। ऐसा होनेसे संसारदषामें ही जीवका वर्णादिके साथ तादात्म्य मानने वालेके मतमें भी पुद्गलों से भिन्न जीवद्रव्य का अभाव होनेसे जीवका अभाव ही सिद्ध हुआ। इसलिये यह निश्चित हुआ कि जो वर्णादिक भाव हैं, वे जीव नहीं हैं।

करणस्वरूप होकर [जीवस्थानानि] जीवसमास [निर्वृत्तानि] रचे गये हैं [ताभिः] उन [पुद्गलमयीभिः] पुद्गलमय [प्रकृतिभिः] प्रकृतियों से रचे हुए को [जीवः] जीव [कथं] कैसे [भण्यते] कहा जा सकता है।

तात्पर्य—एकेन्द्रियादिक वादरादिक प्रकृतियों से रचे हुए जीवस्थानों को निष्चयतः जीव कहा नहीं जा सकता।

एकं च दोष्णि तिष्णि य चत्वारि य पंच इंदिया जीवा ।

वादरपज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स ॥65॥

एदाहि य णिव्वत्ता जीवट्ठाणाउ करणभूदाहिं ।

पयडीहिं पुग्गलमईहिं ताहिं कंहं भण्णदे जीवो ॥66॥ (युग्मम्)

एक दो तीन चौ पंच—चेन्द्रिय वादर व सूक्ष्म पर्याप्ती ।

अन्य अपर्याप्तादिक, हैं ये नामकर्मकी प्रकृति ॥65॥

पौद्गल कर्मप्रकृतिसे, जीवस्थानादि ये रचित होते ।

फिर इन पौद्गलभावों—को कैसे जीव कह सकते ॥66॥

एकं च द्वे त्रीणि च चत्वारि च पंचेन्द्रियाणि जीवाः । वादरपर्याप्तेतराः प्रकृतयो नामकर्मणः ॥65॥

एताभिष्च निर्वृत्तानि जीवस्थानानि करणभूताभिः । प्रकृतिभिः पुद्गलमयीभिस्ताभिः कथं भण्यते जीवः ।

निष्चयतः कर्मकरणयोरभिन्नत्वात् यद्येन क्रियते तत्तदेवेति कृत्वा यथा कनकपत्रं कन-
केन क्रियमाणं कनकमेव न त्वन्यत् । तथा जीवस्थानानि वादरसूक्ष्मैकेन्द्रियद्वित्रिचतुःपंचेन्द्रिय-
पर्याप्तापर्याप्ताभिधानाभिः पुद्गलमयीभिः नामकर्मप्रकृतिभिः क्रियमाणानि पुद्गल एव न तु
जीवः । नामकर्मप्रकृतीनां पुद्गलमयत्वं चागमप्रसिद्धं दृष्यमानषरीराकारादिमूर्त्तकार्यानुमेयं च ।

नामसंज्ञ—एक, च, दु, ति, य, चउ, पंच, इंदिय, जीव, वादरपज्जत्तिदर, पयडि, णामकम्म, एत, य, णिव्वत्त, जीवट्ठाण, करणभूदा, पयडि, पुग्गलमई, ता, कथं, जीव । **धातुसंज्ञ**—पूर पालनपूरणयोः, गल स्रवणे, भण कथने । **प्रातिपदिक**—एक, च, द्वि, त्रि, च, चतुर् च, पंचन्, इन्द्रिय, जीव, वादरपर्याप्तेतर, प्रकृति, नामकर्मन्, एतत्, निर्वृत्त जीवस्थान, करणभूत, प्रकृति, पुद्गलमयी, तत्, कथं, जीव । **मूलधातु**—निस्—

टीकार्थ—निष्चयनयसे कर्म और करणमें अभेदभाव होनेसे जो जिससे किया जाय वह वही है, ऐसा होने पर जैसे सुवर्ण का पत्र सुवर्ण से किया हुआ सुवर्ण ही है, अन्य कुछ नहीं उसी प्रकार जीवस्थान वादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, अपर्याप्त नामकी पुद्गलमयी नामकर्मकी प्रकृतियों से किये गये होनेसे पुद्गल ही हैं, जीव नहीं हैं तथा नामकर्मकी प्रकृतियों की पुद्गलमयता आगम में प्रसिद्ध है और जो प्रत्यक्ष देखनेमें आने वाले 'रीर आदि मूर्तिकभाव हैं वे पुद्गल कर्मप्रकृतियों के कार्य होने के कारण अनुमान प्रमाण से भी सिद्ध हैं। इसी प्रकार गंध, रस, स्पर्श, रूप, 'रीर, संस्थान, संहनन—ये भी नामकर्म की प्रकृतियों द्वारा किए गये होनेपर उस पुद्गलसे अभेदरूप हैं

इसी प्रकार जीवस्थानों की तरह इन्हें भी पुद्गलमय ही कहने चाहिए। इस कारण ये वर्णादिक जीव नहीं हैं, ऐसा निष्चयनयका सिद्धान्त है।

यहाँ इसी अर्थ का कलषरूप काव्य कहते हैं—**निर्वर्त्यते** इत्यादि। **अर्थ**—जिस वस्तुसे जो पर्याय निष्पन्न होती है वह पर्याय उस वस्तुरूप ही है कुछ अन्य वस्तु नहीं है। जैसे यहाँ सोनेसे रचे गये खड्गके (तलवारके) म्यान को लोग सोना ही देखते हैं, खड्ग को तो सोनारूप किसी तरह भी नहीं देखते।

भावार्थ—पुद्गलप्रकृतियों से रचे गये वर्णादिक भाव पुद्गल ही हैं जीव नहीं हैं।

अब दूसरा काव्य कहते हैं—**वर्णादि** इत्यादि। **अर्थ**—वर्णादिक गुणस्थानपर्यन्त सभी भावों को एक पुद्गलका ही निर्माण जानो जानो, इसलिये ये भाव पुद्गल ही होवो आत्मा नहीं, क्योंकि आत्मा तो विज्ञानघन है, ज्ञानका पिण्ड है, इस कारण पुद्गलसे अन्य है।

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व प्रकरणमें यह बताया गया था कि वर्णादिक भाव पुद्गलमय हैं जीवके स्वरूप नहीं, जीवके नहीं। अब इसी तथ्य की युक्तिपूर्वक सिद्धि का इनदो गाथावों कथन है।

एवं गंधरसस्पर्शरूपषरीरसंस्थानसंहननान्यपि पुद्गलमयनामकर्मप्रकृतिनिर्वृत्तत्वे सति तदव्यति-
रेकाज्जीवस्थानैरेवोक्तानि । ततो न वर्णादयो जीव इति निष्चयसिद्धान्तः ।

निर्वर्त्यते येन यदत्र किञ्चित्तदेव तस्यान्न कथंचनान्यत् ।

रुक्मेण निर्वृत्तमिहासिकोषं पश्यन्ति रुक्मं न कथंचनासिं ॥38॥

<p>वृत्तु वर्तने, परि—आप्लु व्याप्तौ, इदि परमैष्वर्ये, भण 'ब्दार्थः । पदविवरण—एकं—प्रथमा एक० । द्वे—प्रथमा द्वि० । त्रीणि—प्रथमा बहु० । चत्वारि—प्रथमा बहु० । पंच—प्रथमा बहु० । इन्द्रियाणि—प्रथमा बहु० । जीवाः—प्रथमा बहु० । वादरपर्याप्तेतराः—प्रथमा बहु० । प्रकृतयः—प्रथमा ब० । नामकर्मणः—षष्ठी बहु० । एताभिः—तृतीया बहु० स्त्रीलिंग । निर्वृत्तानि—प्रथमा बहु० । जीवस्थानानि—प्रथमा बहु० ।</p>

तथ्यप्रकाश—(1) निष्चयसे कर्तादि की भांति कर्म व करण भी अभिन्न होते हैं। (2) जो जिसके द्वारा किया जाय वह वही निष्चयसे है। (3) सुवर्ण के द्वारा सुवर्णाभूषण जो भी बना वह सुवर्ण ही है, इसी भांति सर्व पदार्थों से यही तथ्य है। (4) वादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, आदि, पर्याप्त, अपर्याप्त इत्यादि नामकी नामकर्मप्रकृतियां पुद्गलमयी ही हैं उनके द्वारा वादर सूक्ष्म आदि भव बनते हैं सो ये वादर आदि भी पुद्गल ही हैं। (5) नामकर्म

तत्प्रसिद्ध्या कुम्भे घृतकुम्भव्यवहारः तथास्याज्ञानिनो लोकस्यासंसारप्रसिद्धाषुद्धजीवस्य 'जुद्ध-जीवानभिज्ञस्य प्रबोधनाय योऽयं वर्णादिमान् जीवः स ज्ञानमयो न वर्णादिमयः इति तत्प्रसिद्ध्या जीवे वर्णादिमद्व्यवहारः ॥67॥

यत्, च, एव, देह, जीवसंज्ञा, सूत्र, व्यवहारतः, उक्त। **मूलधातु**—परि—आप्लृ व्याप्तौ, दिह उपचये, सूत्र वेष्टने, वि—अव हृत् हरणे, वच परिभाषणे। **पदविवरण**—पर्याप्तापर्याप्ताः—प्रथमा बहु०। ये—प्रथमा बहु०। सूक्ष्माः—प्रथमा बहु०। च—अव्यय। ये—प्रथमा बहु०। च—अव्यय। एव—अव्यय। देहस्य—षष्ठी एक०। जीवसंज्ञाः—प्रथमा बहु०। सूत्रे—सप्तमी एक०। उक्ताः—प्रथमा बहुवचन कृदन्त ॥67॥

बच जावें (2) वादर आदि को जीव कहने का द्वितीय प्रयोजन यह है कि साधारण जनों को यथार्थ जीव समझाते समय पहिले तो इन्हें जीव कहकर बताना ही पड़ेगा कि ये वस्तुतः जीव नहीं हैं। (3) वर्णादिक भाव पुद्गलाश्रित होने से ये कोई भी भाव जीव नहीं हैं।

सिद्धान्त—(1) देहों की जीवसंज्ञा उपचार से है। (2) जीव तो 'जुद्ध ज्ञायकस्वरूप है उसके वर्णादिक नहीं होते, वर्णादिक पौद्गलिक है।

दृष्टि—1—संश्लिष्टविजात्युपचरित असद्भूतव्यवहार (125)। 2—विवक्षितैकदेशषुद्ध-निष्चयनय (48)।

प्रयोग—वस्तुतः आत्मा को देहसे अत्यन्त पृथक् जानकर चैतन्यस्वभावमात्र अन्तस्तत्त्व में ज्ञातृत्वमय परमविश्राम करने का पौरुष करना ॥67॥

अब कहते हैं कि जैसे वर्णादिकभाव जीव नहीं हैं, उसी प्रकार यह भी सिद्ध हुआ कि रागादिक भाव भी जीव नहीं हैं—[यानि इमानि] जो ये [गुणस्थानानि] गुणस्थान हैं वे [मोहनकर्मणः उदयात् तु] मोहकर्म के उदयसे होते हैं ऐसे [वर्णितानि] सर्वज्ञ के आगम में वर्णन किये गये हैं [तानि] वे [जीवाः] जीव [कथं] कैसे [भवन्ति] हो सकते हैं [यानि] जो कि [नित्यं] हमेषा [अचेतनानि] अचेतन [उक्तानि] कहे गये हैं।

तात्पर्य—उपयोगमें प्रतिफलित ये विकार मोहकर्मके विपाक हैं, अचेतन हैं वे जीव कैसे हो सकते हैं।

टीकार्थ—मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान पुद्गलरूप मोहकर्मकी प्रकृति के उदयपूर्वक होने से नित्य ही अचेतन हैं, क्योंकि जैसा कारण होता है, उसी के अनुसार कार्य होता है। जैसे जौ से जौ होते हैं, वे जौ ही हैं, इस न्याय से वे पुद्गल ही हैं, जीव नहीं हैं। यहाँ गुणस्थानों की नित्य अचेतनता आगमसे सिद्ध है और चैतन्यस्वभावसे व्याप्त आत्मा से भिन्नपने से वे गुणस्थानादि भेदज्ञानी पुरुषों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान हैं, इस हेतुसे सिद्ध करना। अर्थात् चैतन्यमात्र आत्मा के अनुभव से ये बाह्य हैं, इसलिये अचेतन ही हैं। इसी प्रकार राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बंधस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबंधस्थान, संक्लेशस्थान, विषुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान—ये सभी पुद्गलकर्मपूर्वक होनेसे नित्य अचेतन होने के कारण पुद्गल ही हैं, जीव नहीं हैं, ऐसा स्वयं (अपने आप) सिद्ध हुआ, इसलिये रागादिक भाव जीव नहीं हैं, ऐसा सिद्ध हुआ।

भावार्थ—पुद्गल कर्मके उदय का निमित्त पाकर हुए चैतन्य के विकार भी पुद्गल ही हैं, क्योंकि 'जुद्ध द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि में चैतन्य अभेदरूप है और इसके परिणाम भी स्वाभाविक 'जुद्ध ज्ञान दर्शन हैं। इस कारण परनिमित्तसे होने वाले विकार चैतन्यसरीखे दोखते हैं, तो भी चैतन्य की सर्व अवस्थाओं में व्यापक नहीं हैं। इसलिये वे स्वभाव चैतन्यषून्य (जड़) हैं इस तरह जो जड़ है वह पुद्गल है, ऐसा निष्चय हुआ।

एतदपि स्थितमेव यद्रागादयो भावा न जीवा इति—

मोहनकम्मस्सुदया दु वण्णिया जे इमे गुणट्ठाणा ।

ते कह हवन्ति जीवा जे णिच्चमचेदणा उत्ता ॥68 ॥

जो भि गुणस्थान कहे, होते सब मोहकर्मके कारण ।

उन सब अचेतनों को, फिर कैसे जीव कह सकते ॥68 ॥

मोहनकर्मण उदयात्तु वर्णितानि यानीमानि गुणस्थानानि, तानि कथं भवन्ति जीवा यानि नित्यमचेतनान्युक्तानि।

मिथ्यादृष्ट्यादीनि गुणस्थानानि हि पौद्गलिकमोहकर्मप्रकृतिविपाकपूर्वकत्वे सति नित्यमचेतनत्वात् कारणानुविधायीनि कार्याणीति कृत्वा यवपूर्वका यवा यवा एवेति न्यायेन पुद्गल एव न तु जीवः। गुणस्थानानां नित्यमचेतनत्वं चागमाच्चैतन्यस्वभावव्याप्तस्यात्मनोति—रिक्तत्वेन विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वाच्च प्रसाध्यं। एवं रागद्वेषमोहप्रत्ययकर्मनोकर्मवर्गवर्गणा—स्पर्द्धकाध्यात्मस्थानानुभागस्थानयोगस्थानबंधस्थानोदयस्थानमार्गणास्थानस्थितिबंधस्थानसंक्लेश—

नामसंज्ञ—मोहनकम्म, उदय, दु, वण्णिय, ज, इम, गुणट्ठाण, त, कह, जीव, ज, णिच्चं अचेदण, उत्त।
धातुसंज्ञ—उद्-अय गतौ, वण्ण वर्णने, हव सत्तायां। **प्रातिपदिक**—मोहनकर्मन्, उदय, तु, वर्णित,

यहाँ पूछते हैं कि यदि वर्णादिक और रागादिक जीव नहीं हैं तो जीव क्या है? उसका उत्तररूप 'लोक कहते हैं—**अनाद्यनंत** इत्यादि। **अर्थ**—अनादि अनन्त, अचल, स्पष्ट स्वसंवेद्य चैतन्य जो अत्यन्त प्रकाशमान हो रहा है, वह स्वयं ही जीव है।

अब चेतनत्व ही जीव का लक्षण है ऐसा काव्य द्वारा कहते हैं—**वर्णाद्यैः** इत्यादि। **अर्थ**—चूँकि वर्णादि से सहित तथा वर्णादि से रहित यों अजीव पदार्थ दो प्रकार के हैं याने धर्म, अधर्म, आकाश और काल—ये चार अजीव तो वर्णादि भावसे रहित हैं और पुद्गल वर्णादि

जीवौ स्फुटविघटनं नैव यावत्प्रयातः। विष्वं व्याप्य प्रसभविकसद्व्यक्तचिन्मात्राक्त्या ज्ञातृद्रव्यं स्वयमतिरसात्तावदुच्चैष्यकाषे।।45 ॥ इति जीवाजीवौ पृथग्भूत्वा निष्क्रांतौ।।68 ॥

॥ इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ
जीवाजीवप्ररूपकः प्रथमोऽङ्कः ॥१॥

बहु०। नित्यं—अव्यय प्रथमा एक०। अचेतनानि—प्रथमा बहु०। उक्तानि—प्रथमा बहु० कृदन्त क्रिया ॥६८॥

(3) कार्य सब कारणके अनुसार होते हैं, सो पुद्गलकर्मविपाकके ये प्रतिफलनस्वरूप गुणस्थान भी पुद्गल अथवा पौद्गलिक हैं। (4) चेतन वही है जो चेतनागुण व मात्र चेतनागुणकी परिणति हो, सो चैतन्यस्वभावसे व्याप्त आत्मा से अन्य हैं ये गुणस्थान, राग, विषुद्धिस्थान, संयमस्थान आदि, अतः ये सब अचेतन हैं। (5) परमार्थतः जीव अचल सनातन स्वसंवेद्य चैतन्यस्वरूप ही है, क्योंकि जो जीव में निरन्तर एकरूप हो वही जीवस्वरूप है। (6) परमार्थ अखण्ड अचल जीवस्वरूप की दृष्टिमें यह सारा जगजाल ऐसा लगता है कि यह सारा नाच पुद्गल ही कर रहा है। (7) परमार्थ जीव च षिष अजीव भली—भाँति पृथक्—पृथक् ज्ञात होते ही यह ज्ञाता भगवान आत्मा चैतन्यमात्र 'वित्तसे स्पष्ट प्रकाशमान होता है।

सिद्धान्त—(1) पुद्गलकर्मोदयादिके निमित्त से होने वाले विकार पौद्गलिक हैं, आत्मा तो केवल चैतन्यचमत्कारमात्र है। (2) आत्मा 'ष्यत चैतन्यस्वभावसे व्याप्त है, अतः आत्मा चेतन है।

दृष्टि—1—विवक्षितैकदेशषुद्धनिष्चयनय (48), 2—परमषुद्धनिष्चयनय (44—45)।

प्रयोग—अपने परमार्थ सहज चैतन्यस्वरूपको निरखते हुए उपयोगको अन्तः विकारसे परभावों से बिल्कुल हटाकर चैतन्यस्वरूपमें लीन होनेका पौरुष करना ॥६८॥

॥ इति जीवाजीवाधिकार समाप्तः ॥

अथ कर्तृकर्माधिकारः

अथ जीवाजीवावेव कर्तृकर्मवेषेण प्रविषतः।

एकः कर्ता चिदहमिह मे कर्म कोपादयोऽमी, इत्यज्ञानां 'मयदभतः कर्तृकर्मप्रवृत्तिं।
ज्ञानज्योतिः स्फुरति परमोदात्तमत्यंतधीरं साक्षात्कुर्वन्निरुपधि पृथग्द्रव्यनिर्भासि विष्वं ॥४६॥

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोहणंपि।

अण्णाणी तावदु सो क्रोधादिसु वट्टदे जीवो ॥६९॥

क्रोधादिसु वट्टंतस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदि।

जीवस्सेवं बंधो भणितो खलु सव्वदरसीहिं ॥७०॥ (युग्मं)

जब तक न लखे अन्तर, आस्रव आत्मस्वरूप दोनोंमें।

तक तक वह अज्ञानी, क्रोधादिक में लगा रहता ॥६९॥

क्रोधादिकमें लगा जो, संचय उसके हि कर्मका होता।

यों बन्ध जीवका हो, दर्शाया सर्वदर्शीने ॥७०॥

यावन्न वेत्ति विषेपांतरं त्वात्मास्रवयोर्द्वयोरपि। अज्ञानी तावत्स क्रोधादिषु वर्तते जीवः ॥६९॥

क्रोधादिषु वर्तमानस्य तस्य कर्मणः संचयो भवति। जीवस्यैवं बंधो भणितः खलु सर्वदर्षिभिः ॥७०॥

यथायमात्मा तादात्म्यसिद्धसम्बंधयोरात्मज्ञानयोरविषेपाद्भेदमपष्यन्नविषंकमात्मतया ज्ञाने वर्तते तत्र वर्तमानश्च ज्ञानक्रियायाः स्वभावभूतत्वेनाप्रतिषिद्धत्वाज्जानाति तथा संयोग—

नामसंज्ञ—जाव, ण, विसेसंतरं, तु, आदासवाण, दु, पि, अण्णाणि, तावदु, त, क्रोधादि, जीव, क्रोधादि, वट्टंत, त, कम्म, संचओ, जीव, एवं बंध, भणित, खलु, सव्वदरिसि। **धातुसंज्ञ**—विद ज्ञाने, वत् वर्तने,

अब जीव, अजीव दोनों कर्ता कर्मका वेष धारण करके प्रवेश करते हैं। (जैसे दो पुरुष आपसमें कोई स्वांग रचकर नृत्यके अखाड़े में प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार यहाँ अलंकार जानना। उस स्वांगको जो ज्ञान यथार्थ जान लेता है, उसकी महिमा में काव्य कहते हैं) — एकः इत्यादि। **अर्थ**—इस लोकमें मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा तो एक कर्ता हूँ और ये क्रोधादिक भाव मेरे कर्म हैं, इस प्रकार की कर्ता कर्म की प्रवृत्ति को 'मन करती हुई ज्ञानज्योति स्फुरायमान होती है। जो ज्ञानज्योति उत्कृष्ट उदात्त है, किसी के आधीन नहीं है, अत्यंत धीर है अर्थात् किसी प्रकार से आकुलतारूप नहीं है, और दूसरे की सहायता के बिना भिन्न-भिन्न द्रव्यों के प्रकाशित करने का जिसका स्वभाव है, इसी कारण समस्त लोकालोकको साक्षात् करती हैं। **भावार्थ**—ज्ञानस्वरूप आत्मा परद्रव्य तथा परभावों के कर्ताकर्मपने के अज्ञानको दूर कर स्वयं प्रकट प्रकाशमान होता है।

आगे कहते हैं कि यह जीव जब तक आस्रव और आत्मा के भेद को नहीं जानता तब तक अज्ञानी हुआ आस्रवों में लीन होकर कर्मों का बंध करता है—[जीवः] यह जीव [यावत्] जब तक [आत्मास्रवयोः द्वयोः अपि तु] आत्मा और आस्रव इन दोनों के [विशेशांतरं] भिन्न-भिन्न लक्षणों को [न वेत्ति] नहीं जानता [तावत्] तब तक [स अज्ञानी] वह अज्ञानी हुआ [क्रोधादिशु] क्रोधादिक आस्रवों में [वर्तते] प्रवर्तता है। [क्रोधादिशु] क्रोधादिकों में [वर्तमानस्य तस्य] वर्तते हुए उसके [कर्मणः] कर्मों का [संचयः भवति] संचय होता है। [खलु] निष्चयतः [एवं] इस प्रकार [जीवस्य] जीव के [बंधः] कर्मों का बंध [सर्वदर्शिभिः] सर्वज्ञदेवोंने [भणितः] कहा है।

तात्पर्य—स्वभाव व विभाव में भेदज्ञान न होने के कारण अज्ञानी जीव विभाव में निःषंक प्रवर्तता है, अतएव उसके कर्मों का विकट बन्ध होता रहता है।

सिद्धसंबंधयोरप्यात्मक्रोधाद्यास्रवयोः स्वयमज्ञानेन विषेषमजानन् यावद्भेदं न पश्यति तावदषंकमात्मतया क्रोधादौ वर्तते। तत्र वर्तमानष्व क्रोधादिक्रियाणां परभावभूतत्वात्प्रतिषिद्धत्वेपि स्वभावभूतत्वाध्यासात्क्रुध्यति रज्यते मुह्यति चेति। तदत्र योयमात्मा स्वयमज्ञान-भवेन ज्ञानभवनमात्रसहजोदासीनावस्थात्यागेन च्याप्रियमाणः प्रतिभाति स कर्ता। यत्तु ज्ञान-भवनव्याप्रियमाणत्वेभ्यो भिन्नं क्रियमाणत्वेनांतरुत्प्लवमानं प्रतिभाति क्रोधादि तत्कर्म एवमियम-नादिरज्ञानजा कर्तृकर्मप्रवृत्तिः। एवमस्यात्मनः स्वयमज्ञानात्कर्तृ कर्मभावेन क्रोधादिषु वर्तमानस्य

सम्-चय पतनचयनयोः, हो सत्तायां, भण कथने, दरस दर्शनायां। **प्रातिपदिक**—यावत्, पि, विषेषान्तर, तु, आत्मास्रव, द्वि, अपि अज्ञानिन्, तावत्, तत्, क्रोधादि, जीव, क्रोधादि, वर्तमान, तत्, कर्मन्, संचय, जीव, एवं, बन्ध, खलु सर्वदर्शिन्। **मूलधातु**—विद ज्ञाने, श्रु गतौ, क्रुध क्रोधे दिवादि, वृत्तु वर्तने, सं-चिञ् चयने स्वादि, भू सत्तायां, बंध बंधने, भण 'ब्दार्थः, दृषिर् प्रेक्षणे। **पदविवरण**—यावत्-अव्यय। न-अव्यय। वेत्ति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। विषेषान्तरं-द्वितीया एक० कर्मकारक। तु-अव्यय। आत्मास्रवयोः-षष्ठी द्विवचन। अपि-अव्यय। अज्ञानी-प्रथमा एक०। तावत्-अव्यय। सः-प्रथमा एक० कर्तृविषेषण। क्रोधादिषु-सप्तमी बहुवचन। वर्तते-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। जीवः-

टीकार्थ—जैसे यह आत्मा तादात्म्यसिद्ध सम्बन्ध वाले आत्मा और ज्ञान में भेद नहीं देखता हुआ ज्ञान में निःषंक होकर आत्मरूपसे प्रवृत्त होता है। वहाँ प्रवर्तन करने वाले के ज्ञानक्रियारूप प्रवृत्ति स्वभावभूत है, अतः उसका निषेध नहीं है। इसलिये उस ज्ञानक्रियासे जानता है। अर्थात् जाननमात्र रूपसे परिणमन करता है, उसी प्रकार संयोगसिद्धसम्बन्धरूप आत्मा और क्रोधादिक आस्रव में भी अपने अज्ञानसे विषेष भेद न जानता हुआ जब तक उनके भेदको नहीं देखता तब तक निःषंक होकर क्रोधादिमें आत्मरूपसे प्रवृत्ति करता है। वहाँ प्रवृत्ति करते हुए उसके जो क्रोधादि क्रिया है वह परभाव से हुई है, इसलिये वे क्रोधादि प्रतिषेधरूप हैं तो भी उनमें स्वभावका अभ्यास होने के कारण आप क्रोध, राग और

मोहरूप परिणमन करता है। अतः अपने अज्ञानभावसे परिणमन मात्र स्वभावजन्य उदासीन-ज्ञाता-द्रष्टा मात्र अवस्था का त्याग कर यह अज्ञानी जीव क्रोधादिव्यापाररूप परिणमन करता हुआ प्रतिभासित होता है, इसलिये कर्मों का कर्ता है। अब यहाँ जो ज्ञानपरिणमनरूप प्रवर्तनेसे पृथक् किये गये अन्तरंग में उत्पन्न क्रोधादिक प्रतिभासित होते हैं, वे उस कर्ता के कर्म हैं। इस प्रकार यह अनादिकाल से हुई इस आत्मा की कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है। ऐसे अज्ञानभावसे कर्ताकर्मभाव द्वारा क्रोधादिकों में वर्तमान इस जीव के क्रोधादिक की प्रवृत्तिरूप परिणामको निमित्तमात्र कर अपने आप ही परिणमता हुआ पुद्गलमय कर्म संचित होता है। इस भाँति जीवके और पुद्गलके परस्पर अवगाहलक्षण सम्बन्धस्वरूप बंध सिद्ध होता है। और अनेकात्मक होने पर भी एकसंतानपना होनेसे इतरेतराश्रयदोषरहित होता हुआ वह बंध कर्ता-कर्मकी प्रवृत्तिका निमित्त जो अज्ञान उसका निमित्त कारण है।

भावार्थ—जैसे ज्ञानी आत्मा अपने आत्मा और ज्ञानको एक जानकर अपने ज्ञानस्वभावरूप परिणमन करता है उसी प्रकार अज्ञानी जीव क्रोधादिक भाव व अपने आत्मा को एक जानकर क्रोधादिरूप परिणमन करता है सो ज्ञानमें और क्रोधादिक में जब तक भेद नहीं जानता तब तक इसके कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है। क्रोधादिरूप परिणमन करता हुआ आप तो कर्ता है और वे क्रोधादिक इसके कर्म हैं। अनादि अज्ञानसे यों कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है और कर्ताकर्म की प्रवृत्ति से बन्ध है तथा बन्धके निमित्त से अज्ञान है। यों उसकी संतान (परम्परा) है। अतः इसमें इतरेतराश्रय दोष भी नहीं है। ऐसे जब तक आत्मा क्रोधादिक कर्मका कर्ता होकर परिणमन करता है, तब तक कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है और तभी तक कर्मका बंध होता है।

तमेव क्रोधादिवृत्तिरूपं परिणामं निमित्तमात्रीकृत्य स्वयमेव परिणममानं पौद्गलिकं कर्म संचय-मुपयाति। एवं जीवपुद्गलयोः परस्परावगाहलक्षणसम्बन्धात्मा बंधः सिद्ध्येत्। सचानेकात्मकै-कसंतानत्वेन निरस्तेतराश्रयदोषः कर्तृकर्मप्रवृत्तिनिमित्तस्याज्ञानस्य निमित्तं।।69-70।।

प्रथमा एकवचन कर्ता। क्रोधादिषु-सप्तमी एक०। वर्तमानस्य-षष्ठी एक०। तस्य-षष्ठी एक०। कर्मणः-षष्ठी एक०। संचयः-प्रथमा एक०। भवति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। जीवस्य-षष्ठी एक०। एवं-अव्यय। बन्धः-प्रथमा एक०। भणितः-प्रथमा एकवचन कृदन्त क्रिया। खलु-अव्यय। सर्वदर्षिभिः-तृतीया बहुवचन।।69-70।।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व स्थलमें जीव और अजीव का निष्चयनयसे वर्णन करके दिखाया था कि ये परस्पर कर्तृकर्मभावसे रहित है। अब उसी कर्तृकर्मभावरहितपनेका विवरण किया जाना आवश्यक है। इसके लिये प्रथम यह जानना आवश्यक है कि अज्ञानदषामें स्वयं कर्तृकर्मभावकी कैसी प्रवृत्ति होती है तब यह भी सुगमता से ज्ञात हो जावेगा कि सम्यग्ज्ञान होने पर यह कर्तृकर्मभाव यों सुगमतया दूर हो जाता है। सो यहाँ पहिले अज्ञानदषाके तथ्य को जानने के लिये जीव और अजीवका कर्ताकर्मके वेषसे प्रवेश कराया गया है।

तथ्यप्रकाश—(1) अज्ञानदषामें मूलमें कर्ताकर्मप्रवृत्ति की बुद्धि ऐसी रहती है कि मैं समझदार तो करता हूँ व इन क्रोधादिभावोंको करता हूँ। (2) बाह्य में कर्ताकर्मबुद्धि ऐसी रहती है कि मैं इन घट-पट आदि पदार्थों को करता हूँ, पुत्रादिको सुखी करता हूँ आदि। (3) बाहरी कितना भी विवेक व प्रयत्न करने पर भी ज्ञान, वैराग्य व 'गन्ति तब तक नहीं बनती जब तक आत्मस्वरूप और औपाधिक भावों में स्व परका अन्तर ज्ञात न हो जाय। (4) औपाधिक भाव पर हैं यह तब तक विदित नहीं होगा, जब तक ये विकार नैमित्तिक हैं यह ज्ञात न हो जाय। (5) विकार के नैमित्तिकपनेका ज्ञान स्वभावपरिचयके साथ अविनाभावी है।

(6) मैं अविकारस्वरूप मात्र ज्ञाता हूँ ये विभाव कर्मविपाक के प्रतिफलनके जुड़ावसे है, ऐसा ज्ञान होने पर ही कर्मरसमें उपयोग नहीं जुड़ता।

सिद्धान्त—(1) आत्मा और आस्रवादिका भेद ज्ञात न होने से जो उनमें एकत्वकी बुद्धि है वह मोह है। (2) क्रोधादिक आस्रव में प्रवर्तन का निमित्त पाकर कार्माणवर्गणायें कर्मत्वरूप परिणत हो जाती हैं।

दृष्टि—1—संश्लिष्टस्वजातिवजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार (127)। 2—उपाधिसापेक्ष अषुद्ध द्रव्यार्थिकनय (24)।

प्रयोग—कर्मविपाकके प्रतिफलनसे विलक्षण सहज आत्मस्वभावको निरखना व उसमें गुप्त होने का पौरुष करना ॥69—70॥

यहाँ प्रश्न होता है कि इस कर्ताकर्म की प्रवृत्ति का अभाव किस कालमें होता है उसका उत्तर कहते हैं—[यदा] जिस समय [अनेन जीवेन] इस जीव के द्वारा [आत्मनः] अपना [तथैव च] और [आस्रवाणां] आस्रवों का [विशेषांतरं] भिन्न लक्षण [ज्ञातं भवति] विदित हो जाता है [तदा तु] उसी समय [तस्य] उसके [बंधः न] बंध नहीं होता।

तात्पर्य—आत्मस्वभाव और आस्रव विकार में जब ही भेद दृढ़ता से हो जाता तब ही बन्ध नहीं होता।

टीकार्थ—इस लोक में वस्तु अपने स्वभावमात्र है और अपने भावका होना ही स्वभाव है, इसलिये यह सिद्ध हुआ कि ज्ञानका जो होना (परिणमन) है वह तो आत्मा है तथा क्रोधादिक का जो होना (परिणमना) है वह क्रोधादिक है। ऐसा होने से जो ज्ञान का परिणमन है, वह क्रोधादिका परिणमन नहीं है, क्योंकि जैसे ज्ञान होनेपर ज्ञान ही हुआ मालूम होता है वैसे क्रोधादिक नहीं मालूम होते। जो क्रोधादिक का परिणमन है, वह ज्ञान का परिणमन नहीं है, क्योंकि क्रोधादिक होने पर क्रोधादिक हुए ही प्रतीत होते हैं, ज्ञान कदाऽस्याः कर्तृकर्मप्रवृत्तेर्निवृत्तिरिति चेत्—

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव ।

णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से ॥71॥

जब इस आत्मा द्वारा, आस्रव आत्मस्वरूपमें अन्तर ।

हो जाता ज्ञात तभी—से इसके बंध नहीं होता ॥71॥

यदानेन जीवेनात्मनः आस्रवाणां च तथैव । ज्ञातं भवति विषेसांतरं तु तदा न बंधस्तस्य ॥71॥

इह किल स्वभावमात्रं वस्तु, स्वस्य भवनं तु स्वभावः, तेन ज्ञानस्य भवनं खल्वात्मा । क्रोधादेर्भवनं क्रोधादिः । अथ ज्ञानस्य यद्भवनं तन्न क्रोधादेरपि भवनं यतो यथा ज्ञानभवने ज्ञानं भवद्विभाव्यते न तथा क्रोधादिरपि । यत्तु क्रोधादेर्भवनं तन्न ज्ञानस्यापि भवनं यतो यथा क्रोधादिभवने क्रोधादयो भवंतो विभाव्यंते न तथा ज्ञानमपि इत्यात्मनः क्रोधादीनां च न खल्वेकवस्तुत्वं इत्येवमात्मात्मास्रवयोर्विषेददर्शनेन यदा भेदं जानाति तदास्यानादिरप्यज्ञानजा कर्तृकर्मप्रवृत्तिर्निवर्तते तन्निवृत्तावज्ञाननिमित्तं पुद्गलद्रव्यकर्मबंधोपि निवर्तते । तथा यति ज्ञानमात्रादेव बंधनिरोधः सिद्ध्येत् ॥71॥

नामसंज्ञ—जइया, इम, जीव, अप्प, आसव, य, तह, एव, णाद, विसेसंतरं, तु, तइया, ण, बंध, त ।
धातुसंज्ञ—आ—सव स्रवणे गतौ च, जाण अवबोधने, हो सत्तायां बंध बंधने । **प्रातिपदिक**—यदा, इदम्, जीव, आत्मन्, आस्रव, च, तथा, एव, ज्ञान, विषेसान्तर, तु, तदा, न, बन्ध, तत् । **मूलधातु**—जीव प्राणधारणे, अत सातत्यगतौ, स्रु, गतौ, ज्ञा अवबोधने, भू सत्तायां, बन्ध बन्धने ।
पदविवरण—यदा—अव्यय । अनेन—तृतीया एक० । जीवेन—तृतीया एकवचन । आत्मनः—षष्ठी एक० । आस्रवाणः—षष्ठी बहुवचन । च—अव्यय । तथा—अव्यय । एव—अव्यय । ज्ञानं—प्रथमा एकवचन कृदन्त क्रिया । भवति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । विषेसान्तरं—प्रथमा एक० । तु—अव्यय । तदा—अव्यय । न—अव्यय ।

बंधः—प्रथमा एक०। तस्य—षष्ठी एकवचन।।71।।

हुआ मालूम नहीं होता। इस प्रकार क्रोधादिक और ज्ञान इन दोनों के निष्चयसे एकवस्तुपना नहीं है। अतः आत्मा और आस्रवों का भेद देखने से जिस समय यह आत्मा भेद जानता है, उस समय इसके अनादिकालसे उत्पन्न हुई परमं कर्ताकर्म की प्रवृत्ति निवृत्त हो जाती है। और उसकी निवृत्ति होने पर अज्ञानके निमित्त से होने वाला पुद्गलद्रव्य कर्मका बन्ध भी निवृत्त हो जाता है। ऐसा होनेपर ज्ञानमात्रसे ही बंधका निरोध सिद्ध होता है। **भावार्थ**—क्रोधादिक और ज्ञान पृथक्-पृथक् वस्तु हैं। ज्ञानमें क्रोधादिक नहीं हैं, क्रोधादिक में ज्ञान नहीं है। इस प्रकार ज्ञानसे ही बंधका निरोध होता है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथायुगल में बताया था कि अज्ञानसे जीवकी परभावमें कर्तृकर्मप्रवृत्ति होती है और इस प्रवृत्ति से कर्मसंचय होता है जो संसारक्लेश की मूल है। इस चर्चा को सुनकर यह जानने की उत्सुकता होना प्राकृतिक है कि फिर जीवकी इस कर्तृकर्मप्रवृत्ति की निवृत्ति कब और कैसे होगी, इसी जिज्ञासा का इसमें समाधान किया गया है।

तथ्यप्रकाश—(1) वस्तुतः वस्तु स्वस्वभावमात्र है। (2) पौद्गलिक क्रोधप्रकृतिमें क्रोधविपाक होना उपादानतया परभाव है। (3) क्रोधप्रकृतिविपाकका निमित्त पाकर उपयोग में प्रतिफलित क्रोध औपाधिक परभाव है। (4) यहाँ भावके परिचय से स्व-परका निर्णय किया गया है। (5) ज्ञानभावमें क्रोधभाव नहीं है, क्रोधभावमें ज्ञानभाव नहीं है। (6) ज्ञान आत्मा है, क्रोध आस्रव है। (7) आत्मा और आस्रव में एकत्वबुद्धि होना अज्ञान है। (8) अपने आत्मा को स्व और आस्रवको पर जान लेना भेदज्ञान है। (9) आत्मा और आस्रव में भेद जानकर आत्माभिमुखता की भावना सहित आत्मा का जानना ज्ञान है। (10) ज्ञान होने पर ज्ञान की स्थिरतादि माफिक कर्मबन्ध का निरोध हो जाता है।

कथं ज्ञानमात्रादेव बंधनिरोध इति चेत्—

णादूण आस्रवाणं असुचितं च विवरीयभावं च।

दुःखस्स कारणं ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो।।72।।

अशुचि विपरीत आस्रव, दुःखके कारण है जानकर ज्ञानी।

क्रोधादि आस्रवों से, स्वयं सहज पृथक् हो जाता।।72।।

ज्ञात्वा आस्रवाणामशुचित्वं च विपरीतभावं च। दुःखस्य कारणानीति च ततो निवृत्तिं करोति जीवः।

जले जंबालवत्कलुषत्वेनोपलभ्यमानत्वादपुचयः खल्वास्रवाः भगवानात्मा तु नित्यमेवा-
तिनिर्मलचिन्मात्रत्वेनोपलभकत्वादत्यंतं 'पुचिरेव जडस्वभावत्वे सति परचेत्यत्वादन्वस्वभावाः
खल्वास्रवाः भगवानात्मा तु नित्यमेव विज्ञानघनस्वभावत्वे सति स्वयं चेतकत्वादनन्वस्वभाव
एव। आकुलत्वोत्पादकत्वाद् दुःखस्य कारणानि खल्वास्रवाः भगवानात्मा तु नित्यमेवानाकुल-

नामसंज्ञ—आस्रव, असुचित, च, विवरीयभाव, च, दुःख, कारण, इति, य, तदो, णियत्ति, जीव।
धातुसंज्ञ—आ-सव स्रवणे गतौ, कुण करणे। **प्रातिपदिक**—आस्रव, अशुचित्व, च, विपरीतभाव, च, दुःख,

सिद्धान्त—(1) वस्तु स्वस्वभावमात्र है। (2) पुद्गलकर्मका विपाक पुद्गल कर्ममें ही है। (3) कर्मविपाक के प्रतिफलन की अशुद्धता जीव में है। (4) आत्मा को कर्मास्रवमय समझना अज्ञान है। (5) आत्मा को विभाव आस्रवमय समझना अज्ञान है।

दृष्टि—1—षुद्धनय (49)। 2—अशुद्ध निष्चयनय (47)। 3—उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (24)। 4—एकजातिद्रव्ये अन्यजातिपर्यायोपचारक असद्भूत व्यवहार (113)। 5—स्वजातिद्रव्ये स्वजातिपर्यायोपचारक असद्भूत व्यवहार (114)।

प्रयोग—अपने को सहज ज्ञानस्वभावमात्र निरखते हुए नैमित्तिक विकारों की उपेक्षा करके अपने को ज्ञानमात्र अनुभवने का उद्यम करना ॥71॥

अब पूछते हैं कि ज्ञानमात्र से ही बंध का निरोध कैसे है? उसका उत्तर कहते हैं—[आस्रवाणां च] आस्रवों के [अशुचित्व] अपुचिपने को [च विपरीतभावं] और विपरीतपनेका [च दुःखस्य कारणानि इति] तथा ये दुःख के कारण हैं, इस तथ्य को [ज्ञात्वा] जानकर [जीवः] यह जीव [ततो निवृत्तिं] उससे निवृत्ति [करोति] करता है।

तात्पर्य—आस्रवों की मलिनता, विपरीतता व दुःखकारणता को जानकर यह जीव आस्रवों से हट जाता है।

टीकार्थ—जैसे जल में सेवाल मलिन होनेसे जलको मैला दिखलाती है, उसी प्रकार ये आस्रव भी कलुषता से प्राप्यमान हैं; अतः मलिन हैं, किन्तु भगवान् (ज्ञानस्वरूप) आत्मा सदा अति निर्मल चैतन्यमात्रपनेसे उसका उपलम्भक है, इस कारण अत्यंत पवित्र ही है। आस्रव जड़स्वभाव होनेसे परसे जानने योग्य हैं अर्थात् जो जड़ होता है, वह अपने को तथा परको नहीं जानता, उसको दूसरा ही जानता है, अतः आस्रव अन्यस्वभाव है और आत्मा सदा ही विज्ञानघनस्वभाव है, इसलिये आप ज्ञाता है, ज्ञानसे अनन्यस्वभाव है। आस्रव दुःखके कारणभूत होने से आत्मा को आकुलता के उपजाने वाले हैं और भगवान् आत्मा सदा ही निराकुल स्वभाव है, इस कारण किसी का न तो कार्य है और न किसी का कारण है, इसलिये दुःखका कारण ही नहीं है। इस प्रकार आत्मा और आस्रवों का अन्तर दिखने से जिस समय भेद जान लिया, उसी समय वह इन क्रोधादिक आस्रवों से निवृत्त हो जाता है। क्योंकि उनसे जब तक निवृत्त नहीं होता, तब तक उस आत्मा के पारमार्थिक सच्ची भेदज्ञान की सिद्धि नहीं होती। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि क्रोधादिक आस्रवों की निवृत्ति के अविनाभावी ज्ञानसे अज्ञानजन्य पौद्गलिक कर्मबंधका निरोध होता है। और क्या? देखिये आत्मा और आस्रव का जो यह भेदज्ञान है वह अज्ञान है कि ज्ञान? यदि अज्ञान है तो आस्रव से अभेदज्ञान होने से उसका कोई अन्तर न हुआ, तथा यदि वह ज्ञान है तो आस्रवों त्वस्वभावेनाकार्यकारणत्वाद् दुःखस्याकारणमेव। इत्येवं विषेषदर्शनेन यदैवायमात्मास्रवयोर्भेदं जानाति तदैव क्रोधादिभ्य आस्रवेभ्यो निवर्तते। तेभ्योऽनिवर्तमानस्य पारमार्थिकतद्भेदज्ञाना—सिद्धेः। ततः क्रोधाद्यास्रवनिवृत्त्यविनाभाविनो ज्ञानमात्रादेवाज्ञानस्य पौद्गलिकस्य कर्मणो बंधनिरोधः सिद्धयेत्। किंच यदिदमात्मास्रवयोर्भेदज्ञानं तत्किमज्ञानं किं वा ज्ञानं? यद्यज्ञानं तदा तदभेदज्ञानान्न तस्य विषेषः। ज्ञानं चेत् किमास्रवेषु प्रवृत्तं किं वास्रवेभ्यो निवृत्तं? आस्रवेषु प्रवृत्तं चेत्तदपि तदभेदज्ञानान्न तस्य विषेषः। आस्रवेभ्यो निवृत्तं चेत्तर्हि कथं न ज्ञाना—देव बंधनिरोधः इति निरस्तोऽज्ञानांषः क्रियानयः। यत्त्वात्मास्रवयोर्भेदज्ञानमपि नास्रवेभ्यो निवृत्तं

कारण, इति, च, ततः, निवृत्ति, जीव। मूलधातु—ज्ञा अवबोधने, आ—सु गतौ, अ—पुच्य अभिषवे, नि—वृत्त वारणे दिवादि, डुकृञ् करणे। पदविवरण—ज्ञात्वा—असमाप्तिकी क्रिया। आस्रवाणां—षष्ठी बहु०। अपुचित्वं—द्वितीया एकवचन। च—अव्यय। विपरीतभावं—द्वितीया एक०। दुःखस्य—षष्ठी एक०। कारणं—द्वितीया एकवचन अथवा उक्त तीनों प्रथमा विभक्ति एकवचन। इति—अव्यय। च—अव्यय। ततः—अव्यय

में प्रवृत्तिरूप है या उनसे निवृत्तिरूप है? यदि आस्रवों में प्रवर्तता है तो वह ज्ञान आस्रवों से अभेदरूप अज्ञान ही है इससे भी कोई विषेषता न हुई और यदि वह ज्ञान आस्रवों से निवृत्तिरूप है तो ज्ञानसे ही बंध का निरोध क्यों नहीं कह सकते? सिद्ध हुआ ही कह सकते हैं। ऐसा सिद्ध होने पर अज्ञान के अंश क्रियानयका खण्डन हुआ। तथा जो आत्मा और आस्रवों का भेदज्ञान है वह भी आस्रवों से निवृत्त न हुआ तो वह ज्ञान ही नहीं है, ऐसा कहने से ज्ञान के अंशरूप ज्ञाननयका निराकरण हुआ।

भावार्थ—आस्रव अषुचि हैं, जड़ हैं, दुःख के कारण हैं, और आत्मा पवित्र है, ज्ञाता है, सुख स्वरूप है। इस प्रकार दोनों को लक्षणभेदसे भिन्न जानकर आत्मा आस्रवों से निवृत्त होता है और उसके कर्मका बंध नहीं होता। यदि ऐसा जानने से भी कोई निवृत्त न हो तो वह ज्ञान ही नहीं है, अज्ञान ही है। **प्रश्न**—अविरतसम्यग्दृष्टि मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी प्रकृतियों का तो आस्रव नहीं होता, परन्तु अन्य प्रकृतियों का तो आस्रव व बन्ध होता है, वह ज्ञानी है या अज्ञानी? **समाधान**—सम्यग्दृष्टि के प्रकृतियों का जो बंध होता है, वह अभिप्रायपूर्वक नहीं है, सम्यग्दृष्टि होने के पश्चात् परद्रव्य के स्वामित्व का अभाव है। इस कारण जब तक इसके चारित्रमोह का उदय है तब तक उसके उदयके अनुसार आस्रव बंध होते हैं, उसका स्वामित्व नहीं है। वह अभिप्राय में निवृत्त होना ही चाहता है, इसलिए ज्ञानी ही कहा जाता है। मिथ्यात्वसम्बन्धी बन्ध ही अनंत संसार का कारण है, यही यहाँ प्रधानता से विवक्षित है। जो अविरतादिक से बन्ध होता है, वह अल्पस्थिति अनुभागरूप है, दीर्घ संसार का कारण नहीं है, इसलिए प्रधान नहीं गिना जाता। ज्ञान बंधका कारण नहीं है। जब तक ज्ञानमें मिथ्यात्वका उदय था तब तक अज्ञान कहलाता था, मिथ्यात्व चले जाने के बाद अज्ञान नहीं, ज्ञान ही है। इसमें जो कुछ चारित्रमोह सम्बन्धी विकार है, उसका स्वामी ज्ञानी नहीं बनता; इसी कारण ज्ञानी के बंध नहीं है। विकार बन्धरूप है, वह बन्ध की पद्धतिमें है, ज्ञान की पद्धति में नहीं है।

अब यही कलषरूप काव्य में कहते हैं—‘परपरिणति’ इत्यादि। अर्थ—परपरिणति को छोड़ता हुआ, भेदके कथनों को तोड़ता हुआ यह अखण्ड तथा अत्यन्त प्रचण्ड ज्ञान यहाँ उदित हुआ है। अहो ऐसे ज्ञानमें परद्रव्यविषयक तथा विकारविषयक कर्ताकर्मप्रवृत्ति का अवकाश कैसे हो सकता है तथा पौद्गलिक कर्मबन्ध भी कैसे हो सकता है? **भावार्थ**—कर्मबन्ध तो अज्ञान से हुए कर्ताकर्म की प्रवृत्ति से था। अब जब भेदभाव को और परपरिणति को दूर कर एकाकार ज्ञान प्रकट हुआ तब भेदरूप कारककी प्रवृत्ति मिट गई, फिर कैसे बन्ध हो सकता है? नहीं हो सकता।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया गया था कि जिस समय आत्मा और आस्रव में भेदज्ञान हो जाता है, तो ऐसे ज्ञानमात्रसे उस समय बन्धका निरोध हो जाता है। सो यहाँ

भवति तज्ज्ञानमेव न भवतीति ज्ञानांषो ज्ञाननयोपि निरस्तः। परपरणतिमुज्झत् खंडयद्भेद—
वादानिदमुदितमखंडं ज्ञानमुच्चंडमुच्चैः। ननु कथमवकाशः कर्तृकर्मप्रवृत्तेरिह भवति कथं वा
पौद्गलः कर्मबंधः ॥47॥ ॥72॥

पंचम्यां तसल्। निवृत्तिं—द्वितीया एक०। करोति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन। जीवः—प्रथमा एकवचन कर्ता ॥72॥

यह जिज्ञासा होना प्राकृतिक है कि ज्ञानमात्रसे ही बंधनिरोध कैसे हो जाता है, इस जिज्ञासा का समाधान इस गाथा में दिया गया है।

तथ्यप्रकाश—1—आत्मा और आस्रव में पारमार्थिक भेदज्ञान होने पर ज्ञानी का उपयोग क्रोधादिक आस्रवों से हट जाता है। 2—आस्रवों में (रागादिक भावोंमें) मलीनता होने से अपवित्रता है, किन्तु भगवान आत्मा में सहज ‘जुद्धअविकार निर्मल चेतना होनेसे पूरिपूर्ण पवित्रता है। 3—भगवान आत्मा तो स्वयं ज्ञानघन होने के कारण स्वयं ज्ञाता होनेसे अनन्यस्वभाव है चैतन्यस्वभावमय है, किन्तु आस्रव जड़स्वभाव है और परके द्वारा (जीवके द्वारा) ज्ञेय हैं अतः अन्यस्वभाव हैं। 4—आस्रव तो आकुलता के उत्पादक होनेसे दुःख के कारण हैं, किन्तु भगवान आत्मा अनाकुलस्वभाव होनेसे जानन के सिवाय अन्य कुछ कार्य नहीं करने से दुःख का अकारण है। 5—आस्रव और आत्मा में भेदज्ञान होना आस्रवनिवृत्ति

का अविनाभावी है, अतः ऐसे ज्ञानमात्र से अज्ञानजन्य पौद्गलिक कर्म के बन्ध का निरोध हो जाता है। 6—जहाँ परपरिणति हट रही हो, भेदवादनहीं हो, अखंड ज्ञानस्वभाव उपयोग में उदित हो वहाँ कर्ताकर्म प्रवृत्ति नहीं हो सकती और अत एव पौद्गलिक कर्मबंध भी नहीं होता।

सिद्धान्त—उपयोग की आत्मा के प्रति अभिमुखता पौद्गलिक कर्मबन्ध निरोध का निमित्त है। 2—जीवक्रोध व अजीवक्रोध में भिन्न—भिन्न द्रव्याश्रयता है, उसमें सम्बन्ध मानना उपचार है।

दृष्टि—1—षुद्धभावनापेक्ष ‘षुद्ध द्रव्यार्थिकनय (24 ब)। 2—एकजातिपर्याये अन्यजातिपर्यायोपचारक असदभूत व्यवहार (107)।

प्रयोग—विकार भावों को अषुचि, विपरीत व दुःखकारण जानकर उनसे उपेक्षा करके अपने पवित्र ‘गान्तिधाम आत्मा में उपयोग को रमाने का पौरुष करना।।72।।

अब जिज्ञासा होती है कि आस्रवों से किस तरह निवृत्ति होती है? उसका उत्तररूप गाथा कहते हैं—ज्ञानी विचारता है कि [खलु] निष्चयतः [अहं] मैं [एकः] एक हूं [‘षुद्धः] ‘षुद्ध हूं [निर्ममतः] ममतारहित हूं [ज्ञानदर्शनसमग्रः] ज्ञान दर्शन से पूर्ण हूं [तस्मिन् स्थितः] ऐसे स्वभावमें स्थित [तच्चित्तः] उसी चैतन्य अनुभव में लीन हुआ [एतान्] इन [सर्वान्] क्रोधादिक सब आस्रवों को [क्षयं] क्षयको [नयामि] प्राप्त कराता हूं।

तात्पर्य—अपने को एक ‘षुद्ध अविकार ज्ञानदर्शनघन निरखने से इसी स्वभावमें आत्मा लीन होता है और तब आस्रव दूर हो जाते हैं।

टीकार्थ—यह मैं आत्मा प्रत्यक्ष अखंड, अनंत, चैतन्यमात्र ज्योतिस्वरूप, अनादि, अनंत नित्य उदयरूप, विज्ञानघन स्वभाव रूपसे तो एक हूं और समस्त कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान, अधिकरणस्वरूप जो कारकों का समूह उसकी प्रक्रिया से उत्तीर्ण याने दूरवर्ती निर्मल चैतन्य अनुभूति मात्ररूपसे ‘षुद्ध हूं। तथा जिनका पुद्गलद्रव्य स्वामी है ऐसे क्रोधादि भावों की विष्वरूपता (समस्तरूपता) के स्वामित्व से सदा ही नहीं परिणमने के कारण उनसे ममतारहित हूं। तथा वस्तुका स्वभाव सामान्यविषेषस्वरूप है और चैतन्यमात्र तेज पुंज भी वस्तु है, इस कारण सामान्यविषेषस्वरूप जो ज्ञानदर्शन उनसे पूर्ण हूं। ऐसा आकाषादि द्रव्य की तरह परमार्थस्वरूप वस्तुविषेष हूं। इस कारण मैं इसी आत्मस्वभाव में समस्त परद्रव्य से केन विधिनायमास्रवेभ्यो निवर्तत इति चेत्—

अहमिक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो ।

तद्धि ठिओ तच्चित्तो सव्वे एए खयं णेमि।।73।।

मैं एक ‘षुद्ध केवल, निर्ममत सुयुक्त ज्ञानदर्शनसे।

इसमें लीन हुआ अब, आस्रव प्रक्षीण करता हूं।।73।।

अहमेकः खलु ‘षुद्धः निर्ममतः ज्ञानदर्शनसमग्रः। तस्मिन् स्थितस्तच्चित्तः सर्वानेतान् क्षयं नयामि।।73।।

अहमयमात्मा प्रत्यक्षमक्षणमनंतं चिन्मात्रं ज्योतिरनाद्यनंतनित्योदितविज्ञानघनस्वभाव—भावत्वादेकः। सकलकारकचक्रप्रक्रियोत्तीर्णनिर्मलानुभूतिमात्रत्वाच्छुद्धः। पुद्गलस्वामिकस्य क्रोधादिभाववैष्वरूपस्य स्वस्य स्वामित्वेन नित्यमेवापरिणमनात्रिर्ममतः। चिन्मात्रस्य महसो वस्तुस्वभावत एव सामान्यविषेषाभ्यां सकलत्वाद् ज्ञानदर्शनसमग्रः। गगनादिवत्पारमार्थिको वस्तुविषेषोस्मि तदहमधुनास्मिन्नेवात्मनि निखिलपरद्रव्यप्रवृत्तिनिवृत्त्या निष्कलमवतिष्ठमानः

नामसंज्ञ—अहं, इक्क, खलु, सुद्ध, णिम्ममओ णाणदंसणसमग्ग, त, ठिओ, तच्चित्त, सव्व, एए, खय।
धातुसंज्ञ—टठा गतिनिवृत्तौ, किख क्षये, ने प्रापणे। **प्रातिपदिक**—अस्मद्, एक, खलु, ‘षुद्ध, निर्ममत, ज्ञानदर्शनसमग्र, तत्, स्थित, तच्चित्त, सर्व, एतत्, क्षय। **मूलधातु**—षुध ‘गैचे दिवादि अथवा ‘षुन्ध ‘षुद्धौ

भ्वादि, ष्टा गतिनिवृत्तौ, चिती संज्ञाने भ्वादि, चित संचतने चुरादि, क्षि क्षये, णीञ् प्रापणे भ्वादि। पद—

प्रवृत्ति की निवृत्ति करके निष्कल स्थित हुआ समस्त परद्रव्य के निमित्त से जो विशेषरूप चैतन्य में चंचल कल्लोलें होती थी, उनके निरोध से इस चैतन्यस्वरूपको ही अनुभव करता हुआ अपने ही अज्ञानसे आत्मा में उत्पन्न होते हुए क्रोधादिक भावों का क्षय करता हूँ ऐसा आत्मा में निष्कल कर तथा जैसे बहुत काल का ग्रहण किया जो जहाज था, उसे जिसने छोड़ दिया है, ऐसे समुद्र के भँवर की तरह 'पीछ ही दूर किये हैं। समस्त विकल्प जिसने, ऐसा निर्विकल्प, अचलित, निर्मल आत्मा का अवलंबन करता हुआ विज्ञानघनभूत यह आत्मा आस्रवों से निवृत्त होता है।

भावार्थ—षुद्धनयसे ज्ञानी ने आत्मा का ऐसा निष्कल किया कि मैं एक हूँ, 'षुद्ध हूँ, परद्रव्य के प्रति ममतारहित हूँ, ज्ञान दर्शन से पूर्ण वस्तु हूँ, सो जब ऐसे अपने स्वरूपमें स्थित होनेसे ज्ञानी उसी का अनुभव रूप हो, तब क्रोधादिक आस्रव क्षयको प्राप्त होते हैं। जैसे समुद्र की भँवरने बहुत कालसे जहाज को पकड़ रक्खा था, पीछे किसी काल में भँवर पलटती है तब वह जहाज को छोड़ देती है; उसी प्रकार आत्मा विकल्पोंकी भँवर को उपषान्त करता हुआ आस्रवों को छोड़ देता है।

प्रसंगविररण—अनन्तरपूर्व गाथा में यह बताया गया था कि ज्ञानमात्र से ही बन्धनिरोध होता है। सो इस सम्बन्धमें यह जिज्ञासा होना प्राकृतिक है कि वह विधि क्या है कि जिससे यह ज्ञाता आस्रवों से हट जावे। इसी जिज्ञासा का समाधान इस गाथा में है।

तथ्यप्रकाश—(1) प्रत्येक आत्मा अपने आप सहज अखण्ड अविनाशी चिन्मात्र ज्योतिस्वरूप। (2) प्रत्येक आत्मा सहज त्रिकाल ज्ञानघनस्वभाव है। (3) प्रत्येक आत्मा सहज अविकार केवल चैतन्यानुभवमात्र है। (4) प्रत्येक आत्मा औपाधिक भावों से विविक्त सहज स्वसत्त्वमात्र है। (5) समस्त परद्रव्यभावों में की प्रवृत्ति हटाकर पारमार्थिक सहज चिद्ब्रह्ममें ठहरने वाला उपयोग में ज्ञानघन हुआ आत्मा आस्रवों से अलग हो जाता है।

सिद्धान्त—(1) आत्मा सहज अखण्ड चिज्ज्योतिस्वरूप है। (2) आत्मा सहज विज्ञानघनस्वभाव है। (3) आत्मद्रव्य सहज स्वसत्त्वमात्र है। (4) सहजषुद्धात्मभावना के प्रतापके आस्रवनिरोध हो जाता है।

सकलपरद्रव्यनिमित्तकविशेषचेतनचंचलकल्लोलनिरोधेनेममेव चेतयमानः स्वाज्ञानेनात्मन्युत्प्लव-मानानेतान् भावानखिलानेव क्षययामीत्यात्मनि निष्चित्य चिरसंगृहीतमुक्तपोतपात्रः समुद्रावर्त्त इव झगित्येवोद्घातसमस्तविकल्पोऽकल्पितमलितममलमात्मानमालंबमानो विज्ञानघनभूतः खल्वयमा-त्मास्रवेभ्यो निवर्त्तते।।73।।

विवरण—अहं—प्रथमा एक० कर्तृ विशेषण। 'षुद्धः—प्रथमा एक० कर्तृ विशेषण। निर्मतः—प्रथमा एक० कर्तृविशेषण। ज्ञानदर्शनसमग्रः—प्रथमा एक०। तस्मिन्—सप्तमी एक०। स्थितः—प्रथमा एक० कर्तृ विशेषण। तच्चित्तः— प्रथमा एक० कर्तृ विशेषण। सर्वान्—द्वितीया बहुवचन। क्षयं—द्वितीया एक०। नयामि—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया।।73।।

दृष्टि—1—परमषुद्धनिष्कलनय (44)। 2—भेदकल्पनानिरपेक्ष 'षुद्ध द्रव्यार्थिकनय (23)। 3—उत्पादव्ययगौणसत्ताग्राहक 'षुद्ध द्रव्यार्थिकनय (22)। 4—षुद्धभावनासापेक्ष 'षुद्ध द्रव्यार्थिकनय (24ब)।

प्रयोग—अपने को अविकारस्वभाव चिन्मात्र केवल निरखकर अपने में मग्न होने का पौरुष करना।।73।।

आगे पूछते हैं कि ज्ञान होने का और आस्रवों की निवृत्ति का समान काल कैसे है? उसका उत्तररूप गाथा कहते हैं—[एते] ये आस्रव [जीवनिबद्धाः] जीव के साथ निबद्ध हैं [अध्रुवाः] अध्रुव हैं [तथा] तथा [अनित्याः] अनित्य हैं [च] और [अशरणाः] अशरण है [दुःखानि] दुःखरूप हैं [च] और [दुःखफलाः] दुःखफल वाले हैं [इति ज्ञात्वा] ऐसा जानकर ज्ञानी पुरुष [तेभ्यः] उनसे [निवर्तते] अलग हो जाता है।

तात्पर्य—आस्रवों की असारता जानकर ज्ञानी आस्रवों से हट जाता है।

टीकार्थ—लाख और वृक्ष इन दोनों की तरह बध्य घातक स्वभावरूप होनेसे आस्रव जीवके साथ निबद्ध हैं, सो वे अविरोद्धस्वभावपने का अभाव होने के कारण अर्थात् जीवगुणके घातकरूप विरोद्ध स्वभाव वाले होने के कारण जीव ही नहीं हैं। आस्रव तो मृगी के वेग की तरह बढ़ने वाले व फिर घटने वाले होने के वे कारण अध्रुव हैं, किन्तु जीव चैतन्य भावमात्र है सो ध्रुव है। आस्रव तो 'पीतदाहज्वर के स्वभाव की तरह क्रम से उत्पन्न होते हैं इसलिये अनित्य हैं और जीव विज्ञानघन स्वभाव है इस कारण नित्य है। आस्रव अशरण हैं, जैसे काम सेवन में वीर्य छूटता है, उस समय अत्यंत काम का संस्कार क्षीण हो जाता है, किसी से नहीं रोका जाता, उसी प्रकार उदयकाल आने के बाद आस्रव झड़ जाते हैं, रोके नहीं जा सकते, इसलिये अशरण हैं, और जीव अपनी स्वाभाविक चित्पक्ति रूपसे आप ही रक्षारूप है, इसलिये 'रणसहित है। आस्रव सदा ही आकुलित स्वभावको लिये हुए हैं, इसलिये दुःखरूप हैं, और जीव सदा ही निराकुल स्वभाव रूप है, इस कारण अदुःखरूप है। आस्रव आगामी कालमें आकुलता के उत्पन्न कराने वाले पुद्गल परिणाम में कारण हैं, इसलिये वे दुःखफल स्वरूप हैं और जीव समस्त ही पुद्गलपरिणामका कारण नहीं हैं इसलिये दुःख फलस्वरूप नहीं है। ऐसा आस्रवों का और जीवका भेदज्ञान होनेसे जिसके कर्मका उदय षिथिल हो गया है ऐसा यह आत्मा जैसे दिषा बादलों की रचना के अभाव होने से निर्मल हो जाती है उस भाँति अमर्याद विस्तृत तथा स्वभावसे ही प्रकाशमान हुई चिच्छक्ति रूपसे जैसा—जैसा विज्ञानघन स्वभाव होता है वैसा वैसा आस्रवों से निवृत्त होता जाता है तथा जैसा जैसा आस्रवों से निवृत्त होता जाता है वैसा वैसा विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है। सो उतना विज्ञानघनस्वभाव होता है जितना कि आस्रवों से सम्यक् निवृत्त होता है। तथा उतना आस्रवों से सम्यक् निवृत्त होता है, जितना कि सम्यक् विज्ञानघनस्वभाव होता है। इस प्रकार ज्ञान और आस्रवकी निवृत्ति के समकालता है।

कथं ज्ञानास्रवनिवृत्त्योः समकालत्वमिति चेत्—

जीवणिबद्धा एए अध्रुव अणिच्चा तहा असरणा य ।

दुक्खा दुक्खफलात्ति य णादूण णिवत्ते तेहिं ।।74।।

अध्रुव अनित्य अशरण, उपाधिभव ये विचित्र दुःखमई ।

दुःखफल जानि आस्रव—से अब विनिवृत्त होता हूं ।।74।।

जावनिबद्धा एते अध्रुवा अनित्यास्तथा अशरणाच्च । दुःखानि दुःखफला इति च ज्ञात्वा निवर्तते तेभ्यः ।

जतुपादपवद्बध्यघातकस्व भावत्वाज्जीवनिबद्धाः खल्वास्रवाः, न पुनरविरोद्धस्वभावत्वा—भावाज्जीव एव । अपस्माररयवद्वर्द्धमानहीयमानत्वादध्रुवाः खल्वास्रवाः ध्रुवश्चिन्मात्रो जीव एव । 'पीतदाहज्वरावेषवत् क्रमेणोज्जृभमाणत्वादनित्याः खल्वास्रवाः, नित्यो विज्ञानघनस्वभावो जीव एक । बीजनिर्माक्षक्षणाक्षीयमाणदारुणस्मरसंस्कारवत् त्रातुमषक्यत्वादशरणाः खल्वास्रवाः, सशरणः

नामसंज्ञ—जीवणिबद्ध, एत, अध्रुव, अणिच्च, तहा, असरण, य, दुक्ख, दुक्खफल, इति, य, त ।
धातुसंज्ञ— बंध बंधने, जाण अवबोधने, नि—वत्त वत्तेन । **प्रातिपदिक**—जीवनिबद्ध, एतत्, अध्रुव, अनित्य, तथा, अशरण,

भावार्थ—आत्मस्वरूप और औपाधिक आस्रव में भेद जान लेने के बाद जितना अंश जिस—जिस प्रकार आस्रवों से निवृत्त होता है उस—उस प्रकार उतना अंश विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है। इस ही प्रक्रिया में तो गुणस्थान ऊँचे—ऊँचे होते जाते हैं। और जब समस्त आस्रवों से निवृत्त हो जाता है, तब सम्पूर्ण विज्ञानघनस्वभाव आत्मा होता है। इस प्रकार आस्रव की निवृत्ति का और ज्ञान के होने का एक काल जानना चाहिये।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में यह संकेत दिया गया है कि आत्मस्वभाव अथवा आत्मा तथा आस्रव में भेदज्ञान होने पर ज्ञानघनभूत होता हुआ आत्मा आस्रव से निवृत्त हो जाता है। सो जब इसी सम्बन्ध में यह जिज्ञासा हुई कि ज्ञान और आस्रवनिवृत्ति का काल वही एक अर्थात् समान कैसे है, इस जिज्ञासा का समाधान इस गाथा में दिया है।

तथ्यप्रकाश—1—जीव में प्रतिफलित आस्रव बध्यघातकस्वभाव होने से जीवनिबद्ध कहलाते हैं, किन्तु जीवका स्वभाव मोदक है, घातक नहीं। 2—अतीव क्षणिकत्व की (समय—समय में नष्ट होने की) अपनेक्षा से आस्रव को अध्रुव कहा गया है, किन्तु जीव 'ष्यत एकस्वरूप है। 3—छद्मस्थ के अनुभवन की अपेक्षा जात्या कुछ ठहरे रहने पर भी वेग की घटा बढ़ी होनेसे उतनी भी क्रम से स्थिरता न होनेसे आस्रव को अनित्य कहा गया है, किन्तु जीवस्वभाव समान स्थिर है। 4—कोई भी विभाव होते ही दूसरे क्षण भी नहीं रह पाता है, नष्ट हो जाता है अतः आस्रव अषरण है, किन्तु जीव सदा स्वयं स्वयं में है, अतः 'रण है। 5—क्रोधादि आस्रव का स्वरूप ही दुःखरूप है, जीवका स्वरूप आनन्दमय है। 6—आस्रव से नये कर्म बंधते जिनके उदयसे आगे भी दुःख मिलेगा अतः आस्रव दुःखफल वाला है, किन्तु जीव आनन्दमय है उससे सदैव आनन्द ही प्रकट होगा। 7—जीवस्वभाव व आस्रव में यथार्थतया भेदविज्ञान होते ही उपयोग में कर्मरस हटता है और स्वभावका विकास होता है। 8—ज्ञानविकास व आस्रव निवृत्ति इन दोनों में परस्पर दोनों ओर से साध्यसाधकभाव है। 9—ज्ञानविकास तब तक बढ़ता रहता है जब तक पूर्ण आस्रवनिवृत्ति हो जाय। 10—आस्रवनिवृत्ति तब तक होती चली जाती है जब तक पूर्ण ज्ञानस्वभाव प्रकट हो जाय।

सिद्धान्त—1—क्रोधादि आस्रव कर्मविपाकोदय होनेपर जीव में निबद्ध होनेसे जीवस्वभावसे विरुद्धस्वभाव हैं। 2—क्षणिक कर्मविपाकोदय होने पर हुए जीवविभाव अषरण हैं वे एक क्षणसे अधिक ठहर नहीं सकते। 3—भेदज्ञानातिषय से कर्मत्व क्षीण होता है। 4—कर्मत्व विघटन से आत्मा की स्वच्छता का प्रसार होता है।

स्वयं गुप्तः सहजचिच्छक्तिर्जीव एव। नित्यमेवाकुलस्वभावत्वाद् दुःखानि खल्वास्रवाः, अदुःखं नित्यमेवानाकुलस्वभावो जीव एव। आयत्यामाकुलत्वोत्पादकस्य पुद्गलपरिणामस्य हेतुत्वाद् दुःखफलाः खल्वास्रवाः अदुःखफलः सकलस्यापि पुद्गलपरिणामस्याहेतुत्वाज्जीव एव। इति विकल्पान्तरमेव षिथिलितकर्मविपाको विघटितघनौघघटनो दिगाभोग इव निरर्गलप्रसरः सहजविजृम्भमाणच्छित्तितया यथा यथा विज्ञानघनस्वभावो भवति तथा तथास्रवेभ्यो निवर्तते। यथा यथास्रवेभ्यश्च निवर्तते तथा तथा विज्ञानघनस्वभावो भवतीति। तावद्विज्ञानघनस्वभावो भवति यावत्सम्यगास्रवेभ्यो निवर्तते। तावदास्रवेभ्यश्च निवर्तते यावत्सम्यग्विज्ञानघनस्वभावो भवतीति ज्ञानास्रवनिवृत्त्योः समकालत्वं। इत्येवं विरिचय्य संप्रति परद्रव्यान्निवृत्तिं परां, स्वं विज्ञानघनस्वभावमभयादास्तिघ्नुवानः परं। अज्ञानोत्थितकर्तृ कर्मकलनात् क्लेषान्निवृत्तः स्वयं, ज्ञानीभूत इतच्चकास्ति जगतः साक्षी पुराणः पुमान् ॥48॥ ॥74॥

च, दुःख दुःखफल, इति, च, तत्। मूलधातु—जीव प्राणधारणे, नि—बन्ध बन्धने, ध्रु स्थैर्ये भ्वादि—ध्रु ध्रुव गतिस्थैर्ययोः तुदादि, नि—वृत्तु वर्तने भ्वादि। पदविवरण—जीवनिबद्धाः—प्रथमा बहुवचन। एते—प्रथमा बहु०। अध्रुवाः—प्रथमा बहु०। अनित्याः—प्रथमा बहु०। तथा—अव्यय। अषरणाः—प्रथमा बहु०। च—अव्यय। दुःखाः—प्रथमा बहु०। दुःखफलाः—प्रथमा बहु०। इति—अव्यय। ज्ञात्वा—असमाप्तिकी क्रिया कृदन्त।

निवर्तते—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। तेभ्यः—पंचमी बहुवचन।।74।।

दृष्टि—1—उपाधिसापेक्ष अषुद्ध द्रव्यार्थिकनय (53)। 2—अषुद्ध सूक्ष्मऋजुसूत्रनय नामक पर्यायार्थिकनय (34)। 3—षुद्धभावनापेक्ष 'षुद्ध द्रव्यार्थिकनय (24ब)। 4—उपाध्यभावापेक्ष 'षुद्ध द्रव्यार्थिकनय (24 अ)।

प्रयोग—विषय कषायभावों को अध्रुव, अषरण, दुःखरूप व दुःख फल वाले निरख कर उनसे उपयोगमुख मोड़कर अविकार आत्मस्वरूपमें विश्राम करना चाहिये।।74।।

अब इसी अर्थ तथा आगे के कथन की सूचनारूप काव्य कहते हैं—**इत्येवं** इत्यादि। **अर्थ**—पहले कही हुई रीति से परद्रव्यसे उत्कृष्ट सब प्रकार निवृत्ति कर और विज्ञानघन स्वभावरूप केवल अपने आत्मा को निःषंक आस्तिक्यभावरूप स्थिरीभूत करता हुआ अज्ञानसे हुई कर्ता—कर्मकी प्रवृत्ति के अभ्याससे हुए क्लेशों से निवृत्त हुआ स्व ज्ञानस्वरूप होता हुआ जगतका साक्षी पुराण पुरुष (आत्मा) अब यहां से प्रकाशमान होता है।

यहाँ जिज्ञासा होती कि कोई आत्मा ज्ञानी हुआ यह कैसे पहचाना जा सकता है? उसका उत्तररूप गाथा कहते हैं:—[यः] जो [आत्मा] जीव [एनं] इस [कर्मणः परिणामं च] कर्मके परिणाम को [च तथैव] और उसी भांति [नोकर्मणः परिणामं] नोकर्मके परिणाम को [न करोति] नहीं करता है, परंतु [जानाति] जानता है [सः] वह [ज्ञानी] ज्ञानी [भवति] है।

टीकार्थ—वस्तुतः आत्मा मोह, राग, द्वेष, सुख—दुःख आदि स्वरूपसे अन्तरंगमें उत्पन्न होने वाले कर्मके परिणामको और स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, 'ाब्द, बंध, संस्थान, स्थौल्य, सूक्ष्म आदि रूपसे बाहर उत्पन्न होने वाले नोकर्म के परिणाम को नहीं करता है, किन्तु उनके परिणमनों के ज्ञानरूपसे परिणममान अपने को ही जानता है, ऐसा जो जानता है वह ज्ञानी है। इसका विवरण इस प्रकार है—ये मोहादिक वे स्पर्शादिक परिणाम परमार्थतः पुद्गलके ही हैं। सो जैसे घड़े के और मिट्टी के व्याप्य—व्यापकभावके सद्भाव से कर्ता कर्मपना है, उसी प्रकार के पुद्गलद्रव्यसे स्वतंत्र व्यापक कर्ता होकर किये गये हैं और वे आप अंतरंग व्याप्य रूप होकर व्याप्त हैं, इस कारण पुद्गलके कर्म हैं। परंतु पुद्गलपरिणाम और आत्मा का घट और कुम्हार की तरह व्याप्यव्यापक रूप नहीं है, इसलिये कर्ताकर्मत्व की असिद्धि है। इसी कारण कर्म व नोकर्मके परिणामको आत्मा नहीं करता। किन्तु परमार्थ से पुद्गल—परिणाम विषयक ज्ञानका और पुद्गलका घट और कुम्हार की तरह व्याप्यव्यापक भावका अभाव है, अतः उन दोनों में कर्ता—कर्मत्व की सिद्धि न होने पर आत्मपरिणाम के और आत्मा के घट मृत्तिका की तरह व्याप्य व्यापक भाव के सद्भाव से आत्म द्रव्य कर्ता ने आप कथमात्मा ज्ञानीभूतो लक्ष्यत इति चेत्—

कम्मस्स य परिणमं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।

ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी।।75।।

कर्म तथा नोकर्मो—के परिणामको जीव नहीं करता।

यों सत्य मानता जो, वह सम्यग्दृष्टि ही ज्ञानी।।75।।

कर्मणश्च परिणामं नोकर्मणश्च तथैव परिणामं। न करोत्येनमात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी।।75।।

यः खलु मोहरागद्वेषसुखदुःखादिरूपेणांतरुत्प्लवमानं कर्मणः परिणामं स्पर्शरसगंधवर्ण—'ाब्दबंधसंस्थानस्थौल्यसौक्ष्म्यादिरूपेण बहिरुत्प्लवमानं नोकर्मणः परिणामं च समस्तमपि पर—मार्थतः पुद्गलपरिणामपुद्गलयोरेव घटमृत्तिकयोरिव व्याप्यव्यापकभावसद्भावात्पुद्गलद्रव्येण कर्त्रा स्वतंत्रव्यापकेन स्वयं व्याप्यमानत्वात्कर्मत्वेन क्रियमाणं पुद्गलपरिणामात्मनोर्घट—कुंभकारयोरिव व्याप्यव्यापकभावाभावात् कर्तृकर्मत्वासिद्धौ न नाम करोत्यात्मा। किंतु परमार्थतः

नामसंज्ञ—कम्म, य, परिणाम, णोकम्म य, तह, एव, परिणाम, ण, एय, अत्त, ज, त, णाणि।
धातुसंज्ञ—कर करणे, जाण अवबोधने, हव सत्तायां। **प्रातिपदिक**—कर्मन्, च, परिणाम, नोकर्मन्, च,

तथा, एव, परिणाम,

स्वतंत्र व्यापक होकर ज्ञाननामक कर्म किया है, इसलिये वह ज्ञान आप ही आत्मा से व्याप्यरूप होकर कर्मरूप हुआ है, इसी कारण पुद्गल परिणामविषयक ज्ञानको कर्म (कर्मकारक) रूपसे करते हुए आत्मा को आप जानता है, ऐसा आत्मा पुद्गलपरिणामरूप कर्म नोकर्म से अत्यंत भिन्न ज्ञानरूप हुआ ज्ञानी ही है, कर्ता नहीं है। ऐसा होने पर कहीं ज्ञाता पुरुष के पुद्गलपरिणाम व्याप्य-स्वरूप नहीं हैं क्योंकि पुद्गल और आत्मा का ज्ञेयज्ञायक संबंध व्यवहारमात्रसे होता हुआ भी पुद्गलपरिणाम निमित्तक ज्ञान ही ज्ञाता के व्याप्य है। इसलिये वह ज्ञान ही ज्ञाता का कर्म है।

अब इसी अर्थ के समर्थन का कलषरूप काव्य कहते हैं—**व्याप्य** इत्यादि। **अर्थ**—व्याप्य व्यापकता तत्स्वरूपके ही होती है अतत्स्वरूपमें नहीं ही होती और व्याप्य-व्यापकभावके संभव बिना कर्ताकर्म की स्थिति कुछ भी नहीं है ऐसे उदार विवेकरूप और समस्तको ग्रासीभूत करने का स्वभाव जिसका है ऐसे ज्ञानस्वरूप प्रकाषके भारसे अज्ञानरूप अंधकार को भेदता हुआ यह आत्मा ज्ञानी होकर उस समय कर्तृत्व से रहित हुआ भासता है। **भावार्थ**—जो सब अवस्थाओं में व्याप्त हो वह तो व्यापक है और जो अवस्था के विषेष हैं वे व्याप्य हैं। सो द्रव्य तो व्यापक है और पर्याय व्याप्य है। सो द्रव्य पर्याय अभेदरूप ही हैं। जो द्रव्य का आत्मा है वही पर्याय का आत्मा है, ऐसा व्याप्यव्यापक भाव तत्स्वरूपमें ही होता है, अतत्स्वरूपमें नहीं होता। तथा व्याप्यव्यापक भावके बिना कर्ता-कर्मभाव नहीं होता। इस प्रकार जो जानता है वह पुद्गलके और आत्मा के कर्ता-कर्मभावको नहीं करता, तभी ज्ञानी होता है और कर्ता कर्मभाव से रहित होकर ज्ञाता द्रष्टा जगत का साक्षीभूत होता है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में कहा गया था कि ज्ञान होने और आस्रवनिवृत्ति होनेका काल एक कैसे है? अब उसी विषय में जिज्ञासा हो रही है कि आत्मा ज्ञानी हो गया यह कैसे पहिचाना जाये? उसी के समाधान में इस गाथा का अवतार हुआ है।

तथ्यप्रकाश—1—कर्म में जो मोह राग द्वेष आदि प्रकृति व अनुभाग का बंध हुआ था वह परिणमन कर्मका उपादानदृष्टिसे है। 2—षरीर में मोटा पतला रूप आकार आदिक जो परिणमन है वह परिणमन 'रीरका उपादान दृष्टि से है। 3—पुद्गलका परिणमन (मोहादि) पुद्गलमें ही व्याप्य हैं अतः पुद्गलपरिणाम (मोहादि) का कर्ता पुद्गलद्रव्य ही है निष्चयतः, आत्मा कर्ता नहीं। 4—मोहादिक अनुभाग पुद्गल कर्म के द्वारा ही व्याप्य होता है अतः मोहादिक परिणाम पुद्गलकर्मका कार्य है, आत्मा का कार्य नहीं। 5—पुद्गल परिणाम पुद्गलपरिणामज्ञानपुद्गलयोर्घटकुंभकारवद्व्याप्यव्यापकभावाभावात् कर्तृकर्मत्वासिद्धावात्मपरिणामात्मनोर्घटमृत्तिकयोरिव व्याप्यव्यापकभावसद्भावादात्मद्रव्येण कर्त्रा स्वतंत्रव्यापकेन स्वयं व्याप्यमानत्वात्पुद्गलपरिणामज्ञानं कर्मत्वेन कुर्वन्तमात्मानं जानाति सोत्यंतविविक्तज्ञानीभूतो ज्ञानी स्यात्। न चैवं ज्ञातुः पुद्गलपरिणामो व्याप्यः पुद्गलात्मनोर्ज्ञेयज्ञायकसंबंधव्यवहारमात्रे सत्यपि पुद्गलपरिणामनिमित्तकस्य ज्ञानस्यैव ज्ञातुर्व्याप्यत्वात्। व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि, व्याप्यव्यापकभावसंभवमृते का कर्तृकर्मस्थितिः। इत्युद्दामविवेकघस्मरमहो भारेण भिंदंस्तमो, ज्ञानीभूय तदा स एष लसितः कर्तृत्वषून्यः पुमान्॥49॥ ॥75॥

न, एतत्, आत्मन्, यत्, तत्, ज्ञानिन्। **मूलधातु**—डुकृञ् करणे, ज्ञा अवबोधने क्र्यादि, भू सत्तायां। **पदविवरण**—कर्मणः—षष्ठी एकवचन। च—अव्यय। परिणामं—द्वितीया एक०। नो—कर्मणः—षष्ठी एक०। च—अव्यय। तथा—अव्यय। एव—अव्यय। परिणामं—द्वितीया एक०। न—अव्यय। करोति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। एनं—द्वितीया एक०। आत्मा—प्रथमा एक०। यः—प्रथमा एक०। जानाति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। सः—प्रथमा एक०। भवति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। ज्ञानी—प्रथमा एकवचन॥75॥

(मोहादिक) आत्मा में प्रतिफलित होते हैं, ज्ञेय होते हैं, इस कारण मोहादिक परिणाम का आत्मा के साथ ज्ञेय ज्ञायक संबंध का व्यवहार है। 6—पुद्गलपरिणाम के ज्ञेय होने पर आत्मा का कर्म पुद्गल परिणामविषयक ज्ञान है और आत्मा इस ज्ञान का कर्ता है, क्योंकि तब आत्मा में व्याप्य वह ज्ञान ही है। 7—अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव तदात्मक में ही हुआ करता है अतदात्मक में नहीं। 8—अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव में ही कर्ताकर्मपना होता। 9—पर व परभावों से विविक्त ज्ञानज्योतिर्मय सहज अन्तस्तत्त्व का प्रकाश जगने पर परकर्तृत्व का भ्रम भारान्धकार नष्ट होकर 'षष्ठ अलौकिक सहज आनन्द का लाभ होता है।

सिद्धान्त—1—मोह राग द्वेषादि अनुभाग का प्रस्फुटन कर्मका परिणाम है। 2—दृष्टिगत देहाकार आदि देहका परिणाम है। 3—कर्मनोकर्मादिविषयक प्रतिफलनविकल्प जीवका परिणाम है। 4—जीवाजीवविषयक यथार्थज्ञान ज्ञानी का परिणाम है।

दृष्टि—1—सभेद अषुद्धनिष्चयनय (47अ)। 2—सभेद अषुद्धनिष्चयनय (47अ)। 3—सभेद अषुद्धनिष्चयनय (47अ)। 4—सभेद 'षुद्धनिष्चयनय (46अ)।

प्रयोग—अपने को कर्म नोकर्म (देह) व आश्रयभूत बाह्य पदार्थ इन समस्त परद्रव्यों के परिणमनसे अलग ज्ञानमात्र निरखने का पौरुष करना ॥75॥

अब जिज्ञासा होती है कि जो जीव पुद्गल कर्मको जानता है, उसका पुद्गल के साथ कर्ता—कर्मभाव है या नहीं है? उसका उत्तर कहते हैं—[ज्ञानी] ज्ञानी [अनेकविध] अनेक प्रकार के [पुद्गलकर्म] पुद्गलद्रव्यके पर्यायरूप कर्मों को [जानन् अपि] जानता हुआ भी [खलु] निष्चय से [परद्रव्यपर्याये] परद्रव्यके पर्यायों में [न परिणमति] न तो परिणमित होता है [न गृहलाति] न ग्रहण करता है [न उत्पद्यते] और न उत्पन्न होता है।

तात्पर्य—पुद्गलकर्मसे अलग ही रहता हुआ आत्मा पुद्गलकर्मविषयक ज्ञान ही करता है, अतः पुद्गलकर्म के साथ आत्मा का कर्ता—कर्मभाव नहीं है।

टीकार्थ—चूँकि प्राप्य, विकार्य, निर्वर्त्य ऐसे व्याप्यलक्षण वाले पुद्गल परिणामको, जो कि स्वयं अन्तर्व्यापक होकर आदि—मध्य—अन्तमें व्यापकर पुद्गलपरिणामको ग्रहण करने वाले, पुद्गलपरिणामरूपसे परिणमने वाले और पुद्गलपरिणामरूपसे उत्पन्न होने वाले पुद्गलद्रव्यके ही द्वारा ही किया जाता है, उसको जानता हुआ भी ज्ञानी स्वयं अन्तर्व्यापक होकर बाह्यस्थित परद्रव्यके परिणामको आदि और मध्य अन्त में व्यापकर उस रूप नहीं परिणमन करता, उसको आप ग्रहण नहीं करता और उसमें उपजता भी नहीं है जैसे कि मिट्टी घटरूप को ग्रहण करती है, उसरूप परिणमन करती है, और उसको उपजाती है, इस कारण प्राप्य, विकार्य निर्वर्त्य स्वरूप व्याप्यलक्षण परद्रव्यका परिणाम स्वरूप कर्मको नहीं पुद्गलकर्म जानतो जीवस्य सह पुद्गलेन कर्तृकर्मभावः किं भवति किं न भवतीति चेत्—

णवि परिणमइ ण गिहखइ उप्पज्जइ ण परदव्वपज्जाए ।

णाणि जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥76॥

ज्ञानी सुजानता भी, पुद्गल कर्मों के फल अनंतों को ।

नहिं परिणमे न पावे, उपजे न परार्थभावों में ॥76॥

नपि परिणमति न गृहलात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये । ज्ञानी जानन्नपि खलु पुद्गलकर्मनेकविधं ॥76॥

यतो यं प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं पुद्गलपरिणामं कर्म पुद्गलद्रव्येण स्वयंमन्तर्व्यापकेन भूत्वादिमध्यांतेषु व्याप्यं तं गृहलता तथा परिणमता तथोत्पद्यमानेन च क्रिय—माणं जानन्नपि हि ज्ञानी स्वयंमन्तर्व्यापको भूत्वा बहिःस्थस्य परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिकाकल—

नामसंज्ञ—ण, वि, ण, ण, परदव्वपज्जाय, णाणि, जाणंत, वि, हु, पुग्गलकम्म, अणेयविह ।
धातुसंज्ञ—परि—नम नम्रीभावे, गिण्ह ग्रहणे तृतीयगणे, उव पज्ज गतौ, जाण अवबोधने ।

प्रातिपदिक—न, अपि, न, न, परद्रव्यपर्याय, ज्ञानिन्, जानत्, अपि, खलु, पुद्गलकर्म, अनेकविध।
मूलधातु—परि—णम प्रह्वत्वे 'ब्दे च, ग्रह उपादाने, क्रयादि, उत्—पद गतौ दिवादि, ज्ञा अवबोधने, पूरी आप्यायने दिवादि, गल

करते हुए मात्र पुद्गलकर्म को जानते हुए भी ज्ञानी का पुद्गल के साथ कर्तृकर्म भाव नहीं है।

भावार्थ—पुद्गल कर्मको जीव जानता है तो भी उसका पुद्गल के साथ कर्ताकर्म भाव नहीं है, क्योंकि कर्म तीन प्रकार से कहा जाता है। जिस परिणामरूप आप परिणमे, वह परिणाम विकार्य कर्म है। आप किसी को ग्रहण करे, वह वस्तु प्राप्य कर्म है। किसी को आप उत्पन्न करे वह कार्य—निर्वर्त्य कर्म है। जीव अपने से भिन्न पुद्गल द्रव्यरूप परमार्थसे नहीं परिणमन करता, क्योंकि आप चेतन है, पुद्गल जड़ है, चेतन जड़रूप नहीं परिणमन करता, परमार्थ से पुद्गल को ग्रहण भी नहीं करता, क्योंकि पुद्गल मूर्तिक है आप अमूर्तिक है, तथा परमार्थ से पुद्गल को आप उत्पन्न भी नहीं करता। क्योंकि चेतन जड़ को किस प्रकार उत्पन्न कर सकता है? इस प्रकार तीनों ही तरह से पुद्गल जीव का कर्म नहीं है और जीव उसका कर्ता नहीं है। जीवका स्वभाव ज्ञाता है, वह आप ज्ञानरूप परिणमन करता हुआ उसको जानता है। ऐसे जानने वाले का परके साथ कर्ता—कर्मभाव कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया गया था कि आत्मा कर्म व नोकर्मके परिणामको नहीं करता, ऐसा जो जानता वह ज्ञानी है। इस पर यह प्रश्न होता है कि पुद्गलकर्मको जीव जानता तो है, इस कारण तो जीव का पुद्गलकर्म के साथ कर्तृकर्मत्व भाव होना ही चाहिये उसके उत्तर में इस गाथा का अवतार हुआ है।

तथ्यप्रकाश—(1) अन्तर्व्यापक को कर्ता कहते हैं। (2) अन्तर्व्याप्यको कर्म कहते हैं। (3) प्रत्येक कर्म प्राप्य विकार्य और निर्वर्त्य रूपमें होता है। (4) निष्चयतः प्राप्य विकार्य और निर्वर्त्य अभिन्न व्यापक द्वारा अभिन्न व्याप्य ही होते हैं। (5) पुद्गल कार्माणवर्गणाके प्रकृति अनुभागरूप परिणमन को वह पुद्गलद्रव्य ही ग्रहण कर रहा है वही पुद्गलद्रव्य उस विकाररूप बन रहा है, वही पुद्गलद्रव्य उस रूपसे अपने को रच रहा है। उस पुद्गलपरिणाम को न जीव ग्रहण कर रहा, न उस विकाररूप बन रहा और न उसरूप अपने को रच रहा। (6) जीव पुद्गल परिणाम विषयक ज्ञानको ग्रहण कर रहा उस ज्ञानरूप परिणम रहा उसी ज्ञान रूप अपने को रच रहा सो जीव परद्रव्य पुद्गलकर्म को न ग्रहण कर सकता न कर्मरूप परिणाम सकता, न कर्मरूप रचा जा सकता। (7) ज्ञानी पुद्गलकर्म को जानता है तो भी पुद्गलकर्मको कर नहीं सकता, क्यों पुद्गलकर्म जीवके द्वारा न प्राप्य है, न विकार्य है और न निर्वर्त्य है।

‘मिवादिमध्यांतेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च। ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य पुद्गलकर्म जानतोपि ज्ञानिनः पुद्गलेन सह न कर्तृकर्मभावः ॥76॥

अदने भ्वादि—गल स्रवणे चुरादि। **पदविवरण**—न—अव्यय। अपि—अव्यय। परिणमति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। न—अव्यय। गृह्णाति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। उत्पद्यते—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। न—अव्यय। परद्रव्यपर्याये—सप्तमी एक०। ज्ञानी—प्रथमा एक०। जानन्—प्रथमा एकवचन कृ दन्त। अपि—अव्यय। खलु—अव्यय। पुद्गलकर्म—प्रथमा एक०। अनेकविधम्—प्रथमा एकवचन ॥76॥

सिद्धान्त—1—ज्ञानी अनेकविध पुद्गलकर्म का ज्ञाता है। 2—ज्ञानी पुद्गलकर्मज्ञेयाकार परिणमित केवल निज आत्मा का ज्ञाता है। 3—ज्ञानी पुद्गलकर्मका कर्ता नहीं है।

दृष्टि-1—अपरिपूर्ण उपचरित स्वभावव्यवहार (105अ)। 2—कारककारकिभेदक सदभूतव्यवहार (73)। 3—प्रतिषेधक 'बुद्धनय प्रतिपादक व्यवहार (70अ)।

प्रयोग—पुद्गलकर्म का सब कुछ पुद्गलकर्ममें ही होता ऐसा जानकर अपने अकर्तास्वभावरूप ज्ञानमात्र निजस्वरूपमें मग्न होने का पौरुष करना ॥76॥

अब जिज्ञासा होती है कि अपने परिणामों को जानता हुआ जो जीव है उसका पुद्गल के साथ कर्ता—कर्मभाव है या नहीं? उसका उत्तर कहते हैं—[**ज्ञानी**] ज्ञानी [**अनेकविधं**] अनेक प्रकार के [**स्वकपरिणामं**] अपने परिणामों को [**जानन् अपि**] जानता हुआ भी [**खलु**] निष्चयसे [**परद्रव्यपर्याये**] परद्रव्यके पर्यायमें [**नापि परिणमति**] न तो परिणत होता है [**न गृहलाति**] न उसको ग्रहण करता है [**न उत्पद्यते**] और न उपजता है।

तात्पर्य—पुद्गलकर्मोदयक्षयोपषमनिमित्तक आत्मपरिणमनों को भी ज्ञानी जानता है तो भी ज्ञानीका पुद्गलकर्मके साथ कर्ता—कर्मभाव नहीं है।

टीकार्थ—जिस कारण प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा व्याप्य लक्षण वाले आत्मपरिणाम को अपने आप स्वयं अन्तर्व्यापक होकर आदि, मध्य और अन्त में व्याप्त कर उन्हीं को ग्रहण करते हुए उन्हीं रूप परिणमते हुए, उन्हीं रूप उत्पन्न होते हुए अपने आपके द्वारा किये गये अपने परिणामरूप कर्मको जानता हुआ भी ज्ञानी स्वयं अन्तर्व्यापक होकर बाह्य स्थित परद्रव्य के परिणाम को 'जैसे मिट्टी कलष को व्याप्त होकर करती है' उस प्रकार आदि, मध्य, अंतमें व्याप्त होकर न तो ग्रहण करता है, उसरूप परिणमता और न उस प्रकार उपजता है। इस कारण प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य तीन प्रकार के व्याप्य लक्षण वाले परद्रव्यपरिणामरूप कर्मको न करते हुए व अपने परिणामको जानते हुए भी ज्ञानी का पुद्गल के साथ कर्तृकर्मभाव नहीं है। **भावार्थ**—स्वपरभेदविज्ञानी पुद्गलकर्मविपाकनिमित्तक अपने परिणाम को जानता भी हो तो भी परद्रव्य का, पुद्गलकर्मका कर्ता नहीं है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया गया था कि पुद्गलकर्म को जानता भी है ज्ञानी तो भी पुद्गलकर्मके साथ जीव का कर्तृकर्मभाव नहीं है। इस विवरण के जानने के बाद यह जिज्ञासा होती है कि पुद्गलकर्म के साथ क्षयोपषमादिका निमित्त पाकर हुए संकल्प—विकल्प आदि अपने परिणाम को तो जीव जानता है फिर तो उस जीवका पुद्गलकर्म के साथ कर्तृ—कर्मभाव होना ही चाहिये। इस जिज्ञासा का समाधान करने के लिये यह गाथा कही गई है।

तथ्यप्रकाश—(1) पुद्गलकर्म के क्षयोपषमसे या उदयसे हुए संकल्प—विकल्परूप आत्मपरिणामको राग सुख—दुःख आदि आत्मपरिणामको यह जीव जानता है, फिर भी यह पुद्गलकर्म का न कर्ता है, न कर्म है। (2) पुद्गलकर्म तो अपने विपाकोदयादि अवस्था का कर्ता है, जीवपरिणाम का कर्ता नहीं है। (3) कर्म के बन्ध, विपाक आदि परिणमन कर्म में ही स्वपरिणामं जानतो जीवस्य सह पुद्गलेन कर्तृकर्मभावः किं भवति, किं न भवति इति चेत्—

णवि परिणमदि ण गिहणदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।

णाणी जाणंतो वि हु सगपरिणामं अणेयविहं ॥77॥

ज्ञानी सुजानता भी, नाना अपने विभावभावोंको।

नहिं परिणमे न पावे, उपजे न परार्थभावोंमें ॥77॥

नपि परिणमति न गृहलात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये। ज्ञानी ज्ञानन्नपि खलु स्वकपरिणाममनेकविधं ॥77॥

यतो यं प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणमात्मपरिणामं कर्म आत्मना स्वयमंतर्व्याप—केन भूत्वादिमध्यांतेषु व्याप्य तं गृहलता तथा परिणमता तथोत्पद्यमानेन च क्रियमाणां जानन्नपि

हि ज्ञानी स्वयमंतर्व्यापको भूत्वा बहिःस्थस्य परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिकाकलषमिवादिमध्यांतेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च। ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य स्वपरिणामं जानतोपि ज्ञानिनः पुद्गलेन सह न कर्तृकर्मभावः।।77।।

नामसंज्ञ—ण, वि, ण, ण, परद्वपज्जाय, णाणि, जाणंत, वि, हु, सगपरिणाम, अणयविह। **धातुसंज्ञ**—परि—नम नप्रीभावे उपसर्गादर्थ परिवर्तनम्, गिण्ह ग्रहणे, उव—पज्ज गतौ। **प्रातिपादिक**—न, अपि, न, न, परद्रव्यपर्याय, ज्ञानिन्, जानत्, अपि, खलु, स्वकपरिणाम, अनेकविध। **मूलधातु**—परि—णम प्रह्वत्वे, ग्रह उपादाने, क्र्यादि, उत्—पद गतौ दिवादि, ज्ञा अवबोधने। **पदविवरण**—न—अव्यय। अपि—अव्यय। परिणमति—वर्तमान लट् मध्यम पुरुष एक०। न—अव्यय। गृह्णाति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। उत्पद्यते—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। न—अव्यय। परद्रव्यपर्याये—सप्तमी एक०। ज्ञानी—प्रथमा एक० कर्ता। जानन्—प्रथमा एक० कृदन्त। अपि—अव्यय। खलु—अव्यय। स्वकपरिणामं—द्वितीया एक०। अनेकविधं—द्वितीया एकवचन।।77।।

व्याप्य, विकार्य व निर्वर्त्य हैं। (4) जीव के संकल्प-विकल्प सुखवेदन दुःखवेदन आदि परिणाम जीवमें ही व्याप्य, विकार्य व निर्वर्त्य हैं। (5) ज्ञेय ज्ञान में प्रतिभासित हो यह ज्ञेय के प्रमेयत्व गुणका प्रताप है, ज्ञान ज्ञेयविषयक ज्ञान करे यह ज्ञानस्वभावकी वृत्ति है।

सिद्धान्त—(1) पुद्गलकर्मविपाकोदय का निमित्त पाकर हुए सुख-दुःखादि जीवपरिणाम को जीव अनुभवता है। (2) जीवके सुख-दुःखादि परिणाम के निमित्तभूत कर्मविपाकोदय का कर्ता पुद्गलकर्म है।

दृष्टि—1—उपाधिसापेक्ष अषुद्ध द्रव्यार्थिकनय (53)। 2—सभेद अषुद्ध निष्चयनय (46अ)।

प्रयोग—पुद्गलकर्म से भिन्न पुद्गलकर्मनिमित्तक विकारविभावों को मात्रा जानकर उस ज्ञेयविकल्प से भी हटकर अपने सहज अविकारस्वरूपमें लीन होने का पौरुष करना।।77।।

अब पूछते हैं कि पुद्गलकर्म के फलको जानते हुए जीवका पुद्गलके साथ कर्तृकर्मभाव है या नहीं? उसका उत्तर कहते हैं—[ज्ञानी] ज्ञानी [अनंत] अनन्त [पुद्गलकर्मफल] पुद्गलकर्मके फलों को [जानन् अपि] जानता हुआ भी [खलु] निष्चयसे [परद्रव्यपर्याये] परद्रव्यके पर्यायमें [नापि] न तो [परिणमति] परिणमन करता है [न गृह्णाति] न उसमें कुछ ग्रहण करता तथा [न उत्पद्यते] न उसमें उपजता है।

तात्पर्य—आत्मा पुद्गलकर्म के फलको जानता है तो भी उसका पुद्गलकर्म के साथ कर्ता—कर्मभाव नहीं हैं।

टीकार्थ—जिस कारण प्राप्य, विकार्य, और निर्वर्त्य ऐसे जिसका लक्षण व्याप्य है ऐसा तीन प्रकार का सुखदुःखारूप पुद्गलकर्मका फल जो कि स्वयं अंतर्व्यापक होकर, आदि मध्य अंतमें व्याप्त होकर ग्रहण करते हुए, उसी प्रकार परिणमन करते हुए तथा उसी प्रकार उत्पन्न होते हुए पुद्गल द्रव्य के द्वारा क्रियमाण को जानता हुआ भी ज्ञानी, आप अंतर्व्यापक पुद्गलकर्मफलं जानतो जीवस्य सह पुद्गलेन कर्तृकर्मभावः किं भवति, किं न भवतीति चेत्—

णवि परिणमदि ण गिहलदि उप्पज्जदि ण परद्वपज्जाए।

णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मफलमणंतं।।78।।

ज्ञानी सुजानता भी, पुद्गलकर्मों के फल अनन्तों को।

नहिं परिणमे न पावे, उपजे न परार्थभावों में।।78।।

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये। ज्ञानी जानन्नपि खलु पुद्गलकर्मफलमणंतं।।78।।

यतो यं प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं सुखदुःखादिरूपं पुद्गलकर्मफलं कर्म पुद्गलद्रव्येण स्वयमंतर्व्यापकेन भूत्वादिमध्यांतेषु व्याप्य तद्गृहलता तथा परिणमता तथोत्पद्यमानेन च क्रियमाणं जानन्नपि हि ज्ञानी स्वयमंतर्व्यापको भूत्वा बहिःस्थस्य परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिकाकलषमिवादिमध्यांतेषु व्याप्य न तं गृहलाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च। ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य सुखदुःखादिरूपं पुद्गलकर्मफलं जानतोपि ज्ञानिनः पुद्गलेन सह न कर्तृ कर्मभावः ॥78॥

नामसंज्ञ—ण, वि, ण, ण, परदव्वपज्जाय, णाणि, जाणंत, वि, हु, पुग्गलकम्मफल, अणंत।
धातुसंज्ञ—परि—नम नम्रीभावे, गिण्ह ग्रहणे, उव—पज्ज गतौ। **प्रातिपदिक**—न, अपि, न, न, परद्रव्यपर्याय, ज्ञानिन्, जानन्, अपि, खलु, पुद्गलकर्मफल, अनन्त। **मूलधातु**—परि—णम प्रहवत्वे, ग्रह उपादाने क्र्यादि, उत्—पद गतौ दिवादि, ज्ञा अवबोधने, फल निष्पत्तौ भ्वादि। **पदविवरण**—न—अव्यय। अपि—अव्यय। परिणमति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन। न—अव्यय। गृहलाति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन। उत्पद्यते—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। न—अव्यय। परद्रव्यपर्याये—सप्तमी एक०। ज्ञानी—प्रथमा एक० कर्ता। जानन्—प्रथमा एक० कृदन्त। अपि—अव्यय। खलु—अव्यय। पुद्गलकर्मफलं—द्वितीया एकवचन। अनन्तं—द्वितीया एकवचन ॥78॥

होकर बाह्य स्थित परद्रव्य के परिणाम को मिट्टी और घड़े की भांति आदि, मध्य और अन्त में व्याप्त कर नहीं ग्रहण करता, उस प्रकार परिणमन भी नहीं करता तथा उस प्रकार उत्पन्न भी नहीं होता? इस कारण प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्यरूप व्याप्यलक्षण परद्रव्यके परिणामरूप कर्म को नहीं करते हुए, मात्र सुख—दुःखरूप कर्मके फलको जानते हुए भी ज्ञानीका पुद्गलके साथ कर्तृकर्मभाव नहीं है। **भावार्थ**—नैमित्तिक भावको जानता हुआ भी जीव न निमित्त का कर्ता है और न निमित्त का कर्म (कार्य) है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया गया था कि जीव कर्मविपाकदिनिमित्तक अपने परिणामको जानता हुआ भी पुद्गलकर्मका न कर्ता है, न कर्म है। इस विवरण के जानने के बाद यह जिज्ञासा होती है कि जब पुद्गलकर्मके फलको जीव जानता है, अनुभवता है तब उस जीव का पुद्गलकर्म के साथ कर्तृकर्मभाव क्यों नहीं होता? इस जिज्ञासा के समाधान में यह गाथा आई है।

तथ्यप्रकाश—(1) सुख—दुःखादिरूप पुद्गलकर्मविपाक पुद्गलमें ही प्राप्य, विकार्य, निर्वर्त्य हैं। (2) सुख—दुःखादिरूप पुद्गलकर्मविपाक का सान्निध्य पाकर जो तदनु रूप प्रतिफलन उपयोग में हुआ वह प्रतिफलन जीवमें व्याप्य, विकार्य व निर्वर्त्य है। (3) पुद्गलकर्मफलका जाननहार होकर भी जीव पुद्गलकर्मका न कर्ता है न भोक्ता है।

सिद्धान्त—(1) जीव पुद्गलकर्मफलका जाननहार है। (2) जीव पुद्गलकर्मफलविषयक ज्ञेयाकार परिणत मात्र अपने को जानता है। (3) जीव पुद्गलकर्मका न कर्ता है, न भोक्ता है।

दृष्टि—1—अपरिपूर्ण उपचरित स्वभावव्यवहार (105अ)।
 2—कारककारकिभेदकसद्भूत—व्यवहार (73)। प्रतिषेधक 'उद्धनय (49 अद्ध)।

प्रयोग—कर्मफल को कर्म में अन्तर्व्याप्य निरखकर उसके प्रतिफलनसे प्रभावित न होकर अपने अविकार सहज ज्ञानस्वभावमें परमविश्राम करने का पौरुष करना ॥78॥

जीवपरिणामं स्वपरिणामं स्वपरिणामफलं चाजानतः पुद्गलद्रव्यस्य सह जीवने कर्तृ— कर्मभावः किं भवति, किं न भवतीति चेत्—

णवि परिणमदि ण गिहणदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।

पुग्गलदव्वं पि तहा परिणमइ सएहिं भावेहिं ॥79॥

पुद्गलकर्म भी तथा, परिणमता है स्वकीय भावों में।

नहिं परिणमे न पावे, उपजे न परार्थभावोंमें ॥79॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये। पुद्गलद्रव्यमपि तथा परिणमति स्वकैर्भावैः।।79।।

यतो जीवपरिणामं स्वपरिणामं स्वपरिणामफलं चाप्यजानत् पुद्गलद्रव्यं स्वयमंतर्व्यापकं भूत्वा परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिकाकलषमिवादिमध्यांतेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च। किंतु प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं स्वभावं कर्म स्वय—

नामसंज्ञ—ण, वि, ण, ण, परदव्यपज्जाय, पुग्गलदव्य, पि, तहा, सय, भाव। **धातुसंज्ञ**—परि—नम नम्रीभावे, गिण्ह ग्रहणे, उव—पज्ज गतौ। **प्रातिपदिक**—न, अपि, न, न, परद्रव्यपर्याय, पुद्गलद्रव्य, अपि, तथा, स्वक, भाव। **मूलधातु**—परि—णम प्रह्वत्वे, ग्रह उपादाने, उत्—पद गतौ, द्रु गतौ भ्वादि, परि—अय

अब यहाँ पूछते हैं कि जीवके परिणाम को तथा अपने परिणामको और अपने परिणाम के फलको नहीं जानने वाले पुद्गलद्रव्य का जीव के साथ कर्तृकर्मभाव है या नहीं उसका उत्तर कहते हैं [पुद्गलद्रव्यं अपि] पुद्गल द्रव्य भी [परद्रव्यपर्याये] परद्रव्य के पर्याय में [तथा] उस प्रकार [नापि] नहीं [परिणमति] परिणमन करता है, [न गृह्णाति] उसको ग्रहण भी नहीं करता और [न उत्पद्यते] न उत्पन्न होता है, किन्तु [स्वकैः भावैः] अपने भावों से ही [परिणमति] परिणमन करता है।

तात्पर्य—जैसे जीव का पुद्गल के साथ कर्तृकर्मभाव नहीं, इसी प्रकार पुद्गलद्रव्यका भी जीव के साथ कर्तृकर्मभाव नहीं है।

टीकार्थ—जिस कारण जीवके परिणामको, अपने परिणाम को तथा अपने परिणाम के फलको न जानता हुआ पुद्गलद्रव्य परद्रव्य (जीव) के परिणामरूप कर्मको मृत्तिका कलषकी तरह आप अंतर्व्यापक होकर आदि, मध्य और अन्तमें व्याप्त कर नहीं ग्रहण करता उसी प्रकार परिणमन भी नहीं करता है तथा उत्पन्न भी नहीं होता है, परन्तु प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्यरूप व्याप्यलक्षण अपने स्वभावरूप कर्मको अन्तर्व्यापक होकर आदि, मध्य और अन्तमें व्याप्य उसीको ग्रहण करता है, उसी प्रकार परिणत होता है तथा उसी प्रकार उपजता है। इस कारण प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्यरूप व्याप्यलक्षण परद्रव्य (जीव) के परिणामस्वरूप कर्मको न करते हुए जीवके परिणामको, अपने परिणामको तथा अपने परिणाम के फलको नहीं जानते हुए पुद्गलद्रव्यका जीवके साथ कर्तृकर्मभाव नहीं है। **भावार्थ**—यदि कोई माने कि पुद्गल जड़ है वह किसी को जानता नहीं, अतः उसका जीवके साथ कर्तृकर्मभाव हो जायगा, किन्तु यह बात नहीं है। परमार्थ से परद्रव्य के साथ किसी के कर्तृकर्मभाव नहीं है।

अब इसी अर्थ का काव्य कहते हैं—**ज्ञानी** इत्यादि। **अर्थ**—ज्ञानी तो अपनी और पर की दोनों की परिणति को जानता हुआ प्रवृत्त होता है तथा पुद्गलद्रव्य अपनी और परकी दोनों ही परिणतियों को नहीं जानता हुआ प्रवृत्त होता है। वे दोनों परस्पर अन्तरंग व्याप्य व्यापक भावको प्राप्त होने में असमर्थ हैं, क्योंकि दोनों भिन्न द्रव्य हैं सदाकाल उसमें अत्यन्त भेद है। अतः इनके कर्तृकर्मभाव मानना भ्रमबुद्धि है। सो जब तक इन दोनों में करोंतकी तरह निर्दय होकर उसी समय भेदको उपजाकर भेदज्ञान प्रकाश वाला ज्ञान प्रकाशित नहीं होता, यह भ्रमबुद्धि तभी तक है। **भावार्थ**—भेदज्ञान होने के बाद पुद्गल और जीवके कर्तृकर्मभावकी बुद्धि नहीं रहती, क्योंकि भेदज्ञान नहीं होने तक ही अज्ञान से कर्तृकर्मभावकी बुद्धि रहती है।

मंतर्व्यापकं भूत्वादिमध्यांतेषु व्याप्य तमेव गृह्णाति तथैव परिणमति तथैवोत्पद्यते च। ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य जीवपरिणामं स्वपरिणामं स्वपरिणामफलं चाजानतः पुद्गलद्रव्यस्य जीवने सह न कर्तृ कर्मभावः। ज्ञानी जानन्नपीमां स्वपरिणामं पुद्गलश्चाप्यजानन्, व्याप्तुर्व्याप्यत्वमंतः कलयितुमसहौ नित्यमत्यंतभेदात्। अज्ञानात्कर्तृ कर्मभ्रममतिरनयोर्भाति तावन्न यावत्, विज्ञानार्चिष्वकास्ति क्रकचवददयं भेदमुत्पाद्य सद्यः।।50।। ।।79।।

गतौ भ्वादि, पूरी अप्यायने दिवादि, गल अदने भ्वादि। **पदविवरण**—न-अव्यय। अपि-अव्यय। परिणमति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन। न-अव्यय। गृह्णाति-वर्तमान लट् अप्य पुरुष एकवचन। उत्पद्यते-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन। न-अव्यय। परद्रव्यपर्याये-सप्तमी एक०। पुद्गलद्रव्यं-प्रथमा एक०। अपि-अव्यय। तथा-अव्यय। परिणमति, स्वकैः-तृतीया बहुवचन स्वार्थे कः। भावैः-तृतीया बहुवचन।।79।।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व स्थलमें जीव जीव के ही विषय में यह बताया गया था कि जीव पुद्गलकर्मको, पुद्गलकर्मफलको व अपने परिणाम को जानता है तो भी उसका पुद्गलकर्मके साथ कर्तृकर्मभाव नहीं है। इस विवरण के सुनने के बाद यह जिज्ञासा होती है कि जीवपरिणामको, अपने परिणमनको और अपने विपाक को न जान सकने वाले पुद्गलद्रव्यका जीव के साथ कर्तृकर्मभाव है या नहीं? इसके समाधान में यह गाथा दी गई है।

तथ्यप्रकाश—(1) पुद्गलकर्म अचेतन है वह न जीवके परिणामको जान सकता है, न अपने (पुद्गलकर्मके) परिणमनको जान सकता है, न अपने (कर्मके) विपाक को जान सकता है। (2) पुद्गलकर्म अपने परिणमन में व अपने अनुभाग में ही अन्तर्व्यापक है वह जीवके परिणाम को न ग्रहण कर सकता, न जीवपरिणामरूप परिणाम सकता है, न जीवपरिणामरूपसे उत्पन्न हो सकता है। (3) पुद्गलद्रव्य जीवपरिणामका कर्ता नहीं है।

सिद्धान्त—(1) पुद्गलकार्माणस्कन्ध अपने ही प्रकृतिस्थिति प्रदेश अनुभागरूपमें वर्तता है। (2) जीव संसारदषामें कर्मदषानुरूप अपने उपयोग के परिणमनरूप परिणमता है। (3) पुद्गलद्रव्य जीवके परिणामका न कर्ता है, न भोक्ता है।

दृष्टि—1—सभेद अषुद्ध निष्चयनय (47अ)। 2—सभेद अषुद्ध निष्चयनय (47अ)। 3—प्रतिषेधक 'जुद्धनय (49अ)।

प्रयोग—अपने ही परिणमन से परिणमने वाले पुद्गलकर्मके प्रतिफलनमें रंच भी लगाव न रखकर अपने अविकार सहज ज्ञानस्वरूपमें स्वत्व अनुभवने का पौरुष करना।।79।।

अब कहते हैं कि जीवके परिणाममें और पुद्गलके परिणाममें परस्पर निमित्तमात्रता है तो भी उन दोनों में कर्तृकर्मत्व नहीं है—[पुद्गलाः] पुद्गल [जीवपरिणामहेतु] जीवके परिणाम का निमित्त पाकर [कर्मत्वं] कर्मत्वरूप [परिणमंति] परिणमन करते हैं [तथा एव] उसी प्रकार [जीवः अपि] जीव भी [पुद्गलकर्मनिमित्त] पुद्गलकर्मका निमित्त पाकर [परिणमति] परिणमन करता है। तो भी [जीवः] जीव [कर्मगुणान्] कर्म के गुणों को [नापि] नहीं [करोति] करता [तथैव] उसी भांति [कर्म] कर्म [जीवगुणान्] जीवके गुणों को नहीं करता। [तु] किंतु [द्वयोरपि] इन दोनों के [अन्योन्यनिमित्तेन] परस्पर निमित्तमात्रसे [परिणामं] परिणाम [जानीहि] जानो [एतेन कारणेन तु] इसी कारण से [स्वकेन भावेन] अपने भावों से [आत्मा] आत्मा [कर्ता] कर्ता कहा जाता है [तु] परंतु [पुद्गलकर्मकृतानां] पुद्गल कर्म द्वारा किये गये [सर्वभावानां] समस्त ही भावों का [कर्ता न] कर्ता नहीं है।

तात्पर्य—जीवभाव व पुद्गलकर्ममें परस्पर निमित्तनैमित्तिकभाव तो है, किन्तु उनमें परस्पर कर्तृकर्मभाव रंच भी नहीं है।

जीवपुद्गलपरिणामयोरन्योन्यनिमित्तमात्रत्वमस्ति तथापि न तयोः कर्तृकर्मभाव इत्याह—

जीवपरिणामहेतुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति ।

पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ।।80।।

णवि कुव्वइ कम्मगुणो जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे ।

अण्णोण्णाणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोहणम्पि ।।81।।

एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण ।

पुग्गलकम्मकयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ।।82।।

जीवविभावनि कारण, पुद्गल कर्मत्वरूप परिणमते ।

पुद्गलविधिके कारण, तथा यहां जीव परिणमता ।।80।।

जीव नहिं कर्मके गुण, करता नहिं जीव कर्मके गुणको ।

अन्योन्यनिमित्तों से, उनके परिणाम होते हैं ।।81।।

इस कारणसे आत्मा, कर्ता होता स्वकीय भावोंका ।

नहिं कर्ता वह पुद्गल, कर्मविहित सर्वभावोंका ।।82।।

जीवपरिणामहेतुं कर्मत्वं पुद्गलाः परिणमंति । पुद्गलकर्मनिमित्तं तथैव जीवोपि परिणमति ।

नापि करोति कर्मगुणान् जीवः कर्म तथैव जीवगुणान् । अन्योन्यनिमित्तेन तु परिणामं जानीहि द्वयोरपि ।

एतेन कारणेन तु कर्ता आत्मा स्वकेन भावेन । पुद्गलकर्मकृतानां न तु कर्ता सर्वभावानां ।

यतो जीवपरिणामं निमित्तीकृत्य पुद्गलाः कर्मत्वेन परिणमंति पुद्गलकर्म निमित्तीकृत्य जीवोपि परिणमतीति जीवपुद्गलपरिणामयोरितरेतरहेतुत्वोपन्यासेपि जीवपुद्गलयोः परस्परं

नामसंज्ञ—जीवपरिणामहेतु, कम्मत्त, पुग्गल, पुग्गलकम्मणिमित्त, तह, एव, जीव, वि, ण, वि, कम्मगुण, जीव, कम्म, तह, एव, जीवगुण, अण्णोण्णाणिमित्त, दु, परिणाम, दु, वि, एत, कारण, दु, कत्तु, अत्त, सय, भाव, पुग्गलकम्मकय, ण, दु, कत्तु, सव्वभाव । **धातुसंज्ञ**—परि—नम नम्रीभावे, कुव्व करणे, जाण अवबोधने । **प्रकृतिशब्द**—जीवपरिणामहेतु, कर्मत्व, पुद्गल, पुद्गलकर्मनिमित्त, तथा, एव, जीव, अपि, न, अपि, कर्मगुण, जीव, कर्मन्, तथा, एव, जीवगुण, अन्योन्यनिमित्त, तु, परिणाम, द्वि, अपि, एतत्,

टीकार्थ—जिस कारण जीवपरिणाम को निमित्तमात्र करके पुद्गल कर्मभाव से परिणामन करते हैं और पुद्गलकर्मको निमित्तमात्र कर जीव भी परिणामन करता है। ऐसे जीव के परिणामका तथा पुद्गलके परिणाम का परस्पर हेतुत्व का स्थापन होने पर भी जीव और पुद्गलके परस्पर व्याप्यव्यापक भावके अभावसे जीवके तो पुद्गलपरिणामों का और पुद्गलकर्मके जीवपरिणामों का कर्तृकर्मपने की असिद्धि होने पर निमित्तनैमित्तिक भावमात्र का निषेध नहीं है, क्योंकि परस्पर निमित्तमात्र होनेसे ही दोनों का परिणाम है। इस कारण मृत्तिकाके कलष की तरह अपने भाव द्वारा अपने भावके करने से जीव अपने भावका कर्ता सदा काल होता है। तथा मृत्तिका जैसे कपड़े की कर्ता नहीं है, वैस ही जीव अपने भाव द्वारा परके भावों के करने की असमर्थता से पुद्गलके भावों का तो कर्ता कभी नहीं है ऐसा निष्चय है। **भावार्थ**—जीव और पुद्गल के परिणामों की परस्परनिमित्तमात्रता है तो भी उनमें परस्पर कर्तृकर्मभाव नहीं है। पुद्गलकर्मविपाक के निमित्तसे जो जीवके भाव हुए उन भावों का कर्ता तो जीवको अज्ञान दषामें कदाचित् कह भी सकते हैं, लेकिन जीव परभाव का कर्ता कभी नहीं हो सकता ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व स्थलमें जीवका व पुद्गलकर्मका परस्पर कर्तृकर्मभाव होता ही नहीं है इसका भले प्रकार सविवरण वर्णन किया। इसके सुनने पर यह जिज्ञासा होती कि किसी भी पदार्थ में परसम्पर्क बिना विकार ही नहीं होता, यदि परसंग बिना विकार होने लगे तो विकार स्वभाव बन बैठेगा फिर तो विकार कभी नष्ट भी न होगा, संसार ही सदा व्याप्यव्यापकभावाभावाज्जीवस्य पुद्गलपरिणामानां पुद्गलकर्मणोपि जीवपरिणामानां कर्तृकर्मत्वासिद्धौ निमित्तनैमित्तिकभावमात्रस्याप्रतिषिद्धत्वादितरेतरनिमित्तमात्रीभवनेनैव द्वयोरपि परिणामः । ततः कारणान्मृत्तिकया कलषस्येव स्वेन भावेन स्वस्य भावस्य करणाज्जीवः स्वभावस्य कर्ता कदाचित्स्यात् । मृत्तिकया वसनस्येव स्वेन भावेन परभावस्य कर्तुमषक्यत्वात्पुद्गल— भावानां तु कर्ता न कदाचिदपि स्यादिति निष्चयः । ततः स्थितमेतज्जीवस्य स्वपरिणामैरेव सह कर्तृकर्मभावो भोक्तृभोग्यभावश्च ।।80—82।।

कारण, तु, कर्तृ, आत्मन्, स्वक, भाव, पुद्गलकर्मकृत, न, तु, कर्तृ, सर्वभाव। **मूलधातु**—जीव प्राणधारणे, परि-णम प्रह्वत्वे, नि-जिमिदा स्नेहने भ्वादि, नि-जिमिदा स्नेह ने दिवादि, अत सातत्यगमने। **पदविवरण**—जीवपरिणामहेतुं-द्वितीया एक०। कर्मत्वं-द्वि० ए०। पुद्गलाः-प्रथमा बहु० कर्ता। परिणमन्ति- वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु०। पुद्गलकर्मनिमित्तं-द्वितीया एक०। तथा-अव्यय। एव-अव्यय। जीवः-प्रथमा एकवचन कर्ता। अपि-अव्यय। परिणमति-वर्तमान अन्य पुरुष एक०। करोति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। कर्मगुणान्-द्वितीया बहु०। जीवः-प्रथमा एक०। कर्म-प्रथमा एक०। जीवगुणान्-द्वितीया बहु०। अन्योन्यनिमित्तेन-तृतीया एक०। तु, परिणामं-द्वितीया एक०। जानीहि-लोट् आज्ञा मध्यम पुरुष एक०। द्वयोः-षष्ठी द्विवचन। एतेन-तृतीया एक०। कारणेन-तृ० एक०। कर्ता-प्रथमा एक०। आत्मा-प्रथमा एक०। स्वकेन-तृतीया एक०। भावेन-तृतीया एक०। पुद्गलकर्मकृतानां-षष्ठी बहु०। कर्ता-प्रथमा एक०। सर्वभावानां-षष्ठी बहुवचन। ॥80-82॥

रहेगा, मुक्ति भी न हो सकेगी। तो विकार कैसे होता इसका समाधान इन 3 गाथाओं में किया गया है।

तथ्यप्रकाश-1-जीवके कषायभाव व योग का निमित्त पाकर पुद्गल कार्माणवर्गणायें कर्मरूप परिणम जाती हैं। 2-पुद्गल कर्मोदय का निमित्त पाकर जीव विभावपरिणामरूप परिणम जाता है। 3-जीवविभाव व कर्मत्वपरिणाममें निमित्तनैमित्तिक भाव होने पर भी परस्पर कर्तृकर्मत्व बिल्कुल नहीं है। 4-जीव अपने परिणाममें ही व्यापक है अतः जीव अपने परिणाम का ही कर्ता भोक्ता है।

सिद्धान्त-1-पुद्गलकर्मप्रकृतिके विपाकोदयसे जीव विकाररूप परिणमता है। 2-जीवविभाव उस समय जीवमें ही व्याप्य है अतः जीवविभाव जीवका कर्म है। 3-कर्मत्व उस समय कार्माणवर्गणा में ही व्याप्य है, अतः कर्मत्व पुद्गलकार्माणवर्गणाका कर्म है।

दृष्टि-1-उपाधिसापेक्ष अषुद्धद्रव्यार्थिकनय (24)। 2-अषुद्ध निष्चयनय (47)। 3-कारककारकिभेदक अषुद्ध सदभूतव्यवहार (73अ)।

प्रयोग-विकारों को नैमित्तिक जानते हुए अस्वरूप जानकर तथा निमित्ताधीन न जानते हुए अपनी भूल पहिचानकर अज्ञान हटाकर अविकार सहजज्ञानस्वरूपमें रमने का पौरुष करना ॥80-82॥

उपर्युक्त हेतुसे यह सिद्ध हुआ कि जीवका अपने परिणामों के ही साथ कर्तृकर्मभाव और भोक्तृभोग्यभाव है, यह अब आगे की गाथामें कह रहे हैं—[निश्चयनयस्य] निष्चयनयके मतमें [एवं] इस प्रकार [आत्मा] आत्मा [आत्मानं एव हि] अपने को ही [करोति] करता है [तु पुनः] और फिर [आत्मा] वह आत्मा [तं चैव आत्मानं] अपने को ही [वेदयते] भोगता है ऐसा तू [जानीहि] जान।

तात्पर्य-वस्तुतः आत्मा अपने परिणमनका ही करता है और अपने परिणमन को ही भोगता है।

टीकार्थ-जैसे पवनके चलने और न चलने का निमित्त पाकर तरंगों का उठना और विलय होना रूप दो अवस्था होने पर भी पवन और समुद्र के व्याप्यव्यापकभावके अभावसे कर्ताकर्मपने की असिद्धि होने पर समुद्र ही आप उन अवस्थाओं में अंतर्व्यापक होकर आदि, मध्य और अंतमें उन अवस्थाओं में व्याप्त होकर उत्तरंगनिस्तरंग रूप अपने एकको ही करता

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि ।

वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ॥83॥

निश्चयनयदर्शन में, आत्मा करता है आत्माको ही ।

अपने को ही आत्मा, अनुभवता भव्य यों जानो ॥83॥

निष्चयनयस्यैवमात्मानेव हि करोति । वेदयते पुनस्तं चैव जानीहि आत्मा त्वात्मानं ॥83॥

यथोत्तरंगनिस्तरंगवस्थयोः समीरसंचरणासंचरणनिमित्तयोरपि समीरपारावारयोर्व्याप्यव्यापकभावाभावात्कर्तृकर्मत्वासिद्धौ पारावार एव स्वयमंतर्व्यापका भूत्वादिमध्यांतेषूत्तरंगनिस्तरंगवस्थे व्याप्योत्तरंगं निस्तरंगं त्वात्मानं कुर्वन्नात्मानमेकमेव कुर्वन् प्रतिभाति न पुनरन्यत् । यथा स एव च भाव्यभावकभावाभावात्परभावस्य परेणानुभवितुमषक्यत्वादुत्तरंगं निस्तरंगं त्वात्मानमनुभवन्नात्मानमेकमेवानुभवन् प्रतिभाति न पुनरन्यत् । तथा ससंसारनिःसंसारावस्थयोः

नामसंज्ञ—णिच्छयणय, एवं, अत्त, अप्, एव, हि, पुणो, त, च, एव, अत्त, दु, अत्त । **धातुसंज्ञ**—कर करणे, वेद वेदने, जाण अवबोधने । **प्रातिपदिक**—निष्चयनय, एव, आत्मन्, आत्मन्, एव, हि, पनर्, तत् च एव,

हुआ प्रतिभासित होता है, किसी दूसरे को करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता और जैसे कि वही समुद्र उस पवन और समुद्र के भाव्यभावक भावके अभावसे परभावको पररूपसे अनुभव करने के असामर्थ्य से उत्तरंगनिस्तरंगस्वरूप अपने को ही अनुभवता हुआ प्रतिभासित होता है, अन्य को अनुभवता हुआ प्रतिभासित नहीं होता । उसी प्रकार पुद्गलकर्मके उदयके होने व न होने का निमित्त पाकर जीवकी ससंसार और निःसंसार ये दो अवस्था होने पर भी पुद्गलकर्म और जीवके व्याप्य-व्यापकभावके अभाव से कर्ताकर्मरूपकी असिद्धि होने पर जीव ही आप अंतर्व्यापक होकर आदि, मध्य और अन्तमें ससंसार निःसंसार अवस्थामें व्याप्त होकर ससंसार निःसंसार रूप आत्मा को करता हुआ अपने एकको ही करता हुआ प्रतिभासित होओ, अन्यको करता हुआ प्रतिभासित मत होओ । उसी प्रकार यह जीव भाव्यभावकभावके अभावसे परभावको परके द्वारा अनुभव करने की असामर्थ्य होनेसे ससंसार निःसंसार रूप एक अपने को ही अनुभवता हुआ प्रतिभासित होओ, अन्यको करता हुआ प्रतिभासित मत होओ । **भावार्थ**—आत्मा की ससंसार निःसंसार अवस्था परद्रव्य पुद्गलकर्मके सद्भाव व अभावके निमित्तसे है, वहाँ उन अवस्थारूप आप ही यह आत्मा परिणमन करता है इसलिये आत्मा अपना ही कर्ता भोक्ता है, निमित्तमात्र जो पुद्गलकर्म है, उसका कर्ता भोक्ता नहीं है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व तीन गाथाओं में बताया था कि जीवपरिणाम व पुद्गल कर्ममें परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव होने पर भी उनमें कर्तृकर्मत्व व भोक्तृभोग्यत्व नहीं है । इस विवरण को सुनकर यह जिज्ञासा होती है—तो फिर निष्चयसे आत्मा किसे करता है व किसे भोगता है, इसका समाधान इस गाथा में किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—1—निमित्तनैमित्तिकमें व्याप्यव्यापकभाव नहीं होता । 2—उपादान उपादेयमें ही व्याप्यव्यापक भाव होता है । 3—निमित्तसान्निध्यमें होने वाला नैमित्तिक निमित्त का अभाव होने पर हट जाता है । 4—जीवकी 'जुद्ध व अषुद्ध अवस्थायें जीवमें व्याप्य हैं अतः जीवकी परिणतियों का जीव ही कर्ता है व जीव ही भोक्ता है ।

सिद्धान्त—1—जीवकी ससंसार अवस्था पुद्गलकर्मविपाकसंभवनिमित्तक है । 2—जीव की निःसंसार अवस्था पुद्गलकर्मविपाकासंभवनिमित्तक है । 3—जीवकी अवस्था जीवमें अन्तर्व्याप्य होने से जीव अपनी अवस्था का ही कर्ता भोक्ता है ।

दृष्टि—1—उपाधिसापेक्ष अषुद्धद्रव्यार्थिकनय (24) । 2—उपाध्यभावापेक्ष 'जुद्धद्रव्यार्थिकनय (24अ) । 3—कारककारकिभेदक सद्भूतव्यवहारनय (73), कारक कारकिभेदक अषुद्ध सद्भूतव्यवहारनय (73अ) ।

पुद्गलकर्मविपाकसंभवासंभवनिमित्तयोरपि पुद्गलकर्मजीवयोर्व्याप्यव्यापकभावाभावात्कर्तृ कर्म-त्वासिद्धौ जीव एक स्वयमंतर्व्यापको भूत्वादिमध्यांतेषु ससंसारनिः संसारावस्थे व्याप्य ससंसारं निःसंसारं वात्मानं कुर्वन्नात्मानमेकमेव कुर्वन् प्रतिभातु मा पुनरन्यत् । तथायमेव च भाव्य-

भावकभावाभावात् परभावस्य परेणानुभवितुमषक्यत्वात्संसंसारं निःसंसारं वात्मानमनुभवन्ना-
त्मानमेकमेवानुभवन् प्रतिभातु मा पुनरन्यत् ।।83 ।।

आत्मन्, आत्मन् । **मूलधातु**—निस्—चि चये, अत सातत्यगतौ, डुकृञ् करणे, विद चेतनाख्याननिवासेषु
चुरादि । **पदविवरण**—निष्चयनयस्य—षष्ठी एक० । एवं—अव्यय । आत्मा—प्रथमा एकवचन ।
आत्मानं—द्वितीया एक० । एव—अव्यय । हि—अव्यय । करोति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० ।
वेदयते—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । पुनः—अव्यय । तं—द्वितीया एक० । च—अव्यय । एव—अव्यय ।
जानीहि—आज्ञार्थ लोट् मध्यम पुरुष एक० । आत्मा—प्रथमा एक० । तु—अव्यय । आत्मानं—द्वितीया
एकवचन ।।83 ।।

प्रयोग—विकारों को नैमित्तिक जानकर उनसे उपेक्षा करके अपनी 'जुद्ध परिणतिके
अर्थ सहजषुद्ध स्वभावमें दृष्टि रखना चाहिये ।।83 ।।

अब व्यवहार को दिखलाते हैं:—[**तु व्यवहारस्य**] परंतु व्यवहारनयके दर्शनमें
[**आत्मा**] आत्मा [**नैकविधं**] अनेक प्रकारके [**पुद्गलकर्म**] पुद्गल कर्म को [**करोति**] करता है
[**पुनः**] और फिर [**तदेव**] उस ही [**अनेकविधं**] अनेक प्रकार के [**पुद्गलकर्म**] पुद्गलकर्म को
[**वेदयते**] भोगता है ।

तात्पर्य—निमित्तनैमित्तिकभाव होने के कारण आत्मा व्यवहारनयसे पुद्गलकर्मको
करता है व पुद्गलकर्मको भोगता है ।

टीकार्थ—जैसे अन्तर्व्याप्यव्यापकभावसे मिट्टी घड़े को करती है तथा भाव्यभावकभाव
से मिट्टी घड़े को भोगती है तो भी बाह्य व्याप्यव्यापकभावसे कलष होने के अनुकूल
व्यापारको अपने हस्तादिक से करने वाला तथा कलषमें भरे जलके उपयोगसे हुए
तृप्तिभावको भाव्यभावक भावसे अनुभव करने वाला कुम्हार इस कलष को बनाता तथा
भोगता है, ऐसा लोकोंका अनादिसे प्रसिद्ध व्यवहार रहा है । उसी प्रकार अन्तर्व्याप्यापकभावसे
पुद्गलद्रव्य पौद्गलिक कर्मको करता है और भाव्यभावक भावसे पुद्गल द्रव्य ही उस
कर्मको अनुभवता (भोगता) है तो भी बाह्य व्याप्यव्यापकभावसे अज्ञानसे पुद्गल कर्मके होनेके
अनुकूल अपने रागादि परिणाम को करता हुआ और पुद्गलकर्म के उदय होनेसे उत्पन्न
विषयों की समीपता में होने वाली अपनी सुखदुःखरूप परिणतिको भाव्यभावकभावसे अनुभव
करने वाला जीव पुद्गलकर्मको करता है और भोगता है । ऐसा अज्ञानी लोकों का
अनादिसंसार से व्यवहार प्रसिद्ध है ।

भावार्थ—परमार्थ से पुद्गलकर्मको पुद्गलद्रव्य ही करता है और पुद्गलकर्मके होनेके
अनुकूल अपने रागादिपरिणामों को जीव करता है, उसके इस निमित्तनैमित्तिकभावको
देखकर अज्ञानी जीवको यह भ्रम हो जाता है कि जीव ही पुद्गल कर्मको करता है । सो
यह अनादि अज्ञानसे प्रसिद्ध व्यवहार है । और जब तक जीव व पुद्गलका भेदज्ञान नहीं है,
तब तक जीवको जीव व पुद्गलकी प्रवृत्ति एक सरीखी दीखती है, श्रीगुरु महाराज दोनों में
भेदज्ञान कराके परमार्थ जीवका स्वरूप दिखलाकर अज्ञानीके प्रतिभासको व्यवहार कहते हैं ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि निष्चयनयके सिद्धान्तमें आत्मा
अपने आत्माको ही करता है व अपने आत्माको ही भोगता है । इस कथन पर यह जिज्ञासा
हुई कि तब फिर व्यवहारनयके सिद्धान्तमें आत्मा किसको करता है व किसको भोगता है?
इसके समाधान में यह गाथा आई है ।

तथ्यप्रकाश—1—अन्तर्व्याप्यव्यापकभावसे पुद्गलकर्म उसी पुद्गलकार्माणद्रव्यके द्वारा
किये जाते हैं । 2—अन्तर्भाव्यभावकभावसे पुद्गलकर्मविपाक उसी पुद्गल कार्माणद्रव्य के द्वारा
अनुभूयमान होता है । 3—बहिरव्याप्यव्यापकभावसे पुद्गलकर्मसंभवानुकूल जीव परिणाम होने से
अथ व्यवहारं दर्शयति—

व्यवहारस्स दु आदा पुग्गलकम्मं करेदि णेयविहं ।
 ते चेव पुणो वेयइ पुग्गलकम्मं अणेयविहं ।।84 ।।
 व्यवहार के मतों में, कर्ता यह जीव विविध कर्मों का ।
 भोक्ता भी नानाविध, उन ही पौद्गलिक कर्मों का ।।84 ।।

व्यवहारस्य त्वात्मा पुद्गलकर्म करोति नैकविधुं । तच्चैव पुनर्वेदयते पुद्गलकर्मानेकविधुं ।।84 ।।

यथांतर्व्याप्यव्यापकभावेन मृत्तिकया कलषे क्रियमाणे भाव्यभावकभावेन मृत्तिकयैवानु-
 भूयमाने च बहिर्याप्यव्यापकभावेन कलषसंभवानुकूलं व्यापारं कुर्वाणः कलषकृततोयोपयोगजां
 तृप्तिं भाव्यभावकभावेनानुभवंश्च कुलालः कलषं करोत्यनुभवति चेति लोकानामनादिरुढोस्ति
 तावद्व्यवहारः तथांतर्व्याप्यव्यापकभावेन पुद्गलद्रव्येण कर्मणि क्रियमाणे भाव्यभावकभावेन
 पुद्गलद्रव्येणैवानुभूयमाने च बहिर्याप्यव्यापकभावेनाज्ञानात्पुद्गलकर्मसंभवानुकूलं परिणामं
 कुर्वाणः पुद्गलकर्मविपाकसंपादितविषयसन्निधिप्रधावितां सुखदुःखपरिणतिं भाव्यभावकभावेनानु-
 भवंश्च जीवः पुद्गलकर्म करोत्यनुभवति चेत्यज्ञानिनामासंसारप्रसिद्धोस्ति तावद्व्यवहारः ।।84 ।।

नामसंज्ञ—व्यवहार, दु, अत्त, पुग्गलकम्म, णेयविह, त, च, सव, पुणो, पुग्गलकम्म, अणेयविह ।
धातुसंज्ञ— कर करणे, वेद वेदने । **प्रातिपदिक**—व्यवहार, तु, आत्मन्, पुद्गलकर्मन्, न, एकविध, तत्,
 च, एव, पुनः पुद्गलकर्मन्, अनेकविध । **मूलधातु**—वि—अव ह्रञ् हरणे भ्वादि, विद चेतनाख्यानिवासेषु
 चुरादि, विध विधाने तुदादि । **पदविवरण**—व्यवहारस्य—षष्ठी एक० । तु—अव्यय । आत्मा—प्रथमा एक०
 कर्ता । करोति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । अनेकविधं—द्वितीया एकवचन कर्मविषेण ।
 पुद्गलकर्म—द्वितीया एक० कर्म । तत्—द्वितीया एक० । च—अव्यय । एवं—अव्यय । वेदयते—वर्तमान लट् अन्य
 पुरुष एक० । पुद्गलकर्म— द्वि० एक० । अनेकविधं—द्वितीया एकवचन कर्मविषेण ।।84 ।।

अज्ञानी जीव में पुद्गलकर्म करने का आरोप होता है । 4—बहिर्भाव्यभावकभावसे
 पुद्गलकर्मविपाकनिमित्तक सुखदुःखपरिणामका अनुभव होनेसे अज्ञानी जीव में पुद्गलकर्मके
 भोगने का आरोप होता है ।

सिद्धान्त—(1) पुद्गलकर्मास्रव के निमित्तभूत जीवपरिणाममें (जीवमें)
 पुद्गलकर्मकर्तृत्वका आरोप होता है । (2) पुद्गलकर्मविपाकनिमित्तज सुख—दुःख परिणति को
 अनुभवने वाले जीवमें पुद्गलकर्मभोक्तृत्वका आरोप होता है ।

दृष्टि—1—परकर्तृत्व असद्भूतव्यवहार (129) । 2—परभोक्तृत्व असद्भूतव्यवहार
 (129अ) ।

प्रयोग—जीव पुद्गलकर्मको करता है, भोगता है, इस कथन में निमित्त बताने का
 प्रयोजनमात्र जानकर निमित्तनैमित्तिक भावसे उपेक्षा कर अपने आत्मस्वरूपमें उपयुक्त होने
 का पौरुष करना ।।84 ।।

अब इस उक्त व्यवहार को दूषित करते हैं:—[यदि] यदि [आत्मा] आत्मा [इदं] इस
 [पुद्गलकर्म] पुद्गलकर्मको [करोति] करे [च] और [तत् एव] उसी को [वेदयते] भोगे तो
 [सः] वह [द्विक्रियाव्यतिरिक्तः] आत्मा दो क्रियासे अभिन्न [प्रसजति] प्रसक्त होता है सो यह
 [जिनावमतं] जिनदेवका अवमत है याने जिनमत से अलग है ।

तात्पर्य—आत्मा अपने परिणामको तो करता भोगता है ही, अब यदि यह मान लिया
 जाय कि आत्मा पुद्गलकर्म को भी करता है व पुद्गलकर्मको भी भोगता है तो यह जिनमत
 नहीं किन्तु पूर्ण मिथ्या है ।

टीकार्थ—निष्चयतः यही सारी ही क्रिया परिणामस्वरूप होने के कारण परिणामसे
 कुछ भिन्न वस्तु नहीं है और परिणाम भी परिणाम तथा परिणामी द्रव्य दोनों की
 अभिन्नवस्तुता होनेसे परिणामी से पृथक् नहीं है । इस प्रकार क्रिया और क्रियावान् की
 अभिन्नता है । ऐसी वस्तु की मर्यादा होने पर जैसे जीव व्याप्य व्यापकभाव से अपने परिणाम
 अथैनं दूशयति—

जदि पुग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयति आदा ।
 दो किरियावदिरित्तो पसज्जए सो जिणावमदं ।।85।।
 यदि आत्मा करता है, अरु भोगता पौद्गलिक कर्मो को ।
 तो दोनों हि क्रियाओं—से तन्मयता प्रसक्त हुई ।।85।।

यदि पुद्गलकर्मदं करोति तच्चैव वेदयते आत्मा । द्विक्रियाऽऽव्यतिरिक्तः प्रसजति स जिनावमतं ।।85।।

इह खलु क्रिया हि तावदखिलापि परिणामलक्षणतया न नाम परिणामतोस्ति भिन्ना, परिणामोपि परिणामपरिणामिनोरभिन्नवस्तुत्वात्परिणामिनो न भिन्नस्ततो या काचन क्रिया किल सकलापि सा क्रियावतो न भिन्नेति क्रियाकर्त्रोरव्यतिरिक्ततायां वस्तुस्थित्या प्रतपत्यां यथा व्याप्यव्यापकभावेन स्वपरिणामं करोति, भाव्यभावकभावेन तमेवानुभवति च जीवस्तथा व्याप्यव्यापकभावेन पुद्गलकर्मापि यदि कुर्यात् भाव्यभावकभावेन तदेवानुभवेच्च ततो यं स्व-परसमवेतक्रियाद्वयाव्यतिरिक्ततायां प्रसजत्यां स्वपरयोः परस्परविभागप्रत्यस्तमनादनेकात्मकमेक-मात्मानमनुभवन्मिथ्यादृष्टितया सर्वज्ञावमतः स्यात् ।।85।।

नामसंज्ञ—जदि, पुग्गलकम्म, इम, त, च, एव, अत्त, दोकिरियावदिरित्त, त, जिणावमद । **धातुसंज्ञ**—कुव्व करणे, वेद वेदने, प-सज्ज समवाये । **प्रातिपदिक**—यदि, पुद्गलकर्मन्, इदम्, तत्, च, एव, आत्मन्, द्विक्रियाऽऽव्यतिरिक्त, तत्, जिनावमत । **मूलधातु**—विद चेतनाख्याननिवासेषु चुरादि, रिचिर् विरेचने रुधादि, रिच वियोजनसम्पर्चनयोः, प्र-षच समवाये । **पदविवरण**—यदि-अव्यय । पुद्गलकर्म-द्वितीया एकवचन । इदम्-द्वितीया एक० । करोति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । तत्-द्वितीया एक० । च-अव्यय । एक-अव्यय । वेदयते-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । आत्मा-प्रथमा एक० कर्ता द्विक्रियाऽऽव्यतिरिक्तः-प्रथमा एक० । प्रसजति-वर्तमान लट् अन्य पु० एक० । सः-प्रथमा एक० । जिनावमतं-प्रथमा एकवचन ।।85।।

को करता है और भाव्यभावकभावसे उसी अपने परिणामको अनुभवता है, भोगता है, उसी तरह व्याप्यव्यापक भावसे पुद्गलकर्मको भी करे तथा भाव्यभावकभावसे पुद्गलकर्मका ही अनुभवकरे, भोगे तो अपनी और परकी मिली दो क्रियाओं का अभेद सिद्ध हुआ। ऐसा होने पर अपने और परके भेदका अभाव हुआ। इस प्रकार अनेकद्रव्यस्वरूप एक आत्मा को अनुभवने वाला जीव मिथ्यादृष्टि होता है। परन्तु ऐसा वस्तुस्वरूप जिनदेवने नहीं कहा है, इसलिये जिनदेवके मत के बाहर है। **भावार्थ**—जो पुरुष एक द्रव्यको दो द्रव्यों की क्रियाओं का कर्ता मानता है, यह मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि दो द्रव्यों की क्रिया एक द्रव्यसे मानना यह जिनदेव का मत नहीं है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया गया था कि जीव पुद्गलकर्मको करता है व भोगता है यह व्यवहारनयका मत है। अब उस व्यवहारको दूषण देने के लिये यह गाथा आई है।

तथ्यप्रकाश—(1) परिणति क्रिया पर्याय से भिन्न नहीं है। (2) पर्याय पर्यायवान् (द्रव्य) से भिन्न नहीं है। (3) क्रिया क्रियावान (द्रव्य) से भिन्न नहीं है। (4) जीव अपनी ही क्रिया कर सकता है। (5) यदि जीव अपने को भी करे, भोगे तथा पुद्गलकर्मको भी करे, भोगे तो यह जीव है या कर्म है यह विभाग ही न बन सकेगा और न यों कोई सत् रह सकेगा। (6) व्यवहार से जीव पुद्गलकर्मको करता, भोगता है इसका अर्थ उपादानरूपसे नहीं है, किन्तु इससे मात्र निमित्तनैमित्तिक भाव ही समझकर वस्तुतः जीवको अकर्ता निरखना।

सिद्धान्त—(1) एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की परिणति नहीं कर सकता। (2) निमित्त बताने के लिये एक द्रव्यमें दूसरे द्रव्य का कर्तृत्व आरोपित होता है।

दृष्टि—1—परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (29) । 2—परकर्तृत्व अनुपचरित असद्भूतव्यवहार (129) ।

कुतो द्विक्रियानुभावी मिथ्यादृष्टिरिति चेत्—

जह्ना दु अत्तभावं पुग्गलभावं च दोवि कुव्वंति ।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दोकिरियावादिणो हुंति ।।86।।
चूकि उक्त मतहटमें, आत्माने स्वपरभाव कर डाला ।
सो दोकिरियावादी, मिथ्यादृष्टी हि होते वे ।।86।।

यस्मात्त्वात्मभावं पुद्गलभावं च द्वावपि कुर्वति । तेन तु मिथ्यादृष्टयो द्विक्रियावादिनो भवन्ति ।।86।।

यतः किलात्मपरिणामं पुद्गलपरिणामं च कुर्वतमात्मानं मन्यन्ते द्विक्रियावादिनस्ततस्ते मिथ्यादृष्टय एवेति सिद्धांतः । मा चैकद्रव्येण द्रव्यद्वयपरिणामः क्रियमाणः प्रतिभातु । यथा किल कुलालः कलषसंभवानुकूलमात्मव्यापारपरिणाममात्मनोऽव्यतिरिक्तमात्मनोऽव्यतिरिक्तया परिण-
तिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभाति न पुनः कलषकरणाहंकारनिर्भरापि स्वव्यापा-
रानुरूपं मृत्तिकायाः कलषपरिणामं मृत्तिकायाः अव्यतिरिक्तं मृत्तिकायाः अव्यतिरिक्तया परिण-
तिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभाति । तथात्मापि पुद्गलकर्मपरिणामानुकूलमज्ञा-
नादात्मपरिणाममात्मनोऽव्यतिरिक्तमात्मनोऽव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः
प्रतिभातु मा पुनः पुद्गलपरिणामकरणाहंकारनिर्भरोपि स्वपरिणामानुरूपं पुद्गलस्य परिणामं

नामसंज्ञ—ज, दु, अत्तभाव पुग्गलभाव, च, दु, वि, त, दु, मिच्छादिट्ठी, दोकिरियावादिण् ।
धातुसंज्ञ—कुव्व करणे, हो सत्तायां । **प्रातिपदिक**—यत्, तु, आत्मभाव, पुद्गलभाव, च, द्वि, अपि, तत्, तु, मिथ्यादृष्टि, द्विक्रियावादिन् । **मूलधातु**—डुकृञ् करणे, वद व्यक्तायां वाचि भ्वादि, वद संदेशवचने चुरादि, दृषिर् प्रेक्षणे, भू सत्तायां । **पदविवरण**—यस्मात्—हेत्वर्थे पंचमी एकवचन । तु—अव्यय । आत्मभावं—द्वितीया एक० ।

प्रयोग—पुद्गलकर्मके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे निराला अपना अन्तस्तत्त्व निरखकर इस निज में ही ज्ञानवृत्ति बनाये रहने का पौरुष करना ।।85।।

यहाँ प्रश्न उठता है कि दो क्रियाओं का अनुभव करने वाला पुरुष मिथ्यादृष्टि कैसे हो सकता है? उसका समाधान करते हैं—[यस्मात् तु] जिस कारण [आत्मभावं] आत्मा के भावको [च] और [पुद्गलभावं] पुद्गलके भावको [द्वौ अपि] दोनों ही को आत्मा [कुर्वन्ति] करते हैं ऐसा कहते हैं [तेन तु] इसी कारण [द्विक्रियावादिनः] दो क्रियाओं को एकके ही कहने वाले [मिथ्यादृष्टयः] मिथ्यादृष्टि ही [भवन्ति] हैं ।

टीकार्थ—चूकि द्विक्रियावादी आत्मा और पुद्गल दोनों के परिणामों का कर्ता आत्मा को मानते हैं, इस कारण वे मिथ्यादृष्टि ही हैं, ऐसा सिद्धान्त है । सो एक द्रव्यके द्वारा दोनों द्रव्यों का परिणामन किया जा रहा है, ऐसा मुझे प्रतिभासित मत होवे । जैसे कुम्हार के घड़े के होनेके अनुकूल अपना व्यापाररूप हस्तादिक क्रिया तथा इच्छारूप परिणाम अपनेसे अभिन्न तथा अपनेसे अभिन्नपरिणतिमात्रक्रियासे किये हुए को करता हुआ प्रतिभासित होता है और घट बनाने के अहंकार से सहित होने पर भी स्वव्यापार के अनुकूल मिट्टी से अभेदरूप तथा मिट्टी से अभिन्न मृत्तिकापरिणतिमात्र क्रिया द्वारा किये हुए मिट्टी के घटपरिणामको करता हुआ नहीं मालूम होता । उसी प्रकार आत्मा भी अज्ञानसे पुद्गलकर्मके अनुकूल अपने से अभिन्न, अपनेसे अभिन्न अपनी परिणतिमात्र क्रियासे किये हुए आत्मपरिणामको करता हुआ प्रतिभासित होवे, परन्तु पुद्गलपरिणामके करने के अहंकार से युक्त होने पर भी स्वपरिणामके अनुकूल, पुद्गलसे अभिन्न तथा पुद्गलसे अभिन्न पुद्गलकी परिणतिमात्र क्रियासे किये हुए पुद्गल के परिणामको करता हुआ आत्मा मत प्रतिभासो ।

भावार्थ—आत्मा अपने ही परिणामको करता हुआ प्रतिभासित होवे, पुद्गलके परिणामको करता हुआ प्रतिभासित नहीं होवे । आत्मा और पुद्गल इन दोनों की क्रियायें एक आत्मा की ही मानने वाला मिथ्यादृष्टि है । यदि जड़ और चेतन की एक क्रिया हो जाय, तो सर्वद्रव्य पलटने से सबका लोप हो जायगा, यह बड़ा भारी दोष है ।

पुद्गलादव्यतिरिक्तं पुद्गलादव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभातु । यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म । या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥51॥ एकः परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य । एकस्य परिणतिः स्यादनेकमप्येकमेव यतः ॥52॥ नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत । उभयोर्न परिणतिः स्याद्यदनेकमनेकमेव सदा ॥53॥ नैकस्य किं कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य । नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेकं यतो न स्यात् ॥54॥ आसंसारत एव धावति परं कुर्वेहमित्युच्चकैः, दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहंकाररूपं तमः । तद्भूतार्थपरिग्रहेण विलयं

पुद्गलभाव-द्वितीया एक० । च-अव्यय । द्वौ-द्वितीया द्विवचन । अपि-अव्यय । कुर्वन्ति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन क्रिया । तेन-हेत्वर्थे तृतीया एक० । तु-अव्यय । मिथ्यादृष्टयः-प्रथमा बहु० । द्विक्रियावादिनः-

अब इसी अर्थ समर्थन का कलषरूप काव्य कहते हैं—**यः परिणमति** इत्यादि । **अर्थ**—जो परिणमन करता है, वह कर्ता है और उसका परिणाम कर्म है तथा परिणति क्रिया है । ये तीनों ही वस्तुत्व से भिन्न नहीं हैं । **भावार्थ**—द्रव्यदृष्टिसे परिणाम और परिणामी में अभेद है तथा पर्यायदृष्टिसे भेद है । वहाँ भेददृष्टिसे तो कर्ता कर्म और क्रिया ये तीन कहे गये हैं और अभेददृष्टिसे वास्तवमें यह कहा गया है कि कर्ता, कर्म और क्रिया—ये तीनों ही एक द्रव्य की अवस्थायें हैं, वे प्रदेशभेदरूप भिन्न वस्तु नहीं हैं ।

और भी कहते हैं—**एकः** इत्यादि । **अर्थ**—वस्तु अकेली ही सदा परिणमन करती है, एकके ही परिणाम होते हैं अर्थात् एक अवस्था से अन्य अवस्था होती है । तथा एककी ही परिणति (क्रिया) होती है । यों वस्तु अनेकरूप हुई तो भी वह एक ही वस्तु है, भेद नहीं है । **भावार्थ**—एक वस्तुकी अनेक पर्याय होती हैं, उनको परिणाम भी कहते हैं, अवस्था भी कहते हैं । वे संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजनादिकसे भिन्न-भिन्न प्रतिभास रूप हैं, तो भी एक वस्तु ही हैं, भिन्न नहीं हैं, ऐसा भेदाभेदस्वरूप ही वस्तुका स्वभाव है ।

फिर कहते हैं—**नोभौ** इत्यादि । **अर्थ**—दो द्रव्य एक होकर परिणमन नहीं करते और दो द्रव्य का एक परिणाम भी नहीं होता तथा दो द्रव्य की एक परिणति (क्रिया) भी नहीं होती । क्योंकि जो अनेक द्रव्य हैं, वे अनेक ही हैं, एक नहीं होते । **भावार्थ**—दो वस्तुयें सर्वथा भिन्न ही हैं, प्रदेशभेदरूप ही हैं, दोनों एकरूप होकर नहीं परिणमन करतीं, एक परिणामको भी नहीं उपजातीं और एक क्रिया भी उनकी नहीं होती, ऐसा नियम है । यदि दो द्रव्य एकरूप होकर परिणमन करें तो सब द्रव्यों का लोप हो जायगा ।

अब इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं—**नैकस्य** इत्यादि । **अर्थ**—एक द्रव्य के दो कर्ता नहीं होते, एक द्रव्य के दो कर्म नहीं होते और एक द्रव्यकी दो क्रियायें भी नहीं होतीं, क्योंकि एक द्रव्य अनेक द्रव्यरूप नहीं होता । **भावार्थ**—प्रत्येक द्रव्य अकेला ही अपने आपमें अपनी परिणति करता है ।

अब अज्ञानविलय व बन्धविलय की भावना करते हैं—**आसंसारत** इत्यादि । **अर्थ**—इस जगत में मोही अज्ञानी जीवों का यह “मैं परद्रव्यको करता हूँ” ऐसा परद्रव्य के कर्तृत्वका अहंकार रूप अत्यन्त दुर्निवार अज्ञानांधकार अनादि संससार से लेकर चला आया है । यदि परमार्थ अभेद नयके ग्रहणसे वह एक वार भी नष्ट हो जाय तो ज्ञानघन आत्मा को फिर कैसे बंध हो सकता है? **भावार्थ**—अज्ञान तो अनादि का ही है, परन्तु परमार्थनयके ग्रहण से यदि दर्षनमोह का नाश कर एक बार यथार्थ ज्ञान होकर क्षायिकसम्यक्त्व उत्पन्न हो जाय तो फिर मिथ्यात्व नहीं आ सकता तब उस मिथ्यात्व का बंध भी नहीं हो सकता और मिथ्यात्व गये बाद संसार-बंधन कैसे रह सकता है? उसका तो मोक्ष ही होगा ।

और भी कहते हैं—**आत्म** इत्यादि । **अर्थ**—आत्मा तो अपने भावों को ही करता है और परद्रव्य परके भावों को करता है । क्योंकि अपने भाव तो अपने ही हैं तथा परभाव

यद्येकवारं ब्रजेत्, तत्किं ज्ञानघनस्य बंधनमहो भूयो भवेदात्मनः।।55।। आत्मभावान्करोत्यात्मा परभावान्सदा परः। आत्मैव ह्यात्मनो भावाः परस्य पर एव ते।।56।। ।।86।।

प्रथमा बहु०। भवन्ति-वर्तमान लट् अन्य पु० बहुवचन।।86।।

परके ही हैं। **भावार्थ**—आत्मा परमें कर्तृत्व नहीं, फिर भी परमें कर्तृत्व माने तो वह अज्ञान है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया गया था कि एक द्रव्य को दो क्रियाओं का अनुभव करना बताना मिथ्यात्व है। अब उसी सम्बन्धमें पूछा गया कि दो क्रियाओं का अनुभव करने वाला बताना मिथ्यादृष्टि क्यों है? इसका समाधान इस गाथा में दिया गया है।

तथ्यप्रकाश—(1) कोई द्रव्य अपना भी परिणमन करे व दूसरे का भी परिणमन करे ऐसी मान्यता मिथ्यात्व है, क्योंकि ऐसा कभी भी होता नहीं। (2) जो पदार्थ परिणमता है वह कर्ता है। (3) जो परिणमन होता है वह कर्म है। (4) परिणति ही क्रिया है। (5) कर्ता, कर्म व क्रिया—ये तीनों ही वस्तुपने से भिन्न नहीं हैं। (6) एक परिणमन दो द्रव्यों का नहीं होता। (7) एक द्रव्य दो का परिणमन नहीं करता। (8) जिनको स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावमय अंतःस्वरूपकी श्रद्धा है उनके परकर्तृत्व का अहंकार नहीं रहता। (9) जिनके अहंकार नहीं हैं, उनके संसार बंधन नहीं है।

सिद्धान्त—(1) प्रत्येक द्रव्य अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे ही है। (2) प्रत्येक द्रव्य का कर्तृकर्मत्व स्वयं अपने अपने में ही है।

दृष्टि—1—स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (27)। 2—कारककारकिभेदक सदभूतव्यवहार (73), कारककारकिभेदक अषुद्ध सदभूतव्यवहार (73अ)।

प्रयोग—न तो परमें कुछ किया जा सकता है और न परके द्वारा मुझमें कुछ किया जा सकता है, ऐसे अत्यन्त भिन्न समस्त परद्रव्यों से लगाव मूलतः नष्ट करके अपनेमें ही मात्र ज्ञानवृत्तिसे वर्तते रहने का पौरुष करना।।86।।

ंकाः—परद्रव्य का कर्तृकर्मत्व मानने वाला मिथ्यादृष्टि है यह कहा है। वहाँ यह ज्ञातव्य है कि मिथ्यात्वादिभाव किसके कहें? यदि जीव के परिणाम कहे जायें तो पहले रागादि भावों को पुद्गलके परिणाम कहा था, उस कथनसे यहाँ विरोध आता है। यदि पुद्गलके परिणाम कहे जायें तो जीवका कुछ प्रयोजन नहीं, फिर उसका फल जीव क्यों पावे? अब इस जिज्ञासा का समाधान करते हैं—[पुनः] और [मिथ्यात्वं] जो मिथ्यात्व कहा गया था वह [द्विविधं] दो प्रकार का है [जीवं अजीवं] एक जीव मिथ्यात्व, एक अजीव मिथ्यात्व [तथैव] और उसी प्रकार [अज्ञानं] अज्ञान [अविरतिः] अविरति [योगः] योग [मोहः] मोह और [क्रोधाद्याः] क्रोधादि कषाय [इमे भावाः] ये सभी भाव जीव अजीव के भेद से दो-दो प्रकार के हैं।

तात्पर्य—कर्म प्रकृतियों के मिथ्यात्व आदि नाम हैं और उन-उन प्रकृतियों के उदयके जो जीव में प्रतिफलित विकार हैं उनके भी ये ही नाम हैं, अतः मिथ्यात्व आदि दो-दो प्रकार के हो गये।

टीका—मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादिक जो भाव हैं वे प्रत्येक पृथक्-पृथक् मयूर और दर्पण की भाँति जीव अजीव के द्वारा हुवाये गये हैं, इसलिये जीव भी हैं और अजीव भी हैं। जैसे मयूर के नीले, काले, हरे, पीले आदि वर्ण रूप भाव मयूरके निज स्वभावसे भाये हुए मयूर ही हैं। और, जैसे दर्पण में उन वर्णों के प्रतिबिम्ब दिखते हैं, वे दर्पण की स्वच्छता (निर्मलता) के विकार मात्रसे भाये हुए दर्पण ही है। उसी प्रकार मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादिक भाव अपने अजीव के द्रव्यस्वभाव से (अजीवरूप से)

**मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं ।
अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा ।।87 ।।
मिथ्यात्व दो तरहका, जीव अरु अजीवरूप होता है ।
अज्ञान मोह अविरति, क्रोधादि योग भी दो दो ।।87 ।।**

मिथ्यात्वं पुनर्द्विविधं जीवोऽजीवस्तथैवाज्ञानं । अविरति योगो मोहः क्रोधाद्या इमे भावाः ।।87 ।।
मिथ्यादर्शनज्ञानमविरतिरित्यादयो हि भावाः ते तु प्रत्येकं मयूरमुकुरंदवज्जीवाजीवाभ्यां
भाव्यमानत्वाज्जीवाजीवौ । तथाहि—यथा नीलकृष्णहरितपीतादयो भावाः स्वद्रव्यस्वभावत्वेन
मयूरेण भाव्यमानाः मयूर एव । यथा च नीलकृष्णहरितपीतादयो भावाः स्वच्छताविकारमात्रेण
मुकुरंकेन भाव्यमाना मुकुरंद एव । तथा मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादयो भावाः
स्वद्रव्यस्वभावत्वेनाजीवेन भाव्यमाना अजीव एव । तथैव च मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादयो
भावाश्चैतन्यविकारमात्रेण जीवेन भाव्यमाना जीव एक ।।87 ।।

नामसंज्ञ—मिच्छत्त, पुण, दुविह, जीव, अजीव, तह, एव, अण्णाण, अविरदि, जोग, मोह, कोहादीअ, इम, भाव । **धातुसंज्ञ**—भव सत्तायां । **प्रकृतिशब्द**—मिथ्यात्व, पुनर्, द्विविध, जीव, अजीव, तथा, एव, अज्ञान, अविरति, योग, मोह, इदम्, भाव । **मूलधातु**—विध विधाने, युजिर् योगे रुधादि, मुह वैचित्ये, क्रुध क्रोधे दिवादि । **पदविवरण**—मिथ्यात्वं—प्रथमा एक० । पुनः—अव्यय । द्विविधं—प्रथमा एक० । जीवः—प्रथमा एक० । अजीवः—प्रथमा एक० । तथा—अव्यय । एव—अव्यय । अज्ञानं—प्रथमा एक० । अविरतिः—प्रथमा एक० । योगः—प्रथमा एक० । मोहः—प्रथमा एक० । क्रोधाद्याः—प्रथमा बहुवचन । इमे—प्रथमा बहु० । भावाः—प्रथमा बहुवचन ।।87 ।।

भाये हुए अजीव ही हैं तथा वे मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति आदि भाव चैतन्यके विकारमात्रसे (जीवसे) भाये हुए जीव ही हैं। **भावार्थ**—पुद्गलकर्मके विपाक के निमित्त से जीव विभावरूप परिणमन करते हैं सो वहाँ वे जो चेतन के विकार हैं, वे जीव ही हैं और जो पुद्गल मिथ्यात्वादिक कर्मरूप परिणमन करते हैं, वे पुद्गल के परमाणु हैं तथा उनका विपाक उदयरूप होकर वे स्वादरूप होते हैं, वे मिथ्यात्वादि अजीव हैं। ऐसे मिथ्यात्वादि भाव जीव अजीव के भेदसे दो प्रकार के हैं—(1) जीव मिथ्यात्वादि, (2) अजीव मिथ्यात्वादि। जो मिथ्यात्वादि कर्मकी प्रकृतियाँ हैं, वे पुद्गलद्रव्यके परमाणु हैं, अजीवमिथ्यात्व है उनका उदय हो तब उपयोगस्वरूप जीवके उपयोगकी स्वच्छता के कारण जिसके उदय का स्वाद आये, तब उसी के आकार उपयोग हो जाता है। और तब अज्ञानी जीवको उसका भेदज्ञान नहीं होता, सो वह उस स्वादको ही अपना भाव जानता है। जब इसका भेदज्ञान ऐसा हो जाय कि जीवभावको जीव जानें और अजीवभावको अजीव जानें, तभी मिथ्यात्वका अभाव होकर सम्यग्ज्ञान होता है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया गया था कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कभी कर्ता हो ही नहीं सकता। इससे अनन्तरपूर्व स्थल में कहा गया था कि पुद्गलकर्मका व जीवपरिणामका परस्पर निमित्तनैमित्तिक भावमात्र है। इन तथ्यों को स्पष्ट करने के लिये दोनों द्रव्यों का स्वतंत्र—स्वतंत्र अनुरूप परिणाम बताने वाली यह गाथा आई है।

तथ्यप्रकाश—(1) पौद्गलिकमिथ्यात्व आदि प्रकृति उदय का निमित्तमात्र पाकर जीव में जो मिथ्यात्व भाव आदि होता है वह जीवमिथ्यात्व आदि है तो कि पौद्गलिक मिथ्यात्वादिसे भिन्न है। (2) जीवके मिथ्यात्वभाव आदिका निमित्तमात्र पाकर पौद्गलिक कार्माणवर्गणावों में जो मिथ्यात्वप्रकृतिरूप आदि कर्मत्व होता है वह पौद्गलिक मिथ्यात्व आदि है जो कि जीव मिथ्यात्व आदि से भिन्न है जैसे कि मनुष्यमुख का सामना पाकर दर्पणमें जो मुखाकार स्वच्छताविकार है वह फोटो दर्पणमुख है जो कि मनुष्यमुख से भिन्न है। (3) पुद्गलकर्ममें जो प्रकृति स्थिति प्रदेश अनुभाग है उसका कर्ता व उपादान स्वामी

काविह जीवाजीवाविति चेत्—

पुग्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अण्णाणमज्जीवं ।

उवओगो अण्णाणं अविरअ मिच्छं च जीवोदु ।।88।।

पौद्गलिक कर्म मिथ्या, अविरति अज्ञान योग निश्चेतन ।

मिथ्या अविरति अज्ञान न योग उपयोगमय चेतन ।।88।।

पुद्गलकर्म मिथ्यात्वं योगोऽविरतिरज्ञानमजीवः । उपयोगोऽज्ञानमविरतिर्मिथ्यात्वं च जीवस्तु ।।88।।

यः खलु मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादिरजीवस्तदमूर्ताच्चैतन्यपरिणामादन्यत् मूर्त्तं

नामसंज्ञ—पुग्गलकम्म, मिच्छ, जोग, अविरदि, अण्णाण, अज्जीव, उवओग, अण्णाण, अविरदि, मिच्छ, च, जीव, दु। **धातुसंज्ञ**—जीव प्राणधारणे। **प्रातिपदिक**—पुद्गलकर्मन् मिथ्यात्व, योग, अविरति, अज्ञान, अजीव, उपयोग, अज्ञान, अविरति, मिथ्यात्व, च, जीव, तु। **मूलधातु**—पूरी आप्यायने, गल अदने, डुकृञ् करणे, युजिर् योगे, अ-ज्ञा अवबोधने। **पदविवरण**—पुद्गलकर्म—प्रथमा एक०। मिथ्यात्वं—प्रथमा एक०। योगः—प्रथमा एक०। अविरतिः—प्रथमा एक०। अज्ञानं—प्रथमा एक०। अजीवः—प्रथमा एक०।

पुद्गल कर्म है। (4) जीवमें जो मिथ्यात्व कषाय विकल्पभाव होता है उसका कर्ता व उपादान जीव है।

सिद्धान्त—(1) मिथ्यात्व आदि पुद्गलकर्मप्रकृतियों का कर्ता पुद्गलकार्माणस्कंध है। (2) मिथ्यात्व आदि पुद्गलकर्मप्रकृतियों की उद्भूति का निमित्त जीवपरिणाम है। (3) मिथ्यात्वादि विभावों का कर्ता संसारी जीव है। (4) मिथ्यात्वादि विभावों की उद्भूति का निमित्त मिथ्यात्वादि कर्मप्रकृतियों का विपाकोदय है।

दृष्टि—1—कारककारकिभेदक अषुद्ध सद्भूतव्यवहार (73अ)। 2—उपाधिसापेक्ष अषुद्ध द्रव्यार्थिकनय (24)। 3—कारककारकिभेदक अषुद्ध सद्भूतव्यवहार (73अ)। उपाधिसापेक्ष अषुद्ध द्रव्यार्थिकनय (24)।

प्रयोग—कर्मविकारोंको कर्ममें और जीवविकारों को जीव में निरखकर पराधीनता व कायरताका भाव हटाना चाहिये और निमित्तनैमित्तिक भाव परखकर अपने को अविकार चैतन्यस्वभावमात्र अङ्गीकार करना चाहिये ।।87।।

यहाँ पूछते हैं कि मिथ्यात्वादिक जीव अजीव कहे हैं वे कौन हैं, उसका उत्तर कहते हैं—[मिथ्यात्वं] जो मिथ्यात्व [योगः] योग [अविरतिः] अविरति [अज्ञानं] अज्ञान [अजीवं] अजीव है वह तो [पुद्गलकर्म] पुद्गलकर्म है [च] और जो [अज्ञानं] अज्ञान [अविरतिः] अविरति [मिथ्यात्वं] मिथ्यात्व [जीवः] जीव है [तु] सो [उपयोगः] उपयोग है।

तात्पर्य—मिथ्यात्वादिक कर्मप्रकृतियाँ तो अजीव हैं और उन प्रकृतियों के विपाक का सान्निध्य पाकर उपयोगमें जो उस विपाक का प्रतिफलन व विकल्प होता है वह जीव (जीवविकार) है।

टीकार्थ—जो निष्चयसे मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि अजीव हैं वे अमूर्तिक चैतन्य के परिणामसे अन्य मूर्तिक पुद्गलकर्म हैं और जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि जीव हैं वे मूर्तिक पुद्गलकर्मसे अन्य चैतन्यपरिणाम के विकार हैं।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया गया था कि मिथ्यात्व आदि जीव व अजीव दोनों रूप हैं, इसपर यह जिज्ञासा हुई कि वे जीव अजीव रूप कौन-कौन हैं? इसके समाधान में यह गाथा आई है।

तथ्यप्रकाश—(1) मिथ्यात्वप्रकृति, अनन्तानुबंधी क्रोधादि 10 चारित्रमोहनीयप्रकृतियाँ, ज्ञानावरण व 'रीर अङ्गोपाङ्गादि नामकर्म आदि ये सब अजीव द्रव्यप्रत्यय हैं। (2) मिथ्यात्वभाव, हिंसादि पापभाव, अज्ञान व भावयोग ये सब जीवरूप भावप्रत्यय हैं। (3) द्रव्यप्रत्यय जीवसे पृथक् हैं। (4) भावप्रत्यय पुद्गलकर्मसे पृथक् हैं।

पुद्गलकर्म, यस्तु मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादि जीवः स मूर्तात्पुद्गलकर्मणोऽन्यच्चैतन्य-
परिणामस्य विकारः ॥88 ॥

उपयोगः—प्रथमा एक०। अज्ञानं—प्रथमा एक०। अविरतिः—प्रथमा एक०। मिथ्यात्वं—प्रथमा एकवचन।
च—अव्यय। जीवः—प्रथमा एकवचन। तु—अव्यय ॥88 ॥

सिद्धान्त—(1) द्रव्यप्रत्यय उपादानरूप पौद्गलिक हैं। (2) भावप्रत्यय उपादानतया जीवरूप हैं।

दृष्टि—1—अषुद्धनिष्चयनय (47)। 2—अषुद्धनिष्चयनय (47)।

प्रयोग—प्रकृति से, प्रकृतिनिमित्तक प्रभावसे भिन्न पुरुषतत्त्व (आत्मतत्त्व) को आपा निरखकर इस ही अन्तस्तत्त्व में रमने का पौरुष करना ॥88 ॥

प्रश्न—जीव मिथ्यात्वादिक भाव चैतन्यपरिणाम का विकार किस कारण है?
उत्तर—[मोहयुक्तस्य] अनादि से मोहयुक्त [उपयोगस्य] उपयोगके [अनादयः] अनादिसे लेकर [त्रयः परिणामाः] तीन परिणाम हैं वे [मिथ्यात्वं] मिथ्यात्व [अज्ञानं] अज्ञान [च अविरतिभावः] और अविरतिभाव ये तीन [ज्ञातव्यः] जानना चाहिये।

टीकार्थ—निष्चयसे समस्त वस्तुओं का स्वरसपरिणमनसे स्वभावभूत स्वरूपपरिणमन में समर्थता होने पर भी उपयोग का अनादिसे ही अन्य वस्तुभूत मोहयुक्त होनेसे मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति ऐसे तीन प्रकार का परिणामविकार है। और वह स्फटिकमणि की स्वच्छता में परके डंकसे परिणामविकार हुएकी भाँति परसे भी होता हुआ देखा गया है। जैसे स्फटिककी स्वच्छता में अपना स्वरूप उज्ज्वलतारूप परिणाम की सामर्थ्य होने पर भी किसी समय काला, हरा, पीला जो तमाल, केर, सुवर्णपात्र समीपवर्ती आश्रयकी युक्ततासे नीला, हरा, पीला ऐसा तीन प्रकार परिणाम का विकार दीखता है, उसी प्रकार आत्मा के (उपयोगके) अनादि मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति स्वभावरूप अन्य वस्तुभूत मोह की युक्तता होनेसे मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति ऐसे तीन प्रकार परिणामविकार निरख लेना चाहिये।
भावार्थ—आत्मा के उपयोग में ये तीन प्रकार के परिणाम विकार अनादि कर्मके निमित्तसे हैं। कहीं ऐसा नहीं है कि पहले आत्मा 'जुद्ध ही था, अब यह नवीन ही अषुद्ध हुआ हो। ऐसा हो तो सिद्धों को भी फिरसे अषुद्ध होना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया गया था कि मिथ्यात्वादि पुद्गलकर्मरूप हैं और उपयोगरूप याने जीवरूप भी हैं। इस कथन पर यह प्रश्न हो जाता है कि चैतन्यस्वरूप जीवके ये मिथ्यात्वादि विकार कैसे हो गये? इसका उत्तर इस गाथा में है।

तथ्यप्रकाश—(1) सभी पदार्थों की भाँति उपयोग (जीव) भी स्वरूपपरिणमनमें समर्थ होनेसे परिणमता रहता है। (2) इस उपयोग (जीव) का अनादिवस्त्वन्तरभूत मोह से युक्तपना होनेसे निमित्तनैमित्तिक योगवष वस्त्वन्तरभूत विपाक के अनुरूप मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरतिरूप परिणमता रहता है।

सिद्धान्त—(1) उपयोग (जीव) स्वयं सहज चैतन्यस्वरूपमात्र है। (2) स्वयं सहज चैतन्यस्वरूपका स्वभाव स्वभावजविकासरूप परिणमते रहने का है। (3) उपाधिसम्पर्क में जीव विकाररूप परिणमता है।

दृष्टि—1—परमषुद्धनिष्चयनय (44), 'जुद्धनय (49)। 2—षुद्धनिष्चयनय (46)। 3—उपाधिसापेक्ष अषुद्ध द्रव्यार्थिकनय (53)।

प्रयोग—मोहनीयकर्मविपाकके प्रतिफलन में आत्मत्वबुद्धि होनेसे संसारसंकटों की परम्परा चलती है और ये प्रतिफलन मेरे स्वरूप नहीं, ऐसा दृढ़ निर्णय रखकर कर्मरससे हटकर अविकार सहज चैतन्यस्वरूपमें उपयुक्त होनेका पौरुष करना ॥89 ॥

मिथ्यादर्शनादिश्चैतन्यपरिणामस्य विकारः कुत इति चेत्—

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स ।

मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य णायव्वो ।।89 ।।

उपयोग मोहयुतके, अनादि से तीन परिणमन वर्ते ।

मिथ्या अज्ञान तथा, अविरति इन तीन को जानो ।।89 ।।

उपयोगस्थानादयः परिणामास्त्रयो मोहयुक्तस्य । मिथ्यात्वमज्ञानमविरतिभावश्च ज्ञातव्यः ।।89 ।।

उपयोगस्य हि स्वरसत एव समस्तवस्तुस्वभावभूतस्वरूपपरिणामसमर्थत्वे सत्यनादिव-
स्त्वंतरभूतमोहयुक्तत्वान्मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरिति त्रिविधः परिणामविकारः । स तु तस्य
स्फटिकस्वच्छताया इव परतोपि प्रभवन् दृष्टः । यथा हि स्फटिकस्वच्छतायाः स्वरूपपरिणामस-
मर्थत्वे सति कदाचिन्नीलहरितपीततमालकदलीकांचनपात्रोपाश्रययुक्तत्वान्नीलो हरितः पीत इति
त्रिविधः परिणामविकारो दृष्टस्तथोपयोगस्यानादिमिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिस्वभाववस्त्वंतरभूत-
मोहयुक्तत्वान्मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरिति त्रिविधः परिणामविकारो दृष्टव्यः ।।89 ।।

नमसंज्ञ—उवओग, अणाइ, परिणाम, ति, मोहजुत्त, मिच्छत्त, अण्णाण, अविरदिभाव, य । **धातुसंज्ञ**—जु
मिश्रणे, जाण अवबोधने । **प्रकृतिशब्द**—उपयोग, अनादि, परिणाम, त्रि, मोहयुक्त, मिथ्यात्व, अज्ञान,
अविरतिभाव, च, ज्ञातव्य । **मूलधातु**—उप-युजिर् योगे, मुह वैचित्ये, ज्ञा अवबोधने ।
पदविवरण—उपयोगस्य—षष्ठी एकवचन । अनादयः—प्रथमा बहु० । परिणामाः—प्रथमा बहुवचन ।
त्रयः—प्रथमा बहु० । मोहयुक्तस्य—षष्ठी एक० । मिथ्यात्वं—प्रथमा एक० । अज्ञानं—प्रथमा एक० ।
अविरतिभावः—प्रथमा एक० । च—अव्यय । ज्ञातव्यः—प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया ।।89 ।।

अब आत्माके इन तीन प्रकार के परिणामविकारों का कर्तृत्व दिखलाते हैं—[एतेषु
च] मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति इन तीनों के अनादि से निमित्तभूत होनेपर [‘जुद्धः] यद्यपि
‘जुद्धनय से एक ‘जुद्ध [निरंजनः] निरञ्जन [उपयोगः] उपयोग याने आत्मा है तो भी [एतेषु
च] मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति इन तीनों के निमित्तभूत होने पर [त्रिविधः भावः] मिथ्यादर्शन,
अज्ञान, अविरति इस तरह तीन प्रकार परिणाम वाला होता है । [सः] सो वह आत्मा [यं] इन
तीनों में से जिस [भावं] भावको [करोति] स्वयं करता है [तस्य] उसीका [सः] वह [कर्ता]
कर्ता [भवति] होता है ।

टीकार्थ—अब पूर्वोक्त प्रकार से अनादि अन्यवस्तुभूतमोहसहित होनेसे आत्मामें उत्पन्न
हुए जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति भावरूप तीन परिणाम विकार उनके निमित्तभूत होने
पर, यद्यपि आत्मा का स्वभाव परमार्थ से देखा जाय तो ‘जुद्ध, निरंजन, एक, अनादिनिधन
वस्तुका सर्वस्वभूत चैतन्यभावरूपसे एक प्रकार है, तो भी अपुद्ध सांजन अनेक भावपनेको
प्राप्त हुआ तीन प्रकार होकर आप अज्ञानी हुआ कर्तृत्वको प्राप्त होता हुआ विकार रूप
परिणामसे जिस जिस भावको आप करता है, उस उस भावका उपयोग निष्चयसे कर्ता होता
है ।

भावार्थ—पहले कहा था कि जो परिणमता है, वह कर्ता है सो यहाँ अज्ञानरूप हो
कर उपयोग से जिस रूप परिणमन करता है, उसी का कर्ता कहा जाता है । ‘जुद्ध
द्रव्यार्थिकनय से आत्मा कर्ता नहीं है । यहाँ उपयोग को कर्ता कहा, उपयोग और आत्मा एक
ही वस्तु है, इसलिये आत्मा को ही कर्ता जानना ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया था कि मोहयुक्त उपयोग के तीन प्रकार
के विकृत परिणाम होते हैं उन्हीं के विषयमें इस गाथा में बताया गया है कि उनका
निष्चयसे कर्ता कौन है?

तथ्यप्रकाश—(1) उदयागत मिथ्यादर्शन ज्ञानावरण व चारित्रमोह द्रव्यप्रत्यय का निमित्त होने पर जीव त्रिविध विकृत होता है। (2) परमार्थ से जीव 'बुद्ध निरञ्जन अनादि निधन

अथात्मनस्त्रिविधपरिणामविकारस्य कर्तृत्वं दर्शयति—

एएसु य उवओगो तिविहो सुद्धो गिरंजणो भावो ।

जं सो करेदि भावं उवओगी तस्स सो कत्ता ।।90 ।।

'बुद्ध निरंजन भी यह, उन तीनों के प्रयोग होने पर।

जिन भावों को करता, कर्ता उपयोग उनका है ।।90 ।।

एतेषु चोपयोगस्त्रिविधः 'बुद्धो निरंजनो भावः । यं स करोति भावमुपयोगस्तस्य स कर्ता ।।90 ।।

अथैवमयमनादिवस्त्वंतरभूतमोहयुक्तत्वादात्मन्युत्प्लवमानेषु मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिभावेषु परिणामविकारेषु त्रिष्वेतेषु निमित्तभूतेषु परमार्थतः 'बुद्धनिरंजनानादिनिधनवस्तुसर्वस्व-भूताचिन्मात्रभावत्वेनैकविधोप्युद्धसांजनानेकभावत्वमापद्यमानस्त्रिविधो भूत्वा स्वयमज्ञानीभूतः कर्तृत्वमुपढौकमानो विकारेण परिणम्य यं यं भावमात्मनः करोति तस्य तस्य किलोपयोगः कर्ता स्यात् ।।90 ।।

नामसंज्ञ—एत, य, उवओग, तिविह, सुद्ध, गिरंजण, भाव, ज, त, भाव उवओग, त, त, कत्ता ।
धातुसंज्ञ—सुज्झ नैर्मल्ये, कर करणे । **प्रकृतिशब्द**—एतत्, च, उपयोग, त्रिविध, 'बुद्ध, निरंजन, भाव, यत्, तत्, भाव, उपयोग, तत्, तत्, कर्तृ । **मूलधातु**—षुध 'गौचे दिवादि, निर-अज्जू व्यक्तिप्रक्षणकान्तिगतिषु जुहोत्यादि, विध विधाने, डुकृञ् करणे, उप-युजिर् योगे ।
पदविवरण—एतेषु-सप्तमी बहु०, च-अव्यय, उपयोगः-प्रथमा एकवचन, त्रिविधः-प्रथमा एक०, 'बुद्धः-प्रथमा एक०, निरंजनः-प्रथमा एक०, भावः-प्रथमा एक०, यं-द्वितीया एक०, सः-प्रथमा एक०, करोति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०, भाव-द्वितीया एक० कर्म, उपयोगः-प्रथमा एक० कर्ता, तस्य-षष्ठी एक०, सः-प्रथमा ए०, कर्ता-प्रथमा एकवचन ।।90 ।।

चिन्मात्र वस्तु है। (3) विकारों से परिणम परिणम कर जिस-जिस भावको आत्मा करता है आत्मा उस उस भावका कर्ता होता है।

सिद्धान्त—(1) आत्मा मोहयुक्तदषामें अपने विकाररूप परिणमता है सो उस परिणाम का कर्ता है। (2) आत्मा परमार्थ से 'बुद्ध चिन्मात्र वस्तु है।

दृष्टि—1-उपाधिसापेक्ष अषुद्ध द्रव्यार्थिकनय (53) । 2-षुद्धनय (198) ।

प्रयोग—सर्व परसंग को बाह्य तत्त्व जानकर उससे विविक्त 'बुद्ध चैतन्यस्वरूप अपने को अनुभवने का पौरुष करना ।।90 ।।

आगे आत्मा के तीन प्रकार के परिणामविकार का कर्तापना होनेपर पुद्गलद्रव्य आप ही कर्मत्व रूप होकर परिणमन करता है, ऐसा कहते हैं—[आत्मा] आत्मा [यं भावं] जिस भावको [करोति] करता है [तस्य भावस्य] उस भावका [कर्ता] कर्ता [सः] वह [भवति] होता है [तस्मिन्] उसके कर्ता होने पर [पुद्गलद्रव्यं] पुद्गलद्रव्य [स्वयं] अपने आप [कर्मत्वं] कर्मरूप [परिणमते] परिणमन करता है।

तात्पर्य—आत्मा जिस विभावको करता है उस विभाव का निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्य स्वयं कर्मरूप परिणम जाता है।

टीकार्थ—आत्मा निष्चयसे आप हो उस प्रकार परिणमन कर प्रगट रूपसे जिस भाव को करता है उसका यह कर्ता होता है, जैसे मंत्र साधने वाला पुरुष जिस प्रकार के ध्यानरूपभावसे स्वयं परिणमन करता है, उसी ध्यानका कर्ता होता है और समस्त उस साधकके साधने योग्य भावकी अनुकूलतासे उस ध्यानभावके निमित्तमात्र होनेपर उस साधकके बिना ही अन्य सर्पादिक की विषकी व्याप्ति स्वयमेव मिट जाती है, स्त्री जन

विडम्बना रूप हो जाती हैं और बंधन खुल जाते हैं इत्यादि कार्य मंत्रके ध्यानकी सामर्थ्यसे हो जाते हैं। उसी प्रकार यह आत्मा अज्ञान से मिथ्यादर्शनादिभावसे परिणमन करता हुआ मिथ्यादर्शनादिभावका कर्ता होता है, तब उस मिथ्यादर्शनादिभावके अपनी अनुकूलता से निमित्तमात्र होनेपर आत्मा कर्ता के बिना पुद्गलद्रव्य आप ही मोहनीयादि कर्मरूपसे परिणमन करता है। **भावार्थ**—आत्मा जब अज्ञान रूप परिणम करता है, तब किसी से ममत्व

अथात्मनस्त्रिविधपरिणामविकारकर्तृत्वे सति पुद्गलद्रव्यं स्वत एव कर्मत्वेन परिणमतीत्याह—

जं कुण्ड् भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स ।

कम्मत्तं परिणमदे तद्धि सयं पुग्गलं दव्वं ।।91।।

जीव जो भाव करता, होता उस भावका वही कर्ता ।

उसके होते पुद्गल, स्वयं कर्मरूप परिणमता ।।91।।

यं करोति भावमात्मा कर्ता स भवति तस्य भावस्य । कर्मत्वं परिणमते तस्मिन् स्वयं पुद्गलद्रव्यं ।।91।।

आत्मा ह्यात्मना तथापरिणमनेन यं भावं किल करोति तस्यायं कर्ता स्यात्साधकवत् तस्मिन्निमित्ते सति पुद्गलद्रव्यं कर्मत्वेन स्वयमेव परिणमते । तथाहि—यथा साधकः किल तथाविधध्यानभावेनात्मना परिणममानो ध्यानस्य कर्ता स्यात् । तस्मिन्स्तु ध्यानभावे सकलसाध्यभावानुकूलतया निमित्तमात्रीभूते सति साधकं कर्तारमन्तरेणापि स्वयमेव बाध्यते विषयव्याप्तयो, विडम्ब्यते योषितो, ध्वंस्यते बंधास्तथायमज्ञानादात्मा मिथ्यादर्शनादिभावेनात्मना परिणममानो मिथ्यादर्शनादिभावस्य कर्ता स्यात् । तस्मिन्स्तु मिथ्यादर्शनादौ भावे स्वानु—कूलतया निमित्तमात्रीभूते सत्यात्मानं कर्तारमन्तरेणापि पुद्गलद्रव्यं मोहनीयादिकर्मत्वेन स्वयमेव

<p>नामसंज्ञ—ज, भाव, अत्त, कत्तार, त, त, भाव, कम्मत्त, त, सयं, पुग्गल, दव्व । धातुसंज्ञ—कुण करणे, हो सत्तायां, परि—नम नग्रीभावे । प्रकृतिशब्द—यत्, भाव, आत्मन्, कर्तृ, तत्, तत्, भाव, कर्मत्व, तत्, स्वयं, पुद्गल, द्रव्य । मूलधातु—डुकृञ् करणे, भू सत्तायां, परि—णम प्रहवत्वे, पूरी आप्यायने दिवादि व चुरादि, गल स्रवणे चुरादि । पदविवरण—यं—द्वितीया एक० कर्मविषेषण, करोति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया, भावं—द्वितीया एक० कर्म, आत्मा—प्रथमा एक०, कर्ता—प्रथमा एक०, सः—प्र० ए०, भवति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया, तस्य—षष्ठी एकवचन, भावस्य—षष्ठी एक०, कर्मत्वं—प्र० ए० अथवा अव्यय क्रियाविषेषण यथा स्यात्तथा, परिणमते—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया,</p>

करता है, किसी से राग करता है, किसी से द्वेष करता है, उन भावों का आप कर्ता होता है। उस विकारभावके निमित्तमात्र होनेपर पुद्गलद्रव्य आप अपने भावसे कर्मरूप होकर परिणमन करता है। यहाँ यद्यपि परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव है। तो भी कर्ता दोनों अपने-अपने भावके हैं, यह निष्चय है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया गया है कि आत्मा त्रिविध परिणाम विकार का कर्ता है। सो इस सम्बन्धमें यह जिज्ञासा होती है कि इस स्थिति से बिगाड़ और क्या होता है उसका समाधान इस गाथा में है।

तथ्यप्रकाश—(1) यह जीव जिस परिणाम से परिणमता है उसी भाव का कर्ता होता है। (2) जीवके विभावपरिणमन का निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्य स्वयमेव कर्मरूपसे परिणमता है। (3) पुद्गलद्रव्यका कर्मरूप परिणमन मात्र उस पुद्गलद्रव्यमें अन्य द्रव्य (जीव) का परिणमन लिये बिना उसी के परिणमन से होता है यह स्वयं परिणमने का अर्थ है। (4) विकार रूप परिणमन उपाधिसम्पर्क बिना सम्भव नहीं है।

सिद्धान्त—(1) द्रव्यप्रत्यय के सन्निधान में आत्मा अपने विकारभावसे परिणमता है। (2) आत्मा के विकारभावके सन्निधानमें पुद्गलकार्माणद्रव्य अपने कर्मत्वरूप विकारसे

परिणमता है। (3) परिणमन सबका अपने स्वयंमें स्वयं के लिये स्वयं से स्वयंकी परिणति से होता है।

दृष्टि—1—उपाधिसापेक्ष अषुद्ध द्रव्यार्थिकनय (24)। 2—उपाधिसापेक्ष अषुद्ध द्रव्यार्थिकनय (24)। 3— कारककारकिभेदक सदभूतव्यवहार (73), कारककारकिभेदक अषुद्ध सदभूतव्यवहार (73अ)।

प्रयोग—जीव और कर्मका औपाधिक परिणमन होनेसे परभावपना जानकर उससे मुक्त होनेकी सुगमता पर उत्साह बढ़ाना और उनसे मुक्त होने के एकमात्र साधनभूत सहज

परिणमते ॥91॥

तस्मिन्—सप्तमी एक०, स्वयं—अव्यय, पुद्गलं—प्र० ए०, द्रव्यम्—प्रथमा एकवचन ॥91॥

चैतन्यस्वरूपमें रत होकर तृप्त होना ॥91॥

अज्ञानसे ही कर्म होता है ऐसा अब तात्पर्य कहते हैं—[अज्ञानमयः] अज्ञानमय [सः जीवः] वह जीव [परं] परको [आत्मानं कुर्वन्] आपरूप करता है [च] और [आत्मानं अपि] अपनेको [परं] पररूप [कुर्वन्] करता हुआ [कर्मणां] कर्मों का [कारकः] कर्ता [भवति] होता है।

तात्पर्य—स्व व परमें एकत्व की अवस्था रखने वाला अज्ञानी है और कर्म का कर्ता है।

टीकार्थ—यह आत्मा अज्ञान से परके और अपने विशेष का भेदज्ञान न होनेपर अन्य को तो अपने करता है, और अपने को अन्य के करता है, इस प्रकार स्वयं अज्ञानी हुआ कर्मों का कर्ता होता है। जैसे 'गीत उष्ण का अनुभव कराने में समर्थ जो पुद्गल परिणाम की 'गीत उष्ण अवस्था है वह पुद्गल से अभिन्न होनेसे आत्मासे नित्य ही अत्यंत भिन्न है, वैसे उस प्रकार का अनुभव कराने में समर्थ जो रागद्वेष सुखदुःखादिरूप पुद्गल परिणाम की अवस्था वह पुद्गल की अभिन्नता के कारण आत्मा से नित्य ही अत्यन्त भिन्न है। तथा उस पौद्गलिककर्मविपाक के निमित्त से हुए उस प्रकार के रागद्वेषादिक के अनुभवका आत्मा से अभिन्नता के कारण पुद्गलसे नित्य ही अत्यन्त भिन्नता है, तो भी उस पुद्गल परिणामरूप रागद्वेषादिकका और उसके अनुभवका अज्ञानसे परस्पर भेदज्ञान न होनेसे एकत्वके निष्चयसे यद्यपि जिस प्रकार 'गीत उष्णरूपसे आत्मा परिणमन करने में असमर्थ है, उसी प्रकार रागद्वेष सुख—दुःखादिरूप भी अपने आप परिणमन करने में असमर्थ है तो भी रागद्वेषादिक पुद्गल परिणामकी अवस्था को उसके अनुभव का निमित्तमात्र होनेसे अज्ञानस्वरूप रागद्वेषादिरूप परिणमन करता हुआ अपने ज्ञान की अज्ञानता को प्रकट करता आप अज्ञानी हुआ 'यह मैं रागी हूं' इत्यादि विधानकर ज्ञान विरुद्ध रागादिककर्म का कर्ता प्रतिभासित होता है।

भावार्थ—रागद्वेष सुख—दुःखादि अवस्था पुद्गलकर्मके उदयका स्वाद है, अतः यह उदयविपाक पुद्गलकर्मसे अभिन्न है, आत्मा से अत्यन्त भिन्न है। आत्मा को अज्ञान से इसका भेदज्ञान नहीं है, इसलिए ऐसा जानता है कि यह स्वाद मेरा ही है, क्योंकि ज्ञानकी स्वच्छता ऐसी ही है कि रागद्वेषादिका विपाक (स्वाद) 'गीत उष्ण की तरह ज्ञानमें प्रतिबिम्बित होता है तब ऐसा मालूम होता है कि मानो ये ज्ञान ही हैं। इस कारण ऐसे अज्ञान से इस अज्ञानी जीवके इनका कर्तृत्व भी आया। क्योंकि इसके ऐसी मान्यता हुई कि मैं रागी हूं, द्वेषी हूं, क्रोधी हूं, मानी हूं इत्यादि। इस प्रकार वह परका कर्ता होता है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया था कि आत्मा के जीवपरिणाम विकार कर्म का कर्तृत्व होने पर पुद्गलकार्माण द्रव्य स्वयं कर्मरूपसे परिणमता है। इसी विषयका

मौलिक तात्पर्य यह है कि अज्ञान से कर्मका प्रभव होता है यही इस गाथा में स्पष्ट किया है।

तथ्यप्रकाश—1—परको आत्मरूप व आत्मा को पररूप मानना अज्ञान है। 2—अज्ञान से आत्मा में रागी द्वेषी हूं आदि विधि से भावकर्म का कर्ता है। 3—रागद्वेषप्रकृतिरूप पुद्गल— परिणाम आत्मा से अत्यन्त भिन्न है। 4—रागद्वेषप्रकृतिरूप पुद्गलपरिणाम पुद्गल से अभिन्न है। 5—रागद्वेषप्रकृतिविपाकनिमित्तक रागद्वेषभावानुभव पुद्गल से अत्यन्त भिन्न है। 6—राग— द्वेषप्रकृतिविपाकनिमित्तक रागद्वेषभावानुभव उस समय जीवसे अभिन्न है। 7—जीव अज्ञानात्मक रागद्वेषविपाकरूपसे परिणम नहीं सकता, किन्तु उसरूपसे अपना परिणमना मानना, यह अज्ञानमय भाव है।

अज्ञानादेव कर्म प्रभवतीति तात्पर्यमाह—

परमप्याणं कुर्व्वं अप्याणं पि य परं करिंतो सो ।

अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारणो होदि ।।92 ।।

परको अपना करता, अपनेको भि पररूप यह करता ।

अज्ञानमयी आत्मा, सो कर्ता होय कर्मों का ।।92 ।।

परमात्मानं कुर्व्वन्नात्मानमपि च परं कुर्व्वन् सः। अज्ञानमयो जीवः कर्मणां कारको भवति ।।92 ।।

अयं किलाज्ञानेनात्मा परात्मनोः परस्परविषेषानिर्ज्ञाने सति परमात्मानं कुर्व्वन्नात्मानं च परं कुर्व्वन्स्वयमज्ञानमयीभूतः कर्मणां कर्ता प्रतिभाति । तथाहि—तथाविधानुभवसंपादनसमर्थायाः रागद्वेषसुखदुःखादिरूपायाः पुद्गलपरिणामावस्थायाः ‘गीतोष्णानुभवसंपादनसमर्थायाः ‘गीतोष्णायाः पुद्गलपरिणामावस्थाया इव पुद्गलादभिन्नत्वेनात्मनो नित्यमेवात्यंतभिन्नायास्त— न्निमित्तं तथाविधानुभवस्य चात्मनोऽभिन्नत्वेन पुद्गलान्नित्यमेवात्यंतभिन्नस्याज्ञानात्परस्परवि— षेषानिर्ज्ञाने सत्येकत्वाध्यासात् ‘गीतोष्णरूपेणैवात्मना परिणमितुमषक्येन रागद्वेषसुखदुःखादि— रूपेणाज्ञानात्मना परिणममानो ज्ञानस्याज्ञानत्वं प्रकटीकुर्व्वन्स्वयमज्ञानमयीभूत एषोहं रज्ये इत्यादिविधिना रागादेः कर्मणो (ज्ञानविरुद्धस्य) कर्ता प्रतिभाति ।।92 ।।

नामसंज्ञ—पर, अप्, कुर्व्वन्त्, अप्, पि, य, करिन्त्, त, अण्णाणमय, जीव, कम्म कारण।
धातुसंज्ञ—कुर्व्व करणे, कर करणे, हो सत्तायां। **प्रकृतिशब्द**—पर, आत्मन्, अपि, च, पर, तत्, अज्ञानमय, जीव, कर्मन्, कारक। **मूलधातु**—अत सातत्यगमने, डुकृञ् करणे, जीव प्राणधारणे, भ्वादि, भू सत्तायां। **पदविवरण**—परं—द्वितीया एक०। आत्मानं—द्वितीया एक०। कुर्व्वन्—प्रथमा एकवचन कृदन्त। आत्मानं— द्वितीया एक०। अपि—अव्यय। च—अव्यय। परं—द्वितीया एक०। कुर्व्वन्—प्रथमा एक० कृदन्त। सः—प्रथमा एक०। अज्ञानमयः—प्रथमा एक०। जीवः—प्रथमा एक० कर्ता। कर्मणां—षष्ठी बहु०। कारकः—प्रथमा ए०। भवति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया।।92 ।।

सिद्धान्त—1—परको आत्मा मानने की मान्यता का कर्तृत्व अज्ञानी जीव में है। 2—रागद्वेषप्रकृतिविपाकोदय होनेपर जीवमें रागद्वेषभावानुभवन होता है।

दृष्टि—1—कारककारकिभेदक अषुद्ध सद्भूतव्यवहार (73अ), अषुद्ध निष्चयनय (47)। 2—उपाधिसापेक्ष अषुद्ध द्रव्यार्थिकनय (24)।

प्रयोग—विपरीतमान्यतासे ही विकारों का प्रादुर्भाव जानकर यथार्थ ज्ञानबल से विपरीत मान्यता समाप्त करके अपने में कृतार्थताका अभ्युदय करना।।92 ।।

अब कहते हैं कि ज्ञानसे कर्म नहीं उत्पन्न होता—[जीवः] जीव [आत्मानं] अपने को [परं] पररूप [अकुर्व्वन्] नहीं करता हुआ [च] और [परं] परको [आत्मानं अपि] अपने रूप भी [अकुर्व्वन्] नहीं करता हुआ [सः] वह [ज्ञानमयः] ज्ञानमय [जीवः] जीव [कर्मणां] कर्मों का [अकारकः] करने वाला नहीं [भवति] है।

तात्पर्य—कर्मविपाक को आपा न मानने वाला ज्ञानी जीव कर्म का कर्ता नहीं होता है।

टीकार्थ—यह जीव ज्ञान से परका और अपना परस्पर भेदज्ञान होनेसे परको तो आत्मरूप नहीं करता हुआ और अपने को पररूप नहीं करता हुआ आप ज्ञानी हुआ कर्मों का अकर्ता प्रतिभासित होता है। उसी को स्पष्ट करते हैं—जैसे ‘गीत उष्ण अनुभव कराने में समर्थ ‘गीत उष्णस्वरूप पुद्गलपरिणामकी अवस्था पुद्गलसे अभिन्न होने के कारण आत्मा से नित्य ही अत्यंत भिन्न है, उसी प्रकार रागद्वेष सुख दुःखादिरूप अनुभव कराने में समथ राग—द्वेष सुख—दुःखादिरूप पुद्गलपरिणामकी अवस्था पुद्गलसे अभिन्न होने के कारण आत्मा से नित्य ही, अत्यंत भिन्न है, तथा ऐसी पुद्गलविपाक अवस्थाके निमित्त से हुआ उस प्रकार का अनुभव आत्मा से अभिन्नता के कारण पुद्गल से अत्यंत सदा ही भिन्न है। ऐसी दोनों की भिन्नता के ज्ञानसे परस्पर विषेक का भेदज्ञान होने पर नानात्व के विवेक से, जैसे ज्ञानात्तु न कर्म प्रभवतीत्याह—

परमप्याणमकुर्व्वं अप्याणं पि य परं अकुर्व्वतो ।

सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारओ होदि ।।93 ।।

परको निज नहिं करता, अपने को न पररूप करता यह ।

संज्ञानमयी आत्मा, कर्ता होता न कर्मों का ।।93 ।।

परमात्मानमकुर्व्वन्नात्मानमपि च परमकुर्व्वन् । स ज्ञानमयो जीवः कर्मणामकारको भवति ।।93 ।।

अयं किल ज्ञानादात्मा परात्मनोः परस्परविषेकनिर्ज्ञाने सति परमात्मानमकुर्व्वन्नात्मानं च परमकुर्व्वन्स्वयं ज्ञानमयीभूतः कर्मणामकर्ता प्रतिभाति । तथाहि—तथाविधानुभवसंपादनसमर्थायाः रागद्वेषसुखदुःखादिरूपायाः पुद्गलपरिणामावस्थायाः ‘गीतोष्णानुभवसंपादनसमर्थायाः ‘गीतोष्णा—याः पुद्गलपरिणामावस्थाया इव पुद्गलादभिन्तत्वेनात्मनो नित्यमेवात्यंतभिन्नायास्त—न्निमित्ततथाविधानुभवस्य चात्मनोऽभिन्तत्वेन पुद्गलान्नित्यमेवात्यंतभिन्नस्य ज्ञानात्परस्परवि—षेकनिर्ज्ञाने सति नानात्वविवेकाच्छीतोष्णरूपेणैवात्मना परिणमितुमषक्येन रागद्वेषसुखदुःखादि—रूपेणाज्ञानात्मना मनागप्यपरिणममानो ज्ञानस्य ज्ञानत्वं प्रकटीकुर्व्वन् स्वयं ज्ञानमयीभूतः एषोहं

नामसंज्ञ—पर, अप्, अकुर्व्वंत, अप्, पि, य, पर, अकुर्व्वंत, त, णाणमअ, जीव, कम्म, अकारअ।
धातुसंज्ञ—कुर्व्व करणे, हो सत्तायां। **प्रकृतिशब्द**—पर, आत्मन्, आत्मन्, अपि, च, पर, तत्, ज्ञानमय, जीव, कर्मन्, अकारक। **मूलधातु**—अत सातत्यगमने, डुकृञ् करणे, ज्ञा अवबोधने, जीव प्राणधारणे, भू सत्तायां। **पदविवरण**—परं—द्वितीया एकवचन। आत्मानं—द्वितीया एकवचन। अकुर्व्वन्—अ—कुर्व्वन्—प्रथमा एक० कृदंत।

‘गीत उष्ण रूप आत्मा स्वयं परिणमन में असमर्थ है, उसी प्रकार राग—द्वेष सुख—दुःखादिरूप भी स्वयं परिणमन करने में असमर्थ है। इस प्रकार अज्ञानस्वरूप जो राग—द्वेष सुख—दुःखादिक उन रूपसे न परिणमन करता, ज्ञानके ज्ञानत्व को प्रकट करता, ज्ञानमय हुआ ज्ञानी ऐसा जानता है कि “यह मैं रागद्वेषादिक को जानता ही हूं और ये पुद्गल रागरूप होते हैं। इत्यादि विधानसे सर्व ही ज्ञानविरुद्ध रागादिककर्म का अकर्ता प्रतिभासित होता है।

भावार्थ—जब ज्ञानी राग—द्वेष सुख—दुःख अवस्था को जानसे भिन्न जानता है कि ‘जैसे पुद्गल की ‘गीत उष्ण अवस्था तद्विषयक ज्ञानसे भिन्न है, उसी प्रकार रागद्वेषादिक भी तद्विषयक ज्ञानसे भिन्न हैं’ ऐसा भेदज्ञान हो तब अपने को ज्ञाता जाने व रागादि को पुद्गल को जाने। ऐसा होने पर इनका कर्ता आत्मा नहीं होता ज्ञाता ही रहता है, क्योंकि ज्ञानी जानता है कि जैसे ‘गीत—उष्ण अवस्था पुद्गलकी है वह आत्मा की नहीं, ऐसे ही रागादि अनुभाग दषा पुद्गलकर्मकी है वह आत्मा की नहीं है, आत्मा की दषा तो तद्विषयक अनुभव है जो कि पुद्गलसे बिल्कुल जुदा है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में कहा गया था कि अज्ञानसे कर्मका प्रभव होता है। अब उसीके प्रतिपक्षमें कहते हैं कि यथार्थ ज्ञान होने से कर्मका प्रभव नहीं होता है।

तथ्यप्रकाश—1—स्वपरका यथार्थ ज्ञान होनेसे आत्मा परको आपा नहीं मानता तथा आत्माको पररूप नहीं मानता है यही मूलमें ज्ञानमय भाव है। 2—आत्मा स्वयं रागद्वेषादि विपाकरूप परिणम तो सकता ही नहीं था अब भेदज्ञान होने से अज्ञानात्मक रागद्वेषादिरूपसे रंच भी नहीं परिणमता। 3—ज्ञानी के यह स्पष्ट निर्णय है कि यह मैं तो मात्र जानता ही हूं, कर्मप्रतिफलन हो उसे भी मात्र जानता हूं, मूलतः रागरूप तो पुद्गल हैं। 4—मैं मात्र जानन भावका ही करने वाला हूं इस दृढ़ निर्णय के कारण ज्ञानी समस्त रागादि परभावों का अकर्ता है।

सिद्धान्त—1—आत्मा स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावसे है। 2—आत्मा पुद्गलकर्मादि समस्त परपदार्थों के द्रव्य—क्षेत्र—काल—भावसे नहीं है। 3—स्वपरके यथार्थ ज्ञान और ज्ञानभावना करने वाला ज्ञानी अज्ञानमय कर्मका अकर्ता है।

जानाम्येव, रज्यते तु पुद्गल इत्यादिविधिना समग्रस्यापि रागादेः कर्मणो ज्ञानविरुद्धस्याकर्ता प्रतिभाति ॥93॥

सः—प्रथमा एकवचन। ज्ञानमयः—प्रथमा एक०। जीवः—प्रथमा एक० कर्ता। कर्मणां—षष्ठी बहु०। अकारकः—प्रथमा एक०। भवति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन ॥93॥

दृष्टि—1—स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (28)। 2—परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (29)। 3—षुद्धभावनापेक्ष 'जुद्ध द्रव्यार्थिकनय (24ब)।

प्रयोग—परको पर निजको निज जानकर ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व में रत होकर कृतकृत्य होने का पौरुष करना ॥93॥

अब कहते हैं कि कैसे अज्ञानसे कर्म उत्पन्न होता है? [एशः] यह [त्रिविधः] तीन प्रकार का [उपयोगः] उपयोग [आत्मविकल्पं] अपने में विकल्प [करोति] करता है कि [अहं क्रोधः] मैं क्रोधस्वरूप हूं, [सः] सो वह [तस्य] उस [उपयोगस्य] उपयोगरूप [आत्मभावस्य] अपने भाव का [कर्ता] कर्ता [भवति] होता है।

तात्पर्य—अज्ञानी जीव क्रोधादिस्वरूप अपनेको मानता है, अतः वह क्रोधादिरूप अपने उपयोगका कर्ता होता है।

टीकार्थ—वास्तव में यह सामान्यतः अज्ञानरूप मिथ्यादर्शन अज्ञान और अविरतिरूप तीन प्रकार का सविकार चैतन्य परिणाम पर और आत्मा की अभेदश्रद्धासे, अभेदज्ञानसे और अभेदरूप रति से सब भेदको ओझल कर भाव्यभावकभावको प्राप्त हुए चेतन अचेतन दोनों को समान अनुभव करने से 'मैं क्रोध हूं' ऐसा असद्भूत आत्मविकल्प उत्पन्न करता है याने वह क्रोध को ही अपना जानता है। इस कारण यह आत्मा 'मैं क्रोध हूं' ऐसी भ्रांति से विकार सहित चैतन्य परिणामसे परिणमन करता हुआ, उस विकारसहित चैतन्यपरिणामरूप अपने भावका कर्ता होता है। इसी प्रकार क्रोध पदके परिवर्तन से मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्शन, इन सोलह सूत्रों का व्याख्यान करना चाहिये। और इसी उपदेश से अन्य भी विचार लेना चाहिये।

भावार्थ—मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति ऐसे त्रिविध विकारसहित चैतन्यपरिणाम अपना और परका भेद न जानकर मैं क्रोधी हूं, मैं मानी हूं इत्यादि मानता है ऐसा मानने से अपने विकार सहित चैतन्य परिणाम का यह अज्ञानी जीव कर्ता होता है और वह अज्ञानभाव कर्म होता है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया गया था कि अज्ञानसे कर्म (भावकर्म) का प्रभव होता है और ज्ञानसे कर्मका प्रभव नहीं होता। सो अब यहाँ यह पूछा गया कि अज्ञान से कर्म कैसे उत्पन्न होते हैं इसी के समाधान में यह गाथा आई है।

तथ्यप्रकाश—(1) सर्वज्ञता न होने तक जो भी सोपाधि सविकार चैतन्यपरिणाम है वह सब सामान्यसे अज्ञानरूप है। (2) सम्यक्त्व न होने तक मिथ्याज्ञानरूप अज्ञान है। (3) मिथ्याज्ञानी याने प्रबल अज्ञानी अज्ञानसे भाव्य अपने को और भावक कर्मविपाकरस क्रोधादि को एक आधाररूपसे अनुभव करके “मैं क्रोध आदि हूँ” ऐसा विकल्प बनाता है सो वह सविकार चैतन्यपरिणामरूप भावकर्मका कर्ता होता है।

सिद्धान्त—(1) जीव अज्ञानसे अज्ञानमय भावकर्मका कर्ता है। (2) अज्ञानदषामें भी पर्याय एक अवक्तव्य है उसका व्यवहारसे मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरतिरूप तीन प्रकारों में वर्णन होता है।

दृष्टि—1—अषुद्धनिष्चयनय (47)। 2—सभेद अषुद्धनिष्चयनय (47अ), उपचरित अषुद्ध सदभूतव्यवहार (75)।

कथमज्ञानात्कर्म प्रभवतीति चेत्—

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेइ कोहोहं ।

कत्ता तस्सुवओगस्स होइ सो अत्तभावस्स ।।94 ।।

उपयोग त्रिविध यह ही, क्रोध हूँ यों स्वविकल्प करता है ।

सो उस आत्मभावमय, होता उपयोगका कर्ता ।।94 ।।

त्रिविध एष उपयोग आत्मविकल्पं करोति क्रोधोहं । कर्ता तस्योपयोगस्य भवति स आत्मभावस्य ।।94 ।।

एष खलु सामान्येनाज्ञानरूपो मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिरूपस्त्रिविधः सविकारचैतन्य-परिणामः परात्मनोरविषेददर्शनेनाविषेदज्ञानेनाविषेदविरत्या च समस्तं भेदमपहनृत्य भाव्य-भावकभावापन्नयोष्वेतनाचेतनयोः सामानाधिकरण्येनानुभवनात्क्रोधोहमिथ्यात्मनो विकल्पमुत्पा-दयति । ततोयमात्मा क्रोधोहमिति भ्रान्त्या सविकारेण चैतन्यपरिणामेन परिणमन् तस्य सवि-कारचैतन्यपरिणामरूपस्यात्मभावस्य कर्ता स्यात् । एवमेव च क्रोधपदपरिवर्तनेन मानमाया-लोभमोहरागद्वेषकर्मनो कर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयान्यनया दिषान्यान्यप्यूह्यानि ।।94 ।।

नामसंज्ञ—तिविह, एत, उवओग, अप्पवियप्प, कोह, अम्ह, कत्तार, त, उवओग, त, अत्तभाव ।
धातुसंज्ञ—उव—जुंज योगे, कर करणे, हो सत्तायां । **प्रकृतिशब्द**—त्रिविध, एतत्, उपयोग आत्मविकल्प, क्रोध, अस्मद्, कर्तृ, तत्, उपयोग, तत्, आत्मभाव । **मूलधातु**—विध विधाने, उप—युजिर् योगे, डुकृ ञ् करणे, क्रुध क्रोधे, भू सत्तायां । पदविवरण—त्रिविधः—प्रथमा एक० । एषः—प्रथमा एक० । उपयोगः—प्रथमा एकवचन । आत्मविकल्प—द्वितीया एक० । करोति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन । क्रोधः—प्रथमा एक० । अहं—प्रथमा एक० । कर्ता—प्रथमा एक० । तस्य—षष्ठी एक० । उपयोगस्य—षष्ठी एक० । भवति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । सः—प्रथमा एक० । आत्मभावस्य—षष्ठी एकवचन ।।94 ।।

प्रयोग—अपने अविकार चित्स्वरूप और कर्मरसमें अभेदबुद्धिसे ही सर्वसंकट होना जानकर अविकार चित्स्वरूपमें ही आत्मत्व स्वीकार कर इस अन्तःस्वरूपमें मग्न होने का पुरुषार्थ करना ।।94 ।।

अज्ञानी धर्मद्रव्य आदि अन्य द्रव्यों में भी कैसा आत्मविकल्प करता है:—[एशः] यह [त्रिविधः] तीन प्रकार का [उपयोगः] उपयोग [धर्मादिकं] धर्म आदिक द्रव्यरूप [आत्मविकल्पं] आत्मविकल्प [करोति] करता है याने उनको अपने जानता है [सः] सो वह [तस्य] उस [उपयोगस्य] उपयोगरूप [आत्मभावस्य] अपने भाव का [कर्ता] कर्ता [भवति] होता है ।

टीकार्थ—सामान्यसे मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरतिरूप तीन प्रकार का अज्ञानरूप सविकार चैतन्यपरिणाम ही परके और अपने परस्पर अविषेय दर्शनसे, अविषेय ज्ञानसे और अविषेय चारित्र्यसे समस्त भेदों को लोप करके ज्ञेयज्ञायकभावको प्राप्त धर्मादि द्रव्यों के अपने और उनके एक समान आधार के अनुभव करने से ऐसा मानता है कि मैं धर्मद्रव्य हूँ, मैं अधर्मद्रव्य हूँ, मैं आकाषद्रव्य हूँ, मैं कालद्रव्य हूँ, मैं पुद्गलद्रव्य हूँ, मैं अन्य जीव भी हूँ, ऐसे भ्रमसे उपाधिसहित अपने चैतन्यपरिणाम से परिणमन करता हुआ उस उपाधिसहित चैतन्यपरिणामरूप अपने भावका कर्ता होता है। इस कारण यह निर्णय रहा कि कर्तृत्वका का मूल अज्ञान है।

भावार्थ—यह आत्मा अज्ञानसे धर्मादि द्रव्यमें भी आपा मानता है। अतः उस अपने अज्ञानरूप चैतन्यपरिणामका स्वयं ही कर्ता होता है। **प्रश्न**—पुद्गल और अन्य जीव तो प्रवृत्तिमें दीखते हैं, उनमें तो अज्ञानसे आपा मानना ठीक है, परन्तु धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाषद्रव्य, कालद्रव्य तो देखने में भी नहीं आते, उनमें आपा मानना कैसे कहा? **उत्तर**—यह धर्मास्तिकाय है ऐसा ज्ञानविकल्प भी उपचार से धर्मास्तिकाय है सो इस विकल्प के करने के समय अज्ञानी 'बुद्धात्मस्वरूपको भूल जाता है, सो उस विकल्पके करने

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेदि धम्माई ।

कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स ।।95 ।।

उपयोग त्रिविध यह ही, धर्मादिक हूँ विकल्प यों करता ।

सो उस आत्मभावमय, होता उपयोग का कर्ता ।।95 ।।

त्रिविध एष उपयोग आत्मविकल्पं करोति धर्मादिकं । कर्ता तस्योपयोगस्य भवति स आत्मभावस्य ।।95 ।।

एष खलु सामान्येनाज्ञानरूपो मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिरूपस्त्रिविधः सविकारचैतन्य-परिणामः परस्परमविषेयदर्शनेनाविषेयज्ञानेनाविषेयविरत्या च समस्तं भेदमपहनुत्य ज्ञेयज्ञायक-भावापन्नयोः परात्मनोः सामानाधिकरण्येनानुभवनानुभवनाद्धर्मोऽहमधर्मोऽहमाकाषमहं कालोऽहं पुद्गलोऽहं जीवांतरमहमिथ्यात्मनो विकल्पमुत्पादयति । ततोऽयमात्म धर्मोऽहमधर्मोऽहमाकाषमहं कालोऽहं पुद्गलोऽहं जीवांतरमहमिति भ्रान्त्या सोपाधिना चैतन्यपरिणामेन परिणमन् तस्य सोपाधिचैतन्यपरिणामरूपस्यात्मभावस्य कर्ता स्यात् । ततः स्थितं कर्तृत्वमूलमज्ञानं ।।95 ।।

नामसंज्ञ—तिविह, एत, उवओग, अप्पवियप्प, धम्मादि, कत्तर, त, अत्तभाव । **धातुसंज्ञ**—उव-उज्ज योगे, कर करणे, हो सत्तायां । **प्रकृतिशब्द**—त्रिविध, एतत्, उपयोग, आत्मविकल्प, धर्मादिक, कर्तृ, तत्, उपयोग, तत्, आत्मभाव । **मूलधातु**—धृञ् धारणे भ्वादि, उप-युजिर् योगे । **पदविवरण**—त्रिविधः—प्रथमा एक० । एषः—प्र० ए० । आत्मविकल्पं—द्वितीया एकवचन । करोति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । धर्मादिकं—द्वितीया एक० । कर्ता—प्रथमा एक० । तस्य—षष्ठी एक० । उपयोगस्य—षष्ठी एक० । भवति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । सः—प्र० ए० । आत्मभावस्य—षष्ठी एकवचन ।।95 ।।

पर मैं धर्मास्तिकाय हूँ ऐसा एकाकार होना यही धर्मद्रव्य को अपना करना कहलाता है। ऐसा ही अधर्मादिद्रव्य में भी समझना ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में भाव्यभावकविधिसे परको आत्मत्व स्वीकार ने वाले अज्ञानसे भावकर्मप्रभवकी बात बताई थी, अब ज्ञेयज्ञायकविधिसे परको आत्मत्व स्वीकारने वाले अज्ञानसे भावकर्मप्रभवकी बात इस गाथा में कही गई ।

तथ्यप्रकाश—(1) मिथ्याज्ञान रूप अज्ञानसे जीव ज्ञेय परपदार्थ को व ज्ञायक अपने आपको समान आधाररूपसे अनुभव करके परज्ञेयाकारमें यह मैं हूँ इस विकल्प को करता है। (2) अज्ञानसे यह जीव परद्रव्य ज्ञानविकल्पको स्वयं आपा मानकर अज्ञानी सोपाधि चैतन्यपरिणामरूप आत्मभावका कर्ता होता है ।

सिद्धान्त—(1) अज्ञानी परपरिच्छित्तविकल्पमें स्वत्व अनुभव कर सोपाधिचैतन्य-परिणामरूप भावकर्मका कर्ता होता है। (2) धर्मास्तिकायादि-परिच्छित्तिरूप विकल्पमें धर्मा-स्तिकायादिका आरोप होता है।

दृष्टि—1-अषुद्धनिष्चयनय (47)। 2-एकजातिपर्याये अन्यजातिद्रव्योपचारक असद्भूतव्यवहार (121)।

प्रयोग—ज्ञेयों से पृथक् ज्ञेयाकारपरिच्छित्तिरूप विकल्पसे विविक्त ज्ञानमय एक ज्ञायक भावमें दृष्टि रखकर ज्ञेयज्ञायकसंकरता दूर कर परमविश्राम अनुभवना चाहिये।।95।।

यहाँ कर्तृत्वका मूल कारण अज्ञान है, इसीके समर्थन में कहते हैं—[एवं तु] ऐसे पूर्वकथित रीति से [मंदबुद्धिः] अज्ञानी [अज्ञानभावेन] अज्ञानभावसे [पराणि द्रव्याणि] परद्रव्यों को [आत्मानं] अपनेरूप [करोति] करता है [अपि च] और [आत्मानं] अपने को [परं करोति] पररूप करता है।

तात्पर्य—यह मंदबुद्धि मिथ्यादृष्टि जीव परको आत्मरूप व आत्मा को पररूप अज्ञानके कारण मानता है।

टीकार्थ—यह आत्मा मैं क्रोध हूं, मैं धर्मद्रव्य हूं इत्यादि पूर्वोक्त प्रकार से परद्रव्यों को आत्मरूप करता है और अपने को परद्रव्यरूप करता है, ऐसा यह आत्मा यद्यपि समस्त वस्तु के सम्बन्धसे रहित अमर्यादरूप 'जुद्ध चैतन्य धातुमय है तो भी अज्ञानसे सविकार सोपाधिरूप

एवं पराणि द्रव्याणि अप्ययं कुणदि मंदबुद्धीओ ।

अप्पाणं अवि य परं करेइ अण्णाणभावेण ।।96।।

यों मंदबुद्धि करता, परद्रव्यों को हि आत्मा अपना ।

अपने को भी परमय, करता अज्ञानभावों से ।।77।।

एवं पराणि द्रव्याणि आत्मानं करोति मंदबुद्धिस्तु। आत्मानमपि च परं करोति अज्ञानभावेन ।।96।।

यत्किल क्रोधोऽहमित्यादिवद्धर्मोऽहमिथ्यादिवच्च परद्रव्याण्यात्मीकरोत्यात्मानमपि पर-द्रव्यीकरोत्येवमात्मा, तदयमषेषवस्तुसंबंधविधुरनिरवधिविषुद्धचैतन्यधातुमयोप्यज्ञानादेव सवि-कारसोपाधीकृतचैतन्यपरिणामतया तथाविधस्यात्मभावस्य कर्ता प्रतिभातीत्यात्मनो भूताविष्ट-ध्यानाविष्टस्येव प्रतिष्ठितं कर्तृत्वमूलमज्ञानं। तथाहि—यथा खलु भूताविष्टोऽज्ञानाद्भूतात्मा-नावेकीकुर्वन्नमानुषोचितविषिष्टचेष्टावष्टंभनिर्भरभयंकरारंभगंभीरामानुषव्यवहारतया तथाविधस्य

नामसंज्ञ—एवं, पर, द्रव्य, अप्यय, मंदबुद्धि, अप्य, अवि, य, पर, अण्णाणभाव। **धातुसंज्ञ**—कुण करणे, कर करणे। **प्रकृतिशब्द**—एवं, पर, द्रव्य, आत्मन्, मंदबुद्धि, आत्मन्, अपि, च, पर, अज्ञानभाव।

मूलधातु—द्रुत

किये अपने चैतन्य परिणामरूपसे उस प्रकार का अपने परिणामका कर्ता प्रतिभासित होता है। इस प्रकार आत्मा के भूताविष्ट पुरुषकी भांति तथा ध्यानाविष्ट पुरुषकी भांति कर्तापने का मूल अज्ञान प्रतिष्ठित हुआ। यही अब स्पष्ट करते हैं—भूताविष्ट पुरुष (अपने 'रीरमें भूतप्रवेश किया हुआ) अज्ञानसे भूतको और अपने को एकरूप करता हुआ जैसी मनुष्य के योग्य चेष्टा न हो, वैसी चेष्टा के आलम्बन रूप अत्यन्त भयकारी आरंभसे भरा अमानुष व्यवहारसे उस प्रकार चेष्टारूप भावका कर्ता प्रतिभासित होता है, उसी प्रकार यह आत्मा भी अज्ञानसे ही पर और आत्मा को भाव्य-भावकरूप एक करता हुआ निर्विकार अनुभूतिमात्र भावकके अयोग्य अनेक प्रकार भाव्यरूप क्रोधादि विकारसे मिले चैतन्य के विकार सहित परिणामसे उस प्रकार के भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है। तथा जैसे किसी अपरीक्षक आचार्य के उपदेशसे भैसे का ध्यान करने वाला कोई भोला पुरुष अज्ञानसे भैसे को और अपनेको एकरूप करता हुआ अपने में गगन-स्पर्षी सींग वाले महान् भैसापनेके अध्याससे मनुष्यके योग्य छोटी कुटीके द्वारसे निकलनेसे च्युत रहा उस प्रकार के भावका कर्ता

प्रतिभासित होता है। उसी प्रकार यह आत्मा भी अज्ञानसे ज्ञेयज्ञायकरूप पर और आत्मा को एकरूप करता हुआ आत्मामें परद्रव्यके अध्याससे (निष्चयसे) मनके विषयरूप किये धर्म, अधर्म, आकाष, काल, पुद्गल और अन्य जीवद्रव्य 'जुद्ध चैतन्यधातु रुकी होनेसे तथा इंद्रियों के विषयरूप किये गये रूपी पदार्थों के द्वारा अपना केवल (एक) ज्ञान ढका गया होनेसे तथा मृतक 'रीरमें परम अमृतरूप विज्ञानघन आत्माके मूर्च्छित होनेसे उस प्रकारके भावका कर्ता प्रतिभासित होता है।

भावार्थ—यह आत्मा अज्ञानसे अचेतनकर्मरूप भावकके क्रोधादि भावको चेतनभावक के साथ याने अपनेसे एकरूप मानता है और धर्मादिद्रव्य ज्ञेयरूप हैं, उनको भी ज्ञायकके साथ याने अपनेसे एकरूप मानता है। अतः वह सविकार और सोपाधिक चैतन्यपरिणामका कर्ता होता है। यहाँ क्रोधादिक से एक मानने का तो भूताविष्ट पुरुषका दृष्टांत है और धर्मादि अन्य द्रव्यसे एकता माननेका ध्यानाविष्ट पुरुष का दृष्टांत है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथार्युममें यह बताया गया था कि अज्ञानसे जीव भाव्यभावकविषयक अभेदबुद्धिसे भावकर्मका कर्ता है और परज्ञेयज्ञायकविषयक अभेदबुद्धिसे भावकर्मका कर्ता है। इस विवरणके बाद इस गाथामें निर्णय पुष्ट किया गया है कि कर्तृत्वका मूल अज्ञान ही है।

तथ्यप्रकाश—1—जैसे भूताविष्ट पुरुष भूत और अपनेको एक करता हुआ अमानुषीय अटपट चेष्टा करता है इसी प्रकार कर्मविपाकाक्रान्त जीव कर्मरस और अपनेको एक करता भावस्य कर्ता प्रतिभाति। तथायमात्माप्यज्ञानादेव भाव्यभावको परात्मानावेकीकुर्वन्नविकारानु—भूतिमात्रभावकानुषितविचित्रभाव्यक्रोधादिविकारकरंवितचैतन्यपरिणामविकारतया तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति। यथा चापरीक्षकाचार्यादेशेन मुग्धः कषिन्महिषध्यानाविष्टोऽज्ञानान्म—हिषात्मानावेकीकुर्वन्नात्मन्यभ्रंकषविषाणमहामहिषत्वाध्यासात्प्रच्युतमानुषोचितापवरकद्वारविनिस्स—रणतया तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति। तथायमात्माप्यज्ञानाद् ज्ञेयज्ञायकी परात्मा—नावेकीकुर्वन्नात्मनि परद्रव्याध्यासान्नाइन्द्रियविषयीकृतधर्माधर्माकाषकालपुद्गलजीवांतरनिरुद्ध—'जुद्धचैतन्यधातुतया तथेन्द्रियविषयीकृतरूपिपदार्थतिरोहितकेवलबोधतया मृतककलेवरमूर्च्छितपर—मामृतविज्ञानघनतया च तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति। १९६ ।।

गतौ द्रवणे, डुकृञ् करणे, बुध अवगमने भ्वादि व दिवादि। **पदविवरण**—एवं—अव्यय। पराणि—द्वितीया बहुवचन। द्रव्याणि—द्वितीया बहुवचन। आत्मानं—द्वि० एक०। करोति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। मंदबुद्धिः—प्रथमा एक०। तु—अव्यय। आत्मानं—द्वि० एक०। अपि—अव्यय। च—अव्यय। परं—द्वितीया एक०। करोति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया। अज्ञानभावेन—तृतीया एकवचन करणकारक। १९६ ।।

हुआ स्वभावानुचित क्रोधादिविकार विकल्प करता है। 2—जैसे महिषध्यानाविष्ट पुरुष विकल्प में भैंसा और अपने को एक करता हुआ महाविषाणपनेके अध्याससे कैसे मनुष्योचित छोटे द्वार से निकलूँ ऐसा विकल्पविमूढ होकर असद्विकल्प करता है। इसी प्रकार परज्ञेयध्यानाविष्ट जीव परज्ञेय व ज्ञायकरूप अपने को एक करता हुआ परद्रव्यके अध्यास से मूर्च्छित होकर पररूपात्मविकल्पविमूढ होकर असद्विकल्प करता है।

सिद्धान्त—1—परभावों को व परद्रव्यों का आत्मरूप मानना मिथ्या है, केवल किसी सम्पर्कके कारण परद्रव्योंको आत्मरूप मानना मिथ्या है, केवल किसी सम्पर्कके कारण परद्रव्यों को व परभावों को आत्मरूप कहना रूढ़ हो गया है। 2—वस्तुतः आत्मा परद्रव्यों व परभावों से विविक्त केवल चेतनामात्र है।

दृष्टि—1—उपाधिज उपचरित प्रतिफलन व्यवहार (104), उपाधिज उपचरित स्व—स्वभावव्यवहार (103), एकजातिद्रव्ये अन्यजातिद्रव्योपचारक असद्भूतव्यवहार (106),

स्वजातिद्रव्ये स्वजातिद्रव्योपचारक असद्भूतव्यवहार (106अ)। 2—परमषुद्धनिष्चयनय (44),
‘ुद्धनय (49)।

प्रयोग—परमषान्ति पाने के लिये परद्रव्यों से अत्यन्त भिन्न अपने चैतन्यस्वरूपमात्र
अपनेको अनुभवना चाहिये ॥96॥

अब कहते हैं कि इसी कारण से यह ठीक रहा कि ज्ञानसे कर्तृत्वका नाश होता
है—[एतेन तु] इस पूर्वकथित कारणसे [निश्चयविदिभः] निष्चयके जानने वाले ज्ञानियों के
द्वारा [स आत्मा] वह आत्मा [कर्ता परिकथितः] कर्ता कहा गया है [एवं खलु] इस प्रकार
निष्चयसे [यः] जो [जानाति] जानता है [सः] वह ज्ञानी हुआ [सर्वकर्तृत्वं] सब कर्तृत्व को
[मुंचति] छोड़ देता है।

तात्पर्य—परद्रव्यभावके कर्तृत्वविकल्पको अज्ञानलीला समझ लेने पर कर्तृत्वबुद्धि हट
जाती है।

टीकार्थ—जिस कारण से यह आत्मा अज्ञानसे परके और आत्मा के एकत्व का
विकल्प करता है, उस कारणसे निष्चयसे कर्ता प्रतिभासित होता है, ऐसा जो जानता है, वह
समस्त कर्तृत्व को छोड़ देता है, इस कारण वह अकर्ता प्रतिभासित होता है। यही स्पष्ट
कहते हैं—इस जगत में यह आत्मा अज्ञानी हुआ अज्ञानसे अनादि संसारसे लगाकर पुद्गल
कर्मरस और अपने भावके मिले हुए आस्वादका स्वाद लेनेसे जिसकी अपने भिन्न अनुभवकी
‘वित्त मुद्रित हो गई है, ऐसा अनादिकालसे ही है, इस कारण वह परको और अपनेको
एकरूप जानता है। इसी कारण मैं क्रोध हूँ इत्यादिक विकल्प अपने में करता है, इसलिए
ततः स्थितमेतद् ज्ञानान्नश्यति कर्तृत्वं—

एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो ।

एवं खलु जो जाणदि सो मुंचदि सव्वकत्तित्तं ॥97॥

इस आत्माको कर्ता, होना अज्ञानमें बताया है।

ऐसा हि जानता जो, वह सब कर्तृत्वको तजता ॥97॥

एतेन तु स कर्तात्मा निष्चयविदिभः परिकथितः। एवं खलु यो जानाति स मुंचति सर्वकर्तृत्वं ॥97॥

येनायमज्ञानात्परात्मनोरेकत्वविकल्पमात्मनः करोति तेनात्मा निष्चयतः कर्ता प्रतिभाति।
यस्त्वेवं जानाति स समस्तं कर्तृत्वमुत्सृजति, ततः स खल्वकर्ता प्रतिभाति। तथाहिइहायमात्मा
किलज्ञानी सन्नज्ञानादासंसारप्रसिद्धेन मिलितस्वादस्वादानेन मुद्रितभेदसंवेदनषक्तिरनादित एव
स्यात् ततः परात्मानावेकत्वेन जानाति ततः क्रोधोहमिथ्यादिविकल्पमात्मनः करोति ततो
निर्विकल्पादकृतकादेकस्माद्विज्ञानघनात्प्रभ्रष्टो बारम्बारमनेकविकल्पैः परिणमन् कर्ता प्रतिभाति।
ज्ञानी तु सन् ज्ञानात्तदादिप्रसिद्धयता प्रत्येकस्वादस्वादानेनोन्मुद्रितभेदसंवेदनषक्तिः स्यात्।

नामसंज्ञ—एत, दु, कत्तार, अत्त, णिच्छयविदु, परिकहिद, एवं, खलु, ज, जाण अवबोधने, त, सव्वकत्तित्त।
धातुसंज्ञ—विद ज्ञाने, परि—कह वाक्यप्रबन्धे, जाण अवबोधने, मुंच त्यागे। **प्रकृतिशब्द**—एतत्, तु,
तत्,

निर्विकल्प रूप अकृत्रिम अपने विज्ञानघनस्वभावसे भ्रष्ट हुआ बारम्बार अनेक विकल्पों से
परिणमन करता हुआ कर्ता प्रतिभासित होता है। और जब ज्ञानी हो जाय, तब सम्यग्ज्ञानसे
उस सम्यग्ज्ञानको आदि लेकर प्रसिद्ध हुआ जो पुद्गलकर्मके स्वादसे अपना भिन्न स्वाद,
उसके आस्वादनसे जिसकी भेदके अनुभवकी ‘वित्त प्रकट हो गई है, तब ऐसा जानता है
कि अनादिनिधन निरंतर स्वादमें आता हुआ समस्त अन्य रसके स्वादों से विलक्षण, अत्यन्त
मधुर एक चैतन्यरस स्वरूप तो यह आत्मा है, और कषाय इससे भिन्न रस हैं, कषैले हैं,
बेस्वाद हैं, उनसे युक्त एकत्वका जो विकल्प करना है, वह अज्ञानसे है। इस प्रकार परको
और आत्मा को पृथक्-पृथक् नानारूपसे जानता है। इसलिए अकृत्रिम, नित्य, एक ज्ञान ही

मैं हूँ और कृत्रिम, अनित्य, अनेक जो ये क्रोधादिक हैं, वे मैं नहीं हूँ ऐसा जाने तब क्रोधादिक मैं हूँ इत्यादिक विकल्प अपने में किंचिन्मात्र भी नहीं करता। इस कारण समस्त ही कर्तृत्व को छोड़ता हुआ सदा ही उदासीन वीतराग अवस्था स्वरूप होकर ज्ञायक ही रहता है, इसीलिए निर्विकल्पस्वरूप अकृत्रिम नित्य कए विज्ञानघन हुआ अत्यन्त अकर्ता प्रतिभासित होता है।

भावार्थ—यदि कोई परद्रव्यके भावों के अपने कर्तृत्वको अज्ञान जान ले तब आपव विकल्पमें भी उसका कर्ता क्यों बने? अज्ञानी रहना हो तो परद्रव्य का कर्ता बने। इसलिए ज्ञान होने के बाद परद्रव्यका कर्तृत्व नहीं रहता। अब इसी अर्थ का कलषरूप काव्य कहते हैं—**अज्ञान** इत्यादि। **अर्थ**—जो पुरुष निष्चयसे स्वयं ज्ञानस्वरूप हुआ भी अज्ञानसे तृण सहित मिले हुये अन्नादिक सुन्दर आहार को खाने वाले हस्ती आदि तिर्यञ्चके समान होता है, वह षिखरिनी (श्रीखण्ड) को पीकर उसके दही मीठे के मिले हुए खट्टे मीठे रस की अत्यन्त इच्छा से उसके रसभेदको न जानकर दूध के लिये गाय को दुहता है।

भावार्थ—जैसे कोई पुरुष षिखरिन को पीकर उसके स्वाद की अतिइच्छा से रसके ज्ञान बिना ऐसा जानता है कि यह गाय के दूध में स्वाद है, अतः अतिलुब्ध हुआ गाय को दुहता है, उसी प्रकार अज्ञानी पुरुष अपना और पुद्गलकर्मविपाकका भेद न जानकर रागादि भावसे एकाकाररूपसे प्रवृत्त होता है और इसी चोटसे विषयों में स्वाद जानकर पुद्गलकर्मको अतिलुब्ध होकर ग्रहण करता है, अपने ज्ञानका और पुद्गलकर्मका स्वाद पृथक् नहीं अनुभव करता। वह हाथी की भाँति घास में मिले हुए मिष्ट अन्नका एक स्वाद लेता है।

ततोऽनादिनिधनानवरतस्वदमाननिखिलरसांतरविविक्तात्यंतमधुरचैतन्यैकरसोऽयमात्मा भिन्नरसाः कषायास्तैः सह यदेकत्वविकल्पकरणं तदज्ञानादित्येवं नानात्वेन परात्मानौ जानाति। ततोऽकृतकमेकं ज्ञानमेवाहं न पुनः कृतकोऽनेकः क्रोधादिरपीति क्रोधोहमित्यादिविकल्पमात्मनो मनागणि न करोति ततः समस्तमपि कर्तृत्वमपास्यति। ततो नित्यमेवोदासीनावस्थो जानन् एवास्ते। ततो निर्विकल्पोऽकृतक एको विज्ञानघनो भूतोऽत्यंतमकर्ता प्रतिभाति। अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यवहारकारी ज्ञानं स्वयं किल भवन्नपि रज्यते यः। पीत्वा दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृह्यया गां दोग्धि दुग्धमिव नूनमसौ रसालां।।57।। अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया धावन्ति पातुं मृगा,

कर्तृ, आत्मन्, निष्चयविद्, परिकथित, एवं, खलु, यत्, तत्, सर्वकर्तृत्व। **मूलधातु**—डुकृञ् करणे, अत सातत्यगमने, निस्—चिञ् चयने, विद् ज्ञाने अदादि, परि—कथ वाक्यप्रबंधे चुरादि, ज्ञा अवबोधने, मुच्लु

अब कहते हैं कि अज्ञान से ही जीव पुद्गलकर्मका कर्ता होता है—**अज्ञानान्मृग** इत्यादि। **अर्थ**—ये जीव निष्चयसे 'जुद्ध एक ज्ञानमय हैं, तो भी वे अज्ञानके कारण पवनसे तरंगित समुद्रकी भाँति विकल्पसमूहके करनेसे व्याकुल होकर परद्रव्यके कर्तारूप होते हैं। देखो अज्ञानसे ही मृग बालूको जल जानकर पीने को दौड़ते हैं और देखो अज्ञानसे ही लोक अंधकार में रस्सीमें सर्पका निष्चय का भय से भागते हैं।

भावार्थ—अज्ञानसे क्या नहीं होता? मृग तो बालू को जल जानकर पीने को दौड़ता है और खेद—खिन्न होता है, मनुष्य लोक अंधरे में रस्सी को सर्प मान डरकर भागते हैं, उसी प्रकार यह आत्मा, जैसे वायु से समुद्र क्षोभरूप हो जाता है, वैसे अज्ञानसे अनेक विकल्पोंसे क्षोभरूप होता है। सो ऐसे ही देखिये—यद्यपि आत्मा परमार्थसे 'जुद्ध ज्ञानघन है तो भी अज्ञानसे कर्ता होता है।

अब कहते हैं कि ज्ञान होनेपर यह जीव कर्ता नहीं होता—**ज्ञानाद्** इत्यादि। **अर्थ**—जो पुरुष ज्ञानसे भेदज्ञानको कला द्वारा परका तथा आत्मा का विषेष भेद जानता है, वह पुरुष दूध जल मिले हुए को भेदकर दूध ग्रहण करने वाले हंस की तरह है, अचल

चैतन्यधातुको सदा आश्रय करता हुआ जानता ही है, और कुछ भी नहीं करता।
भावार्थ—जो निजको निज व परको पर जानता है, वह ज्ञाता ही है, कर्ता नहीं है।

अब बताते हैं कि जो कुछ जाना जाता है, वह ज्ञानसे ही जाना जाता है—**ज्ञानादेव** इत्यादि। **अर्थ**—जैसे अग्नि और जलकी उष्णता और 'पीतलता की व्यवस्था ज्ञानसे ही ज्ञानी जाती हैं; लवण तथा व्यंजन के स्वादका भेद ज्ञानसे ही जाना जाता है। उसी प्रकार अपने रस से विकासरूप हुआ जो नित्य चैतन्यधातु उसका तथा क्रोधादिक भावों का भेद भी ज्ञानसे ही जाना जाता है। यह भेद कर्तृत्व के भावको दूर करता हुआ प्रकट होता है।

अब कहते हैं कि आत्मा अपने भावका ही कर्ता है—**अज्ञानं** इत्यादि। **अर्थ**—इस प्रकार अज्ञानरूप तथा ज्ञानरूप भी आत्माको ही करता हुआ आत्मा प्रकट रूपसे अपने ही भावका कर्ता है, वह परभावका कर्ता तो कभी नहीं है। अब आगे की गाथा की सूचनिकारूप 'लोक कहते हैं—**आत्मा** इत्यादि। **अर्थ**—आत्मा ज्ञानस्वरूप है, वह स्वयं ज्ञान ही है, वह ज्ञानसे अन्य किसको करता है? किसी को नहीं करता। तब परभाव का कर्ता आत्मा है ऐसा मानना तथा कहना व्यवहारी जीवों का मोह (अज्ञान) है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया था कि यह निर्णय हुआ कि अज्ञान से कर्मका प्रभव होता है। अब यहाँ यह निर्णय इस गाथामें दिया है कि ज्ञानसे कर्तृत्व नष्ट हो जाता है।

तथ्यप्रकाश—1—पर और आत्मा का एकत्व नहीं है, किन्तु प्राणी अज्ञानसे पर व आत्मा के एकत्व का विकल्प करता है, इसी से आत्मा कर्ता कहलाता है। 2—जो अज्ञानसे होने वाले विकल्प कर्तृत्व तथ्य को जानता है वह ज्ञानी है, वह कर्तृत्व को छोड़ देता है। अज्ञानात्तमसि द्रवंति भुजगाध्यासेन रज्जौ जनाः। अज्ञानाच्च त्रिकल्पचक्रकरणाद्वातोत्तरंगाधि-वत्, 'बुद्धज्ञानमया अपि स्वयममी कर्त्रीभवंत्याकुलाः॥58॥ ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो, जानाति हंस इव वाःपयसोर्विषेभं। चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढो जानाति एव हि करोति न किंचनापि॥59॥ ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यषैत्यव्यवस्था, ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेद-व्युदासः। ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः, क्रोधादेष्च प्रभवति भिदा भिंदती कर्तृभावं॥60॥ अज्ञानं ज्ञानमप्येवं कुर्वन्नात्मानमंजसा। स्यात्कर्तात्मभावस्य परभावस्य न क्वचित्॥61॥ आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किं। परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणां॥62॥ ॥97॥

मोक्षणे तुदादि। **पदविवरण**—एतेन—तृतीया एक०। तु—अव्यय। सः—प्रथमा एक०। कर्ता—प्रथमा एक०। आत्मा—प्रथमा एक०। निष्चयविदिभः—तृतीया बहु० कर्मवाच्ये कर्ता। एवं—अव्यय। खलु—अव्यय। यः—प्रथमा एक०। जानाति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। सः—प्रथमा एक०। मुंचति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। सर्वकर्तृत्वं—द्वितीया एकवचन॥97॥

3—पर और आत्मा को एकमेक जानने का कारण ज्ञेयमिश्रित ज्ञानका स्वाद लेने से भेदेज्ञानकी 'विक्रता मुद्रित हो जाना है। 4—पर और आत्मा को एकरूपसे जाननेके कारण अज्ञानी जीव "मैं क्रोध हूँ" इत्यादिरूप आत्मविकल्प करता है। 5—विकारों में आत्मविकल्प करनेसे निर्विकल्प विज्ञानघन स्वरूपसे भ्रष्ट होता हुआ यह अज्ञानी बारबार अनेक विकल्पोंसे परिणमता हुआ कर्ता कहा जाता है। 6—स्वभाव परभावका भेद जानने वाला ज्ञानी परतत्त्वसे भिन्न अपना स्वादभेदसंवेदन 'विक्रतावाला होता है। 7—मैं तो एक चैतन्यरस हूँ, कषायें भिन्नरस हैं, भेदज्ञानमें ऐसा स्पष्ट ज्ञान रहता है। 8—सहजसिद्ध ज्ञानमात्र अपने को स्वीकारने वाला तथा अपनेमें कृतक अनेक विकाररूपोंको निषेधने वाला ज्ञानी क्रोधादिरूप

आत्मविकल्पको रंच भी नहीं करता है अतः वह अकर्ता है। 9—आत्मा स्वयं ज्ञानमात्र है, वह ज्ञान सिवाय अन्य कुछ नहीं करता है।

सिद्धान्त—1—समस्त परद्रव्यों व परभावों से विविक्त यह आत्मा चैतन्यैकरस है। 2—अविकार सहजज्ञानस्वभावके आश्रय से समस्त कर्मत्व कलंक दूर हो जाता है।

दृष्टि—1—परमषुद्धनिष्चयनय (44)। 2—षुद्धभावनापेक्ष 'षुद्धद्रव्यार्थिकनय (24ब)।

प्रयोग—चैतन्यरसमात्र आत्मा में स्वपरके अज्ञानसे ही परात्मविकल्प होता है ऐसा जानकर अपने अकर्तृस्वभाव चैतन्यस्वरूपमें रत होकर निराकुल होना चाहिये।।97।।

अब यही कहते हैं कि व्यवहारी ऐसा कहते हैं:—[आत्मा] आत्मा [व्यवहारेण] व्यवहारसे [घटपटरथान् द्रव्याणि] घट पट रथ इन वस्तुओं को [च] और [करणानि] इंद्रियादिक करणपदार्थों को [च] और [कर्माणि] ज्ञानावरणादिक तथा क्रोधादिक द्रव्यकर्म, भावकर्मों को [च इह] तथा इस लोकमें [विविधानि] अनेक प्रकार के [नोकर्माणि] 'रीरादि नोकर्मोंको [करोति] करता है।

तात्पर्य—व्यवहार से ही यह कहा जाता है कि जीव परद्रव्य व परभाव को करता है।

टीकार्थ—जिस कारण व्यवहारी जीवों को यह आत्मा अपने विकल्प और व्यापार इन दोनों के द्वारा घट आदि परद्रव्य स्वरूप बाह्यकर्मको करता हुआ प्रतिभासित होता है, इस कारण उसी प्रकार क्रोधादिक परद्रव्यस्वरूप समस्त अंतरंग कर्मको भी करता है। क्योंकि दोनों परद्रव्यस्वरूप हैं, परत्वकी दृष्टि से इनमें भेद नहीं। सो यह व्यवहारी जीवों का अज्ञान है। **भावार्थ**—घट पट कर्म नोकर्म आदि परद्रव्यों का कर्ता अपने को मानना यह तो व्यवहारी जनों का अज्ञान है।

तथा हि—

व्यवहारेण दु आदा करेदि घडपडरथाणि दव्याणि ।

करण णि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि ।।98।।

व्यवहारमात्रसे यह, आत्मा करता घटादि द्रव्यों को ।

करणो को कर्मोंको, नोकर्मों को बताया है ।।98।।

व्यवहारेण त्वात्मा करोति घटपटरथान् द्रव्याणि । करणानि च कर्माणि च नोकर्माणीह विविधानि ।।98।।

व्यवहारिणां हि यतो यथायमात्मात्मविकल्पव्यापाराभ्यां घटादिपरद्रव्यात्मकं बहिः कर्म कुर्वन् प्रतिभाति ततस्तथा क्रोधादिपरद्रव्यात्मकं च समस्तमंतः कर्मापि करोत्यविषेषादित्यस्ति व्यामोहः ।।98।।

नामसंज्ञ—व्यवहार, दु, अत्त, घडपडरथ, दव्य, करण, य, कम्म, य, णोकम्म, इह, विविह । **धातुसंज्ञ**—कर करणे । **प्रकृतिशब्द**—व्यवहार, तु, आत्मन्, घटपटरथ, करण, च, कर्मन्, च, नोकर्मन्, इह, विविध । **मूलधातु**—वि-अव-हृज हरणे, घट संघाते चुरादि, पट गतौ भ्वादि । **पदविवरण**—व्यवहारेण—तृतीया एक० । तु—अव्यय । आत्मा—प्रथमा एक० । करोति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । घट-पटरथाणि—द्वितीया बहु० । द्रव्याणि—द्वितीया बहु० कर्मकारक । करणाणि—द्वितीया बहु० । च—अव्यय । कर्माणि—द्वि० बहु० । च—अ० । नोकर्माणि—द्वि० बहु० । इह—अव्यय । विविधानि—द्वितीया बहुवचन ।।98।।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया गया था कि निष्चयसे यह आत्मा जानता ही है, परद्रव्यको व परभावको करता नहीं है। इस विवरण पर यह जिज्ञासा होती है कि घट पट आदि को करने का प्ररूपण किस प्रकार है इसके समाधान में यह गाथा आई है।

तथ्यप्रकाश—(1) आत्मा घटपट आदि परद्रव्यों को करता है यह उपचार से कहा जाता है। (2) इस उपचार में यद्यपि निमित्तनैमित्तिक परम्परा है तो भी निष्चयदृष्टिसे मिथ्या है। (3) आत्मा कर्म नोकर्म व इन्द्रियों को करता है यह कथन भी उपचार से है। (4) आत्मा

की कर्म में निमित्तता नोकर्मादिमें निमित्तनिमित्तता आदि सम्बन्ध होने पर भी जीव से अत्यन्त भिन्न द्रव्य होने से निष्चयसे यह उपचार कथन मिथ्या है।

सिद्धान्त—(1) आत्मा घट पट आदि परद्रव्य को करता है यह उपचार कथन है। (2) आत्मा कर्म नोकर्मादिमें करता है यह भी उपचार कथन है।

दृष्टि—1—असंश्लिष्टविजात्युपचरित असद्भूतव्यवहार (126)। 2—संश्लिष्ट विजात्युपचरित असद्भूतव्यवहार (125)।

प्रयोग—आत्मा परभाव का कर्ता है इस वार्ता को मोहचेष्टामात्र जानकर इस अज्ञानको छोड़कर अकारण अकार्य अविकार सहज ज्ञानस्वरूपमें रुचि करके संकटमुक्ति का पौरुष करना ॥98॥

यह व्यवहारका मानना परमार्थदृष्टिमें सत्यार्थ नहीं है—[यदि] यदि [सः] वह आत्मा [परद्रव्याणि] परद्रव्यों को [कुर्यात्] करे [च] तो [नियमेन] नियमसे वह आत्मा उन परद्रव्यों से [तन्मयः] तन्मय [भवेत्] हो जाय [यस्मात्] परन्तु [तन्मयः न] आत्मा तन्मय नहीं होता [तेन] इसी कारण [सः] वह [तेषां] उनका [कर्ता] कर्ता [न भवति] नहीं है।

तात्पर्य—आत्मा परद्रव्योंसे पृथक् अपनी सत्तामात्र में है, अतः वह परद्रव्यों का कर्ता कैसे हो सकता है?

टीकार्थ—यदि वास्तव में यह आत्मा परद्रव्यस्वरूप कर्म को करे, तो परिणाम—परिणामभावकी अन्यथा अप्राप्ति होनेसे नियम से तन्मय हो जाय, किन्तु अन्य द्रव्यकी अन्य द्रव्यमें तन्मयता होनेपर अन्य द्रव्यके नाशकी आपत्ति का प्रसंग आने से तन्मय है ही नहीं। इसलिये व्याप्यव्यापकभाव से तो उस द्रव्य का कर्ता आत्मा नहीं है। **भावार्थ**—यदि आत्मा अन्य द्रव्य का कर्ता होवे, तो पृथक्—पृथक् द्रव्य क्यों रहे? फिर तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप हो जावेगा, यों अन्य द्रव्य का नाश हो जायगा यह बड़ा दोष आता स न सन्—

जदि सो परदव्वाणि य करिज्ज णियमेण तम्मओ इोज्ज ।

जह्मा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता ॥99॥

यदि वह परद्रव्यों को, करता तो तन्मयी हि हो जाता ।

चूँकि नहीं तन्मय वह, इससे परका नहीं कर्ता ॥99॥

यदि स परद्रव्याणि च कुर्यान्नियमेन तन्मयो भवेत् । यस्मात् तन्मयस्तेन स न तेषां भवति कर्ता ।

यदि खल्वयमात्मा परद्रव्यात्मकं कर्म कुर्यात् तदा परिणामपरिणामिभावान्यथानुपपत्ते—
नियमेव तन्मयः स्यात् न च द्रव्यांतरमयत्वे द्रव्योच्छेदापत्तेस्तन्मयोस्ति । ततो व्याप्यव्यापकभावेन
न तस्य कर्तास्ति ॥99॥

नामसंज्ञ—जदि, न, परदव्व, य, णियम, तम्मअ, ज, ण, तम्मअ, त, त, ण, त, कत्तार । **धातुसंज्ञ**—कर करणे, हो सत्तायां, हव सत्तायां । **प्रकृतिशब्द**—यदि, तत्, परद्रव्य, च, नियम, तन्मय, यत्, न, तन्मय, तत्, तत्, न, तत्, कर्त् । **मूलधातु**—द्रु गतौ, डुकृञ् करणे, भू सत्तायां । **पदविवरण**—यदि—अव्यय । सः—प्रथमा एकवचन । परद्रव्याणि—द्वितीया बहु० । च—अव्यय । कुर्यात्—विधि लिङ् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । नियमेन—तृतीया एक० । तन्मयः—प्रथमा एक० । भवेत्—विधि लिङ् अन्य पुरुष एक० क्रिया । यस्मात्—पंचमी एकवचन हेत्वर्थे । न—अव्यय । तन्मयः—प्र० ए० । तेन—तृतीया एक० । सः—प्रथमा एक० । न—अव्यय । तेषां—षष्ठी बहु० । भवति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । कर्ता—प्रथमा एकवचन ॥99॥

जैसा कि है ही नहीं। इसलिये अन्य द्रव्यका कर्ता अन्य द्रव्यको कहना सत्यार्थ नहीं है निष्चयसे तो यही है कि आत्मा मात्र अपने गुणों में ही परिणम सकता है, अन्य के गुणों में नहीं।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि आत्मा परद्रव्य को करता है यह कथन व्यवहार से है। अब इसी विषय में इस गाथा में कहा है कि ऐसा व्यवहारकथन सत्यार्थ नहीं हैं।

तथ्यप्रकाश—(1) यदि आत्मा परद्रव्य को करे तो आत्मा परद्रव्यमय हो जायगा यह दोष आता है। (2) कोई भी द्रव्य अन्यद्रव्यमय नहीं है। (3) यदि कोई द्रव्य अन्यद्रव्यमय हो जाय तो द्रव्य का ही उच्छेद जायगा। (4) एक द्रव्य का अन्य द्रव्य के साथ व्याप्यव्यापक भाव नहीं है, इस कारण कोई भी द्रव्य अन्य द्रव्यका कर्ता नहीं होता।

सिद्धान्त—(1) प्रत्येक द्रव्य अपने ही परिणामरूपसे परिणमता है। (2) आत्मा उपादानरूपसे परद्रव्यों का कर्ता नहीं है।

दृष्टि—1—स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (28)। 2—परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (29)।

प्रयोग—अपने को समस्त परसे भिन्न अतन्मय निहारकर अपने ज्ञानस्वरूपमें ही उपयोग रखने का पौरुष करना।।99।।

अब कहते हैं कि आत्मा व्याप्य—व्यापक भावसे तो परका कर्ता है ही नहीं, और निमित्तनैमित्तिक भावसे भी कर्ता नहीं है—[जीवः] जीव [घटं] घड़ेको [न करोति] नहीं करता [एव] और [पटं] पटको भी [न] नहीं करता [ऽशकारिण] ष [द्रव्याणि] द्रव्यों को भी (नैव) नहीं करता (योगोपयोगौ च) किन्तु जीव के योग और उपयोग दोनों (उत्पादकौ) घटादिक के उत्पन्नकरने वाले निमित्त हैं (तयोः) सो उन दोनों का याने योग और उपयोगका यह जीव (कर्ता) कर्ता (भवति) है।

तात्पर्य—जीव घट—पटादिक करने का निमित्त भी नहीं है, किन्तु जीवका योग व उपयोग घटादिक के होने का निमित्त हो सकता है।

टीकार्थ—वास्तव में घटादिक तथा क्रोधादिक परद्रव्यस्वरूप जो कर्म हैं उनको यह आत्मा व्याप्यव्यापकभावसे नहीं करता। क्योंकि यदि ऐसे करे तो उनसे तन्मयता का प्रसंग निमित्तनैमित्तिकभावेनापि न कर्तास्ति—

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे ।

जीगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ।।100 ।।

न निमित्तरूपमें भी, आत्मा करता घटादि द्रव्यों को ।

योगोपयोग कारण, उनका ही जीव कर्ता है ।।100 ।।

जीवो न करोति घटं नैव पटं नैव षकानि द्रव्याणि । योगोपयोगावुत्पादकौ च तर्थाभवति कर्ता ।।100 ।।

यत्किल घटादि क्रोधादि वा परद्रव्यात्मकं कर्म तदयमात्मा तन्मयत्वानुषंगान् व्याप्य—व्यापकभावेन तावन्न करोति नित्यकर्तृत्वानुषंगान्निमित्तनैमित्तिकभावेनापि न तत्कुर्यात् । अनित्यौ

नामसंज्ञ—जीव, ण, घड, ण, एव, पड, सेसग, दव्व, जीगुवओग, उप्पादग, य, त, कत्तार, ।
धातुसंज्ञ—कर करणे, उव—उंज योगे, हव सत्तायां। **प्रकृतिशब्द**—जीव, न, घट, न, एव, पट, न, एव, षक, द्रव्य, योगोपयोग, उत्पादक, च, तत्, कर्तृ। **मूलधातु**—जीव प्राणधारणं, डुकृञ् करणे, घट संघाते, पट गतौ, षिष असर्वोपयोगे चुरादि, द्रु गतौ, युजिर् योगे, उत्—पद गतौ चुरादि दिवादि णिच् कृदन्त, भू सत्तायां। **पदविवरण**—जीवः—प्रथमा एक०। न—अव्यय। करोति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन। घटं—द्वितीया

आ जायगा। तथा यह आत्मा घट—पटादिको निमित्तनैमित्तिकभावसे भी नहीं करता, क्योंकि ऐसे करे तो सदा सब अवस्थाओं में कर्तृत्वकस प्रसंग आ जायगा। तब इन कर्मों को कौन करता है, सो कहते हैं। इस आत्मा के अनित्य योग और उपयोग ये दोनों जो कि सब अवस्थाओं में व्यापक नहीं हैं, वे उन घटादिक के तथा क्रोधादि परद्रव्यस्वरूप कर्मोंके

निमित्तमात्रसे कर्ता कहे जाते हैं। योग तो आत्मा के प्रदेशों का चलनरूप व्यापार है और उपयोग आत्मा के चैतन्य का रागादि विकाररूप परिणाम है। सो कदाचित् अज्ञानसे इन दोनों को करन से इनका आत्मा को भी कर्ता कहा जावे, तो भी वह परद्रव्यस्वरूप कर्मका तो कर्ता कभी भी नहीं है।

भावार्थ—आत्मा के योग, उपयोग, घटादि तथा क्रोधादिक के निमित्त हैं, सो योग उपयोगको तो उनका निमित्तकर्ता कहा जा सकता है, परन्तु आत्मा को उनका निमित्तकर्ता भी नहीं कहा जा सकता। तथा आत्मा योग उपयोग का कर्ता संसार अवस्था में अज्ञानसे हैं। तात्पर्य यह है कि द्रव्यदृष्टि से तो कोई द्रव्य अन्य किसी द्रव्य का कर्ता नहीं है, परन्तु पर्यायदृष्टि से किसी द्रव्य का पर्याय किसी समय किसी अन्य द्रव्यके पर्यायके लिये निमित्त होता है। इस अपेक्षा से अन्यसे परिणाम अन्यके परिणामके निमित्तकर्ता कहे जाते हैं, परन्तु परमार्थ से द्रव्य अपने परिणामका कर्ता है, किसी के परिणाम का अन्य द्रव्य कर्ता कभी हो ही नहीं सकता।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया गया था कि आत्मा घट पट आदिको कर्म नोकर्म आदि को करता है यह जो व्यवहार है वह सत्यार्थ नहीं है क्योंकि आत्मा उपादान रूपसे किसी भी परद्रव्यको नहीं करता। अब इसी विषयमें इस गाथामें बताया है कि वास्तव में तो आत्मा घटादिक व क्रोधादिक परद्रव्यात्मक परिणामका निमित्तनैमित्तिकभाव से भी कर्ता नहीं है, किन्तु आत्मा के योग उपयोग ही उनके निमित्तरूपसे कर्ता हैं।

तथ्यप्रकाश—1—यदि घटादिक व क्रोधादिक परद्रव्यपरिणामका आत्मा उपादानरूपसे कर्ता होता तो आत्मा घटादिमय व क्रोधादिमय हो जाता यह प्रसंगदोष आता। 2—आत्मा यदि घटादिक व क्रोधादिक परद्रव्यपरिणामका निमित्तरूपसे कर्ता होता तो सदैव उनका कर्ता रहने का प्रसंगदोष आता। 3—आत्मा के योग उपयोग ही घटादि व क्रोधादि परद्रव्यात्मकपरिणामके निमित्तपनेसे कर्ता हैं याने योगोपयोग का निमित्त पाकर पुद्गलस्कंध स्वयं घटादि व कर्मादिरूप परिणम जाते हैं। 4—आत्मा अज्ञानसे वैसे विकल्प व व्यापार रूप परिणमता है, अतः आत्मा योग (व्यापार) व उपयोग (विकल्प) का कदाचित् कर्ता है। 5—आत्मद्रव्य परद्रव्यात्मक परिणाम का कर्ता न उपादानरूपसे है और न निमित्तरूपसे है। योगोपयोगावेव तत्र निमित्तत्वेन कर्तारौ योगोपयोगयोस्त्वात्मविकल्पव्यापारयोः कदाचित्तज्ञानेन करणादात्मापि कर्तास्तु तथापि न परद्रव्यात्मकर्मकर्ता स्यात् ॥100॥

एकवचन। न-अव्यय। एव-अव्यय। षकानि-द्वितीया बहु०। द्रव्याणि-द्वि० बहु०। योगोपयोगौ-प्रथमा द्विवचन। उत्पादकौ-प्रथमा द्विवचन। च-अव्यय। तेषां-षष्ठी बहु०। भवति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन। कर्ता-प्रथमा एकवचन ॥100॥

सिद्धान्त—1—आत्मा किसी भी परद्रव्यभावका कर्ता नहीं। 2—आत्माके विकल्प व व्यापार का निमित्त पाकर घटादिक व कर्मादिक परद्रव्यपरिणाम होता है।

दृष्टि—1—प्रतिषेधक 'जुद्धनय (49अ)। 2—उपाधिसापेक्ष अपुद्ध द्रव्यार्थिकनय।

प्रयोग—ज्ञानमात्र एक ज्ञायकस्वभाव में आत्मद्रव्य किसी भी परद्रव्यपरिणामका न तो उपादानरूपसे कर्ता हूँ और न निमित्तरूपसे कर्ता हूँ, मैं तो अकर्तृस्वभाव ध्रुव सहजज्ञान स्वभावमें रमकर कृतार्थ होऊंगा ऐसा ज्ञानप्रयोग करना चाहिये ॥100॥

अब कहते हैं कि ज्ञानी ज्ञान का ही कर्ता है:—[पुद्गलद्रव्याणां] पुद्गल द्रव्यों के [परिणामाः] परिणाम ये जो [ज्ञानावरणानि] ज्ञानावरणादिक [भवन्ति] हैं [तानि] उनको

[आत्मा] आत्मा [न करोति] नहीं करता, ऐसा [यः] जो [जानाति] जानता है [सः] वह [ज्ञानी] ज्ञानी [भवति] है।

तात्पर्य—ज्ञानी की दृढ़ श्रद्धा है कि आत्मा जानन सिवाय अन्य कुछ किसी का नहीं करता, सो वह कर्म को भी जान रहा है, करता नहीं।

टीकार्थ—वास्तव में जो पुद्गलद्रव्यके परिणाम गोरसमें व्याप्त दही दूध मीठा खट्टा परिणाम की भांति पुद्गलद्रव्यसे व्याप्त होनेसे ज्ञानावरणादिक हैं उनको निकट बैठा गोरसाध्यक्षकी तरह ज्ञानी कुछ भी नहीं करता है। किन्तु जैसे वह गोरसाध्यक्ष गोरसके दर्षनको अपने परिणामसे व्यापकर मात्र देखता ही है, उसी प्रकार ज्ञानी पुद्गल—परिणामनिमित्तक अपने ज्ञानको जो कि अपने व्याप्यरूपसे हुआ उसको व्यापकर जानता ही है। इस प्रकार ज्ञानी ज्ञानका ही कर्ता होता है। इसी प्रकार ज्ञानावरण पदके स्थानमें कर्मसूत्रके विभागकी स्थापना से दर्षनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय इनके सात सूत्रों से और उनके साथ मोह, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्षन ये सोलह सूत्र व्याख्यानके योग्य हैं। तथा इसी रीति से अन्य भी विचार किये जाने योग्य हैं।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया गया था कि आत्मा परद्रव्यात्मक परिणामका न उपादानरूपसे कर्ता है और न निमित्तरूपसे कर्ता है। इस विवरणपर जिज्ञासा हुई कि फिर आत्मा वास्तवमें किसका कर्ता है इसका समाधान इस गाथा में किया है।

तथ्यप्रकाश—1—पुद्गलस्कन्धों के ज्ञानावरणादिक परिणामन पुद्गलस्कन्धों में व्याप्यरूप से होते हैं। 2—उन ज्ञानावरणादिक कर्मपरिणामको आत्मा करता नहीं, किन्तु मात्र जानता है। 3—वह पुद्गलद्रव्यपरिणामविषयक ज्ञान आत्मा में व्याप्यरूपसे होता है, अतः ज्ञानी ज्ञान का ही कर्ता है।

सिद्धान्त—1—पुद्गलद्रव्यों के परिणाम ज्ञानावरणादिक पुद्गलद्रव्यों में ही व्याप्त हैं। 2—पुद्गलद्रव्यों से विविक्त होने से उनके परिणाम का आत्मा कर्ता नहीं है।

दृष्टि—1—अषुद्धनिष्चयनय (47)। प्रतिषेधक 'उद्धनय (49अ)।

प्रयोग—पुद्गलों के परिणामको पुद्गलों में ही जानकर व अपने ज्ञान परिणाम को

ज्ञानी ज्ञानस्यैव कर्ता स्यात्:—

जो पुग्गलदव्वाणं परिणामा होंति णाणआवरणा ।

ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि ण णी ॥101 ॥

जो पुद्गल द्रव्यों के, ज्ञानावरणादि कर्म बनते हैं ।

उनको न जीव करता, यों जो जाने वही ज्ञानी ॥101 ॥

ये पुद्गलद्रव्याणां परिणामा भवति ज्ञानावरणानि । न करोति तान्यात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी ।

ये खलु पुद्गलद्रव्याणां परिणामा गोरसव्याप्तदधिदुग्धमधुराम्लपरिणामवत्पुद्गलद्रव्य व्याप्तत्वेन भवन्तो ज्ञानावरणानि भवन्ति तानि तटस्थगोरसाध्यक्ष इव न नाम करोति ज्ञानी किंतु यथा स गोरसाध्यक्षस्तद्दर्षनमात्मव्याप्तत्वेन प्रभवद्व्याप्य पष्यत्येव तथा पुद्गलद्रव्यपरिणाम—निमित्तं ज्ञानमात्मव्याप्यत्वेन प्रभवद्व्याप्य जानात्येव ज्ञानी ज्ञानस्यैव कर्ता स्यात् । एकमेव च ज्ञानावरणपदपरिवर्तनेन कर्मसूत्रस्य विभागेनोपन्यासाद्दर्षनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रांत—रायसूत्रैः सप्तभिः सह मोहरागद्वेषक्रोधमानमायालोभनोर्कर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसन—स्पर्षनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि । अनया दिषान्यान्यप्यूह्यानि ॥101 ॥

नामसंज्ञ—ज, पुग्गलदव्व, परिणाम, णाणआवरण, ण, त, अत्त, ज, त, णाणि । **धातुसंज्ञ**—हो सत्तायां,

कर करणे, जाण अवबोधने, हव सत्तायां। **प्रातिपदिक**—यत्, पुद्गलद्रव्य, परिणाम, ज्ञानावरण, न, तत्, आत्मन्, यत्, तत्, ज्ञानिन्। **मूलधातु**—पूरी आप्यायने, गल स्रवणे चुरादि, दु गतौ, परि-णम प्रह्वत्वे, भू सत्तायां, ज्ञा अवबोधने, आ-वृञ् आवरणे चुरादि, डुकृञ् करणे, अत सातत्यगतौ। **पदविवरण**—ये-प्रथमा बहु०। पुद्गलद्रव्याणां-षष्ठी बहु०। परिणामाः-प्रथमा बहु०। भवन्ति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु०। ज्ञानावरणानि-प्रथमा बहु०। न-अव्यय। करोति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन। तानि-द्वितीया बहु०। आत्मा-प्रथम एक०। यः-प्र० ए०। जानाति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। सः-प्रथमा एक०। भवति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। ज्ञानी-प्रथमा एकवचन।।101।।

अपने में ही जानकर एकत्वविभक्त निज ज्ञायक स्वरूपका आश्रय लेकर सहज आनन्द का अनुभवन करना।।101।।

अब कहते हैं कि अज्ञानी भी परद्रव्य के भाव का कर्ता नहीं हैं:—(आत्मा) आत्मा (यं) जिस (शुभं अशुभं) 'जुभ अषुभ (भावं) अपने भावको (करोति) करता है (खलु) वास्तवमें (सः) वह (तस्य) उस भावका (कर्ता) कर्ता होता है (तत्) वह भाव (तस्य) उसका (कर्म) कर्म (भवति) होता है (तु स आत्मा) और वही आत्मा (तस्य) उस भावरूप कर्मका (वेदकः) भोक्ता होता है।

तात्पर्य—आत्मा अपने ही भावका कर्ता होता है व अपने ही भावका भोक्ता होता है।

टीकार्थ—इस लोक में आत्मा अनादिकालसे अज्ञानसे पर और आत्मा के एकत्वके निष्चयसे तीव्र मंद स्वादरूप पुद्गल कर्म की दोनों दशाओं से स्वयं अचलित विज्ञानघनरूप एक स्वादरूप आत्माके होने पर भी स्वादको भेदरूप करता हुआ 'जुभ तथा अषुभ अज्ञानरूप भाव को अज्ञानी करता है। वह आत्मा उस समय उस भावसे तन्मय होनेसे उस भावके व्यापकता के कारण उस भावका कर्ता होता है। तथा वह भाव भी उस समय उस आत्मा की तन्मयतासे उस आत्मा का व्याप्य होता है, इसलिये उसका कर्म होता है। वही आत्मा उस समय उस भावकी तन्मयता से उस भावका भावक होने के कारण उसका अनुभव करने वाला होता है। वह भाव भी उस समय उस आत्मा के तन्मयपनेसे आत्मा के भावने योग्य होने के कारण अनुभवने योग्य (भोगने योग्य) होता है। इस प्रकार अज्ञानी भी परभावका कर्ता नहीं है।

भावार्थ—अज्ञानी भी अपने अज्ञानभावरूप 'जुभाषुभभावों का ही अज्ञान अवस्था में कर्ता भोक्ता है, परद्रव्य के भावका कर्ता भोक्ता नहीं है।

अज्ञानी चापि परभावस्य न कर्ता स्यात्—

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।

तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा।।102।।

जिस भाव 'जुभाशुभको, करता उसका है आत्मा कर्ता।

उसका कर्म वही है, वह आत्मा भोगता उसको।।102।।

यं भावं 'जुभमषुभं करोत्यात्मा स तस्य खलु कर्ता। तत्तस्य भवति कर्म स तस्य तु वेदक आत्मा।।102।।

इह खल्वनादेरज्ञानात्परात्मनोरेकत्वाध्यासेन पुद्गलकर्मविपाकदशाभ्यां मंदतीव्रस्वादा-भ्यामचलितविज्ञानघनैकस्वादस्याप्यात्मनः स्वादं भिंदानः 'जुभमषुभं वा योयं भावमज्ञानरूपमात्मा करोति स आत्मा तदा तन्मयत्वेन तस्य भावस्य व्यापकत्वाद् भवति कर्ता स भावोऽपि च तदा तन्मयत्वेन तस्यात्मनो व्याप्यत्वाद् भवति कर्म स एव च आत्मा तदा अन्मयत्वेन तस्य भावस्य भावकत्वाद्भवत्यनुभविता, स भावोपि च तदा तन्मयत्वेन तस्यात्मनो भाव्यत्वात् भवत्यनुभाव्यः। एवमज्ञानी चापि परभावस्य न कर्ता स्यात्।।102।।

नामसंज्ञ—ज, भाव, सुह, असुह, अत्त, त, त, खलु, कत्तार, त, दु, वेदग, अप्पा। **धातुसंज्ञ**—कर करणे, हो सत्तायां, वेद वेदने। **प्रकृतिशब्द**—यत्, भाव, 'जुभ, अषुभ, आत्मन्, तत्, खलु, कर्तृ, तत्, कर्मन्, तत्,

तु, वेदक, आत्मन्। **मूलधातु**—षुभ 'गोभार्थे तुदादि, 'गुभ दीप्तौ भ्वादि, विद चेतनाख्याननिवासेषु चुरादि। **पदविवरण**—यं-द्वितीया एकवचन। भावं-द्वि० एक० कर्मकारक। 'गुभं-द्वि० ए० कर्मविषेण। करोति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। आत्मा-प्रथमा एक० कर्ताकारक। सः-प्रथमा एक०। तस्य-षष्ठी एकवचन। खलु-अव्यय। कर्ता-प्रथमा एक०। तत्-प्रथमा एक०। तस्य-षष्ठी एक०। भवति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। कर्म-प्र० ए०। सः-प्र० ए०। तस्य-षष्ठी एक०। तु-अव्यय। वेदकः-प्र० ए०। आत्मा-प्रथमा एकवचन कर्ताकारक।।102।।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया गया था कि ज्ञानी ज्ञानका ही कर्ता है। अब इसी संदर्भ से सम्बन्धित यह तथ्य इस गाथा में बताया है कि वास्तव में अज्ञानी जीव भी परभाव का कर्ता नहीं होता।

तथ्यप्रकाश—1-अज्ञानी जीव पर और आत्मा में एकत्व का अध्यास करता है वह भी अषुद्धोपादान जीवका परिणाम है। 2-अज्ञानी पुद्गलकर्मविपाकदषामें 'गुभ अषुभ विकल्परूपसे स्वादके भेद करता है वह भी अषुद्धोपादान जीवका परिणाम है और यह भी अज्ञानरूप भाव है। 3-अज्ञानी के अज्ञानरूप भाव व्याप्य है सो वह अज्ञानरूप भावका ही कर्ता है और उस ही का भोक्ता है। 4-अज्ञानी भी परद्रव्य के परिणमन का कर्ता नहीं है।

सिद्धान्त—1-अज्ञानी जीव अपने अज्ञानरूप भावका ही कर्ता है। कर्मादि अन्य द्रव्य के परिणमन का कर्ता नहीं। 2-अज्ञानी जीव अपने अज्ञानरूप भावका भोक्ता है, कर्मादि अन्य द्रव्यके परिणामका भोक्ता नहीं।

दृष्टि—1-अषुद्धनिष्चयनय (47)। 2- अषुद्धनिष्चयनय (47)।

प्रयोग—निमित्तनैमित्तिक भावके प्रसंग में भी वस्तुस्वातंत्र्य जानकर अन्तःस्वभावदृष्टि करके निरुपाधिस्वातंत्र्यका आदर करके विषुद्ध चित्प्रकाशमात्र अपने को अनुभवना।।102।।

अब कहते हैं कि परभाव किसी के द्वारा भी नहीं किया जा सकता—[यः] जो द्रव्य [यस्मिन्] जिस अपने [द्रव्ये] द्रव्यस्वभाव में [गुणे] तथा अपने जिस गुणमें वर्तता है [सः] वह [अन्यस्मिन् तु] अन्य [द्रव्ये] द्रव्य में तथा गुणमें [न संक्रामति] संक्रमण नहीं करता याने पलटकर अन्यमें नहीं मिल जाता [सः] वह [अल्यदसंक्रान्तः] अन्यमें नहीं मिलता हुआ वस्तुविषेण [तत् द्रव्यं] उस अन्य द्रव्यको [कथं] कैसे [परिणामसति] परिणामा सकता है, अर्थात् कभी नहीं परिणामा सकता।

तात्पर्य—जब एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप, गुणरूप हो ही नहीं सकता तब अन्य द्रव्यको परिणामाने की चर्चा ही नहीं उठ सकती।

न च परभावः केनापि कर्तुं पार्येत—

जो जह्नि गुणे दव्वे सो अण्णह्नि दु ण संकमदि दव्वे ।

सो अण्णमसंकेतो कह तं परिणामए दव्वं ।।103।।

जो जिस द्रव्य व गुणमें, वह नहिं परद्रव्यमें पलट सकता ।

परमें मिलता न हुआ, कैसे पर परिणामा सकता ।।103।।

यो यस्मिन् गुणे द्रव्ये सोन्यस्मिन्स्तु न संक्रामति द्रव्ये । सोन्यदसंक्रान्तः कथं तत्परिणामयति द्रव्यं ।।103।।

इह किल यो यावान् कच्चिद्वस्तुविषेणो यस्मिन् यावति कस्मिच्चिच्चिदात्मन्यचिदात्मनि वा द्रव्ये गुणे च स्वरसत एवानादित एव वृत्तः स खल्वचलितस्य वस्तुस्थितिस्मिन् भेत्तुमषक्यत्वात्तस्मिन्नेव वर्तते न पुनः द्रव्यांतरं गुणान्तरं वा संक्रामेत । द्रव्यांतरं गुणान्तरं वाऽसंक्रामंश्च कथं त्वन्यं वस्तुविषेणं परिणामयेत् । अतः परभावः केनापि न कर्तुं पार्येत ।।103।।

नामसंज्ञ—ज, ज, गुण, दव्व, त, अण्ण, दु, ण, दव्व, त, अण्ण, असंकंत, कह, त, दव्व। **धातुसंज्ञ**—सम्-ककम पादविक्षेपे, परि-नम नम्रीभावे प्रेरणार्थे। **प्रकृतिशब्द**—यत्, यत्, गुण, द्रव्य, तत्, अन्य, तु, न, द्रव्य, तत्, अन्यदसंक्रान्त, कथं, तत्, द्रव्य। **मूलधातु**—क्रमु पादविक्षेपे भ्वादि। **पदविवरण**—यः-प्रथमा एकवचन। यस्मिन्-सप्तमी एक०। द्रव्ये-सप्तमी एक०। सः-प्रथमा एक०। अन्यस्मिन्-सप्तमी एक०।

तु-अव्यय। न-अव्यय। संक्रामति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन। द्रव्ये-सप्तमी एक०। सः-प्रथमा एक०। अन्यदसंक्रान्तः-प्रथमा एक०। कथं-अव्यय। तत्-प्र० ए०। द्रव्यम्-प्रथमा एकवचन।।103।।

टीकार्थ—इस लोक में जो कोई वस्तुविषेष अपने चेतनस्वरूप तथा अचेतनस्वरूप द्रव्यमें तथा अपने गुणमें, अपने निजरसमें ही अनादि से वर्तता है, वह वास्तव में अपनी अचलित वस्तुस्थितिकी मर्यादा को भेदने के लिये असमर्थ होने के कारण अपने ही द्रव्य गुणमें रहते हैं। द्रव्यांतर तथा गुणांतररूप संक्रमण नहीं करता हुआ वह अन्य वस्तुविषेष को कैसे परिणमन करा सकता अर्थात् कभी नहीं परिणमन करा सकता। इसी कारण परभाव किसी के भी द्वारा नहीं किया जा सकता। **भावार्थ**—जो द्रव्यस्वभाव है, उसे कोई भी नहीं पलट सकता, यह वस्तुकी मर्यादा है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया गया था कि अज्ञानी भी परभावका कर्ता नहीं होता। सो अब इसी विषयको इस गाथा में युक्तिपूर्वक पुष्ट किया गया है।

तथ्यप्रकाश—(1) प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने द्रव्य व गुणमें ही वर्तते हैं। (2) प्रत्येक पदार्थ की स्वरूपसीमा भेदी नहीं जा सकती। (3) कोई भी पदार्थ किसी अन्य द्रव्यरूप व अन्य गुणरूप नहीं हो सकता। (4) जब कोई पदार्थ किसी अन्य द्रव्यरूप व अन्य गुणरूप हो ही नहीं सकता तो कोई भी पदार्थ किसी अन्य को परिणमा ही क्या सकेगा?

सिद्धान्त—(1) कोई भी पदार्थ समस्त अन्य पदार्थ के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप नहीं हो सकता। (2) कोई भी पदार्थ अपने स्वरूपमय ही सदा रहेगा।

दृष्टि—1—परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (29)। 2—स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (28)।

प्रयोग—मैं किसी अन्यके द्रव्यगुणरूप नहीं हो सकता, अन्य कोई भी मेरे द्रव्यगुणरूप नहीं हो सकता, फिर मेरा किसी अन्य से सम्बन्ध ही क्या है? ऐसे परसे अत्यन्त विविक्त निज आत्मतत्त्वको निरखते रहना चाहिये।।103।।

प्रश्न—किस कारण आत्मा निष्चयतः पुद्गलकर्मों का अकर्ता है? उत्तर—[आत्मा] आत्मा [पुद्गलमयसे कर्मणि] पुद्गलमय कर्म में [द्रव्यगुणस्य च] द्रव्य का तथा गुणका कुछ भी [न करोति] नहीं करता [तस्मिन्] उसमें याने पुद्गलमय कर्ममें [तदुभयं] उन दोनों को [अकुर्वन्] नहीं करता हुआ [तस्य] उसका [स कर्ता] वह कर्ता [कथं] कैसे हो सकता है?

अतः स्थितः खल्वात्मा पुद्गलकर्मणामकर्ता—

द्व्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पुग्गलमयद्धि कम्महि।

तं उभयमकुव्वंतो तद्धि क्हं तस्स सो कत्ता।।104।।

पुद्गलमय कर्मों में, आत्मा नहीं द्रव्य गुण कभी करता।

उनको करता न हुआ, कर्ता हो कर्मका कैसे?

द्रव्यगुणस्य चात्मा न करोति पुद्गलमये कर्मणि। तदुभयमकुर्वस्तस्मिन्कथं तस्य स कर्ता।।104।।

यथा खलु मृण्मये कलषे कर्मणि मृद्द्रव्यमृद्गुणयोः स्वरसत एव वर्तमाने द्रव्यगुणांतर-संक्रमस्य वस्तुस्थित्यैव निषिद्धत्वादात्मानमात्मगुणं वा नाधत्ते स कलषकारः द्रव्यांतरसंक्रम-मंतरेणान्यस्य वस्तुनः परिणामयितुमषक्यत्वात् तदुभयं तु तस्मिन्ननादधानो न तत्त्वस्तस्य कर्ता प्रतिभाति। तथा पुद्गलमये ज्ञानावरणादौ कर्मणि पुद्गलद्रव्यपुद्गलगुणयोः स्वरसत एव

नामसंज्ञ—द्व्वगुण, य, अत्त, ण, पुग्गलमय, कम्म, त, उभय, अकुव्वंत, त, क्हं, त, त, कत्तार।
धातुसंज्ञ—पूर पालनपूरणयोः, गल स्रवणे, कुण करणे, कुव्व करणे। **प्रातिपादिक**—द्रव्यगुण, च, आत्मन्, न, पुद्गलमय, कर्मन्, तत्, उभय, अकुर्वत्, तत्, कथं, तत्, कर्त्। **मूलधातु**—पूरी आप्यायने, गल स्रवणे,

तात्पर्य—आत्मा पौद्गलिककर्म में न द्रव्यका कुछ करता, न गुण का कुछ करता, अतः आत्मा को पौद्गलिककर्मका कर्ता करने की कुछ भी गुंजाइश नहीं।

टीकार्थ—जैसे मृत्तिकामय कलषनामक कर्म जहाँ कि मृत्तिकाद्रव्य और मृत्तिकागुण अपने निजरसके द्वारा ही वर्तमान है, उसमें कुम्हार अपने द्रव्यस्वरूपको तथा अपने गुणको नहीं मिला पाता, क्योंकि किसी द्रव्यका अन्य द्रव्यगुणरूप परिवर्तनका निषेध वस्तुस्थितिसे ही है। अन्य द्रव्यरूप हुए बिना अन्य वस्तुका परिणमन कराये जाने की असमर्थता से उन द्रव्योंको तथा गुणों को अन्यमें नहीं धारता हुआ परमार्थ से उस मृत्तिकामय कलषनामक कर्म का निष्चय से कुम्भकार कर्ता नहीं प्रतिभासित होता। उसी प्रकार पुद्गलमय ज्ञानावरणादि कर्म जो कि पुद्गलद्रव्य और पुद्गल के गुणों में अपने रससे ही वर्तमान हैं, उनमें आत्मा अपने द्रव्यस्वभाव को और अपने गुणको निष्चयसे नहीं धारण कर सकता। क्योंकि अन्य द्रव्य का अन्य द्रव्य में तथा अन्य द्रव्यका अन्य द्रव्यके गुणों में संक्रमण होने की असमर्थता है। इस प्रकार अन्य द्रव्य का अन्य द्रव्यमें संक्रमण के बिना अन्य वस्तुको परिणमाने की असमर्थता होनेसे उन द्रव्य और गुण दोनों को उस अन्य में नहीं रखता हुआ आत्मा उस अन्य पुद्गलद्रव्यका कैसे कर्ता हो सकता है, कभी नहीं हो सकता। इस कारण यह निष्चय हुआ कि आत्मा पुद्गलकर्मों का अकर्ता है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया गया था कि कोई भी द्रव्य किसी भी पर के परिणमन को नहीं कर सकता। सो अब इस कथनसे अपना प्रायोजनिक निष्चय बताया है इस गाथामें कि इस कारण यह ठीक रहा कि आत्मा पुद्गलकर्मों का अकर्ता है।

तथ्यप्रकाश—(1) निमित्तभूत वस्तु उपादान में अपना द्रव्य, गुण, क्रिया, प्रभाव कुछ भी नहीं डालता। (2) प्रभाव का अर्थ है—भाव याने होना, प्र याने प्रकृष्टरूपसे होना सो यह भाव प्रभाव उपादान का परिणमन है। (3) निमित्तभूत वस्तुके सान्निध्यमें उपादान अपने में प्रभाव उत्पन्न कर लेता। (4) चूंकि यह प्रभाव निमित्तभूत वस्तु के सान्निध्य बिना नहीं होता, इस कारण यह प्रभाव नैमित्तिक है। (5) निष्चयतः जो अन्य में अपना द्रव्य, गुण, क्रिया कुछ नहीं डाल सकता वह अन्य का कर्ता कैसे कहा जा सकता है? (6) आत्मा अपना गुण व क्रिया कुछ भी पुद्गलकर्म में नहीं डाल पाता, इस कारण निष्चयतः आत्मा पुद्गलकर्मों का अकर्ता है।

सिद्धान्त—(1) निमित्तभूत वस्तुका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव कुछ भी उपादान में नहीं पहुंचता। (2) निष्चयतः किसी भी पर्यायका, उस पर्याय का स्रोतभूत वस्तु स्वयं होता है। वर्तमाने द्रव्यगुणांतरसंक्रस्य विधातुमषक्यत्वादात्मद्रव्यमात्मगुणं वात्मा न खल्वाधत्ते। द्रव्यां—तरसंक्रममंतरेणान्यस्य वस्तुनः परिणामयितुमषक्यत्वात्तदुभयं तु तस्मिन्ननादधानः कथं नु तत्त्व—तस्तस्य कर्ता प्रतिभायात्। ततः स्थितः खल्वात्मा पुद्गलकर्मणामकर्ता ॥104 ॥

डुकृञ् करणे। पदविवरण—द्रव्यगुणस्य—षष्ठी एकवचन। च—अव्यय। आत्मा—प्रथमा एक०। न—अव्यय। करोति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। पुद्गलमये—सप्तमी एक०। कर्मणि—सप्तमी एक०। तत्—द्वितीया एक०। उभयं—द्वि० एक०। अकुर्वन्—प्रथमा एक० कृदन्त। तस्मिन्—सप्तमी एक०। कथं—अव्यय। तस्य—षष्ठी एक०। सः—प्रथमा एक०। कर्ता—प्रथमा एकवचन ॥104 ॥

दृष्टि—1—परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (29)। 2—षुद्धनिष्चयनय (46), अषुद्धनिष्चयनय (47)।

प्रयोग—परके द्रव्य गुण आदिसे रहित सहजसिद्ध चित्रकाषमय अन्तस्तत्त्वमें दृष्टि रखकर अपनेको निर्विकल्प अनुभवने का पौरुष करना चाहिये ॥104 ॥

अब कहते हैं कि इसके सिवाय जो अन्य निमित्तनैमित्तिकसकसउिश्रससच हैं उनको देख कुछ अन्य प्रकार से कहना वह उपचार है—[जीवे] जीवके [हेतुभूते] निमित्तरूप होनेपर होने वाले [बंधस्य तु] कर्मबन्धके [परिणामं] परिणामको [दृष्ट्वा] देखकर [जीवेन] जीवके द्वारा [कर्मकृतं] कर्म किया गया यह [उपचारेण] उपचारमात्रसे [भण्यते] कहा जाता है।

तात्पर्य—जीवके रागद्वेषविभावका निमित्त पाकर पौद्गलिक कर्ममें कर्मत्व परिणमन होता है, उस विषयमें अज्ञानी जीव कहता है कि जीवने कर्म किये हैं सो ऐसा कर्तापन की बात कहना उपचारमात्र है।

टीकार्थ—इस लोकमें आत्मा निष्चयतः स्वभावसे पुद्गलकर्मका निमित्तभूत नहीं है, तो भी अनादि अज्ञानसे उसका निमित्तरूप हुआ जो अज्ञान भाव, उस रूपसे परिणमन करने से पुद्गलकर्म का निमित्तरूप होनेपर पौद्गलिककर्मके उत्पन्न होनेसे पुद्गलकर्मको आत्माने किया, ऐसा विकल्प होता है, वह विकल्प निर्विकल्प विज्ञानघनस्वभावसे भ्रष्ट और विकल्पों में तत्पर अज्ञानियों के होता है। वह विकल्प उपचार ही है, परमार्थ नहीं है।

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व गाथा में बताया गया था कि यह निश्चित हुआ कि आत्मा पुद्गलकर्मों का अकर्ता है। अब इस गाथा में बताया कि इससे विपरीत कहना याने जीवने कर्म किया यह कहना उपचारमात्र है।

तथ्यप्रकाश—(1) पौद्गलिक कार्माणवर्गणामें कर्मत्व होने का निमित्तभूत अषुद्धोपादान आत्मा है। (2) आत्मा कर्मत्वका निमित्तभूत स्वभावसे नहीं है। (3) अज्ञानभावसे परिणम रहा ही आत्मा कर्मत्व का निमित्तभूत है। (4) कर्मत्व का निमित्तभूत होनेसे जीवको कर्मका कर्ता कहा जाता है वह उपचारसे कहा जाता है। (5) विज्ञानघनभ्रष्ट विकल्पक बहिरात्मावों के ही परकर्तृत्वका विकल्प होता है। (6) निमित्तनैमित्तिक भावके कारण निमित्त को नैमित्तिककार्य का कर्ता कहना उपचारसे ही है, उपचार ही है, परमार्थ नहीं है।

सिद्धान्त—(1) निमित्तत्व बताने के प्रयोजनवष निमित्तमें कर्तृत्वका आरोप किया जाता है। (2) वास्तविक विधि तो उसी द्रव्य का सब कुछ उसी द्रव्यमें बताने की होती है।

दृष्टि—1—परकर्तृत्व असद्भूतव्यवहार (129)। 2—अखण्ड परमषुद्धनिष्चयनय, 'क्तिबोधक परमषुद्धनिष्चयनय, 'ुद्धनिष्चयनय, सभेद 'ुद्धनिष्चयनय, अषुद्धनिष्चयनय, सभेद अषुद्धनिष्चयनय, विवक्षितैकदेषषुद्धनिष्चयनय, 'ुद्धनय (44, 45, 46, 46अ, 47, 47अ, 48, 49)।

प्रयोग—एकका दूसरे के साथ सम्बन्ध नहीं, प्रभाव नहीं, सब अपने—अपने स्वरूपासि—
अतोऽन्यस्तूपचारः—

जीवह्नि हेतुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं ।

जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण ॥105 ॥

जीवहेतु होनेपर, विधिके बन्धपरिणामको लख कर ।

जीवकर्म करता है, ऐसा उपचारमात्र कहा ॥105 ॥

जीवे हेतुभूते बंधस्य तु दृष्ट्वा परिणामं । जीवेन कृतं कर्म भण्यते उपचारमात्रेण ॥105 ॥

इह खलु पौद्गलिककर्मणः स्वभावादनिमित्तभूतेप्यात्मन्यनादेरज्ञानात्तन्निमित्तभूतेना—
ज्ञानभावेन परिणमनात्त्रिमितीभूते सति संपद्यमानत्वात् पौद्गलिकं कर्मात्मना कृतमिति निर्वि—
कल्पविज्ञानाघनभ्रष्टानां विकल्परायणानां परेषामस्ति विकल्पः । स तूपचार एव न तु
परमार्थः ॥105 ॥

नामसंज्ञ—जीव, हेतुभूद, बंध, दु, परिणाम, जीव, कद, कम्म, उवयारमत्त । **धातुसंज्ञ**—पास दर्शने, भण कथेन । **प्रकृतिशब्द**—जीव, हेतुभूत, बन्ध, तु, परिणाम, जीव, कृत, कर्मन्, उपचारमात्र । **मूलधातु**—जीव

प्राणधारणे, बन्ध बन्धने, दृषिर् प्रेक्षणे, डुकृञ् करणे, भण 'ब्दार्थे, उप चर गत्यर्थे भक्षणोपि भ्वादि, चर संषये चुरादि। **पदविवरण**—जीवे—सप्तमी एकवचन। हेतुभूते—स० ए०। बंधस्य—षष्ठी एक०। तु—अव्यय। दृष्ट्वा—असमाप्ति की क्रिया। परिणामं—द्वि० एक०। जीवेन—तृतीया एकवचन कर्मवाच्ये कर्ता। कर्म—प्रथमा एक० कर्मवाच्ये कर्मकारक। भण्यते—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० कर्मवाच्ये क्रिया। उपचारमात्रेण—तृतीया एकवचन।।105।।

तत्त्व में हैं, ऐसा निरखकर अपने ही स्वरूपमें रमणका पौरुष करना।।105।।

वह उपचार कैसे है सो दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—[योधैः] योद्धाओं के द्वारा [युद्धे कृते] युद्ध किये जाने पर [लोकः] लोक [इति जल्पते] ऐसा कहते हैं कि [राज्ञा कृतं] राजाने युद्ध किया सो यह [व्यवहारेण] व्यवहारसे कहना है [तथा] उसी प्रकार [ज्ञानावरणादि] ज्ञानावरणादि कर्म [जीवेन कृतं] जीवके द्वारा किया गया, ऐसा कहना व्यवहारसे है।

टीकार्थ—जैसे युद्ध परिणामसे स्वयं परिणमन करने वाले योद्धाओं द्वारा किए गए युद्धके होने पर युद्ध परिणामसे स्वयं नहीं परिणत हुए राजाको लोक कहते हैं कि युद्ध राजाने किया। यह कथन उपचार है, परमार्थ नहीं है। उसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्मपरिणामसे स्वयं परिणमन करने वाले पुद्गलद्रव्यके द्वारा किए गए ज्ञानावरणादि कर्मके होने पर ज्ञानावरणादि कर्म परिणामसे स्वयं नहीं परिणमन करने वाले आत्मा के सम्बन्धमें कहते हैं कि यह ज्ञानावरणादि कर्म आत्मा के द्वारा किया गया, यह कथन उपचार है, परमार्थ नहीं है। **भावार्थ**—जैसे योद्धा युद्ध करे; वहाँ पर संबन्धवष राजाने युद्ध किया, यह उपचारसे कहा जाता है, वैसे पुद्गलकर्म स्वयं कर्मरूप परिणमता है, वहाँ निमित्तसम्बन्धवष पुद्गलकर्मको जीवने किया, ऐसा उपचार से कहा जाता है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया गया था कि जीवके द्वारा कर्म किया गया यह कथन उपचारमात्र है। अब इस गाथामें इसी विषयको उदाहरणपूर्वक स्पष्ट किया है।

तथ्यप्रकाश—(1) युद्ध तो योद्धा ही कर रहे हैं, किन्तु जो युद्ध नहीं कर रहा ऐसे रागके प्रति उपचार किया जाता है कि राजाने युद्ध किया। (2) ज्ञानावरणादिकर्मपरिणाम से तो स्वयं पुद्गलद्रव्य ही परिणम रहा है, किन्तु जो कर्मपरिणामसे नहीं परिणम रहा, ऐसे जीवके प्रति उपचार किया जाता है कि जीवने ज्ञानावरणादि कर्म किये। (3) यह उपचार इस कारण परमार्थ नहीं कि एक द्रव्यकी बात दूसरे द्रव्य में लगाई गई। (4) यह उपचार निमित्तनैमित्तिक भाव की याद दिलाकर निमित्तभूत विकल्प व व्यापार तथा नैमित्तिक कर्मबन्धन दोनों से हटने की शिक्षा दिला सकता है। (5) कर्मने जीवविकार किये यह उपचार भी निमित्तनैमित्तिक भावकी याद दिलाकर निमित्तभूत कर्मसे व नैमित्तिक विभाव से हटने की शिक्षा दिला सकता है।

कथं इति चेत्—

जोधेहिं कदे जुदे राएण कदंति जंपदे लोगो ।

तह ववहारेण कदं णाणावरणादि जीवेण ।।106।।

योद्धादि युद्ध करते, करता नृप युद्ध यह कहे जनता ।

व्यवहारसे किये त्यों, ज्ञानावरणादि आत्माने ।।106।।

योधैः कृते युद्धे राज्ञा कृतमिति जल्पते लोकः। तथा व्यवहारेण कृतं ज्ञानावरणादि जीवेन।।106।।

यथा युद्धपरिणामेन स्वयं परिणममानैः योधैः कृते युद्धे युद्धपरिणामेन स्वयमपरिणममानस्य राज्ञो राज्ञा किल कृतं युद्धमित्युपचारो न तु परमार्थः। तथा ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामेन स्वयं परिणममानेन पुद्गलद्रव्येण कृते ज्ञानावरणादिकर्मणि ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामेन स्वयमपरिणममानस्यात्मनः किलात्मना कृतं ज्ञानावरणादिकर्ममित्युपचारो न परमार्थः।।106।।

नामसंज्ञ—जोध, कद, जुद्ध, राय, कद, इति, लोग, तह, ववहार, कद, णाणावरणादि, जीव। **धातुसंज्ञ**—जुञ्ज संप्रहारे, जंप व्यक्तायां वाचि। **प्रकृतिशब्द**—योध, कृत, युद्ध, राजन्, कृत, इति, लोक,

तथा, व्यवहार, कृत, ज्ञानावरणादि, जीव। **मूलधातु**—युध संप्रहारे दिवादि, राजृ दीप्तौ भ्वादि, जल्प व्यक्तायां वाचि मानसे च भ्वादि, लोकृ दर्शने भ्वादि, लोकृ भाषार्थे चुरादि। **पदविवरण**—योधैः—तृतीया बहु०। कृते—सप्तमी एकवचन कृदन्त। युद्धे—सप्तमी एक०। राज्ञा—तृ० ए०। कृतं—प्रथमा एक० कृदन्त। इति—अव्यय। जल्पते—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। लोकः—प्रथमा एक०। तथा—अव्यय। व्यवहारेण—तृ० ए०। कृतं—प्रथमा एक०। ज्ञानावरणादि—प्रथमा एक०। जीवेन—तृतीया एकवचन।।106।।

सिद्धान्त—(1) कार्यमें जो निमित्त हो उसे कार्यका कर्ता कहना उपचार है।

दृष्टि—1—परकर्तृत्व अनुपचरित असदभूतव्यवहार (129)।

प्रयोग—जीवने ज्ञानावरणादि कर्म किये, इस उपचारकथन में यह तथ्य निहार करके कि जीवने विकल्प व व्यापारका निमित्त पाकर यह सब कर्मबोझ बन गया सो अब निर्विल्य निष्क्रिय ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि करना ताकि अपने को परमविश्राम मिले और निकटकालमें सदा के लिये कर्ममुक्त होकर संसार—संकटसे छुटकारा मिले।।106।।

अब ऐसा निष्चय हुआ कि—[आत्मा] आत्मा [पुद्गलद्रव्यं] पुद्गलद्रव्यको [उत्पादयति] उत्पन्न करता है [च] और [करोति] करता है [बध्नाति] बाँधता है [परिणामयति] परिणमता है [च] तथा [गृह्लाति] ग्रहण करता है ऐसा [व्यवहारनयस्य] व्यवहारनयका [वक्तव्यं] वचन है।

तात्पर्य—आत्मा अपने भावको ही करता है, फिर निमित्तनैमित्तिक भाव दिखने से लोग कहने लगते हैं कि जीवने पुद्गलकर्म को ग्रहण किया, परिणमाया, उत्पन्न किया, बाँधा आदि, सो यह उपचारमात्र ही है।

टीकार्थ—यह आत्मा निष्चयसे व्याप्य—व्यापकभावके अभावसे प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य पुद्गलद्रव्यात्मक कर्मको न ग्रहण करता, न परिणमाता है, न उपजाता है, न करता है और न बाँधता है। व्याप्य—व्यापक भावके अभाव होनेपर भी प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसे तीन प्रकार के पुद्गलद्रव्यात्मक कर्मको यह आत्मा ग्रहण करता है, उपजाता है, करता है और बाँधता है। ऐसा जो विकल्प होता है, वह प्रकट उपचार है। **भावार्थ**—व्याप्य—व्यापक भावके बिना जीवको कर्मका कर्ता कहना वह उपचार है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें उदाहरणपूर्वक यह बताया गया था कि जीवके द्वारा कर्म किया गया यह कथन उपचार से किस प्रकार है? अब इस गाथा में उस विवरणके निष्कर्ष में आगमवर्णित सिद्धान्त स्थापित किया गया है।

तथ्यप्रकाश—(1) आत्मा पुद्गलद्रव्य को करता है यह व्यवहारनयका वचन है। (2) यहाँ करता है यह सामान्य वचन है जिसका विप्लेषण करने पर कि क्या—क्या कैसे—कैसे करता है, चार क्रियायें आती हैं। (3) उत्पादयति अर्थात् जीव कर्मको प्रकृतिरूप से उत्पन्न अत एतत्स्थितं—

उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य।

आदा पुग्गलदव्वं ववहारणयस्स वत्तव्वं।।107।।

व्यवहारसे बताया, ज्ञानावरणादि कर्मको आत्मा।

गहे करे अरु बांधे, उपजावे वा परिणमावे।।107।।

उत्पादयति करोति च बध्नाति परिणामयति गृह्लाति च। आत्मा पुद्गलद्रव्यं व्यवहारनयस्य वक्तव्यं।

अयं खल्वात्मा न गृह्लाति न परिणामयति नोत्पादयति न करोति न बध्नाति व्याप्य—व्यापकभावाभावात् प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च पुद्गलद्रव्यात्मकं कर्म। यत्तु व्याप्यव्यापकभावा—भावेपि प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च पुद्गलद्रव्यात्मकं कर्म गृह्लाति परिणामयत्युत्पादयति करोति बध्नाति चात्मेति विकल्पः स किलोपचारः।।107।।

नामसंज्ञ—य, य, अत्त, पुग्गलदव्वं, ववहारणय, वत्तव्वं। **धातुसंज्ञ**—उत्—पद गतौ, कर करणे, बंध

बंधने, परि-नम नम्रीभावे प्रेरणा, गिण्ह ग्रहणे। **प्रकृतिशब्द**—च, च आत्मन्, पुद्गलद्रव्य, व्यवहारनय, वक्तव्य। **मूलधातु**—उत्-पद गतौ दिवादि चुरादि, डुकृञ् करणे, बन्ध बन्धने, परि-गम प्रह्वत्वे, ग्रह उपादाने। **पदविवरण**—उत्पादयति करोति, बध्नाति, परिणामयति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन। आत्मा—प्रथमा एकवचन। पुद्गलद्रव्यं—द्वितीया एक०। व्यवहारनयस्य—षष्ठी एक०। वक्तव्यं—प्रथमा एकवचन कृदन्त।

करता है। (4) बध्नाति अर्थात् जीव कर्ममें स्थितिबन्ध करता है। (5) परिणमयति अर्थात् जीव कर्मको अनुभागरूपमें परिणमाता है। (6) गृह्लाति अर्थात् जीव सर्वात्मप्रदेशों से कर्मप्रदेशोंको याने कर्मपरमाणुओं को ग्रहण करता है। (7) उपादानदृष्टिसे निरखने पर यह सब कथन उपचार वाला व्यवहार बनता है। (8) घटनादृष्टिसे, निमित्तनैमित्तिकदृष्टिसे निरखने पर आगमका यह सिद्धान्त वाला व्यवहार बनता है “प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधयः।”

सिद्धान्त—(1) निमित्तत्व होनेसे आत्मा पुद्गलद्रव्य को करता है यह उपचार किया जाता है। (2) आत्मा के योग उपयोग का निमित्त पाकर पुद्गलकार्माणवर्गणायें कर्मरूप परिणमती है।

दृष्टि—1—परकर्तृत्व अनुपचरित असद्भूतव्यवहार (129)। 2—उपाधिसापेक्ष अषुद्ध द्रव्यार्थिकनय (24)।

प्रयोग—वीतरागस्वसंवेदनज्ञानबलसे अविकार ज्ञानस्वभावका अनुभव करके अपने को निर्भर रहने देने का पौरुष करना।।107।।

यहाँ प्रश्न होता है कि यह उपचार किस तरहसे है, उसका उत्तर दृष्टांत द्वारा देते हैं—[यथा] जैसे [राजा] राजा [दोषगुणोत्पादकः] प्रजाके दोष और गुणों का उत्पन्न करने वाला है [इति] ऐसा [व्यवहारात्] व्यवहारसे [आलपितः] कहा है [तथा] उसी प्रकार [जीवः] जीव [द्रव्यगुणोत्पादकः] पुद्गल द्रव्यमें द्रव्य गुणका उत्पादक है, ऐसा [व्यवहारात्] व्यवहारसे [भणितः] कहा गया है।

टीकार्थ—जैसे प्रजा के व्याप्यव्यापक भावसे स्वभावसे ही उत्पन्न जो गुण और दोष उनमें राजा के व्याप्यव्यापकभावका अभाव है तो भी लोक कहते हैं कि गुण दोष का उपजाने वाला राजा है, ऐसा उपचार (व्यवहार) है, उसी प्रकार पुद्गलद्रव्यके व्याप्य—व्यापक भावसे ही उत्पन्न गुण, दोषों में जीवके व्याप्यव्यापकभावका अभाव है तो भी उन गुण दोषों का उपजाने वाला जीव है, ऐसा उपचार है। **भावार्थ**—जैसे लोकमें कहते हैं कि जैसा राजा हो, वैसी ही प्रजा होती है, ऐसा कहकर गुण, दोषका कर्ता राजाको कहा जाता है, उसी प्रकार जैसा जीवका विभाव हो उसके अनुसार कर्मबंध होता है ऐसा जानकर पुद्गल द्रव्यके गुण दोषका कर्ता जीवको कहते हैं। जब परमार्थदृष्टिसे विचारो तो यह उपचार है।

कथमिति चेत्—

जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगोत्ति आलविदो ।

तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो ।।108 ।।

ज्यौं व्यवहार बताया, राजा प्रजाके दोश गुण करता ।

त्यौं व्यवहार कि आत्मा, पुद्गलके द्रव्य गुण करता ।।108 ।।

यथा राजा व्यवहारादोषगुणोत्पादक इत्यालपितः। तथा जीवो व्यवहाराद् द्रव्यगुणोत्पादक को भणितः।

यथा लोकस्य व्याप्यव्यापकभावेन स्वभावत एवोत्पद्यमानेषु गुणदोषेषु व्याप्यव्यापक—भावाभावेऽपि तदुत्पादको राजेत्युपचारः। तथा पुद्गलद्रव्यस्य व्याप्यव्यापकभावेन स्वभावत एवोत्पद्यमानेषु गुणदोषेषु व्याप्यव्यापकभावाभावेऽपि तदुत्पादको जीव इत्युपचारः। जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म नैव, कस्तर्हि तत्कुरुत इत्यभिपंकयैव। एतर्हि तीव्ररयमोहनिवर्हणाय, संकीर्त्यते श्रुतुत पुद्गलकर्म कर्तुं।।63।। ।।108।।

नामसंज्ञ—जह, राय, व्यवहार, दोसगुणुप्पादग, इति, आलविद, तह, जीव, व्यवहार, दव्वगुणुप्पादग, भणिद।
धातुसंज्ञ—आ—लव व्यक्तायां वाचि, भण कथने। **प्रकृतिशब्द**—यथा, राजन्, व्यवहार, दोषगुणोत्पादक, इति, आलपित, तथा, जीव, व्यवहार, द्रव्यगुणोत्पादक, भणित। **मूलधातु**—राजू दीप्तौ, विअव ह्वञ हरणे, दुष वैकृत्ये दिवादि, आ—लप व्यक्तायां वाचि भवादि, भण 'ब्दार्थः। **पदविवरण**—यथा—अव्यय। राजा—प्रथमा एक०। व्यवहारात्—पंचमी एकवचन। दोषगुणोत्पादकः—प्रथमा एक०। इति—अव्यय। आलपितः—प्रथमा एक० कृदंत कर्मवाच्ये क्रिया। तथा—अव्यय। जीवः—प्रथमा एकवचन। व्यवहारात्—पंचमी एक०। द्रव्यगुणोत्पादकः—प्रथमा एक०। भणितः—प्रथमा एकवचन कर्मवाच्ये क्रिया।।108।।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें कहा गया था कि जीव कर्म को करता है, बाँधता है अनादि कथन व्यवहारनय का वचन है। अब इसी कथन को इस गाथा में उदाहरणपूर्वक प्रसिद्ध किया गया है।

तथ्यप्रकाश—1—जिस पुरुष में गुण व दोष उत्पन्न होते हैं उस पुरुष में ही वे गुण व दोष व्याप्य हैं। 2—राजा की नीति के अनुसार प्रजालोक भी अपनी प्रवृत्ति बना लेते हैं, इस रीति को निरखकर यह उपचार किया जाता है कि राजा लोगों के गुण दोष का उत्पादक है। 3—जिन पुद्गलद्रव्यों में 'जुभकर्मत्व अषुभकर्मत्व उत्पन्न होते हैं वे कर्मत्व उन पुद्गलद्रव्योंमें ही व्याप्य हैं। 4—जीवके 'जुभ अषुभभावके अनुसार पुद्गलकार्माणद्रव्य भी अपने में 'जुभ अषुभ कर्मत्व बना लेते हैं सो इस निमित्तनैमित्तिकभाव को निरखकर यह उपचार किया जाता है कि जीव पुद्गलकर्मा का उत्पादक है।

सिद्धान्त—1—जीव पुद्गलद्रव्यमें 'जुभाषुभकर्मत्व उत्पन्न करता है यह व्यवहारसे कहा गया है। 2—जीवके 'जुभाषुभपरिणामका निमित्त पाकर पौद्गलिक कार्माणवर्गणावों में पुण्यपाप प्रकृतित्वपरिणमन होता है।

दृष्टि—1—परकर्तृत्व अनुपचरित असद्भूतव्यवहार (129)। 2—उपाधिसापेक्ष अषुद्धद्रव्यार्थिकनय (24)।

प्रयोग—अपने 'जुभाषुभविकारों के निमित्त से यह पुण्यपापमय संसारविडम्बना बन रही है, अतः संसारविडम्बना से निवृत्त होने के लिये अविकार ज्ञानस्वभावकी उपासना का परमपौरुष करना।।108।।

अब जिज्ञासा होती है कि पुद्गल कर्मका कर्ता यदि जीव नहीं है तो कौन है, इस का काव्य कहते हैं—**जीवः** इत्यादि। **अर्थ**—यदि पुद्गल कर्मको जीव नहीं करता तो उस पुद्गलकर्मको कौन करता है? ऐसी आषंका करके अब तीव्र वेग वाले मोहका याने कर्तृकर्मत्वविषयक अज्ञानका नाश करने को पुद्गलकर्म का कर्ता बताया जा रहा है, सो हे ज्ञान के इच्छुक पुरुषों तुम सुनो।

समण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो ।

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य वोद्धव्वा ।।109।।

तेसिं पुणोवि य इमो भणिदो भेदो दु तेरसवियप्पो ।

मिच्छादिट्ठीआदी जाव सजोगिस्स चरमंतं ।।110।।

एदे अचेदणा खलु पुग्गलकम्मदयसंभवा जां

ते जदि करंति कम्मं णवि तेसिं वेदगो आदा ।।111।।

गुणसण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जां

तह्मा जीवोऽकत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि ।।112।।

सामान्यतया प्रत्यय, चार कहे गये बन्धके कर्ता ।

मिथ्यात्व तथा अविरति, कषाय अरु योगको जानो ।।109।।
 उनके फिर भेद कहे, जीव गुणस्थानरूप हैं तेरह ।
 मिथ्यादृष्टी आदिक, केवलज्ञानी सयोगी तक ।।110।।
 पुद्गलकर्म उदयसे, उत्पन्न हुए अतः अचेतन ये ।
 वे यदि कर्म करें तो, उनका वेदक नहीं आत्मा ।।111।।
 चूंकि गुणस्थानक ये, आस्रव करते हैं कर्मको इससे ।
 जीव अकर्ता निश्चित, ये आस्रव कर्मको करते ।।112।।

नामसंज्ञ—सामान्यपञ्चय, खलु, चउ, बंधकत्तार, मिच्छत्त, अविरमण, कषायजोग, य, बोद्धव्य, त, पुणो, वि, य, इम, भणिद, भेद, दु, तेरसवियप्प, मिच्छादिट्ठी आदि, जाव, सजोगि, चरमंत, एत, अचेदण, खलु,

अब पुद्गलकर्मका कर्ता कौन है सो सुनिये—[चत्वारः] चार [सामान्यप्रत्ययाः] सामान्य प्रत्यय [खलु] वास्तवमें [बंधकर्तारः] बंधके कर्ता [भण्यन्ते] कहे गये हैं वे [मिथ्यात्व] मिथ्यात्व [अविरमण] अविरमण [च] और [कषाययोगौ] कषाय योग [बोद्धव्याः] जानने चाहिये [च पुनः] और फिर [तेषां अपि] उनका भी [त्रयोदशविकल्पः] तेरह प्रकारका [अयं] यह [भेदः] भेद [कथितः] कहा गया है जो कि [मिथ्यादृष्ट्यादिः] मिथ्यादृष्टि को आदि लेकर [सयोगिचरमांतः यावत्] सयोग केवली तक है। [एते] ये [खलु] निष्चयसे [अचेतनाः] अचेतन हैं [यस्मात्] क्योंकि [पुद्गलकर्मादयसंभवाः] पुद्गलकर्म के उदयसे हुए हैं [यदि] यदि [ते] वे [कर्म] कर्मको [कुर्वन्ति] करते हैं तो करें, [तु] किन्तु [तेषां वेदकः] उनका भोक्ता [अपि] भी [आत्मा न] आत्मा नहीं होता [यस्मात्] क्योंकि [गुणसंज्ञिताः] गुण नाम वाले [एते प्रत्ययाः] ये प्रत्यय [कर्म कुर्वति] कर्मको करते हैं [तस्मात्] इस कारण [जीवः] जीव तो [अकर्ता] कर्मका कर्ता नहीं है [च] और [गुणाः] ये गुण ही [कर्माणि] कर्मोंको [कुर्वति] करते हैं।

तात्पर्य—आत्मा निमित्ततः भी पौद्गलिक कर्मों का कर्ता नहीं, किन्तु पुद्गलमय सामान्य प्रत्यय व उनके विशेष त्रयोदश गुणस्थान ये पौद्गलिक कर्मों के निमित्ततः कर्ता हैं।

टीकार्थ—निष्चयसे पुद्गलकर्मका एक पुद्गलद्रव्य ही कर्ता है। उस पुद्गलद्रव्यके मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार बंधके सामान्यहेतु होनेसे बंधके कर्ता हैं। वे ही मिथ्यादृष्टिको आदि लेकर सयोगकेवली एक भेदरूप हुए तेरह कर्ता हैं। अब ये पुद्गलकर्मविपाकके भेद होनेसे अत्यंत अचेतन होते हुए केवल ये 13 गुणस्थान पुद्गलकर्मके कर्ता होकर व्याप्यव्यापकभावसे कुछ भी पुद्गलकर्मको करें तो करें, जीव का इसमें क्या आया? कुछ भी नहीं अथवा यहाँ यह तर्क है कि पुद्गलमय मिथ्यात्वादिका वेदन करता हुआ जीव स्वयं ही मिथ्यादृष्टि होकर पुद्गल कर्मको करता है। यह तर्क बिल्कुल अज्ञान है, क्योंकि आत्मा भाव्यभावक भावके अभावसे मिथ्यात्वादि पुद्गलकर्मों का भोक्ता भी सामान्यप्रत्ययाः खलु चत्वारो भण्यन्ते बंधकर्तारः। मिथ्यात्वमविरमणं कषाययोगौ च बोद्धव्याः।।109।। तेषां पुनरपि चायं भणितो भेदस्तु त्रयोदशविकल्पः। मिथ्यादृष्ट्यादिर्यावत्सयोगिचरमांतम्।।110।। एते अचेतनाः खलु पुद्गलकर्मादयसंभवा यस्मात्। ते यदि कुर्वन्ति कर्म नापि तेषां वेदक आत्मा।।111।। गुणसंज्ञितास्तु एते कर्म कुर्वन्ति प्रत्यया यस्मात्। तस्माज्जीवोऽकर्ता गुणाच्च कुर्वन्ति कर्माणि।।112।।

पुद्गलकर्मणः किल पुद्गलद्रव्यमेवैकं कर्तृ, तद्विषेष्वाः मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा बन्धस्य सामान्यहेतुतया चत्वारः कर्तारः, त एव विकल्प्यमाना मिथ्यादृष्ट्यादिसयोगकेवल्यता—स्त्रयोदश कर्तारः। अथैते पुद्गलकर्मविपाकविकल्पत्वादत्यंतमचेतनाः संतस्त्रयोदश कर्तारः केवला एव यदि व्याप्यव्यापकभावेन किंचनापि पुद्गलकर्म कुर्युस्तदा कुर्युरेव किं जीवस्यात्रापतितं। अथायं तर्कः पुद्गलमयमिथ्यात्वादीन् वेदयमानो जीवः स्वयमेव मिथ्या—

पुगलकम्मदयसंभव, ज, त, जदि, कम्म, ण, वि, त, वेदग, अत्त, गुणसण्णिद, दु, एत, कम्म, पच्चय, ज, त, जीव, अकर्तार, गुण, य, कम्म। धातुसंज्ञ—भण कथेन, बुज्झ अवगमने, कर करणे, कुव्व करणे, कुव्व

करणे। **प्रकृतिशब्द**—सामान्यप्रत्यय, खलु, चतुर, बन्धकर्तृ, मिथ्यात्व, अविरमण, कषाययोग, तत्, पुनर्, अपि, च, इदम्, भेद, तु, त्रयोदशविकल्प, मिथ्यादृष्ट्यादि, यावत्, सयोगिन्, चरमान्त, एतत्, अचेतन, खलु, पुद्गलकर्मोदयसंभव, यत्, तत्, यदि, कर्मन्, न, अपि, तत्, वेदक, आत्मन्, गुणसंज्ञित, तु, एतत्, कर्मन्, निष्चयसे नहीं है तो पुद्गलकर्मका कर्ता कैसे हो सकता है? इसलिये यह सिद्ध हुआ कि पुद्गल द्रव्यमय सामान्य चार प्रत्यय व उनके विषेष भेदरूप तेरह प्रत्यय जो कि गुण 'ब्दसे कहे गये हैं वे ही केवल कर्मों को करते हैं। इस कारण जीव पुद्गलकर्मोंका अकर्ता है और वे गुणस्थान ही उनके कर्ता हैं, क्योंकि वे गुण पुद्गलद्रव्यमय ही हैं। इससे पुद्गलकर्मका पुद्गलद्रव्य ही एक कर्ता है यह सिद्ध हुआ। **भावार्थ**—'अन्य द्रव्य का अन्य द्रव्य कर्ता कभी नहीं होता' इस न्यायसे आत्मद्रव्य पुद्गलद्रव्य कर्म का कर्ता नहीं है, बंधके कर्ता तो योगकषायादिकसे उत्पन्न हुए गुणस्थान हैं। वे वास्तवमें अचेतन पुद्गलमय हैं। इसलिए वे पुद्गलकर्मके कर्ता हैं, जीव को कर्ता मानना अज्ञान है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में कहा गया था कि जीव कर्मद्रव्यगुणोत्पादक है यह उपचार से कहा गया, निष्चयतः जीव पुद्गलकर्म को कुछ नहीं करता। इस विवरण पर जिज्ञासा होती है कि फिर पुद्गलकर्मको करता कौन है? इसके समाधानमें ये 4 गाथायें आई हैं।

तथ्यप्रकाश—(1) पुद्गलकर्म का पुद्गलद्रव्य ही एक कर्ता है। (2) मिथ्यात्व, अविरति, कषाय व योग—ये 4 पुद्गलकर्म के प्रकार हैं, अतः ये चार पुद्गलकर्म के कर्ता हैं। (3) मिथ्यात्व का भेद प्रथम गुणस्थान, अविरतिके भेद 1 से 5 गुणस्थान, कषायके भेद 1 से 10 गुणस्थान व योग के भेद 1 से 13 गुणस्थान हैं, अतः ये 13 गुणस्थान पुद्गलकर्मके कर्ता हैं। (4) मिथ्यात्व से सयोगकेवली पर्यंत 13 गुणस्थान पुद्गलकर्मके विपाकरूप हैं। (5) ये तेरह गुणस्थान पुद्गलकर्म को व्याप्यव्यापकभावसे करते हैं। (6) जीवके परिणामरूप 13 गुणस्थान पुद्गलकर्मविपाकरूप 13 गुणस्थानों से अन्य हैं इन दोनों में परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव है। (7) मिथ्यादृष्टि जीव अपने मिथ्यात्व परिणाम को करता है व भोगता है। मिथ्यादृष्टि जीव पुद्गलमय मिथ्यात्व को नहीं करता व नहीं भोगता।

सिद्धान्त—(1) पुद्गलकर्मका व पौद्गलिक गुणस्थानों का पुद्गलद्रव्यके साथ व्याप्य— व्यापक भाव होने से पुद्गलद्रव्य ही कर्ता है। (2) जीवगुणस्थानों का जीवद्रव्य में व्याप्य— व्यापकभाव होनेसे जीवद्रव्य ही कर्ता है।

दृष्टि—1—अषुद्धनिष्चयनय (47)। 2—अषुद्धनिष्चयनय (47)।

प्रयोग—पुद्गलकर्मविपाकके प्रतिफलनों में राग होनेसे संसारक्लेशविडम्बना जानकर ज्ञानाकारस्वरूप विषुद्ध निज चैतन्यरसके स्वादमें लगना चाहिये। इससे राग मिटेगा प्रतिफलन कर्मसम्बन्ध मिटेगा, कैवल्य प्रकट होगा।।109—112।।

दृष्टिभूत्वा पुद्गलकर्म करोति स किलाविवेको यतो खल्वात्मा भाव्यभावकभावाभावात् पुद्गलद्रव्यमयमिथ्यात्वादिवेदकोपि कथं पुनः पुद्गलकर्मणः कर्ता नाम। अर्थतदायातं यतः पुद्गलद्रव्यमयानां चतुर्णां सामान्यप्रत्ययानां विकल्पास्त्रयोदश विषेषप्रत्यया गुणषड्वाच्याः केवला एव कुर्वति कर्माणि। ततः पुद्गलकर्मणामकर्ता जीवो गुणा एव तत्कर्तारस्ते तु पुद्गलद्रव्यमेव। ततः स्थितं पुद्गलकर्मणः पुद्गलद्रव्यमेवैकं कर्तृ।।109—112।।

प्रत्यय, यत्, तत्, जीव, अकर्तृ, गुण, च, कर्मन्। **मूलधातु**—सम्-अण 'ब्दार्थे भ्वादि, प्राणने दिवादि, प्रति-अप गतौ भ्वादि, युजिर् योगे, बुध अवबोधने, चिती संज्ञाने, पूरी आप्यायने, गल स्रवणे, विद चेतनाख्याननिवासेषु चुरादि। **पदविवरण**—सामान्यप्रत्ययाः—प्रथमा बहु०। खलु-अव्यय। चत्वारः—प्रथमा बहुवचन। भण्यन्ते-वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन कर्मवाच्ये क्रिया। बन्धकर्तारः—प्रथमा बहु०। मिथ्यात्वं—प्रथमा एक०। अविरमणं—प्रथमा एक०। कषाययोगो—प्रथमा द्विवचन। च-अव्यय। बोद्धव्याः—प्रथमा

बहुवचन कृदन्त क्रिया। तेषां-षष्ठी बहु०। पुनः-अव्यय। अपि-अव्यय। च-अव्यय। अयं-प्रथमा एक०। भणितः-प्रथमा एकवचन कृदन्त कर्मवाच्य क्रिया। भेदः-प्रथमा एक०। तु-अव्यय। त्रयोदशविकल्पः-प्रथमा एक०। मिथ्यादृष्ट्यादिः-प्र० ए०। यावत्-अव्यय। सयोगिनः-षष्ठी एक०। चरमान्तः-प्रथमा एकवचन। एते-प्रथमा बहुवचन। अचेतनाः-प्रथमा बहु०। खलु-अव्यय। पुद्गलकर्मादयसंभवाः-प्रथमा बहु०। यस्मात्-पंचमी एकवचन। ते-प्रथमा बहु०। यदि-अव्यय। कुर्वन्ति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु०। कर्म-द्वितीया एक० कर्मकारक। न-अव्यय। अपि-अव्यय। तेषां-षष्ठी बहुवचन। वेदकः-प्र० ए०। आत्मा-प्र० ए०। गुणसंज्ञिताः-प्रथमा बहु०। तु-अव्यय। एते-प्र० बहु०। कर्म-द्वि० एक०। कुर्वन्ति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु०। प्रत्ययाः-प्र० बहु०। यस्मात्-पंचमी एकवचन हेत्वर्थे। तस्मात्-पंचमी एक०। जीवः-प्र० ए०। अकर्ता-प्र० एक०। गुणाः-प्र० बहु०। च-अव्यय। कुर्वन्ति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु०। कर्माणि-द्वितीया बहुवचन कर्मकारक।।109-112।।

अब कहते हैं कि जीव और उन प्रत्ययों का एकत्व भी नहीं है—[यथा] जैसे [जीवस्य] जीवके [उपयोगः अनन्यः] उपयोग एकरूप है [तथा] उसी प्रकार [यदि] यदि [क्रोधोपि] क्रोध भी [अनन्यः] एकरूप हो जाय तो [एवं] इस तरह [जीवस्य] जीव [च] और [अजीवस्य] अजीवके [अनन्यत्वं] एकत्व [आपन्नं] प्राप्त हुआ [एवं च इह] ऐसा होनेसे इस लोकमें [यः तु] जो [जीवः] जीव है [स एव] वही [नियमतः] नियमसे [तथा] वैसा ही [अजीवः] अजीव हुआ [एकत्वे] ऐसे दोनों के एकत्व होनेमें [अयं दोषः] यह दोष प्राप्त हुआ। [प्रत्ययनोकर्मकर्माणां] इसी प्रकार प्रत्यय नोकर्म-कर्म इनमें भी यही दोष जानना। [अथ] अब इस दोष के भयसे [ते] तेरे मत में [क्रोधः] क्रोध [अन्यः] अन्य है और [उपयोगात्मकः] उपयोगस्वरूप [चेतयिता] आत्मा (अन्यः) अन्य (भवति) है तो (यथा क्रोधः) जैसे क्रोध (अन्यः) आत्मा से अन्य है (तथा) उसी प्रकार (प्रत्ययाः) प्रत्यय (कर्म) कर्म (नोकर्म अपि) और नोकर्म ये भी (अन्यत्) आत्मा से अन्य ही हैं, ऐसा निष्चय करो।

तात्पर्य—क्रोध, प्रत्यय व 'रीर ये सभी आत्मा से भिन्न हैं।

टीकार्थ—जैसे जीवके साथ तन्मयता से जीवसे उपयोग अनन्य (एकरूप) है, उसी प्रकार जड़ क्रोध भी अनन्य ही है, ऐसी प्रतीति हो जाय तो चिद्रूपकी और जड़की अनन्यतासे जीवके उपयोगमयता की तरह जड़ क्रोधमय होने की भी प्राप्ति हुई। ऐसा होने पर जो जीव है, वही अजीव है, इस प्रकार द्रव्यान्तर का लोप हो गया। इसी प्रकार प्रत्यय नोकर्म और कर्मों की भी जीवके साथ एकत्व की प्रतीति में यही दोष आता है। इस दोष के भयसे यदि ऐसा माना जाय कि उपयोगस्वरूप जीव तो अन्य है और जड़स्वरूप क्रोध अन्य है तो जैसे उपयोगस्वरूप जीवसे जड़स्वभाव क्रोध अन्य है, उसी प्रकार प्रत्यय नोकर्म और कर्म भी अन्य ही हैं, क्योंकि जैसा जड़स्वभाव क्रोध है, उसी प्रकार प्रत्यय नोकर्म, कर्म ये भी जड़ हैं, इनमें विषेषता नहीं है। इस प्रकार जीव और प्रत्यय में एकत्व नहीं है। भावार्थ—मिथ्यात्वादि आस्रव तो जड़स्वभाव हैं और जीव चैतन्यस्वभाव है। यदि जड़ और

न च जीवप्रत्यययोरेकत्वं—

जह जीवस्स अण्णुवओगो कोहो वि तह जदि अण्णो ।

जीवस्साजीवस्स य एवमण्णत्तमावण्णं ।।113।।

एवमिह तो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहाजीवो ।

अयमेयत्ते दोसो पच्चयणोकम्मकम्माणं ।।114।।

अह दे अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा ।

जह कोहो तह पच्चय कम्मं णोकम्ममवि अण्णं ।।115।।

ज्यों आत्मासे तन्मय, उपयोग तथैव क्रोध हो तन्मय।

जीव व अजीवको फिर, अभिन्नता प्राप्त होवेगी।।113।।
 इस तरह तीव्र जो है, वही नियमसे अजीव होवेगा।
 एकत्व दोष यह ही, आस्रव नोकर्म कर्मों में।।114।।
 उपयोगमयी आत्मा, यदि है अन्य हि व अन्य क्रोधादिक।
 कर्म नोकर्म प्रत्यय, तो तद्वत् भिन्न आत्मा से।।115।।

यथा जीवस्यानन्य उपयोगः क्रोधोपि तथा यद्यनन्यः। जीवस्याजीवस्य चवमनन्यत्वमापन्नं।।113।।

एवमिह यस्तु जीवः स चैव तु नियमतस्तथाजीवः। अयमेकत्वे दोषः प्रत्ययनोकर्मकर्मणां।।114।।

अथ ते अन्यः क्रोधोऽन्यः उपयोगात्मको भवति चेतयिता। यथा क्रोधस्तथा प्रत्ययाः कर्म नोकर्माप्यन्यत्।

यदि यथा जीवस्य तन्मयत्वाज्जीवादनन्य उपयोगस्तथा जडः क्रोधोप्यनन्य एवेति प्रतिपत्तिस्तदा चिद्रूपजडयोरनन्यत्वाज्जीवस्योपयोगमयत्ववज्जडक्रोधमयत्वापत्तिः। तथा सति तु य एव जीवः स एवाजीव इति द्रव्यांतरलुप्तिः। एवं प्रत्ययनोकर्मकर्मणामपि जीवादनन्यत्व-प्रतिपत्तावयमेव दोषः। अर्थतद्दोषभयादनन्य एवोपयोगात्मा जीवोऽन्य एव जडस्वभावः क्रोधः

नामसंज्ञ—जह, जीव, अण्णुवओग, कोह, वि, तह, जदि, अण्ण, जीव, अजीव, य, अण्णत्त, आवण्ण, एवं, अह, जो दु, जीव, त, च, एव, दु, णियमदो, तह, अजीव, इत्, एयत्त, दोस, पच्चयणोकम्मकम्म, अह, तुम्ह, अण्ण, कोह, अण्णुवओगपग्ग, चेद, जह, कोह, तह, पच्चय, कम्म, णोकम्म, अवि, अण्ण।
धातुसंज्ञ—आ-वण्ण घटनायां, हव सत्तायां, चेत करणावबोधनयोः। **प्रकृतिशब्द**—यथा, जीव, अनन्य, जीव, अजीव, व, एवं, अन्यत्व, आपन्न, एवं, इह, यत्, तु, जीव, तत्, च, एव, तु, नियमतः, तथा, अजीव,

चेतन एक हो जायें तो भिन्न द्रव्यका ही लोप हो जाय यह बड़ा भारी दोष आता है। इसलिये आस्रव और आत्मा में एकत्व नहीं है, यह निष्चयनयका सिद्धान्त है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथावों में इस तथ्यका निर्देश किया गया है कि मिथ्यात्व, अविरति, कषाययोगरूप तथा उनके भेदरूप 13 गुणस्थान—ये सब द्रव्यप्रत्यय बताये गये और ऐसे ही भावरूप जीवपरिणाम भी है। अब इन तीन गाथावों में इस विवरणसे सम्बंधित यह बात कही गई है कि जीव और प्रत्ययों में एकत्व नहीं है, अभेद नहीं है।

तथ्यप्रकाश—1—जीवसे उपयोग अभिन्न है। अतः जीव उपयोगमय है। 2—यदि जड़ क्रोध भी जीव से अभिन्न हो जाये तो जीव जड़ क्रोधमय हो जावेगा। 3—यदि जीव उपयोगमय की तरह जड़क्रोधमय हो जाय तब तो जो ही जीव है वही अजीव है, द्रव्यान्तर न रहेगा, कौनसा न रहे, फल यह होगा कि दोनों ही न रहे यह महादोष है। 4—जैसे जड़स्वभावी क्रोध उपयोगात्मक जीवसे अन्य है, ऐसे ही प्रत्यय, कर्म, नोकर्म भी उपयोगात्मक जीव से अन्य ही हैं।

सिद्धान्त—1—जीव द्रव्यकर्मों का कर्ता भोक्ता उपचारसे है। 2—जीव भावकर्मों का कर्ता निष्चयनयाभिमुख व्यवहारसे है।

दृष्टि—1—परकर्तृत्व अनुपचरित असद्भूतव्यवहार (129)। 2—अषुद्धनिष्चयनय (47)। इत्यभ्युपगमः तहि यथोपयोगात्मनो जीवादन्यो जडस्वभावः क्रोधः तथा प्रत्ययनोकर्मकर्मण्यप्य-न्यान्येव जडस्वभावत्वाविषेणान्नास्ति जीवप्रत्यययोरेकत्वं।।113-115।।

इदम्, एकत्व, दोष, प्रत्ययनोकर्मकर्मन्, अथ, युष्मद्, अन्य, क्रोध, अन्य, उपयोग, चेतयित्, यथा, क्रोध, तथा, प्रत्यय, कर्म, नोकर्मन्, अपि, अन्यत्। **मूलधातु**—जीव प्राणधारणे, उप-युजिर् योगे, क्रुध क्रोधे, आपद गतौ। **पदविवरण**—यथा-अव्यय। जीवस्य-षष्ठी एक०। अनन्यः-प्रथमा एकवचन। उपयोगः-प्र० ए०। क्रोधः-प्र० ए०। अपि-अव्यय। तथा-अव्यय। यदि-अव्यय। अनन्यः-प्र० एक०। जीवस्य-षष्ठी एक०। अजीवस्य-षष्ठी एक०। च-अव्यय। एवं-अव्यय। अनन्यत्वं-प्रथमा एक०। आपन्नं-प्रथमा ए० कृदंत क्रिया। एवं-अव्यय। इह-अव्यय। यः-प्रथमा एक०। तु-अव्यय। जीवः-प्रथमा एकवचन। सः-प्रथमा एक०। एव-अव्यय। तु-अव्यय। नियमतः-अव्यय पंचम्यां तसल्। तथा-अव्यय। अजीवः-प्रथमा एक०। अयं-प्रथमा एक०। एकत्वे-सप्तमी एक०। दोषः-प्रथमा ए०। प्रत्ययनोकर्मकर्मणां-षष्ठी बहु०।

अथ-अव्यय। ते-षष्ठी एक०। अन्यः-प्रथमा एक०। क्रोधः-प्रथमा एक०। अन्यः-प्रथमा एक०।
उपयोगात्मकः-प्रथमा एक०। भवति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन। चेतयिता-प्रथमा एकवचन।
यथा-अव्यय। क्रोधः-प्र० ए०। तथा-अव्यय। प्रत्ययाः-प्र० बहु०। कर्म, नोकर्म-प्रथमा एक०।
अपि-अव्यय। अन्यत्-प्रथमा एकवचन।।113-115।।

प्रयोग—षुद्ध 'ान्त रहने के लिये जड़ क्रोधादि से व जड़ क्रोधादि के प्रतिफलनसे विविक्त चैतन्यमात्र उपयोगस्वरूप अन्तस्तत्त्व में अधिष्ठित होना चाहिये।।113-115।।

अब सांख्यमतानुयायी षिष्य के प्रति पुद्गलद्रव्य के परिणामस्वभावपना सिद्ध करते हैं—(यदि पुद्गलद्रव्यं) यदि पुद्गलद्रव्य (जीवे) जीव में (स्वयं) स्वयं (न बद्धं) नहीं बँधा (कर्मभावेन) कर्मभावसे (स्वयं) स्वयं (न परिणमते) नहीं परिणमन करता है (इदं तदा) ऐसा मानो तो यह पुद्गलद्रव्य (अपरिणामि) अपरिणामी (भवति) प्रसक्त होता है (च) और (कार्मणवर्गणासु) कार्मणवर्गणावों के (कर्मभावेन) कर्मभावसे (अपरिणममानासु) नहीं परिणमनेपर (संसारस्य) संसारका (अभावः) अभाव (प्रसजति) ठहरेगा (वा) अथवा (सांख्यसमयः) सांख्य मतका प्रसंग आयेगा। (जीवः) यदि जीव ही (पुद्गलद्रव्याणि) पुद्गलद्रव्यों को (कर्मभावेन) कर्मभावसे (परिणामयति) परिणमन कराता है ऐसा माना जाय तो (स्वयं अपरिणममानानि) आप ही परिणमन न करते (तानि) उन पुद्गलद्रव्यों को (चेतयिता) यह चेतन जीव (कथं नु) कैसे (परिणामयति) परिणमा सकता है, यह प्रश्न हो सकता है (अथ) अथवा (पुद्गलद्रव्यं) पुद्गलद्रव्य (स्वयमेव हि) आप ही (कर्मभावेन) कर्मभावसे (परिणमते) परिणमता है, ऐसा माना जाय तो (जीवः) जीव (कर्म) कर्मरूप पुद्गलको (कर्मत्वं) कर्म रूपसे (परिणामयति) परिणमाता है (इति) ऐसा कहना (मिथ्या) झूठ हो जाता है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि (पुद्गलद्रव्यं) पुद्गलद्रव्य (कर्मपरिणतं) कर्मरूप परिणत हुआ (नियमत् चैव) नियमसे ही (कर्म) कर्मरूप (भवति) होता है (तथा) ऐसा होने पर (तच्चैव) वह पुद्गलद्रव्य ही (ज्ञानावरणादिपरिणतं) ज्ञानावरणादिरूप परिणत (तत्) पुद्गलद्रव्यको (तत् चैव) ज्ञानावरणादि ही हैं, ऐसा (जानीत) जानो।

तात्पर्य—जीवविभाव तो निमित्तमात्र है, कर्मरूप परिणत तो पुद्गलकार्मणवर्गणायें ही होती हैं।

टीकार्थ—यदि पुद्गलद्रव्य जीवमें आप नहीं बँधा हुआ। कर्मभावसे स्वयमेव नहीं परिणमन करता है तो पुद्गलद्रव्य अपरिणामी ही सिद्ध हो जायगा। ऐसा होनेपर संसारका अभाव हो जायगा। यदि कोई ऐसा तर्क करे कि जीव पुद्गलद्रव्यको कर्मभावसे परिणमाता है, इसलिये संसार का अभाव नहीं हो सकता, उसके समाधान में प्रश्न है कि यदि जीव पुद्गलको परिणमित कराता है तो वह स्वयं अपरिणमित को परिणमित कराता है या स्वयं परिणमित को परिणमित कराता है? यदि इनमें से पहला पक्ष लिया जाय तो स्वयं अपरिणमितको कोई नहीं परिणमा सकता, क्योंकि स्वयं अपरिणमितको परके द्वारा परिणमानेकी सामर्थ्य नहीं होती। स्वतः 'क्ति जिसमें नहीं होती, वह परके द्वारा भी नहीं आ अथ पुद्गलद्रव्यस्य परिणामस्वभात्वं साधयति सांख्यमतानुयायिशिश्यं प्रति—

जीवे ण सयं बद्धं ण सयं परिणमदि कम्मभावेण ।

जइ पुग्गलदव्वमिणं अप्परिणामी तदा होदि ।।116।।

कम्मइयवग्गणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण ।

संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ।।117।।

जीवो परिणामयदे पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण ।

ते सयमपरिणमंते कहां णु परिणामयदि चेदा ।।118।।

अह सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पुग्गलं दव्वं ।
जीवो परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा ॥119॥
णियमा कम्मपरिणदं कम्मं चि य होदि पुग्गलं दव्वं ।
तह तं णाणावरणाइपरिणदं मुणसु तच्चेव ॥120॥

जीवमें स्वयं न बँधा, न वह स्वयं कर्मरूप परिणमता ।
पुद्गल यदि यह मानो, कर्म अपरिणामि होवेगा ॥116॥
ये कर्मवर्गणायें, यदि न परिणमे कर्मभावसे तो ।
भवका अभाव होगा, सांख्यसमयकी प्रसक्ति भी होगी ॥117॥
यदि जीव परिणमावे, पुद्गलको कर्मभावरूपोंमें ।
स्वयं अपरिणमते को, कैसे यह परिणमा देगा ॥118॥
यदि यह पुद्गल वस्तु, स्वयं हि परिणमे कर्मभावों से ।
सो जीव परिणमाता, पुद्गलको कर्म यह मिथ्या ॥119॥
कर्मरूप परिणत हो, पुद्गल ही कर्मरूप होता है ।
सो वह पुद्गल वस्तु, ज्ञानावरणादिपरिणत है ॥120॥

नामसंज्ञ—जीव, ण, सयं, बद्ध, ण, सयं, कम्मभाव, जइ, पुग्गलदव्व, इम, अपरिणामि, तदा, कम्मइयवग्गणा, य, अपरिणमंती, कम्मभाव, संसार, अभाव, संखसमअ, वा, जीव, पुग्गलदव्व, कम्मभाव, त, सयं, अपरिणमंत, कहं, णु, चेदा, अह, सयं, एव, हि, कम्मभाव, पुग्गल, दव्व, जीव, कम्म, कम्मत्त, इदि, मिच्छा, णियम, कम्मपरिणद, कम्म, चि, य, पुग्गल, दव्व, तह, त, णाणावरणादि, परिणद, त, च, एव ।
धातुसंज्ञ—बंध बंधने, परि—नम नम्रीभावे, हो सत्तायां, प—सज्ज समवाये, मुण ज्ञाने । **प्रकृतिशब्द**—जीव, न, स्वयं, बद्ध, न, स्वयं, कर्मभाव, यदि, पुद्गलद्रव्य, इदं, अपरिणामिन्, तदा, कार्माणवर्गणा, च, अपरि—णममाना, कर्मभाव, संसार, अभाव, सांख्यसमय, वा, जीव, पुद्गलद्रव्य, कर्मभाव, तत्, स्वयं, अपरिणममान, कथं, नु, चेतयित् । **मूलधातु**—जीव प्राणधारणे, बन्ध बन्धने, परि—णम प्रहवत्त्वे, पूरी आप्यायने, गल स्रवणे,

सकती । यदि स्वयं परिणमित पुद्गलद्रव्यको जीव कर्मभावसे परिणमाता है, ऐसा दूसरा पक्ष लिया जाय तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि अपने आप परिणमित हुए को अन्य परिणमानेवाले की आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि वस्तुकी 'क्ति परकी अपेक्षा नहीं करती । इसलिये पुद्गलद्रव्य परिणामस्वभाव स्वयमेव होवे । ऐसा होने पर जैसे कलषरूप परिणत हुई मिट्टी अपने आप कलष ही है, उसी भाँति जडस्वभाव ज्ञानावरण आदि कर्मरूप परिणत हुआ पुद्गलद्रव्य ही आप ज्ञानावरण आदि कर्म ही है । इस प्रकार पुद्गल द्रव्यका परिणामस्वभावना सिद्ध हुआ ।

अब इस अर्थ का कलषरूप काव्य कहते हैं—**स्थिते** इत्यादि । **अर्थ**—इस प्रकार पुद्गल द्रव्य की परिणमन 'क्ति स्वभावभूत निर्विघ्न सिद्ध हुई । उसके सिद्ध होने पर पुद्गलद्रव्य अपने जिस भावको करता है, उसका वह पुद्गलद्रव्य ही कर्ता है । **भावार्थ**—सब द्रव्यों का परिणाम स्वभावतः सिद्ध है, इसलिये प्रत्येक द्रव्य अपने भाव का आप ही कर्ता है । अतः पुद्गल भी जिस भाव को अपने में करता है, उसका वही कर्ता है । जीवे न स्वयं बद्ध न स्वयं परिणमते कर्मभावेन । यदि पुद्गलद्रव्यमिदमपरिणामि तदा भवति ॥116॥ कार्माणवर्गणासु चापरिणममानासु कर्मभावेन । संसारस्याभावः प्रसज्यते सांख्यसमयो वा ॥117॥ जीवः परिणामयति पुद्गलद्रव्याणि कर्मभावेन । तानि स्वयमपरिणममानानि कथं नु परिणामयति चेतयिता । अथ स्वयमेव हि परिणमते कर्मभावेन पुद्गलद्रव्यं । जीवः परिणामयति कर्म कर्मत्वमिति मिथ्या ॥119॥ नियमात्कर्मपरिणतं कर्म चैव भवति पुद्गलद्रव्यं । तथा तदज्ञानावरणादिपरिणतं जानीत तच्चैव ॥120॥

यदि पुद्गलद्रव्यं जीवे स्वयमबद्धं सत्कर्मभावेन स्वयमेव न परिणमेत तदा तदपरिणाम्येव स्यात् । तथा सति संसाराभावः । अथ जीवः पुद्गलद्रव्यं कर्मभावेन परिणामयति

ततो न संसाराभावः इति तर्कः? किं स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा जीवः पुद्गलद्रव्यं कर्म-
भावेन परिणामयेत्? न तावत्तत्स्वयमपरिणममानं परेण परिणामयितुं पार्येत। न हि स्वतोऽसती
'क्तिः कर्तुमन्येन पार्यते। स्वयं परिणममानं तु न परं परिणमयितारमपेक्षेत। न हि वस्तुषक्तयः
परमपेक्षते। ततः पुद्गलद्रव्यं परिणामस्वभावं स्वयमेवास्तु। तथा सति कलषपरिणता मृत्तिका
स्वयं कलष इव जडस्वभावं ज्ञानावरणादिकर्मपरिणतं तदेव स्वयं ज्ञानावरणादिकर्म स्यात्।
इति सिद्धं पुद्गलद्रव्यस्य परिणामस्वभावत्वं। स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य स्वभावभूता

दु गतौ, भू सत्तायां, सम्-सृ गतौ भ्वादि। **पदविवरण**—जीवे-सप्तमी एकवचन। न-अव्यय। स्वयं-
अव्यय। बद्धं-प्रथमा एक० कृदन्त। न-अव्यय। स्वयं-अव्यय। परिणमते-वर्तमान लट् अन्य पुरुष
एक० क्रिया। कर्मभावेन-तृतीया एक०। यदि-अव्यय। पुद्गलद्रव्यं-प्रथमा एक०। इदं-प्र० ए०।
अपरिणामि-प्र० एक० नपुंसकलिङ्ग। तदा-अव्यय। भवति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन।
कार्माणवर्ग-णासु-सप्तमी बहु०। च-अव्यय। अपरिणममानासु-सप्तमी बहु०। कर्मभावेन-तृतीया एक०।
संसारस्य-षष्ठी एक०। अभावः-प्र० ए०। प्रसजति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया।
सांख्यसमयः-प्र० ए०। वा-अव्यय। जीवः-प्र० ए०। परिणामयति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० णिजंत
क्रिया। पुद्गलद्रव्याणि-द्वितीया एक०। कर्मभावेन-तृ० ए०। तानि-द्वि० बहु०। अपरिणममानानि-द्वि० ए०।
कथं-अव्यय। तु-अव्यय। परिणामग्रति-वर्तमान अन्य० एक०। चेतयिता-प्र० ए०। परिणमते-वर्तमान लट्
अन्य पुरुष एक०। कर्मभावेन-तृ० ए०। पुद्गलं-प्र० ए०। द्रव्यम्-प्र० ए०। जीवः-प्र० ए०। कर्म-द्वि०
एक०। कर्मत्वं-द्वि० ए० या क्रियाविषेण अव्यय। इति-अव्यय। मिथ्या-अ०। नियमात्-पंचमी एक०।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथात्रयमें यह निर्णय दिया गया था कि जीव और
द्रव्यप्रत्यय ये भिन्न भिन्न हैं इनमें एकत्व नहीं। सो इसकी पुष्टि तब ही हो सकती है जब
यह सिद्ध हो कि जीव अपने में अपने परिणमने का स्वभाव रखता है और अजीव कर्म
पुद्गलद्रव्य अपने के खुद में परिणमने का स्वभाव रखता है। इन दो निर्णयों में प्रथम
पुद्गलद्रव्य का परिणाम स्वभावत्व इन पाँच गाथाओं में सिद्ध किया है।

तथ्यप्रकाश—1—पुद्गलद्रव्य को जीव में स्वयं बद्ध व कर्मभावसे स्वयं परिणत न
मानने पर पुद्गलद्रव्य अपरिणामि बन बैठेगा। 2—यदि पुद्गलद्रव्यकर्म को अपरिणामी माना
जायेगा तो संसार के अभावका प्रसंग हो जायगा। 3—कर्मरूपसे अपरिणत पुद्गलद्रव्यको
जीव परिणाम देगा ऐसा यों नहीं हो सकता कि जो परिणम न सके उसे निमित्तरूपसे भी
कोई परिणाम नहीं सकता। 4—यदि स्वयं परिणमते पुद्गलकर्म को जीव परिणाम देगा यह
माना जाय तो तब पुद्गल परिणम रहा तो इसमें दूसरे की अपेक्षा नहीं, दूसरा निमित्तमात्र
ही होता। 5—पुद्गलद्रव्य स्वयं परिणामस्वभाव है यह ज्ञानावरणादि कर्मरूप हो जाता है।
6—निमित्तनैमित्तिकभाव व वस्तुस्वातंत्र्य इन दोनों का एक साथ होने में विरोध नहीं है।

सिद्धान्त—1—पुद्गलद्रव्य कर्मरूपसे अकेला परिणमता है दूसरे को लेकर नहीं।
2—जीवपरिणाम व कर्मपरिणामका परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्तृकर्मत्वसंबंध नहीं।

दृष्टि—1—अषुद्धनिष्चयनय (47)। 2—उपाधिसापेक्ष अषुद्ध द्रव्यार्थिकनय (24)।

प्रयोग—पुद्गलद्रव्य स्वयं परिणमनस्वभाव है उसको जीवपरिणाम निमित्तमात्र है,
किन्तु जीव उसे करता नहीं है, ऐसा जानकर पुद्गल से भिन्न निज परमात्मतत्त्व की
उपासना

परिणामशक्तिः तस्यां स्थितायां स करोति भावं यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता।।64।।
।।116—120।।

कर्मपरिणतं, कर्म-प्र० ए०। भवति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया।।116—120।।

करने का पौरुष करना।।116—120।।

अब जीवद्रव्य का परिणामित्व सिद्ध करते हैं—सांख्यमतानुयायी षिष्यसे आचार्य
कहते हैं कि हे भाई [तब] तेरी बुद्धिमें [यदि] यदि [एश जीवः] यह जीव [कर्मणि] कर्ममें

[स्वयं] स्वयं [बद्धः न] बँधा नहीं है और [क्रोधादिभिः] क्रोधादि भावोंसे [स्वयं] स्वयं [न परिणमति] नहीं परिणमता [तदा] तो [अपरिणामी] वह जीव अपरिणामी [भवति] प्रसक्त होता है [जीवे] और जीवके [क्रोधादिभिः भावैः] क्रोधादि भावों द्वारा [स्वयं अपरिणममाने] स्वयं परिणत न होनेपर [संसारस्य अभावः] संसार का अभाव [प्रसज्यते] प्रसक्त हो जायगा [वा] अथवा [सांख्यसमयः] सांख्यमत प्रसक्त हो जावेगा। यदि कोई कहे कि [पुद्गलकर्म] पुद्गलकर्म जो [क्रोधः] क्रोध है वह [जीवं] जीवको [क्रोधत्वं] क्रोधभावरूप [परिणमयति] परिणमाता है तो [स्वयं अपरिणममानं] स्वयं न परिणत हुए [तं] जीवको [क्रोधः] क्रोधकर्म [कथं नु] कैसे [परिणामयति] परिणमा सकता है? [अथ] यदि [ते एशा बुद्धिः] तेरी ऐसी समझ है कि [आत्मा] आत्मा [स्वयं] अपने आप [क्रोधभावेन] क्रोधभावसे [परिणमते] परिणमन करता है तो [क्रोधः] पुद्गलकर्मरूप क्रोध [जीवं] जीवको [क्रोधत्वं] क्रोधभावरूप [परिणामयति] परिणमाता है [इति मिथ्या] ऐसा करना मिथ्या ठहरता है। इसलिये यह सिद्धान्त है कि [क्रोधोपयुक्तः] क्रोधमें उपयुक्त अर्थात् जिसका उपयोग क्रोधाकाररूप परिणमता है, ऐसा [आत्मा] आत्मा [क्रोधः] क्रोध ही है [मानोपयुक्तः] मानसे उपयुक्त होता हुआ [मानः] मान ही है, [माउवजुत्तोः] मायासे उपयुक्त [माया] माया ही है [च] और [लोभोपयुक्तः] लोभसे उपयुक्त होता हुआ [लोभः] लोभ ही [भवति] है।

टीकार्थ—जीव कर्ममें स्वयं नहीं बँधा क्रोधादि भावसे आप नहीं परिणमे तो वह जीव वास्तवमें अपरिणामी ही सिद्ध होगा। ऐसा होनेपर संसार का अभाव आता है अथवा कोई ऐसा तर्क करे कि पुद्गलकर्म क्रोधादिक ही जीवको क्रोधादिक भावसे परिणमाते हैं इस लिये संसारका अभाव नहीं हो सकता। ऐसा करने में दो पक्ष पुष्टव्य हैं कि पुद्गलकर्म क्रोधादिक अपने आप अपरिणमते जीवको परिणमाते हैं या परिणमते को परिणमाते हैं? प्रथम तो जो आप नहीं परिणमता हो, उसमें परके द्वारा कुछ भी परिणमन नहीं कराया जा सकता है क्योंकि आपमें जो 'विक्रि नहीं, वह परके द्वारा नहीं की जा सकती तथा जो स्वयं परिणमता हो, वह अन्य परिणमाने वाले की अपेक्षा नहीं करता, क्योंकि वस्तु की 'विक्रियाँ परकी अपेक्षा नहीं करती। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि जीव परिणमन स्वभाव वाला स्वयमेव है। ऐसा होनेपर जैसे कोई मंत्रसाधक गरुडका ध्यान करता हुआ याने उस गरुडभावरूप परिणत हुआ गरुड ही है, उसी भाँति यह जीवात्मा अज्ञानस्वभाव क्रोधादिरूप परिणत उपयोगरूप हुआ स्वयमेव क्रोधादिक ही होता है। इस प्रकार जीवका परिणामस्वभाव होना सिद्ध हुआ। **भावार्थ**—जीव परिणामस्वभाव है। जब अपना उपयोग क्रोधादिरूप परिणमता है, तब स्वयं क्रोधादिरूप ही होता है।

अब इस अर्थ का कलषरूप काव्य कहते हैं **स्थितेति**—इत्यादि। **अर्थ**—इस प्रकार जीवके अपने स्वभावसे ही हुई परिणमनशक्ति निर्विघ्न सिद्ध हुई। उसके सिद्ध होनेसे यह जीव अपने जिस भावको करता है उसीका वह कर्ता होता है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा पंचक में पुद्गलद्रव्य का स्वयं परिणामित्व बताया गया था। अब इस गाथा पंचक में जीवका स्वयं परिणामित्व बताया गया है।

जीवस्य परिणामित्वं साधयति—

ण सयं बद्धो कम्मे ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं ।

जइ एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदी ॥121॥

अपरिणमंतमिह सयं जीवे कोहादिएहिं भावेहिं ।

संसारस्स अभावो पसज्जदे संख्समओ वा ॥122॥

पुग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं ।

तं सयमपरिणमंतं कंहं णु परिणामयदि कोहो ॥123॥
 अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी ।
 कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिति मिच्छा ॥124॥
 कोहुवजुत्तो कोहो माणुवजुत्तो य माणमेवादा ।
 माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो ॥125॥
 कर्मो में स्वयं न बँधा, न वह स्वयं क्रोधरूप परिणमता ।
 आत्मा यदि यह मानो, जीव अपरिणामि होवेगा ॥121॥
 यह जीव स्वयं क्रोधा-दिक भावों से न परिणमे तब तो ।
 भव का अभाव होगा, सांख्यसमयकी प्रसक्ति भी होगी ॥122॥
 क्रोधादिकर्म पुद्गल, जीवको कर्मरूप परिणमावे ।
 स्वयं अपरिणमतेको, कैसे विधि परिणमा देगा ॥123॥
 यदि यह आत्मा वस्तू, स्वयं हि परिणमे क्रोधभावोंसे ।
 तो कर्म परिणमाता, आत्मा को कर्म यह मिथ्या ॥124॥
 क्रोधोपयुक्त आत्मा, क्रोध तथा मान मान उपयोगी ।
 मायोपयुक्त माया, लोभ तथा लोभ उपयोगो ॥125॥

नामसंज्ञ—ण, सयं, बद्ध, कम्म, ण, सयं, कोहमादि, जइ, एत, तुम्ह, जीव, अपपरिणामि, तदा, अपरि-
 णमंत, सयं, जीव, कोहादिअ, भाव, संसार, अभाव, संखसमअ, वा, पुग्गलकम्म, कोह, जीव, कोहत्त, त,
 सयं, अपरिणमंत, कंहं, णु, कोह, अह, सयं, अप्प, कोहभाव, एत, तुम्ह, बुद्धि, कोह, जीव, कोहत्त, इदि,
 मिच्छा, कोहुवजुत्त, कोह, माणुवजुत्त, य, माण, एव, अत्त, माउवजुत्त, माया, लोहुवजुत्त, लोह ।
धातुसंज्ञ—परि-नम नम्रीभावे, हो सत्तायां, प-सज्ज समवाये, हव सत्तायां । **प्रकृतिशब्द**—न, स्वयं, बद्ध,
 कर्मन्, न, स्वयं, क्रोधादि, यदि, एतत्, युष्मद्, जीच, अपरिणामिन्, तदा, अपरिणममान, स्वयं, जीव,
 क्रोधादि, भाव, संसार, अभाव, सांख्यसमय, वा, पुद्गलकर्मन्, क्रोध, जीव, क्रोधत्व, तत्, स्वयं,
 अपरिणममान, कथं, नु, क्रोध, अथ, स्वयं, आत्मन्, क्रोधभाव, एतत्, युष्मद्, बुद्धि, क्रोध, जीव, क्रोधत्व, इति,
 मिथ्या, क्रोधोपयुक्त, क्रोध, मानोपयुक्त, च, मान, एव, आत्मन्, मायोपयुक्त, माया, लोभोपयुक्त, लोभ ।
मूलधातु—बन्ध बन्धने, परि-णम प्रह्वत्त्वे, क्रुध क्रोधने, भू सत्तायां, सं-सृ गतौ, प्र-षज् सङ्गे, सम्-अय
 गतौ, पूरी आप्यायने, गल स्रवणे, बुध अवबोधने, उप-युजिर् योगे, मान पूजायां भ्वादि चुरादि, लुभ गार्धे

तथ्यप्रकाश—1—जीवको कर्ममें स्वयं बद्ध व क्रोधादिभावसे परिणत न मानने पर जीव
 अपरिणामी बन बैठेगा । 2—यदि जीवको अपरिणामी माना जायगा तो संसार के अभाव का
 प्रसंग आ जावेगा । 3—न परिणमते हुए जीवको क्रोधादि प्रकृतिकर्म परिणमा देगा ऐसा यों
 नहीं हो सकता कि जो परिणम न सके उसे निमित्तरूपसे भी कोई परिणमा नहीं सकता ।
 4—यदि स्वयं परिणमते जीवको क्रोधादिकर्म परिणमा देगा यह माना जाय तो जब जीव
 परिणम रहा तो इसमें दूसरे की अपेक्षाकी जरूरत नहीं, दूसरा निमित्तमात्र ही होता । 5—जीव
 परिणामस्वभाव स्वयं है वह अज्ञानस्वभावक्रोधादिपरिणतोपयोग होता हुआ स्वयं क्रोधादि हो
 जाता है । 6—निमित्तनैमित्तिक भाव व वस्तुस्वातंत्र्य दोनों का एक साथ होने में विरोध नहीं
 है ।

न स्वयं बद्धः कर्मणि न स्वयं परिणमते क्रोधादिभिः । यदेषः तव जीपोऽपरिणामी तदा भवति ॥121॥

अपरिणममाने स्वयं जीवे क्रोधादिभिः भावैः । संसारस्याभावः प्रसज्यते सांख्यसमयो वा ॥122॥

पुद्गलकर्म क्रोधो जीवं परिणामयति क्रोधत्वं । तं स्वयपरिणममानं कथं नु परिणामयति क्रोधः ॥123॥

अथ स्वयमात्मा परिणमते क्रोधभावेन एषा ते बुद्धिः । क्रोधः परिणामयति जीवं क्रोधत्वमिति मिथ्या ।

क्रोधोपयुक्तः क्रोधो मानोपयुक्तश्च मान एवात्मा । मायोपयुक्तो माया लोभोपयुक्तो भवति लोभः ॥125॥

यदि कर्मणि स्वयमबद्धः सन् जीवः क्रोधादिभावेन स्वयमेव न परिणमेत तदा स
 किलापरिणाम्येव स्यात् । तथा सति संसाराभावः । अथ पुद्गलकर्म क्रोधादि जीवं क्रोधादिभा-

वेन परिणामयति ततो न संसाराभाव इति तर्कः। किं स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा पुद्गलकर्म क्रोधादि जीवं क्रोधादिभावेन परिणामयेत्? न तावत्स्वयमपरिणममानः परेण परिणाययितुं पार्येत, न हि स्वतोऽसती 'क्तिः कर्तुमन्येन पार्यते। स्वयं परिणममानस्तु न परं परिणमयितारमपेक्षेत। न हि वस्तुषक्तयः परमपेक्षते। ततो जीवः परिणामस्वभावः स्वयमेवास्तु तथा सति गरुडध्यानपरिणतः साधकः स्वयं गरुड इवाज्ञानस्वभावक्रोधादिपरिणतोपयोगः स एव स्वयं क्रोधादिः स्यादिति सिद्धं जीवस्य परिणामस्वभावत्वं ॥121-125 ॥

दिवादि, लुभ विमोहने तुदादि। **पदविवरण**—न, स्वयं—अव्यय। बद्धः—प्रथमा एक०। कर्मणि—सप्तमी ए०। परिणमते—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। क्रोधादिभिः—तृतीया बहु०। यदि—अव्यय। एषः—प्र० ए०। तव—षष्ठी एक०। जीवः, अपरिणामी—प्र० ए०। तदा—अव्यय। भवति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। अपरिणममाने, जीवे—सप्तमी एक०। क्रोधादिभिः—तृतीया बहु०। भावैः—तृ० ब०। संसारस्य—षष्ठी एक०। अभावः—प्र० ए०। प्रसज्यते—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। सांख्यसमयः—प्र० ए०। वा—अव्यय। पुद्गलकर्म, क्रोधः—प्र० ए०। जीवं—द्वितीया एक०। परिणामयति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन णिजंत क्रिया। क्रोधत्वं—प्र० ए० या क्रियाविषेषण क्रोधत्वं यथा स्यात्तथा। तं—द्वि० ए०। अपरिणममानं—द्वि० एक०। कथं, नु—अव्यय। परिणामयति—वर्त० लट् अन्य० एक०। क्रोधः—प्रथमा एक०। अथ—अव्यय। आत्मा—प्र० ए०। परिणमते—वर्तमान० अन्य० एक०। क्रोधभावेन—तृ० ए०। एषा—प्र० ए० स्त्रीलिङ्ग। ते—षष्ठी एक०। बुद्धिः, क्रोधः—प्र० ए०। परिणामयति—वर्तमान० अन्य० एक०। जीवं—द्वि० एक० कर्मकारक। क्रोधत्वं—द्वि० ए० या क्रियाविषेषण क्रोधत्वं यथा स्यात्तथा। क्रोधोपयुक्तः, क्रोधः, मानोपयुक्तः—प्र० ए०। च—अव्यय। मानः—प्र० ए०। एव—अव्यय। आत्मा, मायोपयुक्तः, माया, लोभोपयुक्तः—प्र० एक०। भवति—वर्तमान लट् अन्य० एक०। लोभः—प्रथमा एकवचन ॥121-125 ॥

सिद्धांत—1—जीव क्रोधादिपरिणतोपयोग अकेला होता है दूसरे को लेकर नहीं। 2—क्रोधादिकर्मप्रकृतिका विपाकोदय होनेपर अषुद्धोपादान जीव स्वयं विकाररूप परिणम जाता है।

दृष्टि—1—अषुद्धनिष्चयनय (47)। 2—उपाधिसापेक्ष अषुद्धद्रव्यार्थिकनय (24)।

प्रयोग—आत्मा स्वयं परिणामस्वभाव है उसको क्रोधादिकर्म निमित्तमात्र है, किन्तु क्रोधादिकर्म जीवपरिणामको करता नहीं, अतः कायरताका कोई प्रसंग नहीं ऐसा जानकर अपने अविकार सहज ज्ञानमात्र स्वरूपको निरखकर निजस्वरूपमें ही दृष्टि रखने का पौरुष करना ॥121-125 ॥

अब उक्त अर्थको लेकर भावों का विषेषकर कर्ता कहते हैंः—[आत्मा] आत्मा [यं भावं] जिस भावको [करोति] करता है [तस्य कर्मणः] उस भावरूप कर्मका [सः] वह [कर्ता] कर्ता [भवति] होता है। वहाँ [ज्ञानिनः] ज्ञानीके तो [सः] वह भाव [ज्ञानमयः] ज्ञानमय है और [अज्ञानिनः] अज्ञानीके [अज्ञानमयः] अज्ञानमय है।

टीकार्थ—इस प्रकार यह आत्मा स्वयमेव परिणमनस्वभाव वाला होनेपर भी जिस भावको अपने करता है, कर्मत्वको प्राप्त हुए उस भावका ही कर्तापना प्राप्त होता है। सो वह भाव ज्ञानी का ज्ञानमय ही है, क्योंकि उसको अच्छी प्रकार से स्व-परका भेदज्ञान हो गया है, जिससे सब परद्रव्य भावोंसे भिन्न आत्मा की ख्याति अत्यन्त उदित हो गई है। परंतु अज्ञानी के अज्ञानमय भाव ही है, क्योंकि उसके भली-भाँति स्वपर के भेदज्ञान का अभाव तथाहि—

जं कुणदि भावमादा क्त सो होदि तस्स कम्मस्स ।

णाणिस्स स णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स ॥126 ॥

आत्मा जो भाव करे, होता वह उस भावका कर्ता ।

ज्ञानमय भाव बुधका, अज्ञानमय हि अबुधका है ॥126 ॥

यं करोति भावमात्मा कर्ता स भवति तस्य कर्मणः । ज्ञानिनः स ज्ञानमयोऽज्ञानमयोऽज्ञानिनः ॥126 ॥

एवमयमात्मा स्वयमेव परिणामस्वभावोपि यमेव भावमात्मनः करोति तस्यैव कर्मता—
मापद्यमानस्य कर्तृत्वमापद्येत। स तु ज्ञानिनः सम्यक्स्वपरविवेकेनात्यंतोदितविविक्तात्मख्या—
तित्वात् ज्ञानमय एव स्यात्। अज्ञानिनस्तु सम्यक्स्वपरविवेकाभावेनात्यंतप्रत्यस्तमितविविक्ता—
त्मख्यातित्वादज्ञानमय एव स्यात्।।126।।

नामसंज्ञ—ज, भाव, अत्त, अत्त, कत्तार, त, त, कम्म, णाणि, त, णाणमअ, अण्णाणमअ, अणाणि।
धातुसंज्ञ—कुण करणे, हो सत्तायां। **प्रकृतिशब्द**—यत्, भाव, आत्मन्, कर्तृ, तत्, तत्, कर्मन्, ज्ञानिन्,
तत्, ज्ञानमय, अज्ञानमय, अज्ञानिन्। **मूलधातु**—डुकृञ् करणे, अत सातत्यगमने, भू सत्तायां, ज्ञा
अवबोधने। **पदविवरण**—यं—द्वितीया एकवचन। करोति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन। भाव—द्वि०
एक० कर्मकारक। आत्मा—प्रथमा एकवचन कर्तृकारक। कर्ता, सः—प्र० ए०। भवति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष
एक० क्रिया। तस्य, कर्मणः, ज्ञानिनः—षष्ठी एकवचन। सः, ज्ञानमयः, अज्ञानमयः—प्र० ए०। अज्ञानिनः—षष्ठी
एकवचन।।126।।

होने से भिन्न आत्मा की ख्याति अत्यंत अस्त हो गई है। **भावार्थ**—ज्ञानी के तो अपना
परका भेदज्ञान हो गया है इसलिये ज्ञानीके तो अपने ज्ञानमय भावका ही कर्तृत्व है, किन्तु
अज्ञानी के अपना पर का भेदज्ञान नहीं है इस कारण अज्ञानमय भावका ही कर्तृत्व है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथापंचकमें जीवको परिणामी सिद्ध करते हुए प्रसिद्ध
किया था कि जीव अपने जिस भाव को करता है उसीका कर्ता होता है। सो उसी
स्वकर्तृत्व का स्पष्टीकरण इस गाथा में किया है।

तथ्यप्रकाश—1—आत्मा अपने जिस भावको करता है उस कर्मका (जीवपरिणामका)
कर्ता होता है। 2—ज्ञानीके स्वपरविवेक होनेके कारण दृष्टिमें सर्वपरविविक्त आत्मा को
ख्याति होनेसे ज्ञानमय ही भाव होता है। 3—अज्ञानीके सही स्वपरविवेक न होने के कारण
विविक्त आत्मा की ख्याति (प्रतीति) न होनेसे अज्ञानमय ही भाव होता है।

सिद्धान्त—1—स्वपरविवेकपूर्वक स्वभावदृष्टि होनेसे ज्ञानीके ज्ञानमय भाव होते हैं।
2—स्वपरविवेक न होने के कारण स्वभावदृष्टि अस्त रहनेसे अज्ञानीके अज्ञानमय भाव होते
हैं।

दृष्टि—1—अपूर्ण 'दुद्धनिष्चयनय (46ब)। 2—अषुद्धनिष्चयनय (47)

प्रयोग—ज्ञानमयभावको स्वभावभाव व निराकुल जानकर उसकी कारणभूत
अविकारज्ञानस्वभावदृष्टि रखने का पौरुष करना।।126।।

ज्ञानमय भावसे क्या होता है और अज्ञानमय भावसे क्या होता है, अब यह कहते
हैं—[अज्ञानिनः] अज्ञानीका [अज्ञानमयः] अज्ञानमय [भावः] भाव है [तेनः] इस कारण
[कर्माणि] अज्ञानी कर्मों को [करोति] करता है [तु] और [ज्ञानिनः] ज्ञानीके [ज्ञानमयः]
ज्ञानमय भाव होता है [तस्मात्तु] इसलिये वह ज्ञानी [कर्माणि] कर्मोंको [न] नहीं [करोति]
करता।

टीकार्थ—अज्ञानीके अच्छी प्रकार स्वपरका भेदज्ञान न होनेसे विविक्त आत्माकी ख्याति
अत्यंत अस्त हो जाने के कारण अज्ञानमय ही भाव होता है। उस अज्ञानमय भावके होनेपर
आत्माके और परके एकत्वका अध्यास होनेस ज्ञानमात्र अपने आत्मस्वरूपसे भ्रष्ट हुआ
परद्रव्यस्वरूप राग—द्वेष के साथ एक होकर अहंकार में प्रवृत्त हुआ अज्ञानी ऐसा मानता है
कि 'मैं रागी हूं, द्वेषी हूं' इस प्रकार वह रागी द्वेषी होता है। उस रागादि स्वरूप अज्ञानमय
किं ज्ञानमयभावात्किमज्ञानमयाद्भवतीत्याह—

अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि।

णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तह्मा दु कम्माणि।।127।।

भाव अज्ञानमय है, अज्ञानीको सु कर्मका कर्ता।

ज्ञानमय भाव बुधका, सो नहिं वह कर्मका कर्ता ॥127॥

अज्ञानमयो भावोऽज्ञानिनः करोति तेन कर्माणि । ज्ञानमयो ज्ञानिनस्तु न करोति तस्मात्तु कर्माणि ॥127॥

अज्ञानिनो हि सम्यक्स्वपरविवेकाभावेनात्यंतप्रत्यस्तमितविविक्तात्मख्यातित्वाद्यस्माद्-ज्ञानमय एव भावः स्यात् तस्मिंस्तु सति स्वपरयोरेकत्वाध्यासेन ज्ञानमात्रात्स्वस्मात्प्रभ्रष्टः परा-भ्यां रागद्वेषाभ्यां सममेकीभूय प्रवर्तिताहंकारः स्वयं किलैषोहं राज्ये रुष्यामीति रज्यते रुष्यति च तस्मादज्ञानमयभावादज्ञानी परौ रागद्वेषावात्मानं कुर्वन् करोति कर्माणि । ज्ञानिनस्तु सम्यक्स्वपरविवेकेनात्यंतोदितविविक्तात्मख्यातित्वाद्यस्माद् ज्ञानमय एव भावः स्यात् तस्मिंस्तु सति स्वपरयोर्नानात्वविज्ञानेन ज्ञानमात्रे स्वस्मिन्सुनिविष्टः पराभ्यां रागद्वेषाभ्यां पृथग्भूततया स्वरसत एव निवृत्ताहंकारः स्वयं किल केवलं जानात्येव न रज्यते न च रुष्यति तस्माद्

नामसंज्ञ—अण्णाणमअ, भाव, अणाणि, त, कम्म, णाणमअ, णाणि, दु, ण, त, दु, कम्म । **धातुसंज्ञ**—कुण करणे । **प्रकृतिशब्द**—अज्ञानमय, भाव, अज्ञानिन्, तत्, कर्मन्, ज्ञानमय, ज्ञानिन्, तु, न, तत्, तु, कर्मन् । **मूलधातु**—ज्ञा अवबोधने, डुकृञ् करणे । **पदविवरण**—अज्ञानमयः, भावः—प्रथमा एकवचन । अज्ञानिनः—षष्ठी एक० । करोति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । तेन—तृतीया एक० । कर्माणि—द्वितीया बहु० ।

भाव से अज्ञानी हुआ परद्रव्यस्वरूप जो राग-द्वेष उन रूप अपने को करता हुआ कर्मों को करता है । और ज्ञानी के अच्छी तरह अपना परका भेदज्ञान हो गया है इसलिये जिसके भिन्न आत्मा की प्रकटता—'ख्याति' अत्यंत उदित हो गई है, उस भावके कारण ज्ञानमय ही भाव होता है । उस भावके होनेपर अपने व परको भिन्नपनेका ज्ञान भेदज्ञान होनेसे ज्ञानमात्र अपने आत्मस्वरूपमें ठहरा हुआ वह ज्ञानी परद्रव्यस्वरूप राग-द्वेषों से पृथग्भूत हो जानेके कारण अपने रससे ही परमें अहंकार निवृत्त हो गया है, ऐसा हुआ निष्वयसे केवल जानता ही है, राग-द्वेषरूप नहीं होता । इसलिये ज्ञानमय भावसे ज्ञानी हुआ परद्रव्यस्वरूप जो राग-द्वेष उन रूप आत्मा को नहीं करता हुआ कर्मोंको नहीं करता है । **भावार्थ**—इस आत्मा के क्रोधादिक मोहकी प्रकृतिका उदय आने पर उसका अपने उपयोग में रागद्वेषरूप मलिन स्वाद आता है, सो मोही जीव भेदज्ञान के बिना अज्ञानी हुआ ऐसा मानता है कि यह रागद्वेषमय मलिन उपयोग ही मेरा स्वरूप है, यही मैं हूँ, इस प्रकार अज्ञानरूप अहंकारसे आच्छन्न हुआ प्राणी कर्मों को बांधता है । इस प्रकार अज्ञानमय भावसे कर्मबंध होता है और जब ऐसा है कि ज्ञानमात्र 'जुद्ध' उपयोग तो मेरा स्वरूप है, 'वह मैं हूँ' तथा रागद्वेष हैं वे कर्मके रस हैं, मेरे स्वरूप नहीं हैं, ऐसा भेदज्ञान होनेपर ज्ञानी होता है, तब अपने को रागद्वेष भावरूप नहीं करता, केवल ज्ञाता ही रहता है, तब कर्मको नहीं करता ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि अज्ञानी के ज्ञानमय भाव होता है और अज्ञानी के अज्ञानमय भाव होता है । अब इस गाथामें उससे संबंधित इस जिज्ञासा का समाधान किया गया है कि अज्ञानमयभावसे क्या होता है और ज्ञानमयभावसे क्या होता है?

तथ्यप्रकाश—1—अज्ञानी के सम्यक् स्वपरविवेक नहीं होता है । 2—स्वपरविवेक न होनेसे एकत्वविभक्त आत्माकी दृष्टि नहीं बनती । 3—एकत्वविभक्त आत्मा की दृष्टि न होनेसे अज्ञानमय भाव होता है । 4—अज्ञानमयभाव होनेपर स्व-परमें एकत्वका अध्यास होता है । 5—स्वपरमें एकत्वका अध्यास होनेसे ज्ञानमात्र स्वसे भ्रष्ट रहता है । 6—ज्ञानमात्र स्वसे भ्रष्ट रहने से परद्रव्यस्वरूप रागद्वेष के साथ एकरूप अनुभव होता है । 7—रागद्वेष प्रकृति में ज्ञानमयभावाद् ज्ञानी परौ रागद्वेषात्रात्मानमकुर्वन्न करोति कर्माणि । ज्ञानमय एव भावः कुतो भवेद् ज्ञानिनो न पुनरन्यः । अज्ञानमयः सर्वः कुतोयमज्ञानिनो नान्यः ॥66॥ ॥127॥

ज्ञानमयः—प्र० ए० । ज्ञानिनः—षष्ठी एकवचन । तु, न—अव्यय । करोति—वर्तमान अन्य० एकवचन ।

तस्मात्—पंचमी एकवचन हेत्वर्थे । तु—अव्यय । कर्माणि—द्वितीया बहुवचन ॥127॥

एकरूप अनुभव होनेसे अहंकार विकल्प बनता है। 8—अहंकार विकल्प बननेसे अज्ञानी अपने आत्मा को परद्रव्यस्वरूप रागद्वेषमय करता हुआ कर्मों को करता है। 9—ज्ञानी के सम्यक् स्व—पर विवेक होता है। 10—स्व—परविवेक होनेसे एकत्वविभक्त आत्माकी दृष्टि रहती है। 11—एकत्वविभक्त आत्मा की दृष्टि रहने से ज्ञानमय भाव होता है। 12—ज्ञानमय भाव होनेपर स्वपरकी भिन्नता का बोध संस्कृत रहता है। 13—स्वपरकी भिन्नता का बोध संस्कृत रहनेसे ज्ञानमात्र स्वमें ठहरना होता है। 14—ज्ञानमात्र स्वमें ठहरना होनेसे परद्रव्यस्वरूप रागद्वेषसे पृथक् रहनेसे स्वरसतः ही उनमें अहंकार नहीं होता है, अहंकार निवृत्त हो जाता है। 16—परद्रव्यस्वरूप राग द्वेष में अहंकार नष्ट हो जाने से ज्ञानी मात्र जानता ही है वह रागद्वेषरूप अपने को नहीं कर सकता। 17—रागद्वेषरूप न होनेसे ज्ञानी कर्मों को नहीं करता है।

सिद्धान्त—1—अज्ञानीके अज्ञानमय भाव होता है। 2—अज्ञानमयभावका निमित्त पाकर पुद्गलकार्माणद्रव्यमें कर्मत्व का आस्रव होता है। 3—ज्ञानीके ज्ञानमयभाव होता है। 4—ज्ञानमयभावका निमित्त पाकर कार्माणद्रव्यमें संवरत्व होता है।

दृष्टि—1—अषुद्धनिष्चयनय (47)। 2—उपाधिसापेक्ष अषुद्धद्रव्यार्थिकनय (24)। 3—षुद्धनिष्चयनय (46), अपूर्ण 'षुद्धनिष्चयनय (46ब)। 4—षुद्धभावनापेक्ष 'षुद्धद्रव्यार्थिकनय (24ब)।

प्रयोग—ज्ञानमय भाव होने पर बन्धन नहीं होता तथा भव—भवके संचित कर्म भी अपना कर्मत्व तज देते हैं यह जानकर अविकार ज्ञानस्वरूपकी उपासनारूप ज्ञानमय भावना ही करना चाहिये ॥127॥

अब अगली गाथा के अर्थ की सूचना का काव्य कहते हैं—**ज्ञानमय** इत्यादि। **अर्थ**—ज्ञानीके तो ज्ञानमय ही भाव होते हैं अन्य नहीं होता यह क्यों? और अज्ञानी के अज्ञानमय ही सब भाव होते हैं अन्य नहीं यह कैसे? इसी प्रश्न की उत्तररूप गाथा कहते हैं—[यस्मात्] जिस कारण [ज्ञानमयात् भावात् च] ज्ञानमय भावसे [ज्ञानमय एव] ज्ञानमय ही [भावः] भाव [जायते] उत्पन्न होता है। [तस्मात्] इस कारण [ज्ञानिनः] ज्ञानी के [खलु] निष्चय से [सर्वे भावाः] सब भाव [ज्ञानमयाः] ज्ञानमय हैं। और [यस्मात्] जिस कारण [अज्ञानमयात् भावात् च] अज्ञानमय भावसे [अज्ञान एव] अज्ञानमय ही [भावः] भाव [जायते] उत्पन्न होता है [तस्मात्] इस कारण [अज्ञानिनः] अज्ञानी के [अज्ञानमयाः] अज्ञानमय ही [भावाः] भाव उत्पन्न होते हैं।

तात्पर्य—ज्ञानी के ज्ञानमय भाव होते हैं और अज्ञानी के अज्ञानमय भाव होते हैं।

टीकार्थ—जिस कारण निष्चयसे अज्ञानमय भावसे जो कुछ भाव होता है, वह सभी अज्ञानमयपने को उल्लंघन नहीं करता हुआ अज्ञानमय ही होता है; इसलिए अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमय हैं। और जिस कारण ज्ञानमयभावसे जो कुछ भाव होता है, वह सभी ज्ञानमयपने को नहीं उल्लंघन करता हुआ ज्ञानमय ही होता है, इसलिये ज्ञानीके सभी भाव ज्ञानमय हैं। अब इसी अर्थ का कलषरूप काव्य कहते हैं—**ज्ञानिनो** इत्यादि। **अर्थ**—ज्ञानीके सभी भाव ज्ञान से रचे हुए होते हैं और अज्ञानीके सभी भाव अज्ञानसे रचे हुए होते हैं।

णाणमया भावाओ णाणमओ चैव जायदे भावो ।

जम्हा तम्हा णाणिस्स सव्वे भावा हु णाणमया ॥128॥

अण्णाणमया भावा अण्णाणे चैव जायए भावो ।

जम्हा तम्हा भावा अण्णाणमया अणाणिस्स ।।129 ।।

ज्ञानमय भावसे तो, ज्ञान परिणाम ही जनित होता ।

इस कारण ज्ञानीके, सारे परिणाम ज्ञानमय ही हैं ।।128 ।।

भाव अज्ञानमयसे, होता अज्ञानभाव इस कारण ।

अज्ञानी आत्मा के, भावहि अज्ञानमय होते ।।129 ।।

ज्ञानमयाद्भावाद् ज्ञानमयश्चैव जायते भावः । यस्मात्तस्माज्ज्ञानिनः सर्वे भावाः खलु ज्ञानमयाः ।।128 ।।

अज्ञानमयादीणावाद्ज्ञानश्चैव जायते भावः । यस्मात्तस्माद्भावादज्ञानमया अज्ञानिनः ।।129 ।।

यतो ह्यज्ञानमयादीणावाद्यः कश्चनापि भावो भवति स सर्वोप्यज्ञानमयत्वमनतिवर्तमानो—
Sज्ञानमय एव स्यात् ततः सर्व एवाज्ञानमया अज्ञानिनो भावाः । यतश्च ज्ञानमयाद्भावाद्यः
कश्चनापि भावो भवति स सर्वोपि ज्ञानमयत्वमनतिवर्तमानो ज्ञानमय एव स्यात् ततः सर्वे एव
ज्ञानमया ज्ञानिनो भावाः । ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि । सर्वोप्यज्ञाननिर्वृत्ता
भवंत्यज्ञानिनस्तु ते ।।67 ।। ।।128—129 ।।

नामसंज्ञ—गाणमअ, भाव, णाणमअ, च, एव, भाव, ज, त, णाणि, सव्व, भाव, दु, णाणमअ, अण्णाणमअ,
भाव, अण्णाणि, च, एव, भाव, ज, त, भाव, अण्णाणमअ, अणाणि । **धातुसंज्ञ**—जा प्रादुर्भावेने ।
प्रकृतिशब्द—ज्ञानमय, भाव, ज्ञानमय, च, एव, भाव, यत्, तत्, ज्ञानिन्, सर्व, भाव, खलु, ज्ञानमय,
अज्ञानमय, भाव, अज्ञान, च, एव, भाव, यत्, तत्, भाव, अज्ञानमय, अज्ञानिन् । **मूलधातु**—जनी प्रादुर्भावे
दिवादि, ज्ञा अवबोधने । **पदविवरण**—ज्ञानमयात्, भावात्—पंचमी एकवचन । ज्ञानमयः—प्रथमा एकवचन । च,
एव—अव्यय । जायते—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । भावः—प्र० ए० । यस्मात्, तस्मात्—पंचमी
एक० । ज्ञानिनः—षष्ठी ए० । सर्वे—प्र० बहु० । भावाः—प्र० बहु० । खलु—अव्यय । ज्ञानमयाः—प्रथमा बहु० ।
अज्ञानमयात्, भावत्—पंचमी एक० । अज्ञानः—प्रथमा ए० । जायते—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । भावः—प्र०
एक० । यस्मात्, तस्मात्—पंचमी एकवचन । भावाः, अज्ञानमयाः—प्रथमा बहु० । अज्ञानिनः—षष्ठी
एकवचन ।।128—129 ।।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया था कि अज्ञानी के अज्ञानमय भाव होता है और इससे वह कर्मको करता है तथा ज्ञानी के ज्ञानमय भाव होता है और इससे वह कर्म को नहीं करता । अब इस गाथामें बताया है कि ज्ञानीके ज्ञानमय ही भाव क्यों होता है और अज्ञानी के अज्ञानमय ही भाव क्यों होता है?

तथ्यप्रकाश—1—अज्ञानमय भावसे जो कुछ भी भाव होता है वह सब अज्ञानमयता का उल्लंघन न करने से अज्ञानमय ही भाव होता है । 2—ज्ञानमयभावसे जो कुछ भी भाव होता है वह सब ज्ञानमयता का उल्लंघन न करनेसे ज्ञानमय ही होता है ।

सिद्धान्त—1—अज्ञानमय परभावको आत्मा मानने वाले विकल्पसे अज्ञानमय भाव ही प्रकट होता है । 2—ज्ञानघन अन्तस्तत्त्व की दृष्टि वाले के ज्ञानसंस्कृत ही भाव होता ।

दृष्टि—1—अषुद्धनिष्चयनय (47) । 2—षुद्धनिष्चयनय, अपूर्ण 'षुद्धनिष्चयनय (46, 46ब) ।

प्रयोग—मूलमें अविकार ज्ञानस्वभावका आलम्बन होनेसे ज्ञानमय भाव प्रकट होता है सो अपना उपयोग अविकार ज्ञानस्वभावको दृष्टिमें रखने का पौरुष करना ।।128—129 ।।

अब इस उक्त गाथार्थ को ही दृष्टान्त से दृढ़ करते हैं—[यथा] जैसे [कनकमयात् भावात्] सुवर्णमय भावसे [कुंडलादयः भावाः] सुवर्णमय कुंडलादिक भाव [जायंते] उत्पन्न होते हैं [तु] और [अयोमयात् भावात्] लोहमय भावसे [कटकादयः] लोहमयी कड़े इत्यादिक भाव उत्पन्न होते हैं [तथा] उसी प्रकार [अज्ञानिनः] अज्ञानी के [अज्ञानमयात् भावात्] अज्ञानमय

अथैतदेव दृष्टान्तेन समर्थयते—

कणयमया भावादो जायंते कुंडलादयो भावा ।

अयमयया भावादो जह जायंते तु कडयादी ।।130 ।।

अण्णाणमया भावा अणाणिणो बहुबिहा वि जायंते ।
 णाणिस्स दु णाणमया सव्वे भावा तहा होंति ।।131।। (युग्मम्)
 स्वर्णमयी पासासे, होते उत्पन्न कुण्डलादि विविध ।
 लोहमयी वस्तू से, होते उत्पन्न लोहमयी ।।130।।
 अज्ञानी आत्माके, होते अज्ञानभाव नानाविध ।
 ज्ञानी आत्माके तो, ज्ञानमयी भाव ही हाते ।।131।।

कनकमयाद्भावाज्जायंते कुंडलादयो भावाः । अयोमयकाद्भावाद्यथा जायंते तु कटकादयः ।।130।।
 अज्ञानमयाद्भावादज्ञानिनो बहुविधा अपि जायंते । ज्ञानिनस्तु ज्ञानमया सर्वे भावास्तथा भवन्ति ।।131।।

यथा खलु पुद्गलस्य स्वयं परिणामस्वभावत्वे सत्यपि कारणानुविधायित्वात्कार्याणां
 जांबूनदमयाद्भावाज्जांबूनदजातिमनतिवर्तमानांज्जांबूनदकुंडलादय एव भावा भवेयुर्न पुनः
 कालायसवलयादयः । कालायसमयाद्भावाच्च कालायसजातिमनतिवर्तमानाः कालायसवलयादय

नामसंज्ञ—कणयमअ, भाव, कुंडलादि, भाव, अयमयय, भाव, जह, तु, कडयादि, अण्णाणमअ, भाव,
 अणाणि, बहुविह, वि, णाणि, णाणमअ, सव्व, भाव, तहा । **धातुसंज्ञ**—जा प्रादुर्भावे, हो सत्तायां ।
प्रकृतिशब्द—कणयमय, भाव, कुण्डलादि, भाव, अयोमयक, भाव, यथा, तु, कटकादि, अज्ञानमय,
 भाव,

भावसे [बहुविधा अपि] अनेक तरह के [अज्ञानमयाः भावाः] अज्ञानमय भाव [जायंते]
 उत्पन्न होते हैं [तु] परन्तु [ज्ञानिनः] ज्ञानी के [सर्वे] सभी [ज्ञानमयाः भावाः] ज्ञानमय भाव
 [भवन्ति] होते हैं ।

तात्पर्य—अज्ञानी के 'भूभाषुभ भावों में आत्मबुद्धि होनेसे अज्ञानमयभाव होते, ज्ञानीके
 सहजज्ञानस्वरूपमें आत्मबुद्धि होनेसे ज्ञानमयभाव होते ।

टीकार्थ—जैसे कि पुद्गलद्रव्य स्वयं परिणामस्वभावी होनेपर भी जैसा कारण हो, उस
 स्वरूप कार्य होते हैं, अतः सुवर्णमय भावसे सुवर्णजातिका उल्लंघन न करने वाले होनेसे
 सुवर्णमय ही कुंडल आदिक भाव होते हैं, सुवर्ण से लोहमयी कड़ा आदिक भाव नहीं होते ।
 और लोहमय भावसे लोहकी जातिको उल्लंघन न करने वाले लोहमय कड़े आदिक भाव
 होते हैं, लोहसे सुवर्णमय कुण्डल आदिक भाव नहीं होते, उसी प्रकार जीवके स्वयं
 परिणामस्वभावरूप होने पर भी 'जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य होता है' इस न्यायसे
 अज्ञानीके स्वयमेव अज्ञानमय भावसे अज्ञानकी जाति को नहीं उल्लंघन करने वाले अनेक
 प्रकार के अज्ञानमय ही भाव होते हैं, ज्ञानमय भाव नहीं होते, और ज्ञानीके ज्ञानकी जातिको
 नहीं उल्लंघन करने वाले सब ज्ञानमय ही भाव होते हैं, अज्ञानमय नहीं होते ।

भावार्थ—जैसा कारण हो, वैसा ही कार्य होता है, इस न्यायसे जैसे लोहसे लोहमय वस्तुयें
 होती हैं, और सुवर्ण से सुवर्णमय आभूषण होते हैं उसी प्रकार अज्ञानी के अज्ञान से
 अज्ञानमय भाव होते हैं और ज्ञानी के ज्ञानसे ज्ञानमय ही भाव होते हैं । अज्ञानमयभाव तो
 क्रोधादिक हैं और ज्ञानमयभाव क्षमा आदिक हैं । यद्यपि अविरत सम्यग्दृष्टिके चारित्रमोहके
 उदयसे क्रोधादिक भी प्रवर्तते हैं तथापि उस ज्ञानी की उनमें आत्मबुद्धि नहीं है, वह इन्हें
 परके निमित्तसे हुई उपाधि मानता है, सो उसके वे क्रोधादि कर्म उदयमें आकर खिर जाते
 हैं, ज्ञानी आगामी ऐसा बंध नहीं करता कि जिससे संसार का भ्रमण बढ़े । और आप उद्यमी
 होकर उनरूप परिणमन भी नहीं करता है; उदयकी जबरदस्तीसे परिणमता है, इसलिए वहाँ
 भी ज्ञानमें ही अपना स्वामित्व मानने से उन क्रोधादिभावोंका भी अन्य ज्ञेयके समान ज्ञाता ही
 है, कर्ता नहीं है ।

एव भवेयुर्न पुनर्जाम्बूनदकुंडलादयः । तथा जीवस्य स्वयं परिणामस्वभावत्वे सत्यपि कारणानु-
 विधायित्वादेव कार्याणां अज्ञानिनः स्वयमज्ञानमयाद्भावादज्ञानजातिमनतिवर्तमाना विविधा

अप्यज्ञानमया एव भावा भवेयुर्न पुनर्ज्ञानमयाः ज्ञानिनष्व स्वयं ज्ञानमयाद्भावाज्ज्ञानजातिमन-
तिवर्तमानाः सर्वे ज्ञानमया एव भावा भवेयुर्न पुनरज्ञानमयाः ॥130-131 ॥

अज्ञानमयभावानामज्ञानी व्याप्य भूमिकां । द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानाएति हेतुतां ॥68 ॥

अज्ञानिन्, बहुविध, अपि, ज्ञानिन्, तु, ज्ञानमय, सर्व, भाव, तथा । **मूलधातु**—कुडि रक्षणे चुरादि, कटी गतौ (स्वार्थकः) जनी प्रादुर्भावे दिवादि, ज्ञा अवबोधने । **पदविवरण**—कनकमयात्, भावात्—पंचमी एक० । जायते—वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन क्रिया । कुण्डलादयः, भावाः—प्रथमा बहु० । अयोमयकात्—पंचमी एक० । भावात्—पं० एक० । यथा—अव्यय । जायते—वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन क्रिया । कटकादयः—प्र० बहु० । अज्ञानमयात्, भावात्—पंचमी एक० । अज्ञानिनः—षष्ठी एक० । बहुविधाः—प्र० बहु० । अपि—अव्यय । ज्ञानिनः—षष्ठी एक० । ज्ञानमयाः, सर्वे, भावाः—प्रथमा बहुवचन । भवन्ति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया ॥130-131 ॥

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथायुगलमें कहा गया था ज्ञानमय भावसे ज्ञानमय ही भाव होते और अज्ञानमय भावसे अज्ञानमय ही भाव होते हैं । अब इस गाथा युगलमें इसी तथ्यको दृष्टांत द्वारा समर्थित किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—1—जीव स्वयं परिणामस्वभाव है सो जीवको परिणमता तो रहना है ही । 2—कार्य उपादान कारणका अनुविधान किया करते हैं याने जैसा कारण होता है वैसा कार्य होता है । 3—अज्ञानीके स्वयं अज्ञानमय भाव हैं सो अज्ञानमय कारणसे अज्ञानमय ही भाव होगा । 4—ज्ञानीके स्वयं ज्ञानमय भाव हैं सो ज्ञानमय कारणसे ज्ञानमय ही भाव होगा ।

सिद्धान्त—1—जिस काल सहजज्ञानस्वभावकी दृष्टि, प्रतीति, रुचि है उस काल यह आत्मा ज्ञानमय भाव वाला है । 2—जिस काल रागादि प्रकृतिविपाक प्रतिफलनमें आत्मत्वकी दृष्टि, प्रतीति व रुचि है उस काल यह आत्मा अज्ञानमयभाव वाला है ।

दृष्टि—1—षुद्धनिष्चयनय (46), अपूर्ण 'षुद्धनिष्चयनय (46ब) । 2—अषुद्धनिष्चयनय (47) ।

प्रयोग—अविकार सहज 'षुद्ध आत्मत्व की उपलब्धि बिना ही संसार संकट है, अतः अविकार सहजषुद्ध अंतस्तत्त्व में आत्मत्व का अनुभव करने का पौरुष करना ॥130-131 ॥

अब अगली गाथाकी सूचना के अर्थ 'लोक कहते हैं—**अज्ञान** इत्यादि । अज्ञानी अज्ञानमय भावोंकी भूमिका को व्याप्त कर आगामी द्रव्यकर्मके निमित्तभूत भावों की हेतुता को प्राप्त होता है । इसी अर्थ को पाँच गाथाओं द्वारा कहते हैं—**[जीवानां]** जीवों के **[या]** जो **[अतत्त्वोपलब्धिः]** अन्यथास्वरूपका जानना है **[सः]** वह **[अज्ञानस्य]** अज्ञानका **[उदयः]** उदय है **[तु]** और **[जीवस्य]** जीवके **[अश्रद्धानत्वं]** जो तत्त्व का अश्रद्धान है वह **[मिथ्यात्वस्य]** मिथ्यात्वका **[उदयः]** उदय है **[तु]** और **[जीवानां]** जीवों के **[यत्]** जो **[अविरमणं]** अत्यागभाव **[भवेत्]** है **[असंयमस्य]** वह असंयम का **[उदयः]** उदय है **[तु]** और **[जीवानां]** जीवों के **[यः]** जो **[कलुशोपयोगः]** मलिन याने जानपनेकी स्वच्छतासे रहित उपयोग है **[सः]** वह **[कशायोदयः]** कषाय का उदय है **[तु यः]** और जो **[जीवानां]** जीवों के **[‘गोभनः]** 'गुभरूप **[वा]** अथवा **[अशोभनः]** अषुभरूप **[कर्तव्यः]** प्रवृत्तिरूप **[वा]** अथवा **[विरतिभावः]** निवृत्तिरूप **[चेष्टोत्साहः]** मन वचन कायकी चेष्टाका उत्साह है **[तं]** उसे **[योगोदयं]** योग का उदय **[जानीहि]** जानो । **[एतेशु]** इनके **[हेतुभूतेशु]** हेतुभूत होने पर **[यत्तु]** जो **[कर्मवर्गणागतं]** कर्मवर्गणागत पुद्गलद्रव्य **[ज्ञानावरणादिभावैः अष्टविधं]** ज्ञानावरण आदि भावों से आठ प्रकार **[परिणमते]** परिणमन करता है **[तत्]** वह **[कर्मवर्गणागतं]** कर्मवर्गणागत पुद्गलद्रव्य **[यदा]** जब **[खलु]** वास्तवमें **[जीवनिबद्धं]** जीवमें निबद्ध होता है **[तदा तु]** उस

अण्णाणस्स स उदओ जं जीवाणं अतच्चउवलद्धी ।
 मिच्छत्तस्स दु उदओ जीवस्स असद्दहाणत्तं ।।132।।
 उदओ असंजमस्स दु जं जीवाणं हवेइ अविरमणं ।
 जो दु कलुसोवओगो जीवाणं सो कसाउदओ ।।133।।
 तं जाण जोगउदयं जो जीवाणं तु चिट्ठच्छाहो ।
 सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदिभावो वा ।।134।।
 एदेसु हेदुभूदेसु कम्मअयवग्गणागयं जं तु ।
 परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहिं ।।135।।
 तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवग्गणागयं जइया ।
 तइया दु होदि हेदू जीवो परिणामभावाणं ।।136।।
 अज्ञानका उदय वह, जो जीवोंको न तत्त्व उपलब्धी ।
 मिथ्यात्वका उदय जो, जीवों के अश्रद्धानपना ।।132।।
 उदय असंयमका वह, जो जीवों को न पापसे विरती ।
 उदय कशायों का यह, कलुशित उपयोगका होना ।।133।।

नामसंज्ञ—अण्णाण, त, उदअ, ज, जीव, अतच्चउवलद्धि, मिच्छत्त, दु, उदअ, जीव, असद्दहाणत्त, उदअ, असंजम, दु, ज, जीव, अविरमण, ज, दु, कलुसोवओग, जीव, त, कसाउदअ, त, जोगउदअ, ज, जीव, तु, चिट्ठउच्छाह, सोहण, असोहण, व, कायव्व, विरदिभाव, वा, एत, हेतुभूद, कम्मइयवग्गणागअ, ज, तु, अट्ठविह, णाणावरणादिभाव, त, खलु, जीवणिबद्ध, कम्मइयवग्गणागअ, जइया, तइया, दु, हेदु, जीव, परिणामभाव । **धातुसंज्ञ**—उद्—अय गतौ, सद् दह धारणे, उव—उज्ज योगे कस—तनूकरणे, उत्—साह साधने, परि—नम नम्रीभावे, हो सत्तायां । **प्रकृतिशब्द**—अज्ञान, तत्, उदय, यत्, जीव, अतत्त्वोपलब्धि, मिथ्यात्व, तु, उदय, जीव, अश्रद्धानत्व, उदय, असंयम, तु, यत्, जीव, अविरमण, यत्, तु, कलुषोपयोग, समय [परिणामभावानां] उन अज्ञानादिक परिणाम भावोंका [हेतुः] कारण [जीवः] जीव [भवति] होता है ।

तात्पर्य—प्रकृतिविपाक, कर्मास्रव व कर्मबन्ध, तथा जीवविभाव अपने अपने उपादान में होते हैं, उनमें परस्पर निमित्तनैमित्तिकभावमात्र बना है ।

टीकार्थ—अयथार्थ वस्तुस्वरूपकी उपलब्धि से ज्ञानमें स्वादरूप होता हुआ अज्ञानका उदय है । और नवीन कर्मोंके हेतुभूत मिथ्यात्व, असंयम, कषाय, योगोदय ये अज्ञानमय चार भाव हैं । उनमें से जो तत्त्वके अश्रद्धानरूपसे ज्ञानमें आस्वादका आना वह तो मिथ्यात्वका उदय है; जो अत्याग भावसे ज्ञानमें आस्वादरूप आये वह असंयम उदय है; जो मलिन उपयोगपने से ज्ञानमें आस्वादरूप आये, वह कषाय का उदय है, और जो 'जुभाषुभप्रवृत्तिनिवृत्तिरूप व्यापाररूपसे ज्ञानमें स्वादरूप होता है, यह योग का उदय है । इन पौद्गलिक मिथ्यात्वादिके उदयस्वरूप चारों भावों के हेतुभूत होनेपर कार्माणवर्गणागत पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि भावोंसे अष्ट प्रकार जो स्वयमेव परिणमता है । वह कर्मवर्गणागत ज्ञानावरणादिक कर्म जब जीवमें निबद्ध होता है, तब जीव स्वयमेव अपने अज्ञानभावसे पर और आत्माके एकत्व का निष्चय कर अज्ञानमय अतत्त्वश्रद्धानादिक अपने परिणामस्वरूप भावोंका कारण होता है । **भावार्थ**—यहाँ अज्ञानभावके भेदरूप जो मिथ्यात्व, अविरत, कषाय, योगरूप परिणाम कहे गये हैं, वे पुद्गलके परिणाम हैं और उनका स्वाद अश्रद्धानादिकरूपसे ज्ञानमें आता है ये विभाव ज्ञानावरणादि आगामी कर्मबंधके कारण हैं अर्थात् जीव उन मिथ्यात्वादि भावोंके उदय होनेका निमित्त पाकर अपने अज्ञानभावसे अतत्त्वश्रद्धानादि भावों के

रूपमें परिणमन करता है, सो उन अपने अज्ञानरूप भावोंका उपादानकारण यह जीव होता है, निमित्तकारण कर्मविपाक होता है।

योग उदय वह जानो, जो चेष्टोत्साह होय जीवों के।

‘गुभ हो तथा अशुभ हो, हेय उपादेय अथवा हो।।134।।

इनके निमित्त होने पर पुद्गल कर्मवर्गणागत जो।

परिणमता आठ तरह, ज्ञानावरणादि भावोंसे।।135।।

कार्माणवर्गणागत, वह कर्म जीवनिबद्ध होता जब।

तब ही कारण होता, जीव विपरिणामभावोंका।।136।।

अज्ञानस्य स उदयो या जीवानामतत्त्वोपलब्धिः। मिथ्यात्वस्य तूदयो जीवस्याश्रद्धानत्वं।।132।।

उदयोऽसंयमस्य तु यज्जीवानां भवेदविरमणं। यस्तु कलुषोपयोगो जीवानां सः कषायोदयः।।133।।

तं जानीहि योगोदयं यो जीवानां तु चेष्टोत्साहः। ‘गोभनोऽषोभनो वा कर्तव्यो विरतिभावो वा।।134।।

एतेषु हेतुभूतेषु कार्मणवर्गणागतं यत्तु। परिणमतेष्टविधं ज्ञानावरणादिभावैः।।135।।

तत्खलु जीवनिबद्धं कार्मणवर्गणागतं यदा। तदा तु भवति हेतुर्जीवः परिणमभावानां।।136।।

अतत्त्वोपलब्धिरूपेण ज्ञाने स्वदमानो अज्ञानोदयः। मिथ्यात्वासंयमकषाययोगोदयाः कर्महेतवस्तन्मयाष्वत्वारो भावाः। तत्त्वाश्रद्धानरूपेण ज्ञाने स्वदमानो मिथ्यात्वोदयः अविरमण-रूपेण ज्ञाने स्वदमानोऽसंयमोदयः कलुषोपयोगरूपेण ज्ञाने स्वदमानः कषायोदयः ‘गुभाषुभ प्रवृत्तिनिवृत्तिव्यापाररूपेण ज्ञाने स्वदमानो योगोदयः। अर्थतेषु पौद्गलिकेषु मिथ्यात्वाद्युदयेषु हेतुभूतेषु यत्पुद्गलद्रव्यं कर्मवर्गणागतं ज्ञानावरणादिभावैरष्टधा स्वयमेव परिणमते तत्खलु

जीव, तत्, कषायोदय, तत्, योगोदय, यत्, जीव, तु, चेष्टोत्साह, ‘गोभन, अषोभन, वा, कर्तव्य, विरतिभाव, वा, एतत्, हेतुभूत, कार्मणवर्गणागत, यत्, तु, अष्टविध, ज्ञानावरणादिभाव, तत्, खलु, जीवनिबद्ध, कार्मणवर्गणागत, यदा, तदा, तु, हेतु, जीव, परिणामभाव। **मूलधातु**—ज्ञा अवबोधने, डुलभष् प्राप्तौ भ्वादि, अ-सम्-यम संयमने, अ-वि-रमु रमणे, नि-बध बन्धने, चेष्ट चेष्टायां भ्वादि, षह मर्षणे चुरादि, षह चक्यर्थे चक्यर्थस्तृप्तिः दिवादि, ‘गुभ ‘गोभार्थे तुदादि। **पदविवरण**—अज्ञानस्य—षष्ठी एक०। सः, उदयः—प्रथमा एकवचन। या—प्रथमा एक० स्त्रीलिङ्ग। जीवानां—षष्ठी बहु०। अतत्त्वोपलब्धिः—प्रथमा एकवचन। मिथ्यात्वस्य—षष्ठी एक०। तु—अव्यय। उदयः—प्रथमा एकवचन। जीवस्य—षष्ठी एक०। अश्रद्धानत्वं, उदयः—प्रथमा एक०। असंयमस्य—षष्ठी एक०। तु—अव्यय। यत्—प्रथमा एक०। जीवानां—षष्ठी बहुवचन। भवेत्—विधि लिङ् अन्य पुरुष एक० क्रिया। अविरमणं, यः—प्रथमा एक०। तु—अव्यय। कलुषोपयोगः—प्र० ए०। जीवानां—षष्ठी बहु०। सः, कषायोदयः—प्र० ए०। तं—द्वितीया एकवचन। जानीहि—आज्ञायां लोट् मध्यम पुरुष एक०। योगोदयं—द्वितीया एकवचन कर्मकारक। यः—प्रथमा एकवचन। जीवानां—षष्ठी बहु०। तु—अव्यय। चेष्टोत्साहः—प्रथमा एक०। ‘गोभनः, अषोभनः—प्र० ए०। वा—अव्यय। कर्तव्यः—कृदन्त प्रथमा एक०

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथायुगलमें बताया गया था कि अज्ञानमयभावसे अज्ञानमयभाव होते हैं। अब इसी तथ्य का विषेषता से वर्णन इस गाथापञ्चक में किया गया है।

तथ्यप्रकाश—1—जीवों को जो तत्त्वकी उपलब्धि नहीं हो रही है वह अज्ञान के उदय का प्रतिफल है। 2—जीवों को जो यथार्थ श्रद्धान नहीं हो रहा है वह मिथ्यात्वके उदय का प्रतिफल है। 3—जीवों को जो पापों से विरति नहीं हो रही है वह असंयमके उदयका प्रतिफल है। 4—जीवों को जो चेष्टामें उत्साह हो रहा है वह योगके उदयका प्रतिफल है। 5—इन द्रव्यप्रत्ययों का निमित्त पाकर कार्माणवर्गणागत पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि आठ प्रकाररूप परिणम जाता है। 6—वह बद्ध कर्म जब जीवनिबद्ध याने उदयमें आकर प्रतिफलित होता है तब यह अज्ञानी जीव अज्ञानमय परिणामों का हेतु होता है। 7—उदयागत द्रव्यप्रत्यय (कर्म) जीवविभाव का तथा नवीन कर्मत्व का दोनों का निमित्त है। 8—जीवविभाव द्रव्यप्रत्ययों के निमित्तत्वका निमित्त है।

सिद्धान्त-1—उदित द्रव्यप्रत्यय का निमित्त पाकर नवीन कार्माणवर्गणाओं में कर्मत्व आता है। 2—जीवविभाव परिणामों का निमित्त पाकर द्रव्यप्रत्यय नवीन कर्मों के आस्रव का निमित्त हो जाता है।

कर्मवर्गणागतं जीवनिबद्धं यदा स्यात्तदा जीवः स्वयमेवाज्ञानात्परात्मनोरेकत्वाध्यासेनाज्ञानमयानां तत्त्वाश्रद्धानादीनां स्वस्य परिणामभावानां हेतुर्भवति ॥132—136 ॥

क्रिया। विरतिभावः—प्रथमा एक०। वा—अव्यय। एतेषु—सप्तमी बहु०। हेतुभूतेषु—सप्तमी बहु०। कार्माणवर्गणागतं, यत्—प्रथमा एक०। तु—अव्यय। परिणमते—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। अष्टविधं—क्रियाविषेषणं यथा स्यात्तथा। ज्ञानावरणादिभावैः—तृतीया बहु०। तत्—प्र० ए०। खलु—अव्यय। जीवनिबद्धं, कार्माणवर्गणागतं—प्र० ए०। यदा, तदा, तु—अव्यय। भवति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। हेतुः, जीवः—प्र० ए०। परिणामभावानां—षष्ठी बहुवचन ॥132—136 ॥

दृष्टि-1, 2—उपाधिसापेक्ष अषुद्धद्रव्यार्थिकनय (24)।

प्रयोग—जीव अपनी स्वभावदृष्टि तजकर रागादिरूपसे परिणमता है तब द्रव्यप्रत्यय नवीनकर्मके आस्रवका निमित्त होता है। अतः अपने अविकार ज्ञानस्वभावमय आत्मा की दृष्टि का पौरुष करना ताकि द्रव्यप्रत्यय नवीनकर्मास्रव का निमित्त न हो सके ॥132—136 ॥

अब जीवका परिणाम पुद्गलद्रव्य से पृथक् ही है इसका युक्तिपूर्वक समर्थन करते हैं—**[तु जीवस्य]** यदि ऐसा माना जाय कि जीवके **[रागादयः]** रागादिक **[परिणामः]** परिणाम **[खलु]** वास्तवमें **[कर्मणा च सह]** कर्म के साथ होते हैं **[एवं]** इस प्रकार तो **[जीवः च कर्म]** जीव और कर्म **[द्वे अपि]** ये दोनों ही **[रागादित्वं आपन्ने]** रागादि परिणामको प्राप्त हो पड़ते हैं। **[तु]** परन्तु **[रागादिभिः]** रागादिकों से **[परिणामः]** परिणमन तो **[एकस्य जीवस्य]** एक जीवका ही **[जायते]** उत्पन्न होता है **[तत्]** वह **[कर्मादयहेतुविना]** कर्मके उदयरूप निमित्त कारणसे पृथक् **[जीवस्य परिणामः]** जीवका ही परिणाम है।

तात्पर्य—जीवका का परिणमन जीव में, पुद्गलकर्मका परिणमन पुद्गलकर्ममें है, कोई भी परिणमन दोनों का एक नहीं है।

टीकार्थ—यदि जीव का रागादि अज्ञान परिणाम अपने निमित्तभूत उदयमें आये हुए पुद्गलकर्मके साथ ही होता है, यह तर्क किया जाय तो हल्दी और फिटकरी की भाँति याने जैसे रंगमें हल्दी और फिटकरी साथ डालने से उन दोनों का एक रंगस्वरूप परिणाम होता है वैसे ही जीव और पुद्गलकर्म दोनों के ही रागादि अज्ञानपरिणामका प्रसंग आ जायगा (किन्तु ऐसा तथ्य नहीं है)। यदि रागादि अज्ञानपरिणाम एक जीवके ही माना जाय तो इस मन्तव्यसे ही यह सिद्ध हुआ कि पुद्गलकर्मका उदय जो कि जीवके रागादि अज्ञान परिणामों का कारण है, उससे पृथग्भूत ही जीवका परिणाम है। **भावार्थ**—यदि माना जाय कि जीव और कर्म मिलकर रागादिरूप परिणमते हैं तो जीव औ कर्म इन दोनों के रागादिक की प्राप्ति आ जायगी, किन्तु ऐसा नहीं है। इसलिये पुद्गलकर्मका उदय जीवके अज्ञानरूप रागादि परिणामों को निमित्त है। उस निमित्तसे भिन्न ही जीवका परिणाम है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथापलकमें जीवपरिणाम व कर्मपरिणामके निमित्तनैमित्तिक भावका निर्देश किया है। सो इससे कहीं यह नहीं समझना कि उनमें कर्तृकर्मत्व हो या वे एकरूप हों। इसी तथ्यको इन दो गाथावों में दर्शाया गया है कि जीवके परिणाम पुद्गलद्रव्यसे पृथग्भूत ही हैं।

तथ्यप्रकाश—(1) जीवका परिणाम जीवमें अकेलेमें जीवके अकेले के परिणमनसे ही होता है। (2) यदि जीवके रागादि परिणाम तन्निमित्तभूत उदित कर्मके साथ हों तो जीव और पुद्गल दोनों में ही रागादि अज्ञान परिणाम हो बैठने का दोष आवेगा। (3) जब जीवमें अकेले में परिणाम से ही जीवविभाव होता है तब स्पष्ट सिद्ध है कि निमित्तभूत पुद्गलकर्मविपाकसे भिन्न ही जीवविभाव है।

सिद्धान्त—1—जीव उपचार से द्रव्यकर्मका कर्ता है। 2—अषुद्धोपादान जीव भावकर्मका कर्ता है।

दृष्टि—1—परकर्तृत्व अनुपचरित असदभूतव्यवहार (129)। 2—अषुद्धनिष्चयनय (47)।
पुद्गलद्रव्यात्पृथग्भूत एव जीवस्य परिणामः—

जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा हु होंति रागादी ।
एवं जीवो कम्मं च दोवि रागादिमावण्णा ॥137 ॥
एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं ।
ता कम्मोदयहेदूहिं विणा जीवस्स परिणामो ॥138 ॥
जीवके राग आदिक, विधिके परिणाम साथ होवें तो ।
यों जीव कर्म दो के, रागादि प्रसक्त होवेंगे ॥137 ॥
इन राग आदिसे यदि, होता परिणाम जीव एकहि का ।
तो उदयागत विधिसे, जीवपरिणाम पृथक् ही है ॥138 ॥

जीवस्य तु कर्मणा च सह परिणामाः खलु भवन्ति रागादयः । एवं जीवः कर्म च द्वे अपि रागादित्वमापन्ने ।
एकस्य तु परिणामो जायते जीवस्य रागादिभिः । तत्कर्मोदयहेतुभिर्विना जीवस्य परिणामः ।

यदि जीवस्य तन्निमित्तभूतविपच्यमानपुद्गलकर्मणा सहैव रागाद्यज्ञानपरिणामो भवतीति
वितर्कः तदा जीवपुद्गलकर्मणोः सहभूतसुधाहरिद्रयोरिव द्वयोरपि रागाद्यज्ञानपरिणामापत्तिः ।
अथ चैकस्यैव जीवस्य भवति रागाद्यज्ञानपरिणामः ततः पुद्गलकर्मविपाकाद्धेतोः पृथग्भूतो
जीवस्य परिणामः ॥137—138 ॥

नामसंज्ञ—जीव, दु, कम्म, य, सह, परिणाम, रागादि, एवं, जीव, कम्म, च, दो, वि, रागादि, आवण्ण, दु, परिणाम, जीव, रागमादि, त, कम्मोदयहेदु, विणा, जीव, परिणाम । **धातुसंज्ञ**—हो सत्तायां, जा प्रादुर्भावे । **प्रकृतिशब्द**—जीव, तु, कर्मन्, च, सह, परिणाम, रागादि, एवं, जीव, कर्मन्, च, द्वि, अपि, रागादिव्, आपन्न, एक, तु, परिणाम, जीव, रागादि, तत् कर्मोदयहेतु, विना, जीव, परिणाम । **मूलधातु**—जीव प्राणधारणे, परि-णम प्रह्वत्वे, भू सत्तायां, रंज रागे भ्वादि दिवादि, जनी प्रादुर्भावे । **पदविवरण**—जीवस्य-षष्ठी एक० । तु-अव्यय । कर्मणा-तृतीया एक० । च-अव्यय । सह-अव्यय । परिणामाः-प्रथमा बहुवचन । खलु-अव्यय । भवन्ति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन । रागादयः-प्र० बहु० । एवं-अव्यय । जीवः-प्रथमा एक० । कर्म-प्रथमा एक० । च-अव्यय । द्वे-प्रथमा द्विवचन । अपि-अव्यय । रागादित्वं-द्वितीया एक० । आपन्ने-प्रथमा द्विवचन । एकस्य-षष्ठी एक० । तु-अव्यय । परिणामः-प्रथमा एक० । जायते-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । जीवस्य-षष्ठी एक० । रागादिभिः-तृतीया बहु० । तत्-अन्ययार्थ हेतो । कर्मोदयहेतुभिः-तृतीया बहु० । विना-अव्यय । जीवस्य-षष्ठी एकवचन । परिणामः-प्रथमा एकवचन ॥137—138 ॥

प्रयोग—अपने विभावपरिणामको कर्मपरिणामसे भिन्न समझकर और कर्मपरिणाम का निमित्त होनेपर भी अपनी स्वभावदृष्टि के अभावसे अपनी निर्बलता के कारण हुए जानकर अपनी स्वभावदृष्टि को प्रबल बनावें ताकि कर्मफल अव्यक्त होकर निकल जावें और संसारबन्धनसे बच जावें ॥137—138 ॥

अब कहते हैं कि पुद्गलद्रव्यका परिणाम जीवसे पृथक् ही हैंः—[यदि] यदि [जीवेन सह चैव] जीवके साथ ही [पुद्गलद्रव्यस्य] पुद्गलद्रव्यका [कर्मपरिणामः] कर्मरूप परिणाम होता है, तो [एवं] इस प्रकार [पुद्गलजीवौ द्वौ अपि] पुद्गल और जीव दोनों [खलु] ही [कर्मत्वं आपन्नौ] कर्मत्व को प्राप्त हो जावेंगे [तु] परंतु [कर्मभावेन] कर्मरूपसे [परिणामः] परिणाम [एकस्य] एक [पुद्गलद्रव्यस्य] पुद्गलद्रव्यका होता है [तत्] इसलिये [जीवभावहेतुभिः बिना] जीवभाव निमित्तकारणसे पृथक् [कर्मणः] कर्मका [परिणामः] परिणाम है ।

तात्पर्य—कर्मपरिणमन जीवसे पृथक् ही है जैसे कि जीवपरिणाम पौद्गलिक कर्म से पृथक् है ।

टीकार्थ—यदि पुद्गलद्रव्यका कर्मपरिणाम उसके निमित्तभूत रागादि अज्ञान परिणाम रूप परिणत जीवके साथ ही होता है, इस प्रकार तर्क उपस्थित किया जाय तो जैसे मिली हुई हल्दी और फिटकरी दोनों का साथ ही लाल रंग का परिणाम होता है, उसी प्रकार पुद्गलद्रव्य और जीव दोनों के ही कर्मपरिणामकी प्राप्ति का प्रसंग आ जायगा, किन्तु एक पुद्गलद्रव्य के ही कर्मत्व परिणाम होता है। इस कारण कर्मबन्ध के निमित्तभूत जीव के जीवात्पृथग्भूत एव पुद्गलद्रव्यस्य परिणामः—

जइ जीवेण सहच्चिय पुग्गलदव्वस्स कम्मपरिणामो ।

एवं पुग्गलजीवा हु दोवि कम्मत्तमावण्णा ॥139 ॥

एकस्स दु परिणामो पुग्गलदव्वस्स कम्मभावेण ।

ता जीवभावहेदूहिं विणा कम्मस्स परिणामो ॥140 ॥

कर्मपरिणाम पुद्गलका यदि जीवके साथ होवे तो ।

यों कर्म जीव दो के, कर्मत्व प्रसक्त होवेगा ॥139 ॥

इस कर्मभावसे यदि, होता परिणाम एक पुद्गलका ।

तो जीवभावसे यह, कर्मपरिणाम पृथक् ही है ॥140 ॥

यदि जीवने सह चैव पुद्गलद्रव्यस्य कर्मपरिणामः । एवं पुद्गलजीवी खलु द्वावपि कर्मत्वमापन्नौ ॥139 ॥

एकस्य तु परिणामः पुद्गलद्रव्यस्य कर्मभावेन । तज्जीवभावहेतुभिर्विना कर्मणः परिणामः ॥140 ॥

यदि पुद्गलद्रव्यस्य तन्निमित्तभूतरागाद्यज्ञानपरिणामपरिणतजीवने सहैव कर्मपरिणामो भवतीति वितर्कः तदा पुद्गलद्रव्यजीवयोः सहभूतहरिद्रासुधयोरिव द्वयोरपि कर्मपरिणामापत्तिः । अथ चैकस्यैव पुद्गलद्रव्यस्य भवति कर्मत्वपरिणामः ततां रागदिजीवाज्ञानपरिणामाद्धेतोः पृथग्भूत एव पुद्गलकर्मणः परिणामः ॥139-140 ॥

नामसंज्ञ—जइ, जीव, सह, च, एव, पुग्गलदव्व, कम्मपरिणाम, एवं, पुग्गलजीव, दु, दु, वि, कम्मत्त, आवण्ण, एक, दु, परिणाम, पुग्गलदव्व, कम्मभाव, त, जीवभावहेदु, विणा, कम्म, परिणाम । **धातुसंज्ञ**—जीव प्राणधारणे, द्व प्राप्तौ, पूर पालनपूरणयोः, गल स्रवणे । **प्रकृतिशब्द**—यदि, जीव, सह, च, एव, पुद्गलद्रव्य, कर्मपरिणाम, एवं, पुद्गलजीव, खलु, द्वि, अपि, कर्मत्व, आपन्न, एक, तु, परिणाम, पुद्गलद्रव्य, कर्मभाव, तत्, जीवभावहेतु, विना, कर्मन्, परिणाम । **मूलधातु**—जीव प्राणधारणे, पूरी आप्यायने, गल स्रवणे, आ-पद गतौ दिवादि । **पदविवरण**—यदि-अव्यय । जीवेन-तृतीया एक० । सह-अव्यय । पुद्गलद्रव्यस्य-षष्ठी एक० । कर्मपरिणाम-प्रथमा एक० । एवं-अव्यय । पुद्गलजीवौ-प्रथमा द्विवचन । खलु-अव्यय । द्वौ-प्रथमा द्विवचन । अपि-अव्यय । कर्मत्वं-द्वितीया एक० । आपन्नौ-प्र० द्वि० । एकस्य-षष्ठी एक० । तु-अव्यय । परिणामः-प्रथमा एक० । पुद्गलद्रव्यस्य-षष्ठी एक० । कर्मभावेन-तृ० एक० । तत्-अव्ययभावे । जीवभावहेतुभिः-तृ० बहु० । विना-अव्यय । कर्मणः-षष्ठी एक० । परिणामः-प्रथमा एकवचन ॥139-140 ॥

रागादिस्वरूप अज्ञानपरिणाम से पृथक् ही पुद्गलकर्म का परिणाम है ।

भावार्थ—पुद्गलद्रव्य का कर्मपरिणाम होना यदि पुद्गल व जीव दोनों का ही माना जाय तो दोनों के ही कर्मपरिणामका प्रसंग आ जायगा, किन्तु जीव का अज्ञानरूप रागादि-परिणाम कर्मका निमित्तमात्र है । इस कारण पुद्गलकर्म का परिणाम जीवसे पृथक् ही है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथायुगलमें बताया गया था कि जीवका परिणाम पुद्गलद्रव्यसे पृथग्भूत है । अब इन दो गाथाओं में बताया है कि पुद्गलद्रव्य का परिणाम जीव से पृथग्भूत है ।

तथ्यप्रकाश—1—पुद्गलद्रव्यका परिणमन पुद्गलद्रव्यमें पुद्गलद्रव्यके अकेले के परिणमनसे ही होता है । 2—यदि पुद्गलद्रव्यका कर्मपरिणाम तन्निमित्तभूत रागादि अज्ञान-परिणाम परिणत जीवके साथ ही हो तो पुद्गलद्रव्य और जीव दोनों में ही कर्मपरिणाम हो

बैठनेका दोष आता है। 3—जब पुद्गलद्रव्यमें पुद्गलद्रव्यके परिणमनसे ही कर्मपरिणाम होता है तब स्पष्ट सिद्ध है कि निमित्तभूत जीवपरिणामसे भिन्न ही पुद्गलद्रव्यपरिणाम है।

सिद्धान्त—1—पुद्गलकर्म उपचार से जीवपरिणामका कर्ता है। 2—कार्माणवर्गणागत पुद्गलद्रव्य कर्मत्वपरिणामका कर्ता है।

दृष्टि—1—परकर्तृत्व अनुपचरित असद्भूतव्यवहार (129)। 2—अषुद्धनिष्चयनय (47)।

प्रयोग—पुद्गलकर्मविपाक पुद्गलकर्म का परिणाम है उससे भिन्न अपने को ज्ञानाकार मात्र निरखकर ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व में रमने का पौरुष करना ॥139—140 ॥

ततः किमात्मनि बद्धस्पृष्टं किमबद्धस्पृष्टं कर्मेति नयविभागेनाह—

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि व्यवहारणयभणिदं ।

सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं ॥141 ॥

छुआ हुआ आत्मा में, है कर्म यह व्यवहारणय कहता ।

जीवमें 'जुद्धनयसे, न बँधा न छुआ है कुछ कर्म ॥141 ॥

जीवे कर्म बद्धं स्पृष्टं चेति व्यवहारणयभणितं । 'जुद्धनयस्य तु जीवे अबद्धस्पृष्टं भवति कर्म ॥141 ॥

जीवपुद्गलकर्मणोरेकबंधपर्यायत्वेन तदात्वे व्यतिरेकाभावाज्जीवे बद्धस्पृष्टं कर्मेति व्यवहारणयपक्षः ।

जीवपुद्गलकर्मणोरेकद्रव्यत्वेनात्यंतव्यतिरेकाज्जीवेऽबद्धस्पृष्टं कर्मेति निष्चयनय पक्षः ॥141 ॥

<p>नामसंज्ञ—जीव, कम्म, बद्ध, पुट्ठ, च, इति, व्यवहारणयभणिद, सुद्धणय, दु, जीव, अबद्धपुट्ठ, कम्म । धातुसंज्ञ—भण कथने, हव सत्तायां । प्रकृतिशब्द—जीव, कर्मन्, बद्ध, स्पृष्ट, च, इति, व्यवहारणयभणित, 'जुद्धनय, तु, जीव, अबद्धस्पृष्ट, कर्मन् । मूलधातु—स्पृष संस्पर्शने तृदादि, वि-अव-हृञ हरणे, भण 'ब्दार्थः, 'गुध 'गौचे दिवादि, बंध बन्धने, भू सत्तायां । पदविवरण—जीवे-सप्तमी एक० । कर्म-प्रथमा एक० । बद्ध-प्र० ए० । स्पृष्ट-प्र० ए० । च, इति-अव्यय । व्यवहारणयभणितं-प्रथमा एक० । 'जुद्धनयस्य-षष्ठी एक० । तु-अव्यय । जीवे-सप्तमी एकवचन । अबद्धस्पृष्ट-प्र० एक० । भवति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । कर्म-प्रथमा एकवचन ॥141 ॥</p>

अब पूछते हैं कि आत्मा में कर्म बद्धस्पृष्ट है कि अबद्धस्पृष्ट? उसका उत्तर नयविभाग से कहते हैं—[जीवे] जीवमें [कर्म] कर्म [बद्धं] बँधा हुआ है [च] तथा [स्पृष्टं] छुआ हुआ है [इति] ऐसा [व्यवहारणयभणितं] व्यवहारणय का वचन है [तु] और [जीवे] जीवमें [कर्म] कर्म [अबद्धस्पृष्टं] अबद्धस्पृष्ट [भवति] है अर्थात् न बँधा है, न छुआ है ऐसा [जुद्धनयस्य] कथन 'जुद्धनय का है।

तात्पर्य—व्यवहारणय से जीवमें कर्म बद्धस्पृष्ट ज्ञात होता है, किन्तु 'जुद्धनय से अबद्धस्पृष्ट ज्ञात होता है।

टीकार्थ—जीव और पुद्गलकर्मको एक बंधपर्यायरूपसे देखने पर उस समय भिन्नता का अभाव होनेसे जीवमें कर्म बँधे हैं और छुए हैं ऐसा कहना तो व्यवहारणय का पक्ष है और जीव तथा पुद्गलकर्मके अनेकद्रव्यपना होनेसे अत्यन्त भिन्नता है, अतः जीवमें कर्म बद्धस्पृष्ट नहीं है, ऐसा कथन निष्चयनयका पक्ष है।

भावार्थ—निष्चयनय तो एक द्रव्यको देखता है सो उसके मतसे कोई भी पदार्थ बद्धस्पृष्ट नहीं है, व्यवहारणय घटनाको भी निरखता है सो व्यवहारणय से बद्धस्पृष्ट है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथायुगल में बताया गया था कि पुद्गलद्रव्य का परिणाम जीवसे पृथग्भूत है। इस वर्णन पर जिज्ञासा हुई कि तो क्या कर्म आत्मा में बद्धस्पृष्ट है या अबद्धस्पृष्ट है इस जिज्ञासा का समाधान इस गाथा में किया गया है।

तथ्यप्रकाश—1—संसारदषामें जीवऔर पुद्गलकर्म का एकबन्धपर्यायपना है। 2—बन्धा— वस्था में जीव और पुद्गलकर्म की भिन्नता विदित नहीं होती। 3—जीवमें कर्म बद्ध है व स्पृष्ट है यह व्यवहारणयका सिद्धान्त है। 4—जीव और पुद्गलकर्मये भिन्न—भिन्न

द्रव्य हैं, अतः जीवमें कर्म अबद्धस्पृष्ट है यह निष्चयनका सिद्धान्त है। 5-घटना व वस्तुगतताकी दृष्टि से दोनों अपनी-अपनी दृष्टि में तथ्यभूत हैं। 6-बद्धाबद्धादिविकल्परूप 'जुद्धात्मस्वरूप नहीं है।

सिद्धान्त—1-घटना में जीव कर्म से बँधा व छुआ हुआ है। 2-स्वरूपमें जीव कर्म से बँधा छुवा हुआ नहीं है।

दृष्टि—1-संश्लिष्ट विजात्युपचरित असद्भूतव्यवहार (125)। 2-प्रतिषेधक 'जुद्धनय (49अ)।

प्रयोग—अपनी बद्धस्पृष्ट दषा का परिचय कर दुर्दषाके निमित्तभूत मोकका परिहार कर अबद्धस्पृष्ट अन्तस्तत्त्व को निहारकर बद्धाबद्धविकल्पसे दूर होकर अपने ज्ञानमात्र स्वरूपमें रत होने का पौरुष करना ॥141॥

ततः किं—

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं ।

पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥142॥

बद्ध व अबद्ध विधि है, जीवमें नयका पक्ष यह जानो ।

किन्तु जो पक्षव्यपगत, उसको ही समयसार कहा ॥142॥

कर्म बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जानीहि नयपक्षं । पक्षातिक्रान्तः पुनर्भण्यते यः स समयसारः ॥142॥

यः किल जीवे बद्धं कर्मेति यच्च जीवेऽबद्धं कर्मेति विकल्पः स द्वितयोपि हि नयपक्षः । य एवैनमतिक्रामति स एव सकलविकल्पातिक्रान्तः स्वयं निर्विकल्पैकविज्ञानघनस्वभावो भूत्वा साक्षात्समयसारः संभवति । तत्र यस्तावज्जीवे बद्धं कर्मेति विकल्पयति स जीवेऽबद्धं कर्मेति एकं पक्षमतिक्रामन्नपि न विकल्पमतिक्रामति । यस्तु जीवेऽबद्धं कर्मेति विकल्पयति सोपि जीवे बद्धं कर्मेत्येकं पक्षमतिक्रामन्नपि न विकल्पमतिक्रामति । यः पुनर्जीवे बद्धमबद्धं च कर्मेति विकल्पयति स तु तं द्वितयमपि पक्षमनतिक्रामन्न विकल्पमतिक्रामति । ततो य एव समस्त-

नामसंज्ञ—कम्म, बद्ध, अबद्ध, जीव, एवं, तु, जाण, णयपक्ख, पक्खातिक्कंत, पुण, ज, त, समयसार ।
धातुसंज्ञ—जाण अवबोधने, भण कथने । **प्रकृतिशब्द**—कर्मन्, बद्ध, अबद्ध, जीव, एवं, तु, नयपक्ष,

अब बताते हैं कि नयविभाग जानने से क्या होता है?—[जीवे] जीवमें [कर्म] कर्म [बद्ध] बँधा हुआ है अथवा [अबद्ध] नहीं बँधा हुआ है [एवं तु] इस प्रकार तो [नयपक्ष] नयपक्ष [जानीहि] जानो [पुनः यः] और जो [पक्षातिक्रान्तः] पक्षसे पृथक् हुआ [भण्यते] कहा जाता है [सः समयसारः] वह समयसार है, निर्विकल्प आत्मतत्त्व है ।

टीकार्थ—जीवमें कर्म बँधा हुआ है ऐसा कहना तथा जीवमें कर्म नहीं बँधा हुआ है ऐसा कहना ये दोनों ही विकल्प नयपक्ष हैं। जो इस नयपक्षके विकल्पको लांघ जाता है अर्थात् छोड़ देता है, वही समस्त विकल्पों से दूर रहता हुआ स्वयं निर्विकल्प एक विज्ञानघनस्वभावरूप होकर साक्षात् समयसार हो जाता है। वहाँ जो जीवमें कर्म बँधा है ऐसा विकल्प करता है वह 'जीवमें कर्म नहीं बँधा है' ऐसे एक पक्षको छोड़ता हुआ भी विकल्पको नहीं छोड़ता। और जो जीवमें कर्म नहीं बँधा है, ऐसा विकल्प करता है वह 'जीवमें कर्म बँधा है' ऐसे विकल्प रूप एक पक्षको छोड़ता हुआ भी विकल्पको नहीं छोड़ता, और जो 'जीवमें कर्म बँधा भी है तथा नहीं भी बँधा है' ऐसा विकल्प करता है वह उन दोनों ही नयपक्षों को नहीं छोड़ता हुआ विकल्प को नहीं छोड़ता। इसलिये जो सभी नयपक्षों को छोड़ता है, वही समस्त विकल्पोंको छोड़ता है तथा वही समयसारको जानता है, अनुभवता है।

भावार्थ—जीव कर्मोंसे बँधा हुआ है तथा नहीं बँधा है, ये दोनों नयपक्ष हैं। उनमें से किसी ने तो बंधपक्षको ग्रहण कर लिया, उसने भी विकल्प ही ग्रहण किया; किसी ने

अबंधपक्ष ग्रहण किया, उसने भी विकल्प ही लिया और किसी ने दोनों पक्ष लिए, उसने भी पक्ष का ही विकल्प ग्रहण किया। लेकिन जो ऐसे विकल्पों को छोड़ देता व किसी भी पक्ष को नहीं पकड़ता, वही 'जुद्ध पदार्थ का स्वरूप जानकर सहज अविकार समयसारको प्राप्त कर लेता है। नयों का पक्ष पकड़ना राग है, और रागमें सहज अन्तस्तत्त्व ज्ञानमें नहीं उहरता सो सब नयपक्षों को छोड़ने पर ही सहजसिद्ध समयसार का परिचय होता है।

जिज्ञासा—यदि ऐसा है तो नयपक्षके त्याग की भावना को कौन नहीं नचावेगा? इसका समाधानरूप काव्य कहते हैं—**य एव** इत्यादि। **अर्थ**—जो पुरुष नयके पक्षपातको छोड़कर अपने स्वरूपमें गुप्त होते हुए निरन्तर निवास करते हैं, वे ही पुरुष विकल्पके जालसे च्युत व 'गांत चित्त होते हुए साक्षात् अमृत को पीते हैं। **भावार्थ**—जब तब कुछ भी

नयपक्षमतिक्रामति स एव समस्तं विकल्पमतिक्रामति। य एव समस्तं विकल्पमतिक्रामति स एव समयसारं विंदति। यद्येवं तर्हि को हि नाम नयपक्षसंन्यासभावनां न नाटयति। य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यं। विकल्पजालच्युतषांतचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति।।69।। एकस्य बद्धो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ। यस्तत्त्ववेदी च्युत-पक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।70।। एकस्य मूढो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ। यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।71।। एकस्य रक्तो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ। यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।72।। एकस्य दुष्टो (दिष्टो) न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ। यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।73।। एकस्य कर्ता न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ। यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।74।। एकस्य भोक्ता न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ। यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।75।। एकस्य जीवो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ। यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।76।। एकस्य सूक्ष्मो न तथा परस्य

पक्षातिक्रान्त, पुनस् यत्, तत्, समयसार। **मूलधातु**—बन्ध बन्धेन क्र्यादि, पक्ष परिग्रहे भ्वादि चुरादि,

पक्षपात रहता है, तब तक चित्त क्षुब्ध रहता। जब सब नयों का पक्षपात दूर हो जाता है, तब ही स्वरूपका यथार्थ अनुभव होता है।

अब तत्त्वज्ञानी होकर स्वरूपको पाता है, इस भावको बताने के लियसे कलषरूप बीस काव्य कहते हैं—**एकस्य** इत्यादि। **अर्थ**—यह चिन्मात्र जीव कर्म से बँधा हुआ है यह एक नय का पक्ष है और दूसरे नयका पक्ष ऐसा है कि कर्मसे नहीं बँधा। इस तरह दो नयों के दो पक्ष हैं। सो दोनों नयों का जिसके पक्षपात है, वह तत्त्ववेदी नहीं है और जो तत्त्ववेदी है, वह पक्षपात से रहित है, उस पुरुषके उपयोगमें चिन्मात्र आत्मा 'गष्यत चिन्मात्र ही है। **भावार्थ**—यहाँ 'जुद्धनयकी मुख्यता से जीवका परिचय कराया जा रहा है सो जीव पदार्थ को 'जुद्ध, नित्य, अभेद, चैतन्यमात्र निरखकर कहते हैं कि जो इस 'जुद्धनयका भी पक्षपात करेगा, वह भी उस स्वरूपके स्वादको नहीं पायेगा। अषुद्धनयपक्षमें तो प्रकट अषुद्धता का परिचय है, किन्तु 'जुद्धनय का भी पक्षपात करेगा तो पक्षका राग नहीं मिटेगा, वीतरागता नहीं होगी। इसलिये पक्षपात को छोड़ चिन्मात्रस्वरूपमें लीन होनेपर ही भव्य समयसारको पा सकता है। चैतन्य के परिणाम पर निमित्त से अनेक होते हैं, उन सबको गौण कर 'जुद्धनयमें पहुंचना, फिर 'जुद्धनयके पक्षको छोड़ 'जुद्धस्वरूपमें प्रवृत्तिरूप चारित्र होने से वीतराग दषा होती है।

अब बद्ध अबद्ध पक्षके छुड़ाने की तरह मोही अमोही पक्षको प्रकट कहकर छुड़ाते हैं—**एकस्य** इत्यादि। **अर्थ**—जीव मोही है यह एक नयका पक्ष है और दूसरे नयका पक्ष है कि जीव मोही नहीं है। इस तरह ये दोनों ही चैतन्यमें पक्षपात है। जो तत्त्ववेदी है, वह पक्षपातरहित है, उसके ज्ञानमें तो चित् चित् ही है।

अब मोही अमोही पक्ष छुड़ाने की भाँति रागी अरागी पक्ष को प्रकट कहकर छुड़ाते हैं—**एकस्य** इत्यादि। **अर्थ**—यह जीव रागी है एक नयका तो ऐसा पक्ष है और दूसरे नय का ऐसा पक्षपात है कि रागी नहीं है। ये दोनों ही चैतन्य में नयके पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी है, वह पक्षपातरहित है, उसके उपयोगमें तो जो चित् है, वह चित् ही है।

अब रागी अरागी पक्ष छुड़ाने की भाँति अन्य पक्षों को भी प्रकट कहकर छुड़ाते हैं—**एकस्य दुष्टो** इत्यादि। **अर्थ**—एक नयके तो द्वेषी हैं ऐसा पक्ष है और दूसरे नयके द्वेषी नहीं है ऐसा पक्ष है ऐसे ये चैतन्य में दोनों नयों के दो पक्षपात हैं। तत्त्ववेदी पक्षपातरहित है, अतः उसके ज्ञानमें तो चित् चित् ही है। एक नयके कर्ता का पक्ष है, दूसरे नयके कर्ता नहीं ऐसा पक्ष है, ऐसे ये चैतन्यमें दोनों नयों के दो पक्षपात हैं, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपातरहित चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ। यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।77।। एकस्य हेतुर्न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ। यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।78।। एकस्य कार्यं न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ। यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।79।। एकस्य भावो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ। यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।80।। एकस्य चैको न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ। यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।81।। एकस्य सांतो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ। यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।82।। एकस्य नित्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ। यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।83।। एकस्य वाच्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ। यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।84।। एकस्य नाना न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ। यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।85।। एकस्य चेत्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ। यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।86।। एकस्य दृष्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ। यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।87।। एकस्य वेद्यो न तथा परस्य

अति—क्रमु पादविक्षेपे, भण 'ब्दार्थः। **पदविवरण**—कर्म—प्रथमा एक०। बद्धं, अबद्धं—प्रथमा एक०। जीवे—सप्तमी एक०। एवं, तु—अव्यय। जानीहि—आज्ञायां लोट् मध्यम पुरुष एक० क्रिया। नयपक्षम्—द्वितीया

है, अतः उसकी दृष्टि में तो चित् चित् ही है। एक नयके भोक्ता है, दूसरे नयके भोक्ता नहीं यह पक्ष है। ऐसे चैतन्य में दो नयों के दो पक्षपात हैं, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपातरहित है, अतः उसके ज्ञान में तो चित् चित् ही है। एक नयके मत में जीव है, दूसरे नयके मतमें जीव है ऐसा नहीं ये चैतन्य में दोनों नयों के पक्षपात हैं, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपातरहित है, उसके उपयोग में तो चित् चित् ही है। एक नयके मतमें सूक्ष्म है, दूसरे नयके मतमें सूक्ष्म है ऐसा नहीं, ऐसे ये चैतन्य में दोनों नयों के दो पक्षपात हैं, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपातरहित है उसके ज्ञानमें तो चित् चित् ही है। एक नयके मतमें हेतु है, दूसरे नयके मत में हेतु नहीं है, ऐसे ये चैतन्यमें दोनों नयों के दो पक्षपात हैं, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपातरहित है, अतः उसके ज्ञानमें तो चित् चित् ही है। एक नयके मतमें यह जीव कार्य है, दूसरे नयके मतमें कार्य है ऐसा नहीं ये चैतन्य में०। एक नय के मतमें जीव भावरूप है दूसरे नयके मतमें अभावरूप है ऐसे ये चैतन्यमें०। एक नयके मत में जीव एक है, दूसरे नयके मत में अनेक है ऐसे ये

चैतन्यमें०। एक नयके मतमें जीव सांत है, दूसरे नयके मत में अंतसहित नहीं है ऐसे ये चैतन्यमें०। एक नयके मतमें जीव नित्य है, दूसरे नयके मतमें अनित्य है ऐसे ये चैतन्यमें०। एक नयके मतमें जीव वाच्य है, दूसरे नयके मतमें वचनगोचर नहीं है ऐसे ये चैतन्यमें०। एक नयके मतमें जीव नानारूप है, दूसरे नयके मतमें नानारूप नहीं है, ऐसे ये चैतन्यमें०। एक नयके मतमें चेत्य अर्थात् जानने योग्य है, दूसरे नयके मतमें चेतने योग्य नहीं है, ऐसे ये चैतन्यमें०। एक नयके मतमें जीव दृष्य है दूसरे नयके मतमें देखने में नहीं आता, ऐसे ये चैतन्यमें०। एक नयके मतमें जीव वेद्य (वेदने योग्य) है दूसरे नयके मतमें वेदनेमें नहीं आता, ऐसे ये चैतन्यमें०। एक नयके मतमें जीव वर्तमान प्रत्यक्ष है, दूसरे नयके मतमें नहीं, ये दोनों नयोंके चैतन्यमें दो पक्षपात हैं, किन्तु तत्त्वेवदी पक्षपातरहित है, अतः उसके ज्ञानमें तो चित् चित् ही है।

अब उक्त कथनों का उपसंहारात्मक काव्य कहते हैं—**स्वेच्छा** इत्यादि। **अर्थ**—ज्ञानी इस प्रकार पूर्व कही हुई रीति से जिसमें बहुत विकल्पों के जाल अपने आप उठते हैं ऐसी

चित् द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ। यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।88।। एकस्य भातो न तथा परस्य चित् द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ। यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।89।। स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजालामेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षां। अंतवर्हिः समरसैकरसस्वभावं स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रं।।90।। इंद्रजाल-मिदमेवमुच्छलत्पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः। यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः।।91।। ।।142।।

एक०। पक्षातिक्रान्तः—प्रथमा एक०। पुनः—अव्यय। भण्यते—वर्तमान लट् भावकर्मप्रक्रिया अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। यः, सः—प्रथम एक०। समयसारः—प्रथमा एकवचन।।142।।

बड़ी नयपक्षकक्षाको लांघकर अन्दर व बाहर जिसमें समतारसकी एक रस है, ऐसे स्वभाव वाले अनुभूतिमात्र आत्माके भावरूप अपने स्वरूपको प्राप्त होता है।

अब तत्त्ववेदी का अनुभव दिखलाते हैं—**इंद्रजाल** इत्यादि। **अर्थ**—विपुल चंचल विकल्प तरंगों द्वारा उछलने वाले इस समस्त इंद्रजालको जिसका स्फुरण ही ततकल विलीन कर देता है वह चैतन्यमात्र तेजः पुंज मैं हूँ। **भावार्थ**—अविकार सहज चैतन्य का अनुभव ही ऐसा है कि इसके होनेसे समस्त नयों का विकल्परूप इंद्रजाल उसी समय विलीन हो जाता है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया गया था कि जीवमें कर्म बद्धस्पृष्ट है। यह व्यवहारनयसे कहा गया है, किन्तु 'जुद्धनयके मतमें जीवमें कर्म अबद्धस्पृष्ट है। इस विवरणपर यह जिज्ञासा हुई कि इन दोनों नयपक्षोंके विषयमें होना क्या चाहिये? इसका समाधान इस गाथामें दिया है।

तथ्यप्रकाश—(1) जीवमें कर्म बद्ध है यह व्यवहारनयका पक्ष है। (2) जीवमें कर्म अबद्ध है यह निष्चयनयका पक्ष है। (3) जीवमें कर्म बद्ध है ऐसा जिसने विकल्प किया उसने यद्यपि जीवमें कर्म अबद्ध है इस विकल्पका अतिक्रमण किया तो भी विकल्पातीत तो न रहा। (4) जीवमें कर्म अबद्ध है ऐसा जिसने विकल्प किया उसने यद्यपि जीवमें कर्मबद्ध है इस विकल्पका अतिक्रमण किया तो भी विकल्पातीत तो न रहा। (5) जीवमें कर्म बद्ध है और अबद्ध है जिसने ऐसा विकल्प किया उसने दोनों पक्षों का ही अतिक्रमण न किया सो विकल्पातीत तो है ही कहाँ? (6) जो समस्त विकल्पों का अभावकर दे वह ही निर्विकल्प ज्ञानघनस्वभाव होता हुआ साक्षात् समयसार है। (7) तत्त्वज्ञानी आत्मा दोनों पक्षपातों से रहित है, उसके तो चित् (चेतन) चित् ही है, बद्ध अबद्ध आदि नहीं।

सिद्धान्त—(1) जीव में कर्म बद्ध है। (2) जीवमें जीवस्वरूपही है, कर्म बद्ध नहीं है। (3) जीव निर्विकल्प अखण्ड चिन्मात्र है।

दृष्टि—1—पराधिकरणत्व असद्भूतव्यवहार (134)। 2—परमषुद्धनिष्चयनय (44), प्रतिषेधक 'जुद्धनय (49अ)। 3—षुद्धनय (49), परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय (30), 'जुद्ध पारिणामिक परमभावग्राहक 'जुद्ध द्रव्यार्थिकनय (30अ)।

प्रयोग—नयोंसे आत्मपरिचय करके नयपक्षातिक्रान्त होकर अभेद अन्तस्तत्त्व के अभिमुख होनेका सहज अन्तः पौरुष होना ॥142 ॥

अब पूछते हैं कि पक्षातिक्रान्त ज्ञानीका क्या स्वरूप है? उसका उत्तररूप गाथा कहते हैं—[नयपक्षपरिहीनः] नयपक्षसे रहित [समयप्रतिबद्धः] अपने 'जुद्धात्मासे प्रतिबद्ध ज्ञानी पुरुष [द्वयोरपि] दोनों ही [नययोः] नयोंके [भणितं] कथनको [केवलं] केवल [जानाति तु] जानता ही है [तु] परन्तु [नयपक्षं] नयपक्षको [किंचिदपि] किञ्चिन्मात्र भी [न गृह्णाति] नहीं ग्रहण करता।

पक्षातिक्रान्तस्य किं स्वरूपमिति चेत्—

दोणहवि णयाण भणियं जाणइ णवरिं तु समयपडिबद्धो ।

ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो ॥143 ॥

'जुद्धात्मतत्त्व ज्ञाता, दोनों नयपक्ष जानता केवल ।

नहिं पक्ष कोइ गहता, वह तो नयपक्ष परिहारी ॥143 ॥

द्वयोरपि नययोर्भणितं जानाति केवलं तु समयप्रतिबद्धः। न तु नयपक्षं गृह्णाति किंचिदपि नयपक्षपरिहीनः।

यथा खलु भगवान्केवली श्रुतज्ञानावयवभूतयोर्व्यवहारनिष्चयनयपक्षयोः विष्वसाक्षितया केवलं स्वरूपमेव जानाति न तु सततमुल्लसितसहजविमलसकलकेवलज्ञानतया नित्यं स्वयमेव विज्ञानघनभूतत्वाच्छ्रुतज्ञानभूमिकातिक्रान्ततया समस्तनयपक्षपरिग्रहदूरीभूतत्वात्कंचनापि नयपक्षं परिगृह्णाति। तथा किल यः श्रुतज्ञानावयवभूतयोर्व्यवहारनिष्चयनयपक्षयोः क्षयोपषमविजृम्भित—श्रुतज्ञानात्मकविकल्पप्रत्युद्गमनेपि परपरिग्रहप्रतिनिवृत्तौत्सुक्यतया स्वरूपभेदं केवलं जानाति न तु खरतरदृष्टिगृहीतसुनिस्तुषनित्योदितचिन्मयसमयप्रतिबद्धतया तदात्वे स्वयमेव विज्ञान—घनभूतत्वात् श्रुतज्ञानात्मकसमस्तांतर्बहिजैल्परूपविकल्पभूमिकातिक्रान्ततया समस्तनयपक्षपरि—ग्रहदूरीभूतत्वात्कंचनापि नयपक्षं परिगृह्णाति स खलु निखिलविकल्पेभ्यः परतरः परमात्मा

नामसंज्ञ—दु, वि, णय, भणिय, णवरिं, तु, समयपडिबद्ध, ण, दु, णयपक्ख, किंचि, वि, णयपक्खपरिहीण।
धातुसंज्ञ—ने प्रापणे, भण कथने, जाण अवबोधने, गिण्ह ग्रहणे। **प्रकृतिशब्द**—द्वि, अपि, नय, भणित, केवलं, तु, समयप्रतिबद्ध, न, तु, नयपक्ष, किंचित्, अपि, नयपक्षपरिहीन। **मूलधातु**—भण 'ब्दार्थः, ज्ञा अवबोधने, ओहाक् त्यागे जुहोत्यादि, ग्रह उपादाने क्र्यादि, पक्ष परिग्रहे भ्वादि चुरादि। **पदविवरण**—द्वयोः—षष्ठी द्विवचन। अपि—अव्यय। नययोः—षष्ठी द्विवचन। भणितं—द्वितीया एक०। जानाति—वर्तमान लट्

तात्पर्य—व्यवहारनयसे गुजरकर निष्चयनयसे जानकर, 'जुद्धनय द्वारा सर्वनयपक्षसे अतीत होकर भव्यात्मा सहज अन्तस्तत्त्व का अनुभव करता है।

टीकार्थ—जैसे केवली भगवान विष्वसाक्षी होनेसे श्रुतज्ञानके अवयवभूत व्यवहार निष्चयनयके पक्षरूप दो नयके स्वरूपको केवल जानते ही हैं, परन्तु किसी भी नयके पक्षको ग्रहण नहीं करते, क्योंकि केवली भगवान निरंजर सतुल्लसित स्वाभाविक निर्मल केवलज्ञानस्वभाव हैं, इसलिये नित्य ही स्वयमेव विज्ञानघनस्वरूप हैं, और इसी कारण श्रुतज्ञानकी भूमिका से अतिक्रान्त होनेके कारण समस्त नयपक्षोंके परिग्रहसे दूरवर्ती हैं उसी प्रकार जो श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहार निष्चयरूप दोनों नयों के स्वरूपको क्षयोपषमविजृम्भित श्रुतज्ञानस्वरूप विकल्पों की उत्पत्ति होने पर भी ज्ञेयों के ग्रहण करने में

उत्सुकता की निवृत्ति होनेसे केवल जानता है, परन्तु तीक्ष्ण ज्ञानदृष्टि से ग्रहण किये गये निर्मल नित्य उदित चैतन्यस्वरूप अपने 'बुद्धात्मा से प्रतिबद्धताके कारण उस स्वरूपके अनुभवनेके समय स्वयमेव केवली की तरह विज्ञानघनरूप होनेसे श्रुतज्ञानस्वरूप समस्त अंतरंग और बाह्य अक्षरस्वरूप विकल्पकी भूमिकासे अतिक्रांत होनेसे समस्त नयपक्षके ग्रहण नहीं करता है। वह मतिश्रुतज्ञानी भी निष्चयसे समस्त विकल्पों से दूरवर्ती परमात्मा, ज्ञानात्मा, प्रत्यग्ज्योति, आत्मख्यातिरूप अनुभूतिमात्र समयसार है।

भावार्थ—जैसे केवली भगवान् सदा नयपक्षों के साक्षीमात्र हैं, वैसे श्रुतज्ञानी भी जिस समय समस्त नयपक्षों से अतिक्रान्त होकर 'बुद्ध चैतन्यमात्र भावका अनुभव करता है, तब नय पक्ष का साक्षी मात्र ही है। यदि एक नयका सर्वथा पक्ष ग्रहण करे तो मिथ्यात्वसे मिला हुआ पक्षका राग हुआ तथा प्रयोजन के वषसे एक नयको प्रधान कर ग्रहण करे तो मिथ्यात्वके बिना चारित्रमोह के पक्षका राग हुआ। हाँ, जब नयपक्षको छोड़कर वस्तुस्वरूपको केवल जानता ही रहे, तब उस समय श्रुतज्ञानी भी केवली की तरह ज्ञातादृष्टा ही होता है, साक्षीमात्र होता है।

ज्ञानात्मा प्रत्यग्ज्योतिरात्मख्यातिरूपोऽनुभूतिमात्रः समयसारः। चित्स्वभावभरभावितभावाऽभाव-भावपरमार्थतयैकं। बंधपद्धतिमपास्य समस्तां चेतये समयसारमपारं।।92।।।।143।।

अन्य पुरुष एकवचन। केवलं-अव्ययभावे। समयप्रतिबद्धः-प्रथमा एकवचन। न-अव्यय। तु-अव्यय। नयपक्षं-द्वितीया एक०। गृह्णाति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन। किंचित्-अव्यय। अन्तः-प्रथमा एकवचन। अपि-अव्यय। नयपक्षपरिहीनः-प्रथमा एकवचन।।143।।

अब इस अर्थको मनमें धारण कर तत्त्ववेदी ऐसा अनुभव करता है—**चित्स्वभाव** इत्यादि। **अर्थ**—चैतन्यस्वभावके पुञ्जसे भावित भाव अभावस्वरूप एक भावरूप परमार्थरूप से एक अपार समयसारको समस्त बंधकी परिपाटीको दूर करके मैं अनुभवता हूँ। **भावार्थ**—परद्रव्यविषयक कर्ताकर्मभावसे बंधकी चली आई हुई परिपाटी दूर कर मैं समयसारका अनुभव करता हूँ, जो कि अपार है अर्थात् जिसके अनन्त ज्ञानादि गुणका पार नहीं है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि पक्षातिक्रान्त आत्मा समयसार है। सो इसी विषयमें प्रश्न हुआ कि पक्षातिक्रान्त का स्वरूप क्या है? इसीका समाधान इस गाथा में किया है।

तथ्यप्रकाश—(1) केवलज्ञानी प्रभु विष्वके साक्षी मात्र होनेसे श्रुतज्ञानके अंशरूप व्यवहारनय व निष्चयनयका केवल स्वरूप ही जानते हैं, किंतु किसी भी पक्ष को ग्रहण नहीं करते। (2) प्रभु सर्वज्ञता के कारण ज्ञानघनभूत हैं, अतः श्रुतज्ञानकी भूमिका से अतिक्रान्त होनेसे नयपक्षके परिग्रहसे दूर हैं। (3) श्रुतज्ञानी श्रुतज्ञानात्मक विकल्प उठनेपर भी परतत्त्व का परिग्रहण करने की उत्सुकता निवृत्त हो जानेसे व्यवहारनय व निष्चयनयका मात्र स्वरूप ही जानते, किन्तु नयपक्षका परिग्रहण नहीं करते। (4) श्रुतज्ञानी अन्तःप्रकाशमान चिन्मय समयसार में प्रतिबद्ध होनेसे उसके उपयोग के समय स्वयं ज्ञानघनभूत हैं, अतः समस्त विकल्पभूमिकासे अतिक्रांत होने के कारण समस्त नयपक्ष परिग्रहसे दूर हैं। (5) पक्षातिक्रान्त दषामें अनुभूतिमात्र आत्मख्यातिरूप ज्ञानात्मक ज्योति समयसार है।

सिद्धान्त—(1) अन्तस्तत्त्वाभिमुख आत्मा नयपक्षको ग्रहण नहीं करता। (2) केवलज्ञानी प्रभु विष्वके साक्षीमात्र हैं।

दृष्टि—1—बुद्धभावनापेक्ष 'बुद्ध द्रव्यार्थिकनय (24ब)। 2—बुद्धनिष्चयनय (46)।

प्रयोग—विकल्पबुद्धिको दूर कर निर्विकल्प चित्स्वभावमय समयसारकी दृष्टिमें बने रहने का पौरुष करना।।143।।

पक्ष से दूरवर्ती ही समयसार है अब यह सिद्ध करते हैं—[यः] जो [सर्वनयपक्षरहितः] सब नयपक्षों से रहित है [सः] वही [समयसारः] समयसार [भणितः] कहा गया है। [एशः] यह समयसार ही [केवलं] केवल [सम्यग्दर्शनज्ञानं] [इति] ऐसे [व्यपदेशं] नमको [लभते] पाता है।

टीकार्थ—जो निष्चयसे समस्त नयपक्षसे खण्डित न होनेसे जिसमें समस्त विकल्पोंके व्यापार विलय हो गए हैं, ऐसा समयसार 'बुद्ध स्वरूप है सो यही एक केवल सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान ऐसे नामको पाता है। ये परमार्थ से एक ही हैं, क्योंकि आत्मा, प्रथम तो श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभाव आत्मा का निष्चय कर, पीछे निष्चयसे आत्मा की प्रकट प्रसिद्धि होनेके लिए परपदार्थकी ख्याति होनेके कारणभूत इन्द्रिय और मनके द्वारा हुई प्रवृत्तिरूप बुद्धिको गौण कर जिसने मतिज्ञानका स्वरूप आत्माके सन्मुख किया है ऐसा होता हुआ तथा नाना प्रकारके नयों के पक्षों को अवलम्बन कर अनेक विकल्पों से आकुलता उत्पन्न कराने वाली श्रुतज्ञान की बुद्धिको भी गौण कर तथा श्रुतज्ञानको भी आत्मतत्त्व के स्वरूपमें सन्मुख करता हुआ अत्यन्त निर्विकल्परूप होकर तत्काल अपने निजरससे से ही प्रकट हुआ आदि, मध्य और अन्त के भेद से रहित अनाकुल एक (केवल) समस्त पदार्थ

पक्षातिक्रांत एव समयसार इत्यवतिष्ठते—

सम्मद्दं सणणाणं एसो लहदित्ति णवरि ववदेसं ।

सव्वणयपक्खरहिदो भणितो जो सो समयसारो ॥144॥

सर्वनयपक्ष अपगत, जो है उसको हि समयसार कहा ।

यह ही केवल सम्यग्, दर्शन संज्ञान कहलाता ॥144॥

सम्यग्दर्शनज्ञानमेष लभते इति केवलं व्यपदेशं । सर्वनयपक्षरहितो भणितो यः स समयसारः ॥144॥

अयमेक एव केवलं सम्यग्दर्शनज्ञानव्यपदेशं किल लभते । यः खल्वखिलनयपक्षाक्षुण्ण— तया विश्रांतसमस्तविकल्पव्यापारः स समयसारः । यतः प्रथमतः श्रुतज्ञानावष्टंभेन ज्ञानस्वभाव— मात्मानं निष्चित्य ततः खल्व्वात्मख्यातये परख्यातिहेतूनखिला एवेन्द्रियानिन्द्रियबुद्धीरवधीर्य आत्माभिमुखीकृतमतिज्ञानतत्त्वः, तथा नानाविधनयपक्षालंबनेनानेकविकल्पैराकुलयंतीः श्रुतज्ञान

नामसंज्ञ—सम्मद्दंसणणाण, एत, इत्ति, णवरि, ववदेस, सव्वणयपक्खरहिद, भणित, ज, त, समयसार ।

समूहरूप लोकके ऊपर तैरते की तरह अखंड प्रतिभासमय, अविनाषी, अनन्त विज्ञानघन परमात्मस्वरूप समयसारको ही अनुभवता हुआ सम्यक् प्रकार देखा जाता है, श्रद्धान किया जाता है, सम्यक् प्रकार जाना जाता है। इस कारण सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान समयसार ही है। **भावार्थ**—पहले तो आगमज्ञानसे आत्मा को ज्ञानस्वरूप निष्चय करना, पीछे इन्द्रियबुद्धिरूप मतिज्ञानको भी ज्ञानमात्रमें ही मिलाना तथा श्रुतज्ञानरूप नयोंके विकल्प श्रुतज्ञान को भी निर्विकल्प कर एक ज्ञानमात्रमें मिलाना और अखण्ड प्रतिभासका अनुभव करना यही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान नाम पाता है, ये दर्शन ज्ञान आत्मा से कुछ पृथक् नहीं है।

अब इसी अर्थका कलषरूप काव्य कहते हैं—**आक्रामन्** इत्यादि। **अर्थ**—नयों के पक्ष बिना निर्विकल्प भावको प्राप्त हुआ जो समय (आगम व आत्मा) का सार सुषोभित होता है, जो कि निष्चित पुरुषों द्वारा स्वयं आस्वाद्यमान है अर्थात् उन्होंने अनुभवसे जान लिया है वही यह भगवान्, जिसका विज्ञान ही एक रस है, ऐसा पवित्र पुराण पुरुष है। इसको ज्ञान कहो अथवा दर्शन कहो अथवा कुछ अन्य नाम से कहो, जो कुछ है सो यह एक ही है, मात्र तीर्थप्रवृत्ति के लिये वह अनेक नामों से कहा जाता है।

अब ज्ञानसे च्युत हुआ यह आत्मा ज्ञानमें ही आ मिलता है—दूरं इत्यादि।
अर्थ—अपने विज्ञानघन स्वभावसे च्युत यह आत्मा बहुत विकल्पों के जालके गहन बनमें अत्यंत भ्रमण करता हुआ अब दूरसे ही मुड़कर विवेकरूप निम्न मार्गमें गमनकर जल की भाँति अपने आप अपने विज्ञानघनस्वभावमें आ मिला। कैसा है वह आत्मा? जो विज्ञानरसके ही रसीले हैं उनको एक विज्ञानरसस्वरूप ही है। ऐसा आत्मा अपने आत्मस्वभावको अपने में ही समेटता हुआ गतानुगतता को पाता है याने जैसे बाह्य गया था वैसे ही अपने स्वभावमें आ जाता है।

भावार्थ—जैसे समुद्रादि जलके निवासमें से जल सूर्यताप आदि के कारण च्युत होकर उड़ा उड़ा फिरा, फिर वह ढीला होकर गिरा तो वह वनमें अनेक जगह भ्रमता है, फिर कोई नीचे मार्ग से बह-बहकर जैसा का तैसा अपने जलके निवास में आ मिलता है। उसी प्रकार आत्मा भी अज्ञान मोहादि अनेक संतापों से अपने स्वभावसे च्युत हुआ भ्रमण करता कोई सुयोग पाकर भेदज्ञान (विवेक) रूप नीचे मार्ग से अपने आप अपने को लाता हुआ अपने स्वभाव रूप विज्ञानघनमें आ मिलता है।

अब कर्ता—कर्म के संक्षेप अर्थ के कलषरूप 'लोक कहते हैं—**विकल्पकः** इत्यादि।
अर्थ—विकल्प करने वाला ही केवल कर्ता है और विकल्प केवल कर्म है, विकल्पसहित का कर्ताकर्मपना कभी नष्ट नहीं होता। **भावार्थ**—जब तक विकल्पभाव है, तब तक कर्ताकर्मभाव

बुद्धिरप्यवधीर्यं श्रुतज्ञानतत्त्वमप्यात्माभिमुखीकुर्वन्नत्यंतमविकल्पो भूत्वा झगित्येव स्वरसत एव व्यक्तीभवंतमादिमध्यांतविमुक्तमनाकुलमेकं केवलमखिलस्यापि विष्वस्योपरि तरंतमिवाखंडप्रति—भासमयमनंतं विज्ञानघनं परमात्मानं समयसारं विदन्नेवात्मा सम्यग्दृष्यते ज्ञायते च ततः सम्यग्दर्शनं ज्ञानं च समयसार एव। आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयानां विना, सारो यः समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमानः स्वयं। विज्ञानैकरसः स एष भगवान्पुण्यः पुराणः पुमान्, ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किचनैकोप्ययं।।93।। दूरं भूरिविकल्पजालगहने भ्राग्यन्निजौघाच्च्युतो, दूरादेव विवेकनिम्नगमनान्नीतो निजौघं बलात्। विज्ञानैकरसस्तदेकरसिनामात्मानमात्मा हरन्,

धातुसंज्ञ—लभ प्राप्तौ, भण कथने। **प्रकृतिशब्द**—सम्यग्दर्शनज्ञान, एतत्, इति; केवलं, व्यपदेश, सर्वनयपक्षरहित, भणित, यत्, तत्, समयसार। **मूलधातु**—सम्-अंचु विषेषणे चुरादि, दृषिर् प्रेक्षणे, ज्ञा है। जिस समय विकल्प का अभाव होता है उस समय कर्ता-कर्मभावका भी अभाव हो जाता है।

यः **करोति** इत्यादि। **अर्थ**—जो करता है वह केवल करता ही है और जो जानता है वह केवल जानता ही है। जो करता है, वह कुछ जानता ही नहीं है और जो जानता है, वह कुछ भी नहीं करता है।

ज्ञापितः इत्यादि। **अर्थ**—जाननेरूप क्रिया करनेरूप क्रियाके अन्दर नहीं प्रतिभासित होती और करनेरूप क्रिया जाननेरूप क्रियाके अन्दर नहीं प्रतिभासित होती इसलिये ज्ञापित क्रिया और करोति क्रिया दोनों भिन्न-भिन्न हैं। इस कारण यह सिद्ध हुआ कि जो ज्ञाता है, वह कर्ता नहीं है। **भावार्थ**—जिस समय जीव ऐसा परिणाम करता है कि मैं परद्रव्यको करता हूँ, उस समय तो उस परिणमन क्रियाका कर्ता ही है ज्ञातामात्र की स्थिति नहीं है। तथा जिस समय ऐसा परिणमन करता है कि वह परद्रव्यको जानता है उस समय उस जानन क्रियारूप ज्ञाता ही है वहाँ कर्तृत्वभाव नहीं है। **प्रश्न**—सम्यग्दृष्टि के जब तक चारित्रमोहका उदय है तब तक कषायरूप परिणमन होता है, तब तक उसे कर्ता कहें या नहीं? **समाधान**—अविरतसम्यग्दृष्टि आदि के परद्रव्यके स्वामित्वरूप कर्तृत्वका अभिप्राय नहीं है, परन्तु कर्मके उदयकी झाँकी का कषायरूप परिणमन है, उसका यह ज्ञाता है,

इसलिये अज्ञानसम्बन्धी कर्तृत्व अविरत सम्यग्दृष्टि के भी नहीं हैं तथापि निमित्तकी बलाधानता से विभाव परिणमन का फल कुछ होता है, किन्तु वह संसार का कारण नहीं है। जैसे जड़ कटने के बाद वृक्ष कुछ समय तक हरा रहता है, परन्तु वह हरापन सूखने की ओर ही है, ऐसे ही मिथ्यात्वमूल कटनेके बाद कुछ राग-द्वेष रहें, किन्तु वे मिटने की ओर ही हैं और जितने हैं उतने का भी स्वामित्व सम्यग्दृष्टिके आषयमें नहीं हैं।

कर्ता इत्यादि। **अर्थ**—निष्चयतः कर्ता तो कर्ममें नहीं है और कर्म भी कर्ता में नहीं है। इस प्रकार दोनों का ही परस्पर अत्यन्त निषेध है तब क्या कर्ता-कर्म की कहीं स्थिति हो सकती है? नहीं हो सकती। तब वस्तु की मर्यादा व्यक्तरूप यह सिद्ध हुई कि ज्ञाता तो सदा ज्ञानमें ही है और कर्म है वह सदा कर्ममें ही है। तो भी अहो! यह मोह (अज्ञान) नेपथ्यमें क्यों नाचता है? **भावार्थ**—कर्म तो पुद्गल है, और जीव चेतन है। सो जीव तो पुद्गलमें नहीं है और पुद्गल जीवमें नहीं है, तब इन दोनों के कर्ता-कर्म भाव कैसे बन सकता है? इससे जीव तो ज्ञाता है सो ज्ञाता ही है, पुद्गलका कर्ता नहीं है और पुद्गलकर्म है, वह कर्म ही है। ऐसे ये दोनों प्रकट भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं तो भी अज्ञानी का यह मोह कैसे नाचता है कि मैं तो कर्ता हूँ और यह पुद्गल मेरा कर्म है यह बड़ा अज्ञान है। इस अनहोनी पर आचार्य ने बत 'ब्द कहकर खेद प्रकट किया है। अथवा इस तरह मोह नाचे तो नाचो, परन्तु वस्तु का स्वरूप तो जैसा है वैसा ही रहता है—**कर्ता कर्ता** इत्यादि। **अर्थ**—अन्तरंग में अतिषयसे अपनी चैतन्यषक्ति के समूह के भारसे अत्यंत गम्भीर आत्मन्येव सदा गतानुगततामायात्ययं तोयवत् ॥94॥ विकल्पकः परं कर्ता विकल्पः कर्म केवलं। न जातु कर्तृकर्मत्वं सविकल्पस्य नष्यति ॥95॥ यः करोति स करोति केवलं यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलं। यः करोति न हि वेत्ति स क्वचित् यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित् ॥96॥ ज्ञाप्तिः करोतौ न हि भासतेऽन्तः ज्ञाप्तौ करोतिष्व न भासतेऽन्तः। ज्ञाप्तिः करोतिष्व ततो विभिन्ने ज्ञाता न कर्तेति ततः स्थितं च ॥97॥ कर्ता कर्मणि नास्ति नास्ति नियतं कर्मापि तत्कर्तरि, द्वंद्वं विप्रतिषिध्यते यदि तदा का कर्तृकर्मस्थितिः। ज्ञाता ज्ञातरि कर्म कर्मणि सदा व्यक्तेति वस्तुस्थिति-नेपथ्ये वत नानटीति रभसा मोहस्तथाप्येष किं ॥98॥ अथवा नानट्यतां तथापि। कर्ता कर्ता भवति न यथा कर्म कर्मापि नैव ज्ञानं ज्ञानं भवति च यथा पुद्गलः पुद्गलोऽपि। ज्ञानज्योतिर्ज्वलितमचलं व्यक्तमंतस्तथोच्चैष्विच्छक्तीनां निकर-

अवबोधने, डुलभम् प्राप्तौ भ्वादि, पक्ष परिग्रहे, रह त्यागे भ्वादि चुरादि, भण 'ब्दार्थः। **पदविवरण**—सम्यग्दर्शनज्ञानं—प्रथमा व द्वितीया एकवचन। एतत्—द्वितीया एक०। लभते—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया। इति—अव्यय। केवलं—अव्ययभावे। व्यपदेशं—द्वितीया एक०। सर्वनयपक्षरहितः—प्रथमा

यह ज्ञानज्योतिस्वरूप अन्तस्तत्त्व ऐसा निष्चल व्यक्तरूप (प्रकट) हुआ कि पहले जैसे अज्ञानमें आत्मा कर्ता था उस प्रकार अब कर्ता नहीं होता और इसके अज्ञानसे जो पुद्गल कर्मरूप होता था, वह भी अब कर्मरूप नहीं होता, किन्तु ज्ञान तो ज्ञानरूप ही हुआ और पुद्गल पुद्गलरूप रहा, ऐसे प्रकट हुआ। **भावार्थ**—जब आत्मा निज सहज अविकार ज्योतिका ज्ञानी होता है तब ज्ञान तो ज्ञानरूप ही परिणमन करता है, पुद्गलकर्मका कर्ता नहीं बनता और फिर पुद्गल पुद्गलरूप ही रहता है, कर्मरूप नहीं परिणमन करता। इस प्रकार आत्माका यथार्थ ज्ञान होनेसे दोनों द्रव्यों के परिणामों में निमित्तनैमित्तिक भाव नहीं होता, इस प्रकार जीव और अजीव दोनों कर्ता-कर्मके वेष से पृथक् होकर निकल गये।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें पक्षातिक्रान्तका स्वरूप बताया गया था। अब इस गाथा में निष्चित किया गया कि पक्षातिक्रान्त ही समयसार है।

तथ्यप्रकाश—(1) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान यह केवल एक आत्मा हो है। (2) सर्वनयपक्षों से अखण्डित, विकल्पव्यापारषून्य सहजात्मस्वरूप समयसार है। (3) मुमुक्षु,

सर्वप्रथमा श्रुतज्ञानबलसे अपनेको ज्ञानस्वभावमय निष्चित करता है। (4) उससे फिर मुमुक्षु आत्मख्याति के लिये इन्द्रियज व अनिन्द्रियज ज्ञानोंको परख्यातिका हेतुभूत निष्चित करता है। (5) जिससे कि पश्चात् मुमुक्षु मतिज्ञानतत्त्वको अपने सहजात्मस्वरूपके अभिमुख करता है। (6) तथैव मुमुक्षु ज्ञानगत बुद्धियों को अनेकपक्षोंके आलम्बनसे अनेक विकल्पों द्वारा आकुलित करने वाली अवधारित करता है। (7) जिससे कि वह श्रुतज्ञान तत्त्व को भी आत्माभिमुख करता है। (8) मोक्षाभिलाषी आत्मा मति श्रुतज्ञानको आत्माभिमुख करता हुआ अत्यन्त अविकल्प होकर ज्ञानघन समयसार को अनुभवता है। (9) सूर्य ताप द्वारा समुद्रजल उड़कर बादल बनकर भटक-भटककर स्वनम्रता से नीचे गिरकर निमग्नापथसे बहकर समुद्रमें मिलकर स्वरूपस्थ हो जाता है। (10) मोहताप द्वारा ज्ञानसमुद्रगत उपयोगजल उड़कर अज्ञा बनकर भटक-भटककर विनयभावसे अन्तः आकर विवेकपक्षसे अनुभव में आकर ज्ञानपुंजमें मिलकर स्वरूपस्थ हो जाता है। (11) विकल्पक प्राणी कर्ता कहलाता है। (12) करणक्रिया में जाननक्रिया नहीं, जाननक्रियामें करणक्रिया नहीं। (13) सम्यग्ज्ञान प्रकाशमें ज्ञानी कर्ता नहीं होता तब कार्माणवर्गणा कर्मरूप नहीं होती।

सिद्धान्त—1—सम्यक् ज्ञानबल आत्मा आत्मा में उपयुक्त होता है। 2—समयसार अविकल्प अखण्ड चिन्मात्र अन्तस्तत्त्व है।

दृष्टि—1—षुद्धनिष्चयनय (46), अपूर्ण 'षुद्धनिष्चयनय। (46ब), 2—अखंड परमषुद्धनिष्चयनय (44)।

भरतोऽत्यंतगंभीरमेतत् ।।99 ।। ।।144 ।।

।। इति जीवाजीवौ कर्तृकर्मवेषविमुक्तौ निष्क्रांतौ ।।

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ
कर्तृकर्मप्ररूपको द्वितीयोऽकः ।।2 ।।

एकवचन। भणितः—प्र० ए० कृदन्त। यः, सः—प्र० ए०। समयसारः—प्रथमा एकवचन।।144 ।।

प्रयोग—सर्वनयपक्षरहित होकर दर्शनज्ञानसामान्यात्मक आत्मतत्त्वको अन्तः अनुभवने का पौरुष करना ।।144 ।।

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचित समयसारव्याख्याया आत्मख्यातिमें
कर्तृकर्माधिकार सम्पूर्ण ।।2 ।।

अथ पुण्यपापाधिकारः

अर्थकमेव कर्म द्विपात्रीभूय पुण्यपापरूपेण प्रविशति—

तदथ कर्म 'गुभाषुभभेदतो, द्वितयतां गतमैक्यमुपानयन् ।

ग्लपितनिर्भरमोहरजा अयं, स्वयमुदेत्यवबोधसुधाप्लवः ॥100 ॥

एको दूरात्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमानादन्यः 'दूद्रः स्वयमहमिति स्नाति नित्यं तयैबं ।

द्वावप्येतौ युगपदुदरान्निर्गतौ 'दूद्रिकायाः 'दूद्रौ साक्षादथ च चरतो जातिभेदभ्रमेण ॥101 ॥

नामसंज्ञ—कम्म, असुह, कुसील, सुहकम्म, च, अवि, सुसील, कह, त, सुसील, ज, संसार। **धातु**—

संज्ञ—जाण अवबोधने, हो सत्तायां, प-विस प्रवेशने। **प्रकृतिशब्द**—कर्मन्, अषुभ, कुषील, 'गुभकर्मन्, च,

अब एक ही कर्म दो पात्ररूप होकर पुण्यपापरूपसे प्रवेश करता है—**तदथ** इत्यादि ।

अर्थ—कर्तृकर्माधिकार में तथ्यबोधके बाद 'गुभ अषुभके भेदसे द्विरूपताको प्राप्त हुए कर्मके एकत्वको प्राप्त करता हुआ यह अनुभवगोचर सम्यग्ज्ञानरूप चंद्रमा स्वयं उदयको प्राप्त होता है ।

भावार्थ—कर्म एक होकर भी अज्ञानसे दो प्रकारमें दीखता था, उसे ज्ञानने एकरूपमें ही दिखला दिया सो इस ज्ञानने जो मोहरूपी रज लगी हुई थी, उसे दूर कर दी, तब ही यथार्थ ज्ञान हुआ। जैसे कि चन्द्रमा के सामने बादल अथवा पाले का समूह आदि आ जाय तब यथार्थ प्रकाश नहीं होता, आवरण दूर होनेपर यथार्थ प्रकाश होता है ।

आगे पुण्यपाप के स्वरूपका दृष्टान्तरूप काव्य कहते हैं—**एको दूरात्** इत्यादि ।

अर्थ—एक तो मैं ब्राह्मण हूँ, इस अभिमान से मद्यको दूरसे ही छोड़ देता है तथा दूसरा पुत्र 'मैं 'दूद्र हूँ' ऐसा मानकर उस मदिरा से निम्न स्नान करता है, उसे 'गुद्ध मानता है। विचारा जाय तब दोनों ही 'दूद्री के पुत्र हैं, क्योंकि दोनों ही 'दूद्री के उदरसे जन्मे हैं, इस कारण साक्षात् 'दूद्र हैं। वे जातिभेदके भ्रमसे ऐसा आचरण करते हैं। **भावार्थ**—किसी 'दूद्री के दो पुत्र हुए, उसने दोनों को नदी के घाटपर पेड़ के नीचे छोड़ दिये उनमें एकको

ब्राह्मण उठा लाया, एकको 'दूद्र उठा लाया। अब जो ब्राह्मण के यहाँ पला वह ब्राह्मणपनेके गर्वसे ब्राह्मण जैसा आचरण करता है और जो 'दूद्र के यहाँ पला वह 'दूद्र जैसा आचरण करता है वास्तवमें हैं दोनों 'दूद्र। ऐसे ही कर्म तो पुण्य-पाप दोनों हैं, पर उनमें 'जुभ अषुभ का भेद डाल दिया गया है।

अब 'जुभाषुभ कर्मके स्वभावका वर्णन करते हैं—[अशुभं कर्म] अषुभ कर्मको [कुशीलं] पापस्वभाव [अपि च] और [जुभकर्म] 'जुभकर्मको [सुशीलं] पुण्यस्वभाव [जानीथ] जानो। परन्तु परमार्थदृष्टिसे कहते हैं कि [यत्] जो [संसारं] प्राणी को संसार में ही [प्रवेशयति] प्रवेश कराता है [तत्] वह कर्म [सुशीलं] 'जुभ, अच्छा [कथं] कैसे [भवति] हो सकता है?

तात्पर्य—संसार प्रवेशक कर्ममें अच्छा बुरा का भेद नहीं मानना वे सब हेय हैं।

टीकार्थ—कितने ही लोकों का ऐसा पक्ष है कि कर्म एक होने पर भी 'जुभ-अषुभ के भेद से दो भेदरूप है, क्योंकि (1) 'जुभ और अषुभ जो जीवके परिणाम हैं, वे उसको निमित्त हैं उस रूपसे कारणके भेदसे भेद हैं। (2) 'जुभ और अषुभ पुद्गल परिणाममय होनेसे स्वभाव के भेदसे भेद है और (3) कर्मका जो 'जुभ-अषुभ फल है, उसके रसास्वादके भेदसे भेद है तथा (4) 'जुभ-अषुभ मोक्ष तथा बंधके मार्गकी आश्रितता होनेपर आश्रयमें भेदसे भेद है। इस प्रकार इन चारों हेतुओं से कोई कर्म 'जुभ है, कोई कर्म अषुभ है, ऐसा किसीका पक्ष है। परन्तु वह पक्ष उसका निषेध करने वाले प्रतिपक्षसे सहित है। अब यही कहते हैं—षुभ व अषुभ जीवका परिणाम केवल अज्ञानमय होनेसे एक ही है, सो उसके एक

कम्ममसुहं कुशीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुशीलं ।

कह तं होदि सुशीलं जं संसारं पवेसेदि ।।145 ।।

है पापकर्म कुत्सित, सुशील है पुण्यकर्म जग जाने ।

'जुभ है सुशील कैसा, जो भवमें जीवको डारे ।।145 ।।

कर्माषुभं कुशीलं 'जुभकर्म चापि जानीथ सुशीलं । कथं तद् भवति सुशीलं यत्संसारं प्रवेशयति ।।145 ।।

'जुभाषुभजीवपरिणामनिमित्तत्वे सति कारणभेदात् 'जुभाषुभपुद्गलपरिणाममयत्वे सति स्वभावभेदात् 'जुभाषुभफलपाकत्वे सत्यनुभवभेदात् 'जुभाषुभमोक्षबंधमार्गाश्रितत्वे सत्याश्रयभेदात् चैकमपि कर्म किंचिच्छुभं किंचिदषुभमिति केषांचित्तिल पक्षः, स तु सप्रतिपक्षः । तथाहि— 'जुभोऽषुभो वा जीवपरिणामः केवलाज्ञानमयत्वादेकस्तदेकत्वे सति कारणाभेदात् एकं कर्म । 'जुभोऽषुभो वा पुद्गलपरिणामः केवलपुद्गलमयत्वादेकस्तदेकत्वे सति स्वभावाभेदादेकं कर्म । 'जुभोऽषुभो वा फलपाकः केवलपुद्गलमयत्वादेकस्तदेकत्वे सत्यनुभवाभेदादेकं कर्म । 'जुभाषुभौ

अपि, सुशील, कथं, तत्, सुशील, यत्, संसार । मूलधातु—अ-षुभ 'गोभार्थे चुरादि, 'गील समाधौ भ्वादि, सम्-सृ गतौ, प्र-विष प्रवेशने तुदादि णिजन्त । पदविवरण—कर्म-द्वितीया एक० । अषुभं-द्वितीया एक० । कुशीलं-द्वितीया एकवचन । 'जुभकर्म-द्वि० एक० । च-अव्यय । अपि-अव्यय । जानीथ-वर्तमान लट् मध्यम

होनेपर कारण का अभेद होनेसे कर्म भी एक ही है तथा 'जुभ अथवा अषुभ पुद्गलका परिणाम केवल पुद्गलमय होनेसे एक ही है और उसके एक होनेपर स्वभावके अभेदसे कर्म भी एक ही है । 'जुभ अथवा अषुभ कर्मके फलका रस केवल पुद्गलमय होनेसे एक है और उसके एक होनेपर आस्वादके अभेदसे कर्म भी एक ही है । 'जुभ अषुभरूप मोक्ष और बंधका मार्ग ये दोनों पृथक् हैं, केवल जीवमय तो मोक्षका मार्ग है और केवल पुद्गलमय बंधका

मार्ग है अतः वे अनेक हैं, एक नहीं है और उनके एक न होनेपर केवल पुद्गलमय बंधमार्ग की आश्रितता के कारण आश्रय के अभेद कर्म एक ही है।

भावार्थ—कर्ममें 'जुभ-अषुभ के भेदका समर्थन पूर्वस्थल में 'इकाकारने चार युक्तियां (1) कारणभेद, (2) स्वभावभेद, (3) अनुभवभेद, (4) आश्रयभेद देकर कहा था उसमें कारणभेद तो बताया था कि 'जुभबंध 'जुभपरिणामसे होता व अषुभबन्ध अषुभपरिणामसे होता है। जैसे जीव का 'जुभपरिणाम है अरहंतादिमें भक्तिका अनुराग, जीवोंमें अनुकंपा परिणाम और मंदकषायसे चित्तकी उज्ज्वलता इत्यादि, तथा अषुभका हेतु जीवके अषुभ परिणाम हैं—तीव्र क्रोधादिक, अषुभलेष्या, निर्दयता, विषयासक्तता, देव गुरु आदि पूज्य पुरुषोंमें अविनयरूप प्रवृत्ति इत्यादिक, सो इन हेतुओं के भेदसे कर्म 'जुभाषुभरूप दो प्रकार के कहे थे। और 'जुभ अषुभ पुद्गल के परिणामके भेदसे स्वभावका भेद कहा था, 'जुभद्रव्यकर्म तो सातावेदनीय, 'जुभआयु, 'जुभनाम, 'जुभगोत्र हैं तथा अषुभ चार घातियाकर्म, असातावेदनीय, अषुभआयु, अषुभनाम, अषुभगोत्र ये हैं, इनके उदयसे प्राणीको इष्ट-अनिष्ट सामग्री मिलती है, ये पुद्गल स्वभाव हैं, यों इनके भेदसे कर्ममें स्वभावका भेद बताया था। तथा 'जुभ अषुभ अनुभव के भेदसे भेद बताया था—षुभका अनुभव तो सुखरूप स्वाद है और अषुभका दुःखरूप स्वाद है। तथा 'जुभाषुभ आश्रयके भेदसे भेद बताया था कि 'जुभका तो आश्रय मोक्षमार्ग है और अषुभ का आश्रय बंधमार्ग है। अब इस गाथामें उन भेदों का निषेधपक्ष कह रहे हैं—षुभ और अषुभ दोनों जीवके परिणाम अज्ञानमय हैं इसलिये दोनों का एक अज्ञान ही कारण है, इस कारण हेतुके भेदसे कर्ममें भेद नहीं है। 'जुभ-अषुभ ये दोनों पुद्गल के परिणाम हैं, इसलिये पुद्गलपरिणामरूप स्वभाव भी दोनों का एक ही है, इस कारण स्वभावके अभेदसे भी कर्म एक ही है। 'जुभाषुभ फल सुखदुःखस्वरूप स्वाद भी पुद्गलमय ही है इसलिये स्वादके अभेद से भी कर्म एक ही है। 'इकाकारने 'जुभ-अषुभ मोक्ष-बंधमार्ग कहे थे, किंतु वहां मोक्षमार्ग तो केवल जीवका ही परिणाम है और बंधमार्ग केवल एक पुद्गल का ही परिणाम है, आश्रय

मोक्षबंधमार्गों तु प्रत्येकं केवलंजीवपुद्गलमयत्वाद्नेकौ तदनेकत्वे सत्यपि केवलपुद्गलमयबंध-मार्गाश्रितत्वेनाश्रयाभेदादेकं कर्म। हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदान्न हि कर्मभेदः तद्बंध-मार्गाश्रितमेकमिष्टं स्वयं। समस्तं खलु बंधहेतुः॥102॥ ॥145॥

पुरुष बहुवचन। कथं-अव्यय। तत्-प्रथमा एकवचन। सुषीलं-प्रथमा एक०। यत्-प्रथमा एक०। संसारं-द्वि० ए०। प्रवेशयति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन णिजंत॥145॥

भिन्न-भिन्न हैं इसलिये बंधमार्गके आश्रयसे भी 'जुभ व अषुभ कर्म एक ही है। इस प्रकार यहाँ कर्मके 'जुभाषुभ भेदके पक्षको गौणकर निषेध किया, क्योंकि यहाँ अभेदपक्ष प्रधान है, अतः अभेदपक्ष से देखा जाय तो कर्म एक ही है, 'जुभ अषुभ ऐसे भिन्न दो नहीं हैं॥145॥ अब इसी अर्थ का समर्थक कलषरूप काव्य कहते हैं—हेतु इत्यादि। **अर्थ**—हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रय इन चारों के सदाकाल ही अभेदसे कर्ममें भेद नहीं है, इसलिये बंधके मार्गको आश्रय कर कर्म एक ही माना है क्योंकि सभी कर्म याने 'जुभ तथा अषुभकर्म दोनों ही स्वयं निष्चयसे बंधके ही कारण हैं।

प्रसंगविवरण—पूर्व कर्तृकर्माधिकारमें जीव व पुद्गलकर्मके संबंधमें कर्तृकर्मत्वप्रतिषेध, निमित्तनैमित्तिकभाव आदि कई स्थलोंमें पुद्गलकर्मकी चर्चा आई थी। वही पुद्गलकर्म अब इस पुण्यपापाधिकारमें दो पात्र बनकर प्रवेश करता है। इस गाथा में उन्हीं पुण्यपाप दोनों वेषों की समीक्षा की गई है।

तथ्यप्रकाश—1—यद्यपि 'जुभपरिणामसे पुण्यबंधव अषुभपरिणामसे पाप बंध होने से याने कारणभेद होनेसे पुण्य पाप ये भिन्न-भिन्न हैं तथापि 'जुभ अषुभ दोनों जीवपरिणाम अज्ञानमय होनेसे एक अज्ञानमय है और कारणभेद न होनेसे पुण्य पाप दोनों एक ही हैं। 2—यद्यपि पुण्य 'जुभपुद्गलपरिणाम है, पाप अषुभपुद्गलपरिणाममय है तथापि हैं केवल पुद्गलमय, अतः स्वभावका भेद न होनेसे दोनों एक ही है। 3—यद्यपि पुण्य 'जुभफलपाक है, पाप अषुभफलपाक है तथापि हैं दोनों पुद्गलमय विकाररूप, अतः अनुभवके अभेदसे दोनों कर्म एक ही हैं। 4—यद्यपि लौकिक जीवों को ऐसा मालूम होता है कि पुण्य तो मोक्षमार्ग है और पाप बंधमार्ग है, लेकिन ऐसा है नहीं, मोक्षमार्ग तो केवल जीवमय है और बंधमार्ग केवल पुद्गलमय है, यों पुण्यपाप दोनों केवल पुद्गलमय बन्धमार्गाश्रित है, अतः आश्रयका अभेद होनेसे पुण्यपाप दोनों कर्म एक ही हैं।

सिद्धान्त—(1) प्रकृत्यादिभेदसे पुण्य व पापकर्म में भेद है। (2) दुःखरूपत्व आदिकी दृष्टिसे पुण्यपाप में अभेद है।

दृष्टि—1—वैलक्षण्यनय (203)। 2—सादृष्यनय (202)।

प्रयोग—पुण्य—पापकर्मको, पुण्य—पापकर्मके फल सुख—दुःखको, पुण्य—पापके हेतुभूत 'जुभाषुभभावको विकृतपनेकी दृष्टिसे एक समान जानकर उन सबसे उपेक्षा करके निष्कर्म कारणसमयसारके अभितुख रहने का पौरुष करना।।145।।

अब आगे 'जुभ अषुभ दोनों कर्मोंको ही अविषेषता से बंधके कारण साधते हैं—[यथा] जैसे [कालायसं निगलं] लोहे की बेड़ी [पुरुशं बध्नाति] पुरुष को बांधती है [अपि] और [सौवर्णिकं] सुवर्णकी बेड़ी [अपि] भी पुरुष को बाँधती है [एवं] इसी प्रकार ['जुभं वा अशुभं] 'जुभ तथा अषुभ [कृतं कर्म] किया हुआ कर्म [जीवं] जीवको [बध्नाति] बांधता ही है।

तात्पर्य—पुण्य व पाप दोनों ही कर्म जीवके लिये बन्धन ही हैं।

टीकार्थ—षुभ और अषुभ कर्म अविषेषरूपसे ही आत्माको बांधते हैं, क्योंकि दोनोंमें ही बंधरूपपने की अविषेषता है जैसे कि सुवर्णकी बेड़ी और लोहेकी बेड़ी में बंधकी अपेक्षा भेद नहीं है।

अथोभयं कर्माविशेषेण बंधहेतुं साधयति—

सौवर्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं।

बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं।।146।।

जैसे सुवर्ण अथवा, लोकसंकल है जीवको बांधे।

त्यौं कृत कर्म अशुभ या, 'जुभ हो सब जीवको बांधे।।146।।

सौवर्णिकमपि निगलं बध्नाति कालायसमपि च यथा पुरुषं। बध्नात्येवं जीवं 'जुभमषुभं वा कृतं कर्म।

'जुभमषुभं च कर्माविषेषेणैव पुरुषं बध्नाति बंधत्वाविषेषात् कांचनकालायसनिगल-वत्।।146।।

प्राकृत 'ाब्द—सौवर्णिय, वि, णियल, कालायस, वि, जह, पुरिस, एवं, जीव, सुह, असुह, वा, कद, कम्म। **प्राकृत धातु—**बन्ध बन्धने, जीव प्राणधारणे, सोभ दीप्तौ, करसकरणे। **प्रकृतिशब्द—**सौवर्णिक, अपि, निगल, कालायस, अपि, यथा, पुरुष, एवं, जीव, 'जुभ, अषुभ, वा, कृत, कर्म। **मूलधातु—**वर्ण क्रियाविस्तारगुणवचनेषु चुरादि, नि-गल अदने भ्वादि, बन्ध बन्धने क्र्यादि, पुर अग्रगमने तुदादि, जीव प्राणधारणे, 'जुभ 'गोभने, डुकृञ् करणे। **पदविवरण—**सौवर्णिकं—प्रथमा एकवचन। अपि—अव्यय। निगलं—प्रथमा एक०। बध्नाति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन। कालायसं—प्रथमा एकवचन। यथा—अव्यय। पुरुषं, जीवं—द्वितीया एकवचन। 'जुभं, अषुभं—प्रथमा एकवचन कर्तृविषेषण। वा—अव्यय। कृ

तं—प्रथमा एकवचन कृदन्त। कर्म—प्रथमा एकवचन कर्तृकारक।।146।।

भावार्थ—जैसे किसी कैदी को लोहेकी बेड़ी से बांधा हो, किसी को सोने की बेड़ीसे बांधाहो बन्धनके क्लेष में दोनों हैं, ऐसे ही किसी के चाहे पुण्यबन्ध हो, चाहे पापबन्धहो सांसारिक क्लेषके बन्धनमें दोनों हैं, अतः पुण्य—पाप दोनों बन्धन हैं।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया गया था कि लोक कहते हैं कि अषुभ कर्म तो कुषील है और 'जुभ कर्म सुषील है, किन्तु वह कर्म सुषील कैसा कि जो संसार में प्रवेश करावे याने 'जुभ अषुभ दोनों ही कर्म कुषील हैं। उसी कुषीलता को बताने के लिये इस गाथा में बताया है कि 'जुभ अषुभ दोनों ही कर्म अविषेष्टता से बन्धन के ही कारण हैं।

तथ्यप्रकाश—1—चाहे किसीके पैर में सोने की बेड़ी पड़ी हो, बन्धन दोनों का एक समान है। 2—चाहे किसीके कृतकर्म 'जुभ हों, चाहे किसी के कृतकर्म अषुभ हों दोनों ही कर्म जीवके लिये बन्धन ही हैं। 3—जो पुरुष भोगाकांक्षासे रूप सौभाग्य इन्द्रादि परके लाभ की इच्छासे व्रत तप आदि करता है वह राख पाने के लिये चंदनबनको जलाने की तरह व्रतादिक को व्यर्थ नष्ट करता है। 4—जो 'जुद्धात्मभावना के साधन के लिये तपश्चरणादिक करता है वह परम्परया मोक्ष प्राप्त कर लेता है। 5—भले ही ज्ञानी जीवको 'षभवपर्यंत पुण्यकर्म तत्काल बन्धनरूप है तो भी पुण्य व पुण्यफल में राग न होनेसे एवं चित्स्वभाव उपास्य होनेसे वह मोक्षमार्गी है।

सिद्धान्त—1—द्रव्यप्रत्यय नवकर्मास्रवके साक्षात् निमित्तभूत है। 2—कर्मविपाकोदय याने वही द्रव्यप्रत्यय जीवविकार का साक्षात् निमित्तभूत है।

दृष्टि—1—निमित्तदृष्टि (53अ)। 2—उपाधिसापेक्ष अषुद्धद्रव्यार्थिकनय (53)।

प्रयोग—पुण्य पापके बंधनसे हटने के लिये बन्धनरहित अविकार सहज ज्ञानस्वरूप मात्र अपनेको मनन करना चाहिये।।146।।

अब 'जुभ अषुभ दोनों ही कर्मों का निषेध करते हैं—[तस्मात् तु] इस कारण [कुशीलाभ्यां] उन दोनों कुषीलोंसे [रागं] प्रीति [मा कुरुत्] मत करो [वा] अथवा [संसर्ग च]

अथोभयं कर्म प्रतिशोधयति—

तद्मा दु कुशीलेहिय रायं मा कुणह मा व संसर्गं ।

साधीणो हि विणासो कुशीलसंसर्गरायेण ।।147।।

इससे मत राग करो, नहिं संसर्ग दोनों कुशीलोंसे ।

स्वाधीन घात निश्चित, कुशीलसंसर्ग अनुरतिसे ।।147।।

तस्मात्तु कुषीलाभ्यां रागं मा कुरुत् मा वा संसर्गं । स्वाधीनो हि विनाषः कुषीलसंसर्गरागेण ।।147।।

कुषीलषुभाषुभकर्मभ्यां सह रागसंसर्गो प्रतिषिद्धौ बंधहेतुत्वात् कुषीलमनोरमामनोरम-करेण कुट्टिनीरागसंसर्गवत् ।।147।।

प्राकृत 'ाब्द—त, दु, कुशील, राय, मा, संसर्ग, साधीण, हि, विणास, कुषीलसंसर्गराय । **प्राकृत धातु**—रज्ज रागे, नस्स नाषे । **प्रकृतिशब्द**—तत्, तु, कुषील, राग, मा, संसर्ग, मा, वा, संसर्ग, स्वाधीन, हि, विनाष, कुषीलसंसर्गराग । **मूलधातु**—षील समाधौ, रज्ज रागे भ्वादि दिवादि, सृञ् विसर्गे दिवादि तुदादि । **पदविवरण**—तस्मात्—पंचमी एकवचन । तु—अव्यय । कुषीलाभ्यां, रागं—द्वितीया एकवचन । मा—अव्यय । कुरुत्—आज्ञायां लोट् मध्यम पुरुष बहुवचन । वा—अव्यय । संसर्गं—द्वि० ए० । स्वाधीनः—प्रथमा एक० । विनाषः—प्र० ए० । कुषीलसंसर्गरागेण—तृतीया एकवचन ।।147।।

संबंध भी [मा] मत करो [हि] क्योंकि [कुशीलसंसर्गरागेण] कुशीलके संसर्ग और रागसे [विनाशः स्वाधीनः] विनाश होना स्वाधीन है।

तात्पर्य—कोई कुशीलों से राग व संसर्ग करे तो उसका विनाश होना प्राकृतिक ही है।

टीकार्थ—कुशील 'भुभ-अषुभ कर्मके साथ राग और संसर्ग करना दोनों ही निषिद्ध हैं, क्योंकि ये दोनों ही कर्मबंध के कारण हैं। जैसे कुशील, मनको रमाने वाली अथवा नहीं रमाने वाली कुट्टनी हथिनीके साथ राग और संगति करने वाले हाथी का विनाश अपने आप है सो राग व संसर्ग उस हाथी को नहीं करने चाहिये।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया था कि पुण्य-पाप दोनों ही कर्मबन्धहेतु हैं। अब इस गाथामें उन दोनों ही कर्मों को दूर करने का उपदेश किया गया है।

तथ्यप्रकाश—1-षुभ (पुण्य), अषुभ (पाप) दोनों ही कर्म कुशील हैं। 2-बंधके कारणभूत होनेसे दोनों ही कुशील कर्मोंका राग करना व संसर्ग करना निषिद्ध किया गया है।

सिद्धान्त—(1) भावकर्ममें राग करनेसे याने दर्शनमोहसे जीव बेसुध होता है। (2) भावकर्म में संसर्ग करना चारित्रमोह है, इससे आत्मा क्षुब्ध होता है।

दृष्टि—1-कारककारकि अषुद्ध सदभूतव्यवहार (73अ)। 2-कारककारकि अषुद्ध सदभूतव्यवहार (73अ)।

प्रयोग—पुण्य-पाप दोनों को विकार जानकर इनमें न तो हितबुद्धि रखना और न इनमें लगाव बनाना, इनसे उपेक्षा ही करना ॥147॥

अब दोनों कर्मों को निषेध को दृष्टान्त से दृढ़ करते हैं—[यथा नाम] जैसे [कोपि] कोई [पुरुशः] पुरुषः [कुत्सितशीलं] खोटे स्वभाव वाले [जनं] किसी पुरुष को [विज्ञाय] जानकर [तेन समकं] उसके साथ [संसर्ग] संगति [च रागकरणं] और राग करना [वर्जयति] छोड़ देता है [एवं एव च] उसी तरह [स्वभावरताः] स्वभावमें प्रीति रखने वाले ज्ञानी जीव [कर्मप्रकृतिशीलस्वभावं] कर्मप्रकृतियों के 'शील स्वभावको [कुत्सितं ज्ञात्वा] निन्दनीय जानकर [वर्जयति] उससे राग छोड़ देते हैं [च] और [तत्संसर्ग] उसकी संगति भी [परिहरंति] छोड़ देते हैं।

तात्पर्य—बुद्धिमान पुरुष विनाशकारी पदार्थ से प्रीति और सम्बन्ध छोड़ देते हैं।

अथोभयं कर्म प्रतिशेध्यं स्वयं दृष्टान्तेन समर्थयते—

जह णाम कोवि पुरिसो कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता ।

वज्जेदि तेण समयं संसग्गं रायकरणं च ॥148॥

एमेव कम्मपयडी सीलसहावं च कुच्छिदं णाउं ।

वज्जंति परिहरंति य तस्संसग्गं सहावरया ॥149॥ (युग्मम्)

जैसे कोई मानव, कुशीलमय जानकर किसी जनको ।

तज देता उसके प्रति, संसर्ग व राग का करना ॥148॥

वैसे ही कर्म-प्रकृति-को कुत्सितशील जानकर ज्ञानी ।

तज देते हैं उसका, संसर्ग व रागका करना ॥149॥

यथा नाम कोऽपि पुरुषः कुत्सितशीलं जनं विज्ञाय । वर्जयति तेन समकं संसर्ग रागकरणं च ॥148॥

एवमेव कर्मप्रकृतिशीलस्वभावं च कुत्सितं ज्ञात्वा । वर्जयति परिहरंति च तत्संसर्ग स्वभावरताः ॥149॥

यथा खलु कुषलः कञ्चिद्वनहस्ती स्वस्य बंधाय उपसर्पन्तीं चटुलमुखीं मनोरमामम-
नोरमां वा करेणुकुट्टिनीं तत्त्वतः कुत्सितपीलां विज्ञाय तया सह रागसंसर्गौ प्रतिषेधयति । तथा
किलात्माऽरागो ज्ञानी स्वस्य बंधाय उपसर्पन्तीं मनोरमामनोरमां वा सर्वामपि कर्मप्रकृतिं

प्राकृतशब्द—जह, गाम, क, वि, पुरिस, कुच्छियसील, जण, त, समय, संसर्ग, रायकरण, एमेव, कम्मपयडि, सीलसहाव, कुच्छिद, य, तस्संसर्ग, सहावरय । **प्राकृतधातु**—कुच्छ निन्दायां, वज्ज वर्जने, परि—हर हरणे । **प्रकृतिशब्द**—यथा, नाम, किं, अपि, पुरुष, कुत्सितपील, जन, तत्, समय, संसर्ग, समकं, रागकरण, च, एवं, एव । कर्मप्रकृतिपीलस्वभाव, च, कुत्सित, च, तत्संसर्ग, स्वभावरत । **मूलधातु**—पुर—अग्रगमने, कुत्स अवक्षेपणे चुरादि, 'पील समाधौ, ज्ञा अवबोधने, वृजी वर्जने अदादि रुधादि चुरादि, परिहृञ् हरणे भ्वादि । **पदविवरण**—यथा—अव्यय । नाम—अव्ययार्थे । कः—प्र० ए० । अपि—अव्यय । पुरुषः—प्र० ए० । कुत्सितपीलं, जनं—द्वि० ए० । विज्ञाय—असमाप्तिकी क्रिया । वर्जयति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन । तेन—तृतीया एक० । समकं—अव्यय । संसर्ग, रागकरणं, कर्मप्रकृतिपीलस्वभावं, कुत्सितं—द्वितीया एकवचन । ज्ञात्वा—असमाप्तिकी क्रिया । वर्जयति, परिहरति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन क्रिया । तत्संसर्ग—द्वि०

टीकार्थ—जैसे कोई चतुर वनका हाथी अपने बन्धनके लिये समीप आने वाली, चंचल मुख को लीला रूप करती मन को रमाने वाली, सुन्दर अथवा असुन्दर कुट्टिनी हथिनी को बुरी समझकर उसके साथ राग तथा संसर्ग के नहीं करता, उसी प्रकार रागरहित ज्ञानी आत्मा अपने बन्धके लिये समीप उदय आतीं 'गुभरूप अथवा अषुभरूप सभी कर्मप्रकृतियों को परमार्थ में बुरी जानकर उनके साथ राग और संसर्ग को नहीं करता ।

भावार्थ—जैसे हाथी के पकड़ने को कोई जंगलमें बड़ा गड़ढा खोदकर उसपर बाँसपंच बिछाकर बाँसपंचसे ऊपर बाँस व कागजसे झूठी हथिनी बनाकर हथिनी दिखलावे, तब हाथी कामांध हुआ उससे राग तथा संसर्ग कर गड़ढे में पड़ पराधीन होकर दुःख भोगता है, किन्तु (चतुर) हाथी उससे राग, संसर्ग नहीं करता, उसी प्रकार कर्मप्रकृतियों को अच्छी समझ अज्ञानी जन उनसे राग तथा संसर्ग करता है, तब बन्धमें पड़ संसारके दुःख भोगता है, परन्तु ज्ञानी उनसे संसर्ग तथा राग कभी नहीं करता ।

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व गाथामें बताया था कि पुण्य—पाप दोनों का राग संसर्ग निषिद्ध है । अब इसी तथ्यका दृष्टान्तपूर्वक समर्थन इस गाथायुगल में किया गया है ।
तत्त्वतः कुत्सितपीलां विज्ञाय तया सह रागसंसर्गौ प्रतिषेधयति ॥148—149 ॥

ए० । स्वभावरतः—प्रथमा बहुवचन ॥148—149 ॥

तथ्यप्रकाश—1—सुषील पुरुष विज्ञात कुषीलके साथ राग व संसर्ग नहीं करता चाहे वह कितना ही मनोरम हो । 2—आत्मस्वभावरुचिक पुरुष कुषील 'गुभ अषुभ कर्मके साथ राग व संसर्ग नहीं करता, चाहे वह कर्म कितना ही सुहावना हो । 3—षुभ अषुभ सभी कर्मों का सान्निध्य बन्धके लिये ही होता है ।

सिद्धान्त—1—राग व संसर्ग का निमित्त पाकर पर वस्तु बन्धनरूप हो जाती है ।
2—षुभ अषुभ सभी कर्म कर्मत्व परिणामसे कल्माषित हैं ।

दृष्टि—1—उपाधिसापेक्ष अषुद्ध द्रव्यार्थिकनय (53) । 2—अषुद्धनिष्चयनय (47) ।

प्रयोग—सभी कर्म व कर्मफलों को स्वभावविरुद्ध जानकर उनसे उपेक्षा करके निष्कर्म सहज ज्ञायकभावमय अन्तस्तत्त्वकी दृष्टि बनाये रहने का पौरुष करना ॥148—149॥

अब कहते हैं कि सभी कर्मका निषेध किया है तो मुनि किसके आश्रय मुनिपद पाल सकेंगे? उसके निर्वाहका काव्य कहते हैं—**निशिद्धे** इत्यादि। **अर्थ**—शुभ तथा अशुभ आचरणरूप सभी कर्म निषिद्ध होनेपर क्रियाकर्मरहित निवृत्ति अवस्थामें प्रवृत्ति करते हुए मुनि अषरण नहीं है। निवृत्ति अवस्था होने पर इन मुनियोंके ज्ञानमें ज्ञानका ही आचरण करना जो हो रहा है वह 'रण है। वे मुनि उस ज्ञानमें लीन हुए परम अमृतको भोगते हैं।

भावार्थ—सब कर्मका त्याग होनेसे ज्ञानका ज्ञानमें रम जाना यह बहुत बड़ा 'रण है, उस ज्ञानमें लीन होनेसे सब आकुलताओं से रहित परमानन्दका अनुभव होता है। इसका स्वाद ज्ञानी ही जानता है। अज्ञानी जीव कर्मको ही सर्वस्व जानकर उसमें लीन हो जाता है, वह ज्ञानानन्दका स्वाद नहीं जानता।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें दृष्टान्तपूर्वक 'शुभ अशुभ दोनों कर्मों को प्रतिषेध्य बताया गया था। अब इस गाथामें सिद्धान्त द्वारा कर्मबन्धहेतुभूत दोनों कर्मों की प्रतिषेध्यता सिद्ध की है।

तथ्यप्रकाश—(1) जो रागादि में रक्त है उसके संसारविषयक कर्मबन्धन होता है। (2) जो रागादिसे विरक्त होकर भी कर्मविपाकवष रागी बनता है उसके 'रीरविषयक कुछ काल तक कर्मबन्ध होता। (3) जो पूर्णतया विकार से विरक्त है वह कर्मसे छूट जाता है। (4) 'शुभ अशुभ दोनों ही कर्म राग उपकारके निमित्तभूत होनेसे बन्धहेतु हैं, अतः दोनों ही कर्म प्रतिषेध्य हैं। (5) नैष्कर्म्य अवस्था होने पर ज्ञानी अषरण नहीं होता, किन्तु ज्ञानमें ज्ञान समाया होनेसे वह वास्तविक सषरण है और परम अमृत तत्त्वका अनुभव करता है।

सिद्धान्त—(1) रागी जीव कर्म बाँधता है यह उपचार कथन है। (2) रागका निमित्त पाकर कार्माणवर्गणायें कर्मरूप परिणत होती हैं यह अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय का सिद्धान्त है। (3) अशुद्धद्रव्यार्थिक का प्रतिपादन व्यवहार है, उपचार नहीं। (4) रागरहित जीव कर्मसे 'न्य हो जाता है।

दृष्टि—1—परकर्तृत्व अनुपचरित असदभतव्यवहार (129)। 2—उपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय (53)। 3—उपाधिसापेख अशुद्धद्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (76)। 4—शुद्ध भावनापेक्ष 'शुद्धद्रव्यार्थिकनय (24ब)।

अथोभयं कर्मबंधहेतुं प्रतिशेध्यं चागमेन साधयति—

रक्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो ।

एसो जिणोवदेसो तह्मा कम्मेसु मा रज्ज ॥150॥

रागी विधिको बांधे, छोड़े विधिको विराग विज्ञानी ।

यह भागवत वचन है, इससे विधिमें न राग करो ॥150॥

रक्तो बध्नाति कर्म मुच्यते जीवो विरागसम्प्राप्तः । एष जिणोपदेशः तस्मात् कर्मसु मा रज्यस्व ॥150॥

यः खलु रक्तोऽवध्यमेव कर्म बध्नीयात् विरक्त एव मुच्येतेत्ययमागमः स सामान्येन रक्तत्वनिमित्तत्वाच्छुभमशुभमभयं कर्माविषेषेण बंधहेतुं साधयति तदुभयमपि कर्म प्रतिषेधयति च । कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद्बंधसाधनमुषन्त्यविषेषात् । तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं ज्ञानमेव विहितं षिवहेतुः ॥103॥ निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल, प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः

संत्यषरणाः। तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि 'ारणं, स्वयं विन्दन्त्येते परमममृतं तत्र निरताः।।104।।।।150।।

प्राकृतशब्द—रक्त, कम्म, जीव, विरागसंपत्त, एत, जिणोवदेस, त, कम्म, मा। **प्राकृतधातु**—रज्ज रागे, बंध बंधने, मुंच त्यागे। **प्रकृतिशब्द**—रक्त, कर्मन्, जीव, विरागसंप्राप्त, एतत्, जिणोपदेश, तत्, कम्मन्, मा। **मूलधातु**—रन्ज रागे, बन्ध बन्धने, डुकृञ् करणे, मुच्लृ मोक्षणे तुदादि, सम्-प्र-आप्लृ प्रापणे, जि जये अभिभवे च भ्वादि। **पदविवरण**—रक्तः—प्रथमा एकवचन। बध्नाति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन। कर्म—द्वितीया एक०। मुच्यते—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन भावकर्मप्रक्रिया क्रिया। विरागसंप्राप्तः, एषः, जिणोपदेशः—प्रथमा एक०। तस्मात्—पंचमी एकवचन हेत्वर्थे। कर्मसु—सप्तमी बहु०। मा—अव्यय। रज्यस्व—आज्ञायां लोट् मध्यम पुरुष एकवचन क्रिया।।150।।

प्रयोग—परभावसे राग होनेको बन्धनका मूल जानकर समग्र रागादि परभावोंसे उपेक्षा करके रागरहित ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व में रति, संतुष्टि व तृप्ति करना चाहिये।।150।।

अब ज्ञान को मोक्षका कारण सिद्ध करते हैं—[खलु] निष्ययसे [यः] जो [‘जुद्धः] ‘जुद्ध है [केवली] केवली है [मुनिः] मुनि है [ज्ञानी] ज्ञानी है [परमार्थः समयः] वह परमार्थ समय है [तस्मिन् स्वभावे] उस स्वभावमें [स्थिताः] स्थित [मुनयः] मुनि [निर्वाणं] मोक्षको [प्राप्नुवन्ति] प्राप्त होते हैं।

तात्पर्य—वास्तवमें सहजषुद्ध आत्मा ही परमार्थ है उसमें जो उपयुक्त होते हैं वे मोक्ष पाते हैं।

टीकार्थ—ज्ञान ही मोक्षका कारण है, क्योंकि ज्ञानके ही ‘जुभ अषुभ कर्मबंधकी हेतुता न होने पर मोक्षकी हेतुता ज्ञानके ही बनती है। यह ज्ञान ही समस्त कर्मों को आदि लेकर अन्य पदार्थों से भिन्न जात्यंतर चिज्जाति मात्र परमार्थस्वरूप आत्मा है, और वह एक ही काल में एकरूप प्रवृत्त ज्ञान और परिणमनमय होनेसे समय है। यही समस्त धर्म तथा धर्मों के ग्रहण करने वाले नयों के पक्षों से न मिलने वाला पृथक् ही ज्ञानत्व रूप असाधारण धर्मरूप होनेसे ‘जुद्ध है। वही एक चैतन्यमात्र वस्तुत्व होनेसे केवली है। वही मननमात्र अर्थात् ज्ञानमात्र भावरूप होनेसे मुनि है और वही स्वयमेव ज्ञानरूप होनेसे ज्ञानी वही अपने ज्ञानस्वरूपके सत्तारूप प्रवर्तन के कारण स्वभाव है तथा अपनी चेतना का सत्तारूप होनेसे सद्भाव है। ऐसे ‘जुद्धों के भेद होने पर भी वस्तुभे नहीं हैं। **भावार्थ**—मोक्षका उपादान कारण आत्मा ही है और आत्मा का परमार्थ से ज्ञानस्वभाव है, अतः जो ज्ञान है वह आत्मा ही है, आत्मा है वह ज्ञान ही है, इसलिये ज्ञानको ही मोक्षका कारण कहना युक्त है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें सिद्धान्त द्वारा ‘जुभ अषुभ कर्मको प्रतिषेध्य बताकर सिद्ध किया था कि ‘जुभ अषुभकर्म दोनों बंधहेतु है। इस विवरण पर यह जिज्ञासा होती है कि तब फिर मोक्षहेतु क्या है? इसी जिज्ञासा का समाधान इस गाथा में किया है।

अथ ज्ञानं मोक्षहेतुं साधयति—

परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी।

तद्धि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावन्ति णिव्वाणं।।151।।

परमार्थ समय जो यह, ‘जुद्ध तथा केवली मुनी ज्ञानी।

इस ही स्वभावमें रत, मुनिजन निर्वाणको पाते।।151।।

परमार्थः खलु समयः ‘जुद्धो यः केवली मुनिर्ज्ञानी। तस्मिन् स्थिताः स्वभावे मुनयः प्राप्नुवन्ति निर्वाणं।

ज्ञानं हि मोक्षहेतुः, ज्ञानस्य ‘जुभाषुभकर्मणोरबंधहेतुत्वे सति मोक्षहेतुत्वस्य तथोपपत्तेः। तत्तु सकलकर्मादिजात्यंतरविविक्तचिज्जातिमात्रः परमार्थ आत्मेति यावत्, स तु युगपदेकीभाव-प्रवृत्तज्ञानगमनमयतया समय। सकलनयपक्षासंकीर्णकज्ञानतया ‘जुद्धः। केवलचिन्मात्रवस्तुतया

केवली। मननमात्रभावमात्रतया मुनिः। स्वयमेव ज्ञानतया ज्ञानी। स्वस्य ज्ञानस्य भावमात्रतया स्वभावः स्वतष्ट्वितो भवनमात्रतया सद्भावो वेति 'ऽब्दभेदेऽपि न च वस्तुभेदः॥151॥

प्राकृतशब्द—परमट्ठ, खलु, समय, सुद्ध, केवलि, मुणि, णाणि, त, ट्ठिद, सहाव, मुंणि, णिव्वाण।
प्राकृतधातु—आव प्राप्तौ, गुण ज्ञाने। **प्रकृतिशब्द**—परमार्थ, खलु, समय, 'जुद्ध, यत्, केवलिन, मुनि, ज्ञानिन, तत्, स्थित, स्वभाव, मुनि, निर्वाण। **मूलधातु**—ऋ गतिप्रापणयोः भ्वादि जुहोत्यादि, सम्—अय गतौ, 'जुध 'गौचे, मनु अवबोधने तनादि, ज्ञा अवबोधने, ष्टा गतिनिवृत्तौ, प्र—आप्लु प्रापणे, निर् वन संभक्तौ। **पदविवरण**—परमार्थः—प्रथमा एक०। खलु—अव्यय। समयः, 'जुद्धः, यः, केवली, मुनिः, ज्ञानी—प्रथमा एकवचन। तस्मिन्—सप्तमी एक०। स्थिताः—प्रथमा बहुवचन। स्वभावे—प्र० एक०। मुनयः—प्रथमा बहु०। प्राप्नुवन्ति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन। निर्वाणं—द्वितीया एकवचन॥151॥

तथ्यप्रकाश—(1) ज्ञान ही मोक्षहेतु है, क्योंकि मात्र ज्ञान ही रहना, पूर्णतया परसे पृथक् हो जाना मोक्ष है सो वह मोक्ष परविविक्त सहजज्ञानस्वरूपकी आराधना से ही हो सकता है। (2) ज्ञान 'जुभाषुभकर्मके बन्धका हेतु नहीं हो सकता, क्योंकि स्वरूप व स्वभाव बन्धके लिये नहीं होता। (3) ज्ञान (ज्ञानमय आत्मा) ही परमार्थ है, क्योंकि ज्ञानभाव समस्त कर्मादिसे न्यारा चिज्ज्योतिमात्र वस्तु है। (4) ज्ञान (ज्ञानमय आत्मा) ही समय है, क्योंकि यह चेतन पदार्थ ही एक साथ स्वयं जानता व परिणमता है अथवा सम्यक् अय (ज्ञान) वाला है अथवा समरसीभावसे 'जुद्धस्वरूपमें इसका गमन है। (5) यह ज्ञान 'जुद्ध है, क्योंकि यह केवल चिन्मात्र वस्तु है। (7) यह ज्ञान मुनि है, क्योंकि यह ज्ञानभाव मननमात्र भाव है। (8) यह ज्ञान ज्ञानी है, क्योंकि यह स्वयं ज्ञानस्वरूप है। (9) विषुद्ध यह ज्ञान (ज्ञानमय आत्मा) अपने भवनमें जाननस्वरूपमें निर्विकल्प स्थित होकर निर्वाणको प्राप्त करता है।

सिद्धान्त—(1) 'जुद्ध चित्स्वभावकी आराधनासे कर्ममोक्ष होता है। (2) यह ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व अभेद 'जुद्ध चिज्ज्योतिमात्र है।

दृष्टि—1—षुद्ध भावनापेक्ष 'जुद्धद्रव्यार्थिकनय (24ब)। 2—षुद्धनय (49)।

प्रयोग—केवल चित्प्रकाशमात्र अन्तस्तत्त्व में स्थित होनेका पौरुष करना, क्योंकि इस विधिसे निर्वाण प्राप्त होता है॥151॥

अब उस ज्ञान की विधि बतलाते हैं—[परमार्थे तु] ज्ञानस्वरूप आत्मामें [अस्थितः] अस्थित [यः] जो [तपः करोति] तप करता है [च] और [व्रतं धारयति] व्रतको धारण करता है [तत्सर्व] उस सब तप व्रतको [सर्वज्ञाः] सर्वज्ञदेव [बालतपः] अज्ञान तप [बालव्रतं] और अज्ञान व्रत [विंदंति] कहते हैं।

टीकार्थ—ज्ञान ही मोक्ष का कारण कहा गया है, क्योंकि परमार्थभूत ज्ञानसे 'न्य अज्ञानसे किये तप और व्रतरूप कर्म ये दोनों बंधके कारण हैं, इसलिये बालतप व बालव्रत उन दोनों का बाल ऐसा नाम कहकर प्रतिषेध किये जानेपर पूर्वकथित ज्ञानके ही मोक्षका कारणपना बनता है।

अथ ज्ञानं विधापयति—

परमट्ठमिह दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेई।

तं सव्वं वालतवं वालवदं विति सव्वण्हू॥152॥

परमार्थमें न ठहरा, जो कोई तप करे व व्रत धारे।

सर्वज्ञ देव कहते, बालतपहि बालव्रत उसको॥152॥

परमार्थे त्वस्थितः यः करोति तपो व्रतं च धारयति। तत्सर्वं वालतपो बालव्रतं वदन्ति सर्वज्ञाः॥152॥

ज्ञानमेव मोक्षस्य कारणं विहितं परमार्थभूतज्ञानपून्वस्याज्ञानकृतयोर्व्रततपःकर्मणोः
बंधहेतुत्वाद्बालव्यपदेणेन प्रतिषिद्धत्वे सति तस्यैव मोक्षहेतुत्वात् ॥152 ॥

प्राकृतशब्द—परमट्ठ, दु, अठिद, ज, तव, वद, त, सव्व, वालतव, वालवद, सव्व। **प्राकृतधातु**—ट्ठा गतिनिवृत्तौ, कृण करणे। **प्रकृतिशब्द**—परमार्थ, तु, अस्थित, यत्, तपस्, व्रत, च, तत्, सर्व, वालतपस्, वालव्रत, सर्वज्ञ। **मूलधातु**—ऋ गतिप्रापणयोः, ष्टा गतिनिवृत्तौ, डुकृञ् करणे, तप संतापे ऐष्वर्य भ्वादि दिवादि, वद व्यक्तायां वाचि भ्वादि, ज्ञा अवबोधने क्र्यादि। **पदविवरण**—परमार्थ—सप्तमी एक०। तु—। अव्ययस्थितः, यः—प्र० ए०। करोति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। तपः—द्वितीया एक०। व्रत—द्वि० ए०। धारयति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। तत् सर्व, वालतपः, वालव्रत—द्वि० ए०। वदति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु०। सर्वज्ञाः—प्रथमा बहुवचन ॥152 ॥

भावार्थ—अज्ञानमें किये तप व्रत बंधके ही कारण हैं अतः ज्ञानको ही मोक्ष कारणपना बनता है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि ज्ञान ही मोक्षहेतु है। अब इसी ज्ञानकी महिमा को अज्ञानदौर्गत्य बताकर इस गाथा में वर्णित किया है।

तथ्यप्रकाश—(1) ज्ञान ही मोक्ष का कारण है, क्योंकि वह स्वभावतः परविविक्त है। (2) ज्ञानपून्व पुरुषके अज्ञानकृत व्रत तप आदि कर्मबन्धके ही कारणभूत हैं। (3) अज्ञानकृत तप व्रत वालतप व वालव्रत कहलाते हैं। (4) अज्ञानकृत व्रत तप कर्म मोक्षमार्गमें प्रतिषिद्ध हैं।

सिद्धान्त—(1) अज्ञानभावसे किये हुए व्रत तप आदि कर्म कर्मबंधके निमित्तभूत हैं। (2) ज्ञानभावमें अज्ञान न होने से ज्ञान ही मोक्षहेतु है।

दृष्टि—1—उपाधिसापेक्ष अषुद्ध द्रव्यार्थिकनय (53)। 2—षुद्धनिष्चयनय (46)।

प्रयोग—परमार्थ में न उठर सकने वाले जीवकी क्रियायें सब दुर्गति के हेतुभूत जानकर परमार्थ सहज ज्ञानस्वरूपमें उपयुक्त होनेका पौरुष करना ॥152 ॥

अब ज्ञान और अज्ञान दोनों को क्रमशः मोक्ष और बंधका हेतु निश्चित करते हैं—[व्रतनियमान्] व्रत और नियमों को [धारयंतः] धारण करते हुए [तथा] तथा [‘गीलानि च तपः कुर्वतः] ‘गील और तपको करते हुए भी [ये] जो [परमार्थबाह्याः] परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप आत्मा से बाह्य हैं [ते] वे [निर्वाणं] मोक्ष को [न] नहीं [विंदंति] पाते।

तात्पर्य—सहज ज्ञानस्वभावमय अन्तस्तत्त्वसे अपरिचित जन कैसा भी व्रत नियम तप धारण करें तो भी वे मोक्षको नहीं पाते हैं।

टीकार्थ—ज्ञान ही मोक्षका हेतु है, क्योंकि ज्ञानका अभाव होनेपर स्वयं अज्ञानरूप हुए अज्ञानियों के अन्तरङ्ग में व्रत, नियम, ‘गील, तप आदि ‘गुभकर्म का सद्भाव होने पर भी मोक्ष का अभाव है। अज्ञान ही बंधका हेतु है, क्योंकि अज्ञानका अभाव होनेपर स्वयं ज्ञानरूप हुए ज्ञानियों के बाह्य व्रत, नियम, ‘गील, तप आदि ‘गुभकर्मका असद्भाव होनेपर भी मोक्ष का सद्भाव है। **भावार्थ**—ज्ञान होने पर ज्ञानी के व्रत नियम ‘गील तपोरूप ‘गुभकर्म बाह्य में विशेष न होने पर भी मोक्ष होता है। और अज्ञानी के बहुत अधिक बाह्य तप व्रत नियम की प्रवृत्ति हो तो भी उनको मोक्ष नहीं है।

अथ ज्ञानाज्ञाने मोक्षबंधहेतु नियमयति—

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।

परमट्ठवाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विंदंति ॥153 ॥

व्रत नियमों को धरते, ‘गील तथा तप अनेक करते भी।

परमार्थ बाह्य जो हैं, वे नहीं निर्वाण को पाते ॥153 ॥

व्रतनियमान् धारयंतः 'गीलानि तथा तपश्च कुर्वन्तः। परमार्थबाह्या ये निर्वाणं ते न विंदन्ति ॥153 ॥

ज्ञानमेव मोक्षहेतुस्तदभावे स्वयमज्ञानभूतानामज्ञानिनामन्तर्व्रतनियमशीलतपःप्रभृति—
'भूभकर्मसद्भावेऽपि मोक्षाभावात्। अज्ञानमेव बंधहेतुः, तदभावे स्वयं ज्ञानभूतानां ज्ञानिनां
वहिरव्रतनियमशीलतपः प्रभृतिषुभकर्मसद्भावेऽपि मोक्षसद्भावात्। यदेतद् ज्ञानात्मा ध्रुवमचलमा-
भाति भवनं, षिवस्यायं हेतुः स्वयमपि यतस्तच्छिव इति। अतोऽन्यद्वंधस्य स्वयमपि यतो बंध
इति तत्, ततो ज्ञानात्मत्वं भवनमनुभूतिर्हि विहितं ॥105 ॥ ॥153 ॥

प्राकृतशब्द—वदणियम, सील तथा, तव, च, परमट्ठवाहिर, ज, णिव्वाण, त, ण। **प्राकृतधातु**—धर
धारणे, कुव्व करणे, विद ज्ञाने। **प्रकृतिशब्द**—व्रतनियम, धारयत्, 'गील, तथा, तापस्, च, परमार्थबाह्य,
यत्, निर्वाण, तत्, न। **मूलधातु**—नियम परिवेषणो चुरादि भ्वादि, 'गील समाधौ, तप संतापे ऐष्यर्च्ये च,
डुकृञ् करणे, विदल् लाभे तुदादि। **पदविवरण**—व्रतनियमान्—द्वितीया बहु०। धारयंतः—प्रथमा बहु० कृ
दन्त। 'गीलानि—द्वि० बहु०। तथा—अव्यय। तपः—द्वितीया एक०। च—अव्यय। कुर्वन्तः—प्रथमा बहु०।
परमार्थबाह्याः, ये—प्रथमा बहु०। निर्वाणं—द्वि० एक०। ते—प्रथमा बहु०। न—अव्यय। विन्दन्ति—वर्तमान लट्
अन्य पुरुष बहुवचन ॥153 ॥

इसी अर्थ का कलषरूप काव्य कहते हैं—**यदेत** इत्यादि। **अर्थ**—जो यह
ज्ञानस्वरूप आत्मा ध्रुव और निष्चल ज्ञानस्वरूप हुआ 'गोभायमान होता है, तब ही यह
मोक्षका कारण है, क्योंकि आप स्वयमेव मोक्षस्वरूप है और इसके सिवाय जो अन्य है वह
बन्धका कारण है, क्योंकि वह स्वयमेव बन्धस्वरूप है। इस कारण ज्ञानस्वरूप अपना होना
ही अनुभूति है, इस प्रकार निष्चयसे बन्धमोक्ष के हेतुका विधान किया है।
भावार्थ—ज्ञानात्मक आत्मपदार्थका ज्ञानात्मकपने से प्रवर्तना ही मोक्षका हेतु है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथाद्वयमें ज्ञानकी मोक्षहेतुता व अज्ञानकी बंधहेतुता का
संकेत दिया गया था। अब उसी तथ्य का एक ही इस गाथा में नियमरूप वर्णन किया गया
है।

तथ्यप्रकाश—(1) ज्ञानषून्य अज्ञानीजन लगन से व्रतादि कर 'भूभाव करें तो भी ज्ञान
का अभाव होने के कारण उनको मोक्ष नहीं होता। (2) अज्ञानरहित ज्ञानी जीवके बाह्य
सुविदत हों, ऐसे व्रतादि 'भू क्रियाकांड नहीं तो भी ज्ञानभाव के कारण उनको मोक्ष हो
जाता है।

सिद्धान्त—(1) क्रियाकाण्डमें ज्ञान नहीं। (2) ज्ञानमें क्रियाकाण्ड नहीं। (3) अज्ञानमय
दुर्भावों को तत्काल रोकने का बाह्य साधन 'भू क्रियाकाण्ड है।

दृष्टि—1—प्रतिषेधक 'भूद्धनय (49अ)। 2—प्रतिषेधक 'भूद्धनय (49अ)। 3—निमित्तदृष्टि
(53अ)।

प्रयोग—जिस ज्ञानभावके अभावमें अनेक 'भू क्रियाकाण्ड भी मोक्षसाधन नहीं बनते
उस ज्ञानभावमें अपने ज्ञानको उपयुक्त करने का पौरुष करना ॥153 ॥

अब फिर भी पुण्यकर्म के पक्षपाती के प्रतिबोधनके लिये कहते हैं—**[ये]** जो
[परमार्थबाह्याः] परमार्थ से बाह्य हैं। **[ते]** वे जीव **[मोक्षहेतुं]** मोक्षका कारण ज्ञानस्वरूप
आत्माको **[अजानंतः]** नहीं जानते हुए **[संसारगमनहेतुं अपि]** संसारमें गमन का हेतुभूत
होनेपर भी **[पुण्यं]** पुण्यको **[अज्ञानेन]** अज्ञानसे **[इच्छंति]** चाहते हैं।

अथ पुनरपि पुण्यकर्मपक्षपातिनः प्रतिबोधनायोपक्षिपति—

परमट्ठवाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति ।

संसारगमणहेतुं वि मोक्खहेउं अजाणंता ॥154 ॥

परमार्थबाह्य जो हैं, वे नहिं मोक्षके हेतुको जानें ।

संसारभ्रमण कारण, पुण्यहि अज्ञानसे चाहें ।।154।।

परमार्थबाह्या ये ते अज्ञानेन पुण्यमिच्छन्ति । संसारगमनहेतुं अपि मोक्षहेतुमजानन्तः ।।154।।

इह खलु केचिन्निखिलकर्मपक्षक्षयसंभावितात्मलाभं मोक्षमभिलषन्तोऽपि तद्धेतुभूतं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रस्वभावपरमार्थभूतज्ञानभवनमात्रमैकाग्र्यलक्षणं समयसारभूतं सामायिकं प्रतिज्ञायमानाः प्रतिनिवृत्तस्थूलतमसंक्लेषपरिणामकर्मतया प्रवर्तमानस्थूलतमविषुद्धपरिणामकर्माणः

प्राकृतशब्द—परमट्टवाहिर, ज, त, अण्णाण, पुण्ण, संसारगमणहेतु, वि, मोक्खहेतु । **प्राकृतधातु**—जाण अवबोधने, मुंच त्यागे, इच्छ इच्छायां । **प्रकृतिशब्द**—परमार्थबाह्य, यत्, तत्, अज्ञान, पुण्य, संसारगमनहेतु, अपि, मोक्षहेतु, अपि, मोक्षहेतु, अजानत् । **मूलधातु**—गतौ जुहोत्यादि (अर्थते इति अर्थः) ज्ञा अवबोधने, पूज पवने क्र्यादि, इषु इच्छायां तुदादि । **पदविवरण**—परमट्टवाहिरा परमार्थबाह्याः—प्रथमा बहु० । जे ये—प्रथमा

तात्पर्य—अज्ञानियों को मोक्षहेतुभूत अन्तस्तत्त्वदृष्टि नहीं मिली, अतः पुण्य को ही मोक्षका कारण समझकर सेवते हैं ।

टीकार्थ—इस लोक में कई एक जीव समस्त कर्म के पक्ष का क्षय होनेसे सम्भावित निजस्वरूपके लाभरूप मोक्षको चाहते हुए भी और उस मोक्षके कारणभूत सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रस्वभाव परमार्थभूत ज्ञानके होनेमात्र एकाग्रतालक्षण समयसारभूत सामायिक चारित्रकी प्रतिज्ञा लेकर भी दुरन्त कर्मके समूहके पार होनेकी असामर्थ्य से परमार्थभूत ज्ञानके होनेमात्र जो सामायिक चारित्रस्वरूप स्वभाव उसको न पाते हुए अत्यन्त स्थूल संक्लेश परिणामस्वरूप कर्मसे तो निवृत्त हुए हैं और अत्यन्त स्थूल विषुद्ध परिणामस्वरूप कर्म के द्वारा प्रवृत्ति करते हैं, वे कर्मके अनुभवकी गुरुता और लघुता की प्राप्तिमात्रसे ही संतुष्ट चित्त वाले हुए स्थूल लक्ष्यतारूप स्थूल अनुभवगोचर संक्लेशरूप कर्मकांड को तो छोड़ते हैं, परन्तु समस्त कर्मकांडको मूलसे नहीं उखाड़ते । सो वे स्वयं अपने अज्ञानसे केवल अशुभकर्म को बंधका कारण मान व्रत, नियम, 'गिल, तप आदिक 'गुभकर्म बंधके कारणको बंधका कारण नहीं जानते हुए उसको मोक्षका कारण अङ्गीकार करते हैं ।

भावार्थ—कितने ही जीव अधिक संक्लेशपरिणामस्वरूप कर्मको तो बंधका कारण जानकर छोड़ देते हैं और मोटी विषुद्धता परिणाम रूप कर्मसहित बर्तते हैं । वे बाहरी प्रवृत्तिको ही बंध—मोक्षका कारण जानते हैं तथा सकल कर्मों से रहित अपने स्वरूपको मोक्षका कारण नहीं जानते । वे अशुभकर्म को छोड़ अज्ञानसे व्रत, नियम, 'गिलतपरूप 'गुभकर्मको ही मोक्षका कारण मान 'गुभकर्मको ही अङ्गीकार करते हैं ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें यह नियम बता दिया गया था कि ज्ञान मोक्षका हेतु है और अज्ञान बंधका हेतु है । फिर भी पुण्यकर्मके पक्षपाती लोगों को समझाने के लिये इस गाथामें बताया गया है कि अज्ञानी जन पुण्यकर्मको मोक्षका हेतु मानकर मोक्ष के लिये पुण्यकर्म को ही चाहते रहते हैं ।

तथ्यप्रकाश—(1) समस्त कर्मपक्षका क्षय होनेसे जिसमें निजस्वरूपका लाभ होता है वह मोक्ष है । (2) मोक्ष का कारण समयसारभूत परमसमरभावमय सामायिक है । (3) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रस्वभाव परमार्थभूत ज्ञानका सतत होना परमरसभाव है । (4) अज्ञानी जन मोक्ष की चाह करते हुए भी, सामायिक की प्रतिज्ञा करके भी कर्मपक्षका अतिक्रमण न कर पानेसे परमार्थ ज्ञानानुभवमात्र आत्मस्वभावरूप सामायिकको प्राप्त नहीं कर पाते । (5) अज्ञानी जन मोटे—मोटे संक्लेश परिणाम निवृत्त होनेसे व साधारण विषुद्ध परिणाम कर्मानुभवगुरुलाघवप्रतिपत्तिमात्रसंतुष्ट चेतसः स्थूललक्ष्यतया सकलं कर्मकांडमनुमूलयन्तः स्वयमज्ञानादशुभकर्म केवलं बंधहेतुमध्यास्य च व्रतनियमषीलतपः प्रभृतिषुभकर्मबंधहेतुमप्य—जानन्तो मोक्षहेतुमभ्युपगच्छन्ति ।।154।।

बहु०। ते ते-प्र० बहु०। अण्णाणेण अज्ञानेन-तृतीया एक०। पुण्यं पुण्यं-द्वि० एक०। इच्छंति इच्छन्ति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु० क्रिया। संसारगमणहेतुं संसारगमनहेतुं-द्वितीया एक०। वि अपि-अव्यय। मोक्षहेतुं मोक्ष हेतुं-द्वितीया एकवचन। अजाणंता अजानन्तः-प्रथमा बहुवचन कृदन्त॥154॥

होनेसे ही मैंने धर्म कर लिया ऐसा भाव करके संतुष्ट हो जाते हैं। (6) अज्ञानी जन अषुभकर्मको तो बंधका कारण समझकर व्रत नियमादि 'भुभकर्मों को बन्ध का कारण न जानकर 'भुभकर्मों का ही मोक्षका कारण मानते हैं। (7) अज्ञानी जन "सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्र्यमय अभेद रत्नत्रय मोक्ष का कारण है" यह नहीं मान पाते हैं। (8) परमार्थज्ञानस्वभाव से विमुख जीव अज्ञान से पुण्य को मोक्षहेतु मानकर पुण्यकर्म को ही चाहते हैं।

सिद्धांत—(1) समस्त कर्मपक्ष के क्षयसे उत्पन्न 'जुद्धात्मभावना कर्मनिर्जरा का कारण है। (2) कर्मपक्षकी भावना कर्मबन्ध का कारण है।

दृष्टि—1—षुद्धभावनापेक्ष 'जुद्धद्रव्यार्थिकनय (24ब)। 2—उपाधिसापेक्ष अषुद्ध द्रव्यार्थिकनय (24)।

प्रयोग—ज्ञानस्वभावस्थितिरूप धर्मपालन के उद्देश्य से पापकर्माक्रमणसे बचने के लिये 'भुभकर्मप्रवर्तन करने पर भी 'भुभकर्म को अनात्मस्वभाव जानकर उससे उपेक्षा कर 'भुभाषुभकर्म से हटकर अपने अन्तः प्रकाशमान ज्ञानस्वरूपमें रत होकर सहज संतुष्ट होनेका पौरुष करना॥154॥

अब उन जीवों को परमार्थस्वरूप मोक्ष का कारण दिखलाते हैं—[जीवादिश्रद्धानं] जीवादिक पदार्थों का श्रद्धान तो [सम्यक्त्वं] सम्यक्त्व है और [तेशा] उन जीवादि पदार्थों का [अधिगमः] अधिगम [ज्ञानं] ज्ञान है तथा [रागादिपरिहरणं] रागादिक का त्याग [चरणं] चारित्र है [एश तु] सो यही [मोक्षपथः] मोक्ष का मार्ग है।

तात्पर्य—निष्चयतः सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रकी एकता ही मोक्षमार्ग है।

टीकार्थ—मोक्ष का कारण निष्चयसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। उनमें जीवादिपदार्थों के यथार्थ श्रद्धान स्वभावसे ज्ञानका होना तो सम्यग्दर्शन है; जीवादिपदार्थों के ज्ञानस्वभावसे ज्ञानका होना सम्यग्ज्ञान है; तथा रागादि के त्याग स्वभाव से ज्ञान का होना सम्यक्चारित्र है। इस कारण ज्ञान ही परमार्थरूपसे मोक्षका कारण है। **भावार्थ**—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों ज्ञान के ही परिणमन हैं। अतः ज्ञानको ही मोक्षका कारण कहा है। ज्ञान अभेदविवक्षा से आत्मा ही है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया गया था कि पुण्य कर्म के पक्षपाती जन पुण्यकर्म को ही मोक्षहेतु समझकर पुण्यको ही चाहते हैं। इस विवरण पर यह जिज्ञासा हुई कि फिर मोक्ष का हेतु क्या है? इस जिज्ञासा का समाधान इस गाथा में किया है।

तथ्यप्रकाश—1—ज्ञान ही परमार्थभूत मोक्षका कारण है। 2—मोक्ष का कारण जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र बताया गया है वह ज्ञान का ही उस प्रकार से होना है। 3—किन्हीं भी लक्षणों से सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र का लक्षण किया जावे वह सब ज्ञान का उस प्रकार से होना विदित होगा। 4—जीवादिक तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है। 5—भूतार्थ से जाने गये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध व मोक्ष सम्यक्त्व है याने सम्यक्त्व के कारण हैं। 6—भूतार्थाभिगत पदार्थों का 'जुद्धात्मा से भिन्न रूपमें सम्यक् अवलोकन होना सम्यग्दर्शन है। 7—ज्ञान का जीवादि श्रद्धान स्वभाव से अथ परमार्थमोक्षहेतुं तेशां दर्शयति—

जीवादीसद्गणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं ।

रायादीपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो ।।155।।

जीवादिक तत्त्वों का, प्रत्यय सम्यक्त्व बोध संज्ञान।

रागादि त्याग चारित, यही त्रितय मोक्षका पक्ष है ।।155।।

जीवादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं तेषामधिगमो ज्ञानं। रागादिपरिहरणं चरणं एष तु मोक्षपथः ।।155।।

मोक्षहेतुः किल सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि। तत्र सम्यग्दर्शनं तु जीवादिश्रद्धानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं। जीवादिज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं ज्ञानं। रागादिपरिहरणस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं चारित्रं। तदेवं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राण्येकमेव ज्ञानस्य भवनमायातम्। ततौ ज्ञानमेव परमार्थमोक्षहेतुः ।।155।।

प्राकृतशब्द—जीवादीसद्दहण, सम्मत्त, त, अधिगम, णाण रायादीपरिहरण, चरण, एत, दु, मोक्खपह। **प्राकृतधातु**—परि,हर हरणे, सम्-अंच-पूजासंकोचनसंचयेषु, चर गतौ। **प्रकृतिशब्द**—जीवादिश्रद्धान, सम्यक्त्व, तत्, अधिगम, ज्ञान, रागादिपरिहरण, चरण, एतत्, तु, मोक्षपथ। **मूलधातु**—श्रद्-डुधाञ् धारणपोषणयोः जुहोत्यादि, सम्-अंचु विषेषणे चुरादि, अधि-गम्लृ गतौ, ज्ञा अवबोधने, रन्ज रागे परि-हृञ् हरणे, चर गत्यर्थः भ्वादि, पथे गतौ भ्वादि, पथि-गतौ चुरादि। **पदविवरण**—जीवादीसद्दहणं जीवादिश्रद्धानं—प्रथमा एकवचन। सम्मत्तं सम्यक्त्वं—प्र० ए०। तेषां—षष्ठी बहु०। अधिगमो अधिगमः—प्रथमा एक०। णाणं ज्ञानं—प्र० ए०। रायादीपरिहरणं रागादिपरिहरणं—प्र० ए०। चरणं चरणं—प्र० एक०। एसो एषः—प्र० ए०। दु तु—अव्यय। मोक्खपहो मोक्षपथः—प्रथमा एकवचन ।।155।।

होना सम्यग्दर्शन है। 8—जीवादिक पदार्थों का संषय, विपर्यय अनध्यवसाय से रहित यथार्थ ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है। 9—जीवादिक नाना पदार्थों का 'जुद्धात्मतत्त्व से भिन्न रूपमें निष्चय होना सम्यग्ज्ञान है। 10—जीवादि ज्ञानस्वभाव से ज्ञान का परिणमना सम्यग्ज्ञान है। 11—जीवादिपदार्थ विषयक रागादिका परिहार होना सम्यक्चारित्र है। 12—जीवादिक नाना पदार्थों को 'जुद्धात्मा से भिन्न रूपमें निष्चय करके रागादिविकल्परहितरूप रूपसे निजषुद्धात्मा में अवस्थान होना सम्यक्चारित्र है। 13—रागादिपरिहरणस्वभावसे ज्ञानका होना सम्यक्चारित्र है।

सिद्धान्त—1—जीवादिक पदार्थों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है यह उपचार कथन है। 2—जीवादिश्रद्धान स्वभावसे ज्ञानका (ज्ञानमय आत्माका) परिणमना सम्यग्दर्शन है यह निष्चयकथन है। 3—जीवादिक पदार्थों का ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है, यह उपचार कथन है। 4—ज्ञानका जीवादि ज्ञानस्वभाव से परिणमना सम्यग्ज्ञान है यह निष्चयकथन है। 5—बाह्य पदार्थों का राग छोड़ना, षट्काय के जीवों की रक्षा करना आदि उपचार कथन है। 6—रागादिपरिहरणस्वभावसे ज्ञानका परिणमना सम्यक्चारित्र है, यह निष्चयकथन है।

दृष्टि—1—अपरिपूर्ण उपचरित स्वभावव्यवहार (105अ)। 2—षुद्धनिष्चयनय (46)। 3—अपरिपूर्ण उपचरित स्वभावव्यवहार (105अ)। 4—षुद्धनिष्चयनय (46)। 5—अपरिपूर्ण उपचरित स्वभावव्यवहार (105अ)। 6—षुद्धनिष्चयनय (46)।

प्रयोग—सर्वत्र ज्ञानभाव को ही मोक्षहेतु जानकर विषुद्ध ज्ञानात्मक स्वमें ही रत हो कर अपने को सकलसंकट रहित करने का पौरुष करना ।।155।।

अब परमार्थरूप मोक्ष के कारण से भिन्न कर्म का निषेध करते हैं—[विद्वांसः] पंडित जन [निश्चयार्थ] निष्चयनयके विषय को [मुक्त्वा] छोड़कर [व्यवहारे] व्यवहारमें [न प्रवर्तन्ते] प्रवृत्ति नहीं करते हैं [तु] क्योंकि [परमार्थ] परमार्थभूत—आत्मस्वरूपका [आश्रितानां] आश्रय करने वाले [यतीनां] यतीष्वरों के ही [कर्मक्षयः] कर्म का नाश [विहितः] कहा गया है।

अथ परमार्थमोक्षहेतोरन्यत् कर्म प्रतिशोधयति—

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारे ण विदुसा पवट्ठंति ।

परमट्टमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ ।।156।।

परमार्थ छोड़ करके, ज्ञानी व्यवहारमें नहीं लगते ।

क्योंकि परमार्थदर्शी, मुनिके क्षय कर्मका होता ।।156।।

मुक्त्वा निष्चयार्थ व्यवहारे न विद्वांसः प्रवर्तते । परमाथमाश्रितानां तु यतीनां कर्मक्षयो विहितः ।।156।।

यः खलु परमार्थमोक्षहेतोरतिरिक्तो व्रततपः प्रभृतिषुभकर्मात्मा केषांचिन्मोक्षहेतुः स सर्वोऽपि प्रतिषिद्धस्तस्य द्रव्यान्तरस्वभावत्वात् तत्स्वभावेन ज्ञानभवनस्याभवनात् । परमार्थमोक्ष

प्राकृतशब्द—णिच्छट्ट, ववहार, विदुस, परमट्ट, अस्सिद, दु, जदि, कम्मक्खय, विहिअ। **प्राकृतधातु**—मुंच त्यागे, प—वत्त वर्तने। **प्रकृतिशब्द**—निष्चयार्थ, व्यवहार, न, विद्वस्, परमार्थ, आश्रित, तु, यति, कर्मक्षय, विहित। **मूलधातु**—मृच्छ् मोक्षणे तुदादि, विद ज्ञाने, प्र—वृत्तु वर्तने भ्वादि, श्रिञ् सेवायां भ्वादि, क्षि क्षये

तात्पर्य—व्यवहार क्रिया में ही प्रवृत्ति रखने से मोक्ष नहीं होता, किन्तु परमार्थ सहज ज्ञानमय अन्तस्तत्त्व के आश्रयसे ही मोक्ष होता है, तप व्रत आदि तो अशुभ से बचाकर 'जुद्धता के लिये अवसर देने वाले हैं।

टीकार्थ—परमार्थभूत मोक्ष के कारणसे रहित और व्रत तप आदिक 'जुभकर्मस्वरूप ही किन्हीं के मतमें मोक्षका हेतु है सो वह सभी निषिद्ध किया गया है, क्योंकि व्रत तप आदि अन्यद्रव्यस्वभाव है, उस स्वभाव से ज्ञान का परिणमन नहीं होता तथा परमार्थभूत मोक्षका कारण एक द्रव्यस्वभावरूप होने के कारण स्वभाव से ही ज्ञान का परिणमन होता है।

भावार्थ—मोक्ष आत्मा को होता है सो उसका कारण भी आत्मा का स्वभाव ही होना चाहिए। जो अन्य द्रव्य का स्वभाव है उससे आत्मा को मोक्ष कैसे होगा? इसलिए 'जुभ कर्म पुद्गलद्रव्यका स्वभाव है वह आत्मा के मोक्ष का कारण नहीं है। ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, वही आत्मा के परमार्थभूत मोक्ष का कारण है।

अब इस अर्थ के कलष रूप दो 'लोक कहते हैं—**वृत्तं** इत्यादि। **अर्थ**—ज्ञानस्वभाव से बर्तना ही ज्ञान का होना है और वही मोक्ष का कारण है क्योंकि ज्ञान ही एक आत्मद्रव्यस्वभाव है। **वृत्तं** इत्यादि—कर्मस्वभावसे बर्तना ज्ञान का होना नहीं है, वह (कर्मका बर्तना) मोक्ष का कारण नहीं है क्योंकि कर्म अन्यद्रव्यस्वभाव है। **भावार्थ**—मोक्ष आत्मा को होता है इसलिए आत्मा का स्वभाव ही मोक्ष का कारण हो सकता है और चूँकि ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, अतः वही मोक्ष का कारण है। तथा कर्म अन्य (पुद्गल) द्रव्य का स्वभाव है इस लिए वह आत्मा के मोक्ष का कारण नहीं होता, यह युक्ति आगम और अनुभवसे सिद्ध है।

मोक्षहेतु इत्यादि—चूँकि कर्मसे मोक्षहेतु का तिरोधान होता है, कर्म स्वयं बधस्वरूप है, तथा कर्म मोक्ष के कारणों का आच्छादक है, अतः इन तीन हेतुओं से मोक्षमार्गमें कर्मका निषेध किया गया है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में परमार्थमोक्षहेतु बताया गया था। अब परमार्थ मोक्षहेतु के अतिरिक्त जो भी कर्म है उसका निषेध इस गाथा में किया गया है।

तथ्यप्रकाश—1—ज्ञान का ज्ञानरूप रहना ही मोक्ष का हेतु है। 2—परमार्थमोक्षहेतुके सिवाय जितने भी व्रत तप आदि कर्म हैं वे अन्य द्रव्य का स्वभाव होनेसे मोक्षहेतु नहीं हैं, क्योंकि कर्मक्रियाओं के स्वभावसे ज्ञानका होना नहीं होता। 3—निष्चयरत्नत्रयात्मक ज्ञानभाव एक निज आत्मद्रव्य का स्वभाव होनेसे मोक्षहेतु है, क्योंकि आत्मस्वभावसे ज्ञानका होना होता है।

हेतोरैवैकद्रव्यस्वभावत्वात् तत्स्वभावेन ज्ञानभवनस्य भवनात् । वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा । एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ।।106।। वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि ।

द्रव्यांतरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ॥107॥ मोक्षहेतुतिरोधानाद्बन्धत्वात्स्वयमेव च ।
मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्तन्निषिध्यते ॥108॥ ॥156॥

भ्वादि, वि-हि गतौ वृद्धौ च भ्वादि। **पदविवरण**—मोक्षोपयोग मुक्त्वा-असमाप्ति की क्रिया। निष्कृतं
निष्कृत्यार्थ-द्वितीया एक०। व्यवहारे व्यवहारे-सप्तमी एक०। ण न-अव्यय। विदुसा विद्वांसः-प्रथमा बहु०।
पवट्ठंति प्रवर्तन्ते-वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु०। परमट्ठं परमार्थ-द्वि० एक०। अस्सिदाण
आश्रितानां-षष्ठी बहु०। दु तु-अव्यय। जदीण यतीनां-षष्ठी बहु०। कम्मक्खओ कर्मक्षयः-प्रथमा ए०।
विहिओ विहितः-प्रथमा एकवचन कृदन्त ॥156॥

सिद्धान्त—1-परमार्थका आश्रय करने वाले यतियों को मोक्ष होता है। 2-षुद्धोपयोगसे
पूर्व होने वाले 'भोपयोग के आश्रयभूतके प्रति योग उपयोग करना उपचार से धर्म है।

दृष्टि—1-उपादानदृष्टि (49बद्ध। 2-अतिसामीप्ये तत्त्वोपचारक व्यवहार (147)।

प्रयोग—व्यवहारधर्मप्रवर्तनसे अषुभोपयोगका निवारण कर परमार्थबोधका अभ्यास करके
व्यवहारप्रवर्तन को छोड़कर परमार्थ ज्ञानस्वभावका आश्रय करने का पौरुष करना ॥156॥

अब मोक्ष के कारणभूत दर्शन, ज्ञान और चारित्रका आच्छादक कर्म है यह बताते
हैं—[यथा] जैसे [वस्त्रस्य] वस्त्रका [‘वेतभावः] ‘वेतपना [मलमेलनासक्तः] मलके मिलनेसे
लिप्त होता हुआ [नश्यति] नष्ट हो जाता है [तथा] उसी भांति [मिथ्यात्वमलावच्छन्नं]
मिथ्यात्वमलसे व्याप्त हुआ [सम्यक्त्वं] आत्मा का सम्यक्त्वगुण [खलु] निष्कृत्यसे [ज्ञातव्यं]
आच्छादित हो रहा है ऐसा जानना चाहिए। [यथा] जैसे [वस्त्रस्य ‘वेतभावः] वस्त्र का
‘वेतपना [मलमेलनासक्तः] मलके मेलसे लिप्त होता हुआ [नश्यति] नष्ट हो जाता है
[तथा] उसी प्रकार [अज्ञानमलावच्छन्नं] अज्ञानमल से व्याप्त हुआ [ज्ञानं] आत्मा का ज्ञान
भाव [भवति ज्ञातव्यं] आच्छादित होता है ऐसा जानना चाहिये तथा [यथा] जैसे [वस्त्रस्य
‘वेतभावः] कपड़े का ‘वेतपना [मलमेलनासक्तः] मल के मिलने से व्याप्त होता हुआ
[नश्यति] नष्ट हो जाता है [तथा] उसी तरह [कषायमलावच्छन्नं] कषायमलसे व्याप्त हुआ
[चारित्रं अपि] आत्मा का चारित्र भाव भी आच्छादित हो जाता है ऐसा [ज्ञातव्यं] जानना
चाहिये।

तात्पर्य—कर्मद्वारा रत्नत्रय तिरोहित होता है अतः कर्मका प्रतिषेध करना बताया है।

टीकार्थ—ज्ञानका सम्यक्त्व मोक्षका कारणरूप स्वभाव है, किन्तु वह परभावस्वरूप
मिथ्यात्वकर्ममैलसे व्याप्त होने के कारण तिरोभूत हो जाता है जैसे कि परभावभूत मैल से
व्याप्त सफेद वस्त्र का स्वभावभूत ‘वेत स्वभाव तिरोभूत हो जाता है। ज्ञान का ज्ञान मोक्ष
का कारणरूप स्वभाव है, वह परभावरूप अज्ञान नामक कर्मरूपी मलसे व्याप्त होनेसे
तिरोहित किया जाता है, जैसे परभावरूप मैल (रंग) से व्याप्त हुआ ‘वेत वस्त्रका स्वभावभूत
सफेदपन तिरोहित किया जाता है। ज्ञानका चारित्र भी मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है, वह
परभावस्वरूप कषायनामक कर्मरूपी मैलसे व्याप्त होनेसे तिरोहित किया जाता है, जैसे
परभावस्वरूप मैल (रंग) से व्याप्त हुआ सफेद कपड़े का स्वभावभूत सफेदपन तिरोहित किया
अथ कर्मणो मोक्षहेतुतिरोधानाकरणं साधयति—

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो ।
 मिच्छत्तमलोच्छण्णं तह सम्मत्तं खु णायव्वं ।।157।।
 वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो ।
 अण्णाणमलोच्छण्णं तह णाणं होदि णायव्वं ।।158।।
 वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो ।
 कसायमलोच्छण्णं तह चारित्तं पि णादव्वं ।।159।। (त्रिकलम)
 ज्यौं वस्त्र 'वेतरूपक, मलमेलन लिप्त होय ढक जाता ।
 त्यों यह सम्यक्त्व यहां, मिथ्यात्वमलसे ढक जाता ।।157।।
 ज्यौं वस्त्र 'वेतरूपक, मलमेलनलिप्त होय ढक जाता ।
 त्यों जानो ज्ञान यहां, अज्ञानमलसे ढक जाता ।।158।।
 ज्यौं वस्त्र 'वेतरूपक, मलमेलनलिप्त होय ढक जाता ।
 त्यों जानो चारित यह, कषायमलसे हि ढक जाता ।।159।।

वस्त्रस्य 'वेतभावो यथा नष्यति मलमेलनासक्तः । मिथ्यात्वमलावच्छन्नं तथा सम्यक्त्वं खलु ज्ञातव्यं ।
 वस्त्रस्य 'वेतभावो यथा नष्यति मलमेलनासक्तः । अज्ञानमलावच्छन्नं तथा ज्ञानं भवति ज्ञातव्यं ।
 वस्त्रस्य 'वेतभावो यथा नष्यति मलमेलनासक्तः । कषायमलावच्छन्नं तथा चारित्रमपि ज्ञातव्यं ।

ज्ञानस्य सम्यक्त्वं मोक्षहेतुः स्वभावः, परभावेन मिथ्यात्वनाम्ना कर्ममलेनावच्छन्नत्वात्
 तिरोधीयते परभावभूतमलावच्छन्नत्वेतवस्त्रस्वभावभूतत्वेतस्वभाववत् । ज्ञानस्य ज्ञानं मोक्षहेतुः

प्राकृतशब्द—वत्थ, सेदभाव, जह, मलमेलणासत्त, मिच्छत्तमलोच्छण्ण, तह, सम्मत्त, खु, वत्थ, सेदभाव, जह, मलमेलणासत्त, अण्णाणमलोच्छण्ण, तह, णाण, णायव्व, वत्थ, सेदभाव, जह, मलमेलणासत्त, कसायमलोच्छण्ण, तह, चारित्त, वि, णादव्व । **प्राकृतधातु**—नस्स नाषे, छाद संवरणे, जाण अवबोधने, हो सत्तायां, नस्स नाषे, कस तनूकरणे । **प्रकृतिशब्द**—वस्त्र, 'वेतभाव, यथा, मलमेलनासक्त, मिथ्यात्व—मलावच्छन्न, तथा, सम्यक्त्व, खलु, ज्ञातव्य, वस्त्र, 'वेतभाव, यथा, मलमेलनासक्त, अज्ञानमलावच्छन्न, तथा, ज्ञान, ज्ञातव्य, वस्त्र, 'वेतभाव, यथा, मलमेलनासक्त, कषायमलावच्छन्न, चारित्र, अपि, ज्ञातव्य ।

जाता है । इस कारण मोक्ष के कारणरूप सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र का तिरोधान करने से कर्म का निषेध किया गया है ।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप ज्ञान के परिणमनस्वरूप मोक्षमार्गके प्रतिबंधक मिथ्यात्व अज्ञान कषायरूपी कर्म हैं । इसलिये कर्मका निषेध आगम में बताया गया है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में परमार्थमोक्षहेतुके अतिरिक्त अन्य कर्म के मोक्ष हेतुत्व का प्रतिषेध किया था । अब प्रतिषेध्य उन्हीं कर्मों की मोक्ष हेतुतिरोधायिता इस गाथा में प्रसिद्ध की है ।

तथ्यप्रकाश—1—समस्त कर्म रत्नत्रयस्वरूप मोक्षहेतुका तिरोधान करते हैं, अतः कर्म प्रतिषेध्य हैं । 2—ज्ञानका सम्यक्त्व स्वभाव (सम्यक्पना) मोक्ष का हेतु है वह मिथ्यात्व कर्ममल परभावसे तिरोहित है । 3—ज्ञानका ज्ञानस्वभाव मोक्ष का हेतु है वह अज्ञान (ज्ञानावरण) नामक कर्ममल परभावसे तिरोहित है । 4—ज्ञान का चारित्रस्वभाव मोक्ष का हेतु है वह कषाय कर्ममल परभावसे तिरोहित है । 5—ये पौद्गलिक कर्म निमित्तरूपसे मोक्षहेतु के बाधक हैं और इन कर्मों के निमित्तभूत व नैमित्तिकभूत 'ुभाषुभ कर्म निज में मोक्षहेतु के बाधक हैं । 6—षुद्धोपयोग से पूर्व होने वाले 'ुभोपयोग के साधनभूत कर्म मोक्षहेतु के परम्परया साधक हैं, साक्षात् बाधक हैं ।

सिद्धान्त—(1) पौद्गलिक कर्मविपाक मोक्षहेतुका निमित्तरूपसे बाधक है। (2) 'गुभाषुभभाव मोक्षहेतु का उपादानतया बाधक है। स्वभावः, परभावेनाज्ञाननाम्ना कर्ममलेनावच्छन्नत्वात्तिरोधीयते परभावभूतमलावच्छन्नष्वेत-वस्त्रस्वभावभूतष्वेतस्वभाववत्। ज्ञानस्य चारित्रं मोक्षहेतुः स्वभावः, परभावेन कषायनाम्ना कर्ममलेनावच्छन्नत्वात्तिरोधीयते परभावभूतमलावच्छन्नष्वेतवस्त्रस्वभावभूतष्वेतस्वभाववत्। अतो मोक्षहेतुतिरोधानकरणात् कर्म प्रतिषिद्धं ॥157-159 ॥

मूलधातु—णस नाषे दिवादि, छद अपवारणे, मिल 'लेषण, मिल संगमे तुदादि, मल धारणे भ्वादि, कष हिंसार्थः। **पदविवरण—**वत्थस्स वस्त्रस्य-षष्ठी एक०। सेदभावो 'वेतभावः-प्रथमा एकवचन। जह यथा-अव्यय। णासेदि नष्यति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया। मलमेलणासत्तो मलमेलनासक्तः-प्र० ए०। मिच्छत्तमलोच्छणं मिथ्यात्वमलावच्छन्नं-प्र० ए०। तह तथा-अव्यय। सम्मत्तं सम्यक्त्वं-प्र० ए०। खु खलु-अव्यय। णायव्वं ज्ञातव्वं-प्र० एक० कृदन्त। वत्थस्स वस्त्रस्य-षष्ठी एक०। सेदभावो 'वेतभावः-प्र० ए०। जह यथा-अव्यय। णासेदि नष्यति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन। मलमेलणासत्तो मलमेलनासक्तः-प्रथमा एकवचन। अण्णाणमलोच्छणं अज्ञानमलावच्छन्नं-प्र० ए०। तह तथा-अव्यय। णाणं ज्ञानं-प्र० ए०। होदि भवति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। णायव्वं ज्ञातव्वं-प्रथमा एकवचन कृदन्त। वत्थस्स वस्त्रस्य-षष्ठी एक०। सेदभावो 'वेतभावः-प्रथमा एक०। जह यथा-अव्यय। णासेदि नष्यति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया। मलमेलणासत्तो मलमेलनासक्तः-प्रथमा एक०। कसायमलो-च्छणं कषायमलावच्छन्नः-प्रथमा एक०। तह तथा-अव्यय। चारित्तं चारित्रं-प्रथमा एक०। पि अपि-अव्यय। णादव्वं ज्ञातव्वं-प्रथमा एकवचन कृदन्त ॥157-159 ॥

दृष्टि—1-निमित्तदृष्टि (53अ)। 2-उपादानदृष्टि (49ब)।

प्रयोग—पुण्यपापकर्म को व पुण्यपापभावको अलक्षित करके अन्तःप्रकाशमान परमार्थ-मोक्षहेतुभूत ज्ञानस्वभावमें उपयुक्त होने का पौरुष करना ॥157-159 ॥

अब कर्म स्वयमेव बंध है, यह सिद्ध करते हैं;—[सः] वह आत्मा स्वभावतः [सर्वज्ञानदर्शी] सबका जानने देखने वाला है तो भी [निजेन कर्मरजसा] अपने कर्मरूपी रजसे [अवच्छन्नः] आच्छादित हुआ [संसारसमापन्नः] संसार को प्राप्त होता हुआ [सर्वतः] सब प्रकार से [सर्व] सब वस्तुको [न विजानाति] नहीं जानता।

तात्पर्य—ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव होने पर भी संसारस्थ प्राणी कर्माच्छादित होने से सर्वज्ञाता नहीं हो पाता।

टीकार्थ—जिस कारण स्वयमेव ज्ञानरूप होने से सब पदार्थों को सामान्य विषेषता से जानने के स्वभाव वाला होने पर भी ज्ञान अनादिकाल से अपने पुरुषापराधसे प्रवर्तमान कर्मरूप मलसे आच्छादितपना होने के कारण परभावबन्धरूप बंधावस्था में सब प्रकार के सब ज्ञेयाकाररूप अपने स्वरूपको नहीं जानता हुआ अज्ञानभावसे ही यह आप स्थित है। इस कारण निश्चय हुआ कि कर्म स्वयं ही बंधस्वरूप है। इसीलिये स्वयं बंधरूप होनेसे कर्मका प्रतिषेध किया गया है। **भावार्थ—**यहाँ ज्ञान 'ब्दसे आत्मा का ही ग्रहण किया गया है। सो यह ज्ञानस्वभावसे तो सबको देखने और जानने वाला है, परन्तु अनादि से आप अपराधी है, इसलिये बाँधे हुए कर्मों से आच्छादित है। अतः अपने सम्पूर्ण रूपको नहीं जानता हुआ, अज्ञानरूप हुआ आप स्थित है, सो आप तो अपने अज्ञानभावरूप परिणमन करता है और तब कर्म स्वयमेव बन्धरूप हो जाते हैं, इसीलिए कर्मका प्रतिषेध करना बताया है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथात्रिक में यह बताया गया था कि 'गुभकर्म मोक्षहेतुका तिरोधान करते हैं। अब इस गाथा में बताया है कि कर्म स्वयं जीवको बन्धन है।

तथ्यप्रकाश—(1) यह ज्ञान (आत्मा) ज्ञानस्वरूप होनेसे स्वयं ही सर्वज्ञता व सर्वदर्षिता के स्वभाव वाला है। (2) यह जीव अनादिकालसे स्वपुरुषापराधसे चले आये कर्ममल से आक्रान्त होनेसे इस संसारदषामें अज्ञानभावके कारण सबको नहीं जान सकता

है। (3) अज्ञानरूप 'बुभाषुभकर्म जीवको स्वयं ही बन्धन हैं। (4) 'बुभाषुभ कर्म स्वयं बन्धरूप होनेसे प्रतिषेध्य हैं।

अथ कर्मणः स्वयं बंधत्वं साधयति—

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरण णियेणवच्छण्णो ।

संसारसमावण्णो ण विजाणदि सव्वदो सव्वं ॥160 ॥

यह सर्वज्ञानदर्शी तो भि निज कर्मरजसे आच्छादित ।

संसार में भटक कर, यह सबको जान नहीं सकता ॥160 ॥

स सर्वज्ञानदर्शी कर्मरजसा निजेनावच्छन्नः । संसारसमापन्नो न विजानाति सर्वतः सर्वम् ॥160 ॥

यतः स्वयमेव ज्ञानतया विष्वसामान्यविषेषज्ञानशीलमपि ज्ञानमनादिस्वपुरुषापराधप्रव-
र्तमानकर्ममलावच्छन्नत्वादेव बंधावस्थायां सर्वतः सर्वमप्यात्मानमविजानदज्ञानभावेनैवेदमेवमव-
तिष्ठते । ततो नियतं स्वयमेव कर्मैव बंधः अतः स्वयं बंधत्वात्कर्म प्रतिषिद्धं ॥160 ॥

नामसंज्ञ—त, सव्वणाणदरिसि, कम्मरण, णिय, अवच्छण्ण, संसारसमावण्ण, ण, सव्वदो, सव्व ।
धातुसंज्ञ—दरिसि दर्षनायां, अव-च्छण हिंसायां, जाण अवबोधने । **प्रातिपदिक**—तत्, सर्वज्ञानदर्षिन्,
कर्मरजस्, निज, अवच्छन्न, संसारसमापन्न, न, सर्वतः, सर्व । **मूलधातु**—दृषिर् प्रेक्षणे, छद अपवारणे संवरणे
भ्वादि चुरादि, वि-ज्ञा अवबोधने । **पदविवरण**—सो सः—प्रथमा ए० । सव्वणाणदरिसी सर्वज्ञानदर्शी कम्म-
रणेण कर्मरजसा—तृतीया एक० । णियेण निजेन—तृ० एक० । अवच्छण्णो अवच्छन्नः—प्रथमा एक० । संसार-
समावण्णो संसारसमापन्नः—प्रथमा एक० । ण न—अव्यय । विजाणदि विजानाति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष
एकवचन क्रिया । सव्व दो सर्वतः—अव्यय पंचम्यर्थे । सव्वं सर्वं—द्वितीया एक० ॥160 ॥

सिद्धान्त—(1) आत्मा स्वयं सहज परमज्ञानविकास स्वभाव वाला है। (2) पौद्गलिक
कर्मविपाकोदयसे यह जीव संसारसमापन्न है। (3) अपने अज्ञानापराधसे यह जीव कलुषित व
विकल्पसंकटापन्न है।

दृष्टि—1—परमषुद्धनिष्चयनय (44) । 2—उपाधिसापेक्ष अषुद्धद्रव्यार्थिकनय (53) ।
3—अषुद्धनिष्चयनय (47) ।

प्रयोग—बुभाषुभभावों को साक्षात् परमार्थदृष्टि का बाधक जानकर उनसे उपेक्षा करके
अबाधस्वभाव 'गाष्वत अन्तः प्रकाशमान ज्ञानस्वरूपके अभिमुख रहने का पौरुष करना ॥160 ॥

अब कर्मका मोक्षहेतुतिरोधायीपना दिखलाते हैं—[सम्यक्त्वप्रतिनिबद्धं] सम्यक्त्व को
रोकने वाला [मिथ्यात्वं] मिथ्यात्व है ऐसा [जिनवरैः] जिनवरदेवों ने [परिकथितं] कहा है
[तस्योदयेन] उसके उदयसे [जीवः] यह जीव [मिथ्यादृष्टिः] मिथ्यादृष्टि हो जाता है
[इतिज्ञातव्यः] ऐसा जानना चाहिये। [ज्ञानस्य प्रतिनिबद्धं] ज्ञानको रोकने वाला [अज्ञानं]
अज्ञान है ऐसा [जिनवरैः परिकथितं] जिनवर देवों ने कहा है [तस्योदयेन] उसके उदयसे
[जीवः] यह जीव [अज्ञानी] अज्ञानी [भवति] होता है ऐसा [ज्ञातव्यः] जानना चाहिए।
[चारित्रप्रतिनिबद्धः] चारित्रको रोकने वाला [कषायः] कषाय है ऐसा [जिनवरैः] जिनेन्द्रदेवों
ने [परिकथितः] कहा है [तस्य उदयेन] उसके उदयसे [जीवः] यह जीव [अचारित्रः]
अचारित्री [भवति] हो जाता है ऐसा [ज्ञातव्यः] जानना चाहिये।

तात्पर्य—मिथ्यात्व अज्ञान व कषायके उदयसे जीव मिथ्यादृष्टि अज्ञानी व अचारित्री
हो जाता है।

टीकार्थ—सम्यक्त्व जोकि मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है उसको रोकने वाला अज्ञान
है, वह स्वयं कर्म ही है, उसके उदयसे ज्ञानके अज्ञानपना है; और चारित्र जो कि मोक्ष का
कारणरूप स्वभाव है उसका प्रतिबंधक कषाय है, वह स्वयं कर्म ही है, उसके उदयसे ही
ज्ञान के अचारित्रपना है। इस कारण कर्ममें स्वयमेव मोक्षके कारणभूत सम्यग्दर्शन ज्ञान
चारित्र का तिरोधायिपना होनेसे कर्मका प्रतिषेध किया गया है। **भावार्थ**—मोक्षके कारणरूप

स्वभाव हैं सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र। इन तीनों के प्रतिपक्षी कर्म मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय ये तीर हैं इसलिये वे इन तीनों को प्रकट नहीं होने देते, इस कारण कर्मका प्रतिषेध किया अथ कर्मणो मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वं दर्शयति—

सम्मत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरहि परिकहियं ।

तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठति णायव्वो ॥161॥

णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरहि परिकहियं ।

तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वो ॥162॥

चारित्तपडिणिबद्धं कसायं जिणवरहि परिकहियं ।

तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णायव्वो ॥163॥ (त्रिकलम्)

सम्यक्त्व का विरोधक, जिनवरने मिथ्यात्वको बताया ।

उसके उदयसे आत्मा, मिथ्यादृष्टी कहा जाता ॥161॥

ज्ञानका प्रतिनिबन्धक, मुनीश अज्ञानको बताते हैं ।

उसके उदयसे आत्मा, अज्ञानी वर्तता जानो ॥162॥

चारित्रका विरोधक, मुनीन्द्रने है कशाय बतलाया ।

इसके उदयसे आत्मा, हो जाता है अचारित्री ॥163॥

सम्यक्त्वप्रतिनिबद्धं मिथ्यात्वं जिनवरैः परिकथितं । तस्योदयेन जीवो मिथ्यादृष्टिरिति ज्ञातव्यः ॥161॥

ज्ञानस्य प्रतिनिबद्धं अज्ञानं जिनवरैः परिकथितं । तस्योदयेन जीवोऽज्ञानी भवति ज्ञातव्यः ॥162॥

चरित्रप्रतिनिबद्धः कषायो जिनवरैः परिकथितः । तस्योदयेन जीवोऽचारित्रो भवति ज्ञातव्यः ॥163॥

सम्यक्त्वस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिबंधकं किल मिथ्यात्वं, तत्तु स्वयं कर्मैव तदु-
दयादेव ज्ञानस्य मिथ्यादृष्टित्वं । ज्ञानस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिबंधकं किलाज्ञानं, तत्तु स्वयं
कर्मैव तदुदयादेव ज्ञानस्याज्ञानत्वं । चारित्रस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिबंधकः किल कषायः, स
तु स्वयं कर्मैव तदुदयादेव ज्ञानस्याचारित्रत्वं । अतः स्वयं मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात् कर्म

नामसंज्ञ—सम्मत्तपडिणिबद्ध, मिच्छत्त, जिणवर, परिकहिय, तस्स, उदय, जीव, मिच्छादिट्ठ, इत्ति, णायव्व, णाण, पडिणिबद्ध, अण्णाण, जिणवर, परिकहिय, तस्स, उदय, जीव, अण्णाणि, णादव्व, चारित्त पडिणिबद्ध, कसाय, जिणवर, परिकहिय, तस्स, उदय, जीव, अचरित्त, णादव्व ।
धातुसंज्ञ—पडि-णि-बंध बंधेन,

गया है । अषुभ कर्म मोक्ष का हेतु तो क्या है बाधक ही है, परन्तु 'भुभकर्म भी बंधरूप ही है । इस कारण इसका भी कर्म सामान्य के प्रतिषेधके कथनमें प्रतिषेध ही जानना ।

अब इसी अर्थ का कलषरूप काव्य कहते हैं—**संन्यस्त** इत्यादि । **अर्थ**—मोक्षके चाहने वालों को यह समस्त कर्म ही त्यागने योग्य हैं । इस तरह समस्त ही कर्मके छोड़ने पर पुण्य व पाप की तो कथा ही क्या है (कर्म सामान्यमें दोनों ही आ जाते हैं) । यों समस्त कर्मों का त्याग होने पर ज्ञान, सम्यक्त्व आदिक अपने स्वभावरूप होनेसे मोक्ष का कारण हुआ कर्मरहित अवस्था से जिसका रस प्रतिबद्ध (उद्धत) है ऐसा अपने आप दौड़ आता है । **भावार्थ**—कर्मके दूर होने पर ज्ञान, स्वयं अपने मोक्षके कारणमय स्वभावरूप हुआ निर्बाध प्रगट होता है ।

प्रश्न—अविरत सम्यग्दृष्टि आदिके जब तक कर्म का उदय है, तब तक ज्ञान मोक्षका कारण कैसे हो सकता है तथा कर्म और ज्ञान दोनों एक साथ किस तरह रहते हैं? इसके समाधानमें काव्य कहते हैं—**यावत्** इत्यादि । **अर्थ**—जब तक कर्म उदयको प्राप्त है और ज्ञानके सम्यक् विरतिभाव नहीं है, तब तक कर्म और ज्ञान दोनों का समुच्चय (एकत्रीकरण) भी कहा गया है और तब तक भी इसमें कुछ क्षति नहीं । किन्तु, इस आत्मा में अवषपने जो कर्म प्रकट होता है वह तो बंध के ही लिये है और मोक्ष के लिये एक परम

ज्ञान ही निर्णीत है जो कि स्वतः विमुक्त है अर्थात् सदैव परद्रव्यभावों से भिन्न है। **भावार्थ**—जब तक सम्यग्दृष्टि के संज्वलनकषायका भी उदय है तब तक उसके ज्ञानधारा व कर्मधारा दोनों चलती हैं। कर्म तो अपना कार्य करता ही है और वहीं पर ज्ञान है, वह भी प्रतिषिद्धं। संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना, संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा। सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भवन्नैष्कर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति।।109।। यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा, कर्मज्ञानसमुच्च-योऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः। किंत्वत्रापि समुल्लसत्यवषतो यत्कर्म बंधाय तन्मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः।।110।। मग्नाः कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानन्ति ये, मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छंदमदोद्यमाः। विष्वस्योपरि ते तरन्ति सततं ज्ञानं भवंतः स्वयं, ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वषं यांति प्रमादस्य च।।111।। भेदोन्मादं भ्रमरसभरान्नाट—

परि—कह वाक्यप्रबन्धे, जाण अवबोधने, हो सत्तायां। **प्रातिपदिक**—सम्यक्त्वप्रतिनिबद्ध, मिथ्यात्व, जिनवर, परिकथित, तत्, जीव, मिथ्यादृष्टि, इति, ज्ञातव्य, ज्ञान, प्रतिनिबद्ध, अज्ञान, जिनवर, परिकथित तत्, उदय, जीव, अज्ञानिन्, ज्ञातव्य, चारित्रप्रतिनिबद्ध, कषाय, जिनवर, परिकथित, तत्, उदय, जीव, अचारित्र, ज्ञातव्य। **मूलधातु**—प्रति—नि—बन्ध बंधने, परि—कथ वाक्यप्रबन्धे, दृषिर् प्रेक्षणे, ज्ञा अवबोधने। **पदविवरण**—सम्मत्तपडिणिबद्धं सम्यक्त्वप्रतिनिबद्धं—प्रथमा एक०। मिच्छतं मिथ्यात्वं—प्रथमा ए०। जिनवरैः—तृतीया बहु०। परिकथियं परिकथितं—प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया। तस्स तस्य—षष्ठी एक०। उदयेण उदयेन—तृतीया एक०। जीवो जीवः—प्रथमा एकवचन। मिच्छादिटिठ मिथ्यादृष्टिः—प्रथमा एक०। इति—अव्यय। णायव्वो ज्ञातव्यः—प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया। णाणस्स ज्ञानस्य—षष्ठी एक०। पडिणिबद्धं प्रति—निबद्धं—प्रथमा एक० कृदन्त। अण्णाणं अज्ञानं—प्र० ए०। जिणवरेहि जिनवरैः—तृतीया बहु०। परिकथियं

अपना कार्य करता है। एक ही आत्मा में ज्ञान और कर्म दोनों के इकट्ठे रहने में भी विरोध नहीं आता। जैसे मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान का परस्पर विरोध है, उस प्रकार कर्म सामान्य के और ज्ञानके विरोध नहीं है।

अब कर्म और ज्ञान का नयविभाग दिखलाते हैं—**मग्नाः** इत्यादि। **अर्थ**—कर्मनयके अवलम्बन में तत्पर याने कर्मनयके पक्षपाती तो डूबे हुए हैं ही, क्योंकि वे ज्ञानको नहीं जानते हैं, पर जो परमार्थ ज्ञानको तो जानते नहीं और ज्ञाननयके पक्षपाती हैं, वे भी डूबे हुए हैं, क्योंकि वे आवष्यक क्रियाकांडको छोड़कर स्वच्छन्द हो मन्द उद्यमी हैं, किन्तु जो आप निरन्तर ज्ञानरूप हुए कर्मको तो करते नहीं तथा प्रमादके वष भी नहीं होते, स्वरूपमें उत्साहवान हैं, वे लोक के ऊपर तैरते हैं।

भावार्थ—यहां सर्वथा एकान्त अभिप्राय का निषेध किया गया है क्योंकि सर्वथा एकान्त का अभिप्राय होना ही मिथ्यात्व है। परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप आत्माको तो जानना नहीं और व्यवहार दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप क्रियाकांडके आडम्बरको ही मोक्षका कारण जान उसमें ही तत्पर रहना और उसीका पक्षपात करना है, सो कर्मनय है। कर्मनयके पक्षपाती, ज्ञानको तो जानते नहीं हैं और इस कर्मनयमें ही खेदखिन्न हैं वे संसार समुद्र में मग्न ही हैं। किन्तु जो परमार्थभूत आत्मस्वरूपको यथार्थ तो जानते नहीं और सर्वथा एकांतियों के उपदेशसे अथवा स्वयमेव कुछ अंतरंगमें ज्ञानका स्वरूप मिथ्या कल्पना करके उसमें पक्षपात करते हैं और व्यवहारदर्शन, ज्ञान और चारित्रके भक्ति कृतिकर्म आदि क्रियाकांडको निरर्थक जान छोड़ देने वाले स्वच्छन्द मनवाले ज्ञाननयके पक्षपाती हैं वे भी संसार समुद्र में मग्न हैं, क्योंकि आवष्यक क्रिया को छोड़ स्वेच्छाचारी रहते हैं और स्वरूपमें मंद उद्यमी रहते हैं। इस कारण जो पक्षपातका अभिप्राय छोड़कर निरंतर ज्ञानस्वरूपमें जब तक न रहा जाय तब तक अषुभकर्मको छोड़ स्वरूपके साधनरूप 'जुभ कर्मकांडमें प्रवर्तकर निरंतर ज्ञानरूप हुए कर्मकांडको छोड़ते हैं वे ही कर्म का नाश कर संसार से निवृत्त होते हैं।

अब पुण्यपापाधिकार को सम्पूर्ण करते हुए आचार्य ज्ञानकी महिमा बताते हैं—**भेदोन्मादं** इत्यादि। **अर्थ**—पी ली है मोहमदिरा जिसने ऐसे तथा भ्रमरसके भारसे 'गुभाषुभकर्मके भेदके उन्मादको नचाने (प्रकट करने) वाले उस सभी कर्मको अपने आत्मबल से मूलोन्मूल करके याने जड़से उखाड़ करके जिसने अज्ञानान्धकारको नष्ट कर दिया है, यत्पीतमोहं, मूलोन्मूलं सकलमपि तत्कर्म कृत्वा बलेन। हेलोन्मीलत्परमकलया सार्धमारब्धकेलि, ज्ञानज्योतिः कवलिततमः प्रोज्जजृम्भे भरेण ॥112॥ ॥161-163॥

इति पुण्यपापरूपेण द्विपात्रीभूतमेकपात्रीभूय कर्म निष्क्रांतम्।

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ

पुण्यपापप्ररूपकः तृतीयोऽकः ॥3॥

परिकथितं—प्र० ए०। तस्स तस्य—षष्ठी एक०। उदयेण उदयेन—तृतीया एक०। जीवो जीवः—प्र० एक०। अण्णाणी अज्ञानी—प्रथमा एक०। होदि भवति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया। गायव्यो ज्ञातव्यः—प्र० ए० कृदन्त क्रिया। चारित्तपडिणिबद्धं चारित्रप्रतिनिबद्धं—प्र० ए०। कसायं कषायः—प्र० ए०। जिणवरेहि जिनवरैः—तृतीसर बहु०। परिकहियं परिकथितं—प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया। तस्स तस्य—षष्ठी एक०। उदयेण उदयेन—तृतीया एक०। जीवो जीवः—प्रथमा एक०। अचरित्तो अचरित्रः—प्रथमा एक०। होदि भवति—वर्तमान अन्य० एक० क्रिया। गायव्यो ज्ञातव्यः—प्रथमा एकवचन कृदन्त क्रिया ॥161-163॥
--

लीलामात्रसे विकसित परमकला (केवलज्ञान) के साथ क्रोडा आरम्भ की है, ऐसी यह ज्ञानज्योति अब वेगपूर्वक प्रकट होती है।

भावार्थ—ज्ञानज्योतिके प्रतिबंधक कर्मको जो कि 'गुभ अषुभ भेदरूप होकर नाच रहा था और ज्ञानको भुला देता था उस कर्मको भेदविज्ञानमयी व अभेदअन्तस्तत्त्वस्पर्षी अपनी 'विक्रि से नष्ट करके आप अपने सम्पूर्ण रूप साहित यह ज्ञानज्योति प्रकट हुई याने यथार्थ ज्ञानके उपयोग में अब दो भेष नहीं रहे। क्योंकि कर्म सामान्य रूपसे एक ही है उसने 'गुभ-अषुभ दो भेदरूप स्वांग बनाकर रंगभूमि में प्रवेश किया था। जब उसे ज्ञानने यथार्थ एकरूप जान लिया त बवह कर्म रंगभूमिसे निकल गया। उसके बाद ज्ञान अपनी 'विक्रि से यथार्थ प्रकाषरूप हुआ। इस प्रकार कर्म नृत्य के अखाड़े में पुण्य-पापरूप दो भेष में बनकर नाचता था, उसे ज्ञानने जब यथार्थ जान लिया कि कर्म एकरूप ही है, तब कर्म एकरूप होकर निकल गया।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में कर्मको स्वयं बन्धस्वरूप बताया गया था। अब उसके समर्थन में दिखाया गया है कि कर्म मोक्षहेतुका तिरोधायी है।

तथ्यप्रकाश—(1) सम्यक्त्व स्वभावका प्रतिबंधक मिथ्यात्वकर्म है, उसके उदयका निमित्त पाकर ही ज्ञानके (आत्माके) मिथ्यादृष्टित्व होता है। (2) ज्ञानस्वभावका प्रतिबंधक अज्ञान (ज्ञानावरण) है उसके उदय से ही ज्ञान के अज्ञानपना होता है। (3) चारित्रस्वभावका प्रतिबंधक कषायकर्म है, उसके उदयसे ही ज्ञानके अचारित्रता होती है। (4) 'गुभाषुभ कर्म मोक्षहेतु के प्रतिबंधक हैं।

सिद्धान्त—(1) मिथ्यात्वकर्म के उदयसे जीवके मिथ्यात्व होता है। (2) ज्ञानावरण के उदयसे जीवके अज्ञान होता है। (3) कषायप्रकृतियों के उदयसे जीवके अचारित्र होता है।

दृष्टि—1, 2, 3—उपाधिसापेक्ष अषुद्धद्रव्यार्थिकनय (53)।

प्रयोग—निमित्तभूत व नैमित्तिकभूत 'गुभाषुभभावों को अलक्षित कर परमार्थ ज्ञानमात्र भावमें उपयुक्त होने का पौरुष करना ॥161-163॥

अथ आस्रवाधिकारः

अथ प्रविशत्यास्रवः ।

अथ महामदनिर्भरमंथरं समररंगपरागतमास्रवं ।

अयमुदारगभीरमहोदयो जयति दुर्जयबोधधनुर्धरः ॥113॥

नामसंज्ञ—मिच्छत्, अविरमण, कसायजोग, य, सण्णसण्ण, दु, बहुविहभेय, जीव, तस्स, एव, अण्णपरिणाम, णाणावरणादीय, त, दु, कम्म, कारण, त, पि, जीवो, य, रागदोषादिभावकर । **धातुसंज्ञ**—अवि—रम क्रीडायां, कस तनूकरणे, जोय योजनायां, हो सत्तायां । **प्रातिपदिक**—मिथ्यात्व, अविरमण,

अब आस्रव प्रवेश करता है। सो यहाँ इस स्वांग को यथार्थ जानने वाले सम्यग्ज्ञान की महिमारूप मंगल करते हैं—**अथ** इत्यादि । **अर्थ**—अब समररंगमें आये हुए महामदसे भरे हुए मदोन्मत्त आस्रवको यह उदार गंभीर महाउदय वाला दुर्जय ज्ञान धनुर्धर जीतता है । **भावार्थ**—यहां नृत्य के मंचपर सब जगतको जीतकर मत्त हुए आस्रवने प्रवेश किया है। उसकी पराजय का वर्णन यहां वीररस की प्रधानता से किया है कि दुर्जय बोधरूपधनुषधारी ज्ञान आस्रवको जीतता है। अर्थात् अन्तर्मुहूर्त में कर्मका नाश करके यह ज्ञानस्वरूप आत्मा केवलज्ञान उत्पन्न कर लेता है। ऐसी ज्ञानकी सामर्थ्य व महिमा है।

अब आस्रवका स्वरूप कहते हैं:—**[मिथ्यात्वं अविरमणं]** मिथ्यात्व, अविरति **[च कशाययोगौ]** और कषाय योग **[संज्ञासंज्ञाः तु]** ये चार आस्रव संज्ञ व असंज्ञ हैं याने चेतना के विकाररूप और जड़-पुद्गल के विकाररूप ऐसे भिन्न-भिन्न हैं। उनमें से **[जीवे]** जीवमें प्रकट हुए **[बहुविधभेदाः]** बहुत भेद वाले संज्ञ आस्रव हैं वे **[तस्यैव अनन्यपरिणामाः]** उस जीवके ही अभेदरूप परिणाम हैं **[तु ते]** परन्तु असंज्ञ आस्रव **[ज्ञानावरणाद्यस्य]** ज्ञानावरण आदि **[कर्मणः]** कर्मके बंधने के **[कारणं]** कारण **[भवति]** हैं **[च]** और **[तेशामपि]** उन असंज्ञ आस्रवों का भी याने असंज्ञ आस्रवों के नवीन कर्मबंधका निमित्तपना होनेका कारण अर्थात् निमित्त भी **[रागद्वेषादिभावकरः]** रागद्वेष आदि भावों का करने वाला **[जीवः]** जीव **[भवति]** होता है।

तात्पर्य—कर्मबन्ध के निमित्तभूत उदयागत असंज्ञ आस्रव की इस निमित्तता का कारण रागद्वेषमोह है अतः राग द्वेष मोह ही आस्रव है।

टीकार्थ—रागद्वेष मोह ही आस्रव हैं जो कि अपने परिणाम के निमित्त से हुए हैं सो जड़पना न होने पर वे चिदाभास हैं याने उनमें चैतन्यका आभास है क्योंकि मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग पुद्गल के परिणाम ज्ञानावरण आदि पुद्गलों के आने के निमित्त होनेसे वे प्रकट आस्रव तो हैं, किन्तु उन असंज्ञ आस्रवों में ज्ञानावरणादि कर्मों के आगमन के निमित्तपना के निमित्त हैं, आत्मा के अज्ञानमय राग, द्वेष, मोह परिणाम। इस कारण नवीन मिथ्यात्व आदिक कर्मके आस्रवके निमित्तपना का निमित्तपना होनेसे राग द्वेष मोह ही आस्रव हैं और वे अज्ञानी के ही होते हैं ऐसा तात्पर्य गाथा के अर्थ में से ही प्राप्त होता है।

भावार्थ—ज्ञानावरणादि कर्मों के आस्रवण का निमित्त तो मिथ्यात्वादि कर्मके उदयरूप पुद्गल के परिणाम हैं और उन कर्मों के आने का निमित्त उदयागतकर्म बन जायें उस

निमित्तपने का निमित्त जीवके राग द्वेष मोहरूप परिणाम हैं, उनको चिद्धिकार भी कहते हैं, वे जीवके अज्ञान अवस्था में होते हैं। सम्यग्दृष्टि के अज्ञान अवस्था होती नहीं क्योंकि मिथ्यात्वसहित ज्ञान को अज्ञान कहते हैं। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी हो गया है इसलिये यहाँ ज्ञान अवस्था में अज्ञानमय रागादि नहीं हैं। फिर भी अविरत सम्यग्दृष्टि आदि के चारित्रमोह के उदयसे जो रागादिक होते हैं, उनका यह स्वामी नहीं है, उदय की बलवत्ता है, उनको ज्ञानी रोग के समान समझाकर मेटना चाहता है। इस अपेक्षा से ज्ञानी के राग नहीं है।

तत्रास्रवस्वरूपमभिदधाति—

मिच्छतं अविरमणं कसायजोगा य सण्णसण्णा दु ।

बहुविहभेया जीवे तस्सेव अण्णपरिणामा ॥164 ॥

णाणावरणदीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति ।

तेसिंपि होदि जीवो य रागदोसादिभावकरो ॥165 ॥ (युगलम्)

मिथ्यात्व तथा अविरति, कशाय अरु योग चेतनाचेतन ।

जीवमें विविध प्रत्यय, अभेद परिणाम हैं उसके ॥164 ॥

वे प्रत्यय होते हैं, ज्ञानावरणादि कर्मके कारण ।

उनका कारण होता, रागद्वेषादि भावयुत आत्मा ॥165 ॥

मिथ्यात्वमविरमणं कषाययोगी च संज्ञासंज्ञास्तु । बहुविधभेदा जीवे तस्यैवानन्यपरिणामाः ॥164 ॥

ज्ञानावरणाद्यस्य ते तु कर्मणः कारणं भवति । तेषामपि भवति जीवः च रागद्वेषादिभावकरः ॥165 ॥

रागद्वेषमोहा आस्रवाः इह हि जीवे स्वपरिणामनिमित्ताः, अजडत्वे सति चिदाभासाः, मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगाः पुद्गलपरिणामाः, ज्ञानावरणादिपुद्गलकर्मास्रवणनिमित्तत्वात्कि—लास्रवाः । तेषां तु तदास्रवणनिमित्तत्वनिमित्तम् अज्ञानमया आत्मपरिणामा रागद्वेषमोहाः ।

कषाययोग, च, संज्ञासंज्ञ, तु, बहुविधभेद, जीव, तत्, एव, अनन्यपरिणाम, ज्ञानावरणाद्य, तत्, तु, कर्मन्, कारण, तत्, अपि, जीव, च, रागद्वेषादिभावकर । मूलधातु—रमु क्रीडायां, भिदिर विदारणे रुधादि, परिणम प्रह्वत्वे, भू सत्तायां, रन्ज रागे । पदविवरण—मिच्छतं मिथ्यात्वं—प्रथमा एक० । अविरमणं—प्र० ए० । कसायजोगा—प्रथमा बहु० । कषाययोगौ—प्र० बहु० । य च—अव्यय । सण्णसण्णा संज्ञासंज्ञाः—प्र० बहु० । दु तु—अव्यय । बहुविहभेया बहुविधभेदाः—प्र० बहु० । जीवे—सप्तमी एक० । तस्स तस्य—षष्ठी एक० । एव—अव्यय । अण्णपरिणामा अनन्यपरिणामाः—प्र० बहु० । णाणावरणादीयस्स ज्ञानावरणाद्यस्य—षष्ठी ए० ।

मिथ्यात्वसहित जो रागादिक होते हैं, वे ही अज्ञानमय राग द्वेष मोह हैं और वे अज्ञानी के ही हैं, सम्यग्दृष्टि के नहीं हैं ।

तात्पर्य—सम्यग्दृष्टि के बुद्धिपूर्वक आस्रव बंध नहीं है और जो पहले के बद्ध कर्म हैं उनका वह ज्ञाता होता है ।

प्रसंगविवरण—समयसार की अधिकार गाथा में बताया गया था “भूयत्थेणाभिगया जीवाजीवा य पुण्णपावं च, आस्रवसंवरणिज्जर बंधो मोक्खो य सम्मत्तं” इसके अनुसार जीव अजीव पुण्य पापका अधिकार पूर्ण हो गया । अब आस्रव का वर्णन करना क्रमप्राप्त है । सो सर्वप्रथम इस गाथायुगल में आस्रव का स्वरूप कहा गया है अथवा अनन्तरपूर्व अधिकारमें पुण्य पाप कर्मका वर्णन हुआ है, सो उस विषयमें यह जिज्ञासा हुई कि पुण्य—पाप कर्मोंका आस्रव (आना) किस प्रकार होता, जिसकी जानकारी से यह प्रकाश मिले कि वह योग न बनाया जावे जिससे कि पुण्य पाप कर्मका आस्रव हो । इस जिज्ञासा का समाधान करने के लिये यहाँ आस्रव का प्रवेश हुआ, जिसमें सर्वप्रथम आस्रव का स्वरूप यहाँ कहा गया है ।

तथ्यप्रकाश—1—जीवके अज्ञान परिणाम (आत्मा की बेसुधी) से जीवमें राग द्वेष मोह भावरूप आस्रव होते हैं । 2—जीवमें होने वाले राग द्वेष मोह भाव जीव की परिणति होने से जड़ नहीं हैं और जीव में स्वभाव नहीं होने से चेतन नहीं, किन्तु चिदाभास हैं । 3—अचेतन

मिथ्यात्व अविरति कषाय योग तो पुद्गलकर्म प्रकृतिरूप हैं। 4—चेतन मिथ्यात्व अविरति कषाय योग जीव के परिणाम हैं। 5—उदयप्राप्त अचेतन मिथ्यात्व अविरति कषाय योग याने द्रव्यप्रत्यय नवीन ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्म के आस्रव के निमित्तभूत हैं। 6—द्रव्यप्रत्ययके निमित्त से होने वाले चेतन मिथ्यात्वादि भाव द्रव्यप्रत्ययमें नवीन कर्मके आस्रवकी निमित्तता आ जावे इस निमित्तता के निमित्त हैं। 7—वास्तव में आस्रव जीवके राग द्वेष मोह हैं, क्योंकि ये पुद्गलकर्मास्रवण के निमित्तकी निमित्तता के निमित्त हैं। 8—अज्ञानमय राग, द्वेष, मोह जीवपरिणाम अज्ञानी के ही होते हैं।

तत आस्रवणनिमित्तत्वनिमित्तत्वाद्वागद्वेषमोहा एवास्रवाः, ते चाज्ञानिन एव भवंतीति अर्थादेवापद्यते ॥164—165 ॥

ते—प्रथमा बहु०। दु तु—अव्यय। कम्मस्स कर्मणः—षष्ठी एक०। कारणं—प्रथमा एक०। होंति भवंति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। तेषां तेषां—षष्ठी बहु०। पि अपि—अव्यय। होदि भवति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। जीवो जीवः—प्रथमा एक०। य च—अव्यय। रागदोसादिभावकरो रागद्वेषादिभावकरः—प्रथमा एकवचन ॥164—165 ॥

सिद्धान्त—1—अचेतन मिथ्यात्व अविरति कषाय योग पुद्गलद्रव्यके अनन्य परिणाम हैं। 2—चेतन मिथ्यात्व आदि भाव अज्ञानी जीवके अनन्य परिणाम हैं। 3—जीवके बन्धन का कारण उदयागत द्रव्यप्रत्यय है। 4—वस्तुतः जीवके बंधन का कारण स्वकीय रागादि अज्ञान—भाव है।

दृष्टि—1—उपादानदृष्टि (49ब)। 2—उपादानदृष्टि (49ब)। 3—निमित्तदृष्टि (53अ)। 4—उपादानदृष्टि (49ब)।

प्रयोग—कर्मबन्धका मूल कारण अपने रागादिभावों को जानकर रागादिभावों से छुटकारा पाने के लिये रागादिविकारषून्य सहजज्ञानस्वभावमें उपयुक्त होने का पौरुष करना ॥165 ॥

अब ज्ञानी के उन आस्रवों का अभाव दिखलाते हैं:—[सम्यग्दृष्टेः] सम्यग्दृष्टि के [आस्रवबंधः] आस्रव बंध [नास्ति] नहीं है [तु] किंतु [आस्रवनिरोधः] आस्रव का निरोध है [तानि] उनको [अबध्नन्] नहीं बांधता हुआ [सः] वह [संति] सत्ता में मौजूद [पूर्वनिबद्धानि] पहले बाँधे हुए कर्मों को [जानाति] मात्र जानता है।

टीकार्थ—चूँकि वास्तव में ज्ञानी के ज्ञानमय भावों से परस्पर विरोधी अज्ञानमय भाव रुक जाते हैं इस कारण आस्रवभूत राग, द्वेष, मोह भावों के निरोध से ज्ञानी के आस्रव का निरोध होता ही है। इसलिये ज्ञानी, आस्रवनिमित्तक ज्ञानावरण आदि पुद्गल कर्मों को नहीं बांधता। किन्तु सदा उन कर्मों का अकर्ता होनेसे नवीन कर्मों को नहीं बाँधता हुआ पहले बाँधे हुए सत्तारूप अवस्थित उन कर्मों को केवल जानता ही है।

भावार्थ—ज्ञानी होने पर अज्ञानरूप राग द्वेष मोह भावों का निरोध होता है और आस्रव के निरोध से नवीन बंध का निरोध होता है तथा जो पूर्व बाँधे हुए सत्ता में स्थित हैं, उनका ज्ञाता ही रहता है कर्ता नहीं होता। यद्यपि अविरत सम्यग्दृष्टि आदि के चारित्रमोह का उदय है, पर उसको ऐसा जानना कि यह उदय की बलवत्ता है, वह अपनी 'विक्रि के अनुसार उनको रोगरूप जानकर दूर करता ही है इसलिये वे हुए भी अनहुए सरीखे कहे जाते हैं, वहाँ जो अल्पस्थिति अनुभागरूप बंध होता वह अज्ञान के पक्ष में नहीं गिना जाता, अज्ञान के पक्ष में तो जो मिथ्यात्व व अनंतानुबंधी के निमित्त से बाँधता है, वह गिना जाता है। इस प्रकार ज्ञानी के आस्रव व बंध नहीं गिना गया।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में आस्रव का स्वरूप बताया गया था और यह निष्कर्ष निकला था कि वे आस्रव अज्ञानी के ही होते हैं। अब यहाँ बताया गया कि ज्ञानी के उन आस्रवों का अभाव है।

तथ्यप्रकाश—(1) ज्ञानी के ज्ञानमय ही भाव होते हैं। (2) ज्ञानमय भाव व अज्ञानमय भाव परस्पर विरोधी भाव हैं। (3) ज्ञानी के ज्ञानमय भावों के द्वारा अज्ञानभाव निरुद्ध हो जाते हैं याने हट जाते हैं। (4) ज्ञानी के अज्ञानमय भाव रागद्वेषमोह हट गये हैं, अतः आस्रवनिरोध है। ज्ञानी आस्रवनिमित्तक पुद्गलकर्मा को नहीं बाँधता। (5) अकर्ता होनेसे ज्ञानी नवीन कर्मों को बाँधता नहीं और पूर्वबद्धकर्मा को मात्र जानता है। (6) गुणस्थानानुसार ज्ञानियों के आस्रवनिरोध समझना चाहिये। (7) द्रव्यकर्म, भावकर्म व नोकर्ममें अथ ज्ञानिनस्तदभावं दर्शयति—

गत्थि दु आस्रवबंधो सम्मादिट्ठिस्स आस्रवणिरोहो ।

संते पुव्वणिबद्धे जाणदि सो ते अबंधंतो ॥166 ॥

आस्रव बंध नहीं है, ज्ञानीके किन्तु आस्रवनिरुद्धन ।

वह तो पूर्वनिबद्धों को जाने भव्य नहीं बांधे ॥166 ॥

नास्ति त्वास्रवबंधः सम्यग्दृष्टेरास्रवनिरोधः । संति पूर्वनिबद्धानि जानाति स तान्यबध्नन् ॥166 ॥

यतो हि ज्ञानिनो ज्ञानमयैर्भावैरज्ञानमया भावाः परस्परविरोधिनो अवध्यमेव निरुध्यन्ते । ततोऽज्ञानमयानां भावानां रागद्वेषमोहानां आस्रवभूतानां निरोधात् ज्ञानिनो भवत्येव आस्रव-निरोधः । अतो ज्ञानी नास्रवनिमित्तानि पुद्गलकर्माणि बध्नाति, नित्यमेवाकर्तृत्वात्तानिनवानि न बध्नन् सदवस्थानि पूर्वबद्धानि ज्ञानस्वभावत्वात्केवलमेव जानाति ॥166 ॥

<p>नामसंज्ञ—ण, दु, आस्रवबंध, सम्मादिट्ठि, आस्रवणिरोह, संत, पुव्वणिबद्ध, त, त, अबंधंत । धातुसंज्ञ—अस सत्तायां, आ—स्रव स्रवणे, बंध बंधने, जाण अवबोधने । प्रातिपदिक—न, तु, आस्रवबन्ध, सम्यग्दृष्टि, आस्रवनिरोध, सत्, पूर्वनिबद्ध, तत्, तत् । मूलधातु—अस् भुवि, आ—स्रु गतौ, बन्ध बन्धने, निरुधिर आवरणे रुधादि, ज्ञा अवबोधने । पदविवरण—ण न—अव्यय । अत्थि अस्ति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । दु तु—अव्यय । आस्रवबंधो आस्रवबन्धः—प्रथमा एकवचन । सम्मादिट्ठिस्स सम्यग्दृष्टेः—षष्ठी एकवचन । आस्रवणिरोहो आस्रवनिरोधः—प्रथमा एक० । संते सन्ति—द्वितीया एकवचन कृ दन्त । पुव्वणिबद्धे पूर्वनिबद्धानि—द्वितीया बहु० । जाणदि जानाति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । सो सः—प्रथमा एक० । ते तानि—द्वितीया बहु० । अबंधंतो अबध्नन्—प्रथमा एकवचन ॥166 ॥</p>

आत्मत्वबुद्धि न होने से आत्मा का नाम ज्ञानी हो जाता है। (8) अविरत सम्यग्दृष्टि ज्ञानी मिथ्यात्वादि 41 प्रकृतियों का आस्रवनिरोधक है। (9) देशसंयमी ज्ञानी 51 प्रकृतियों का आस्रवनिरोधक है। (10) प्रमत्तविरत ज्ञानी 55 प्रकृतियों का आस्रवनिरोधक है। (11) अप्रमत्तविरत ज्ञानी 61 प्रकृतियों का आस्रवनिरोधक है। (12) अपूर्वकरण अपषमक क्षपक ज्ञानी 62 प्रकृतियों का आस्रवनिरोधक है। (13) अनिवृत्तिकरण उपषमक व क्षपक ज्ञानी 98 प्रकृतियों का आस्रवनिरोधक है। (14) सूक्ष्मसाम्पराय उपषमक व क्षपक 103 प्रकृतियों का आस्रवनिरोधक है। (15) उपषान्तकषाय, क्षीणकषाय व सयोगकेवली 119 याने एक कम सब प्रकृतियों का आस्रवनिरोधक है। (16) अयोगकेवली व सिद्धप्रभु पूर्ण निरास्रव हैं।

सिद्धान्त—(1) ज्ञानी जीवके 'जुद्धभावका निमित्त पाकर कार्माणवर्गणावों में कर्मत्वके आस्रव का निरोध हो जाता है। (2) ज्ञानी पूर्वनिबद्ध कर्मों का मात्र जाननहार होता है, भोक्ता नहीं।

दृष्टि—1—षुद्धभावनापेक्ष 'जुद्धद्रव्यार्थिकनय (24ब) । 2—अभोक्तृनय (192) ।

प्रयोग—ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व के आश्रय से संसारसंकटमूलकर्मास्रव का निरोध हो जाता है, अतः सकल विकल्प परिग्रह त्यागकर एक ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व का आलम्बन लेना चाहिये ॥166 ॥

अब राग, द्वेष, मोह भावों के ही आस्रवपने का नियम करते हैं—[जीवेन कृतः] जीव के द्वारा किया गया [रागदियुक्तो भावः] रागादियुक्त भाव [बंधको भणितः] नवीन कर्मका बंध करने वाला कहा गया है [तु] परंतु [रागादिविप्रमुक्तः] रागादिक भावों से रहित भाव [अबंधकः] बंध करने वाला नहीं है, [केवलं] केवल [ज्ञायकः] जानने वाला ही है।

तात्पर्य—अज्ञानभावके कारण जीवमें उमंग से उठे रागादिकभाव मिथ्यात्वादि प्रकृति का बंध करने वाले हैं।

टीकार्थ—वास्तव में इस आत्मा में राग, द्वेष, मोह के मिलाप से उत्पन्न हुआ भाव (अज्ञान मय ही भाव) आत्मा को कर्म करने के लिये प्रेरित करता है जैसे कि चुंबक पत्थर के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ भाव लोहे की सुई को चलाता है, परन्तु उन रागादिकों के अथ रागद्वेषमोहानामास्रवत्वं नियमयति—

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो भणितो ।

रायादिविप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरिं ।।167।।

जीवकृत राग आदिक, भाव बताया जिनेन्द्रने बंधक ।

रागादिमुक्त बन्धक, नहीं है वह किन्तु ज्ञायक है ।।167।।

भावो रागादियुतः जीवने कृतस्तु बंधको भणितः । रागादिविप्रमुक्तोऽबंधको ज्ञायको नवरिं ।।167।।

इह खलु रागद्वेषमोहसंपर्कजोऽज्ञानमय एव भावः, अयस्कांतोपलसंपर्कज इव कालायससूचीं कर्म कर्तुमात्मानं चोदयति । तद्विवेकजस्तु ज्ञानमयः, अयस्कांतोपलविवेकज इव कालायससूचीमकर्मकरणौत्सुक्यमात्मानं स्वभावेनैव स्थापयति । ततो रागादिसंकीर्णोऽज्ञानमय एव कर्तृत्वे चोदकत्वादबंधकः । तदसंकीर्णस्तु स्वभावोद्भासकत्वात्केवलं ज्ञायक एव, न मनागपि बंधकः ।।167।।

नामसंज्ञ—भाव, रागादिजुद, जीव, कद, दु, बंधग, भणित, रागादिविप्पमुक्क, अबंधग, जाणग, णवरिं ।
धातुसंज्ञ—भव सत्तायां, जु मिश्रणे, जीव प्राणधारणे, भण कथेन, वि-प-मुंच त्यागे । **प्रातिपदिक**—भाव, रागादियुत, जीव, कृत, तु, बन्धक, भणित, रागादिविप्रमुक्त, अबंधक, ज्ञायक, नवरि । **मूलधातु**—यु मिश्रणे अदादि, डुकृञ् करणे, भणं 'बुद्धार्थः, वि-प्र-मुच्लू मोक्षणे । **पदविवरण**—भावो भावः—प्रथमा एकवचन । रागादिजुदो रागादियुतः—प्रथमा एक० । जीवेण जीवेन—तृतीया एक० । कदो कृतः—प्र० एक० कृदंत । दु तु—अव्यय । बंधगो बन्धकः—प्रथमा एक० । भणितो भणितः—प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया । रागादिविप्पमुक्तो रागादिविप्रमुक्तः—प्रथमा एक० । अबंधगो अबन्धकः—प्र० ए० । जाणगो ज्ञायकः—प्रथमा एक० । णवरिं नवरि—अव्यय ।।167।।

भेदज्ञानसे उत्पन्न हुआ ज्ञानमय भाव स्वभावसे ही आत्मा को कर्म करने में अनुत्सुक रखता है जैसे कि चुम्बक पाषाण के संसर्ग बिना सुई का स्वभाव चलने रूप नहीं है इस कारण रागादिकों से मिला हुआ अज्ञानमय भाव ही कर्म के कर्तृत्व में प्रेरक होने के कारण नवीन बंधका करने वाला है, परन्तु रागादिक से न मिला हुआ भाव अपने स्वभावका प्रगट करने वाला होने से केवल जानने वाला ही है, वह नवीन कर्म का किंचिन्मात्र भी बंध करने वाला नहीं है। भावार्थ—रागादिक के मिलाप से हुआ अज्ञानमय भाव ही कर्मबंध करने वाला है और रागादिक से नहीं मिला ज्ञानमय भाव कर्मबंधका करने वाला नहीं है, यह सिद्धान्त रहा।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया गया था कि ज्ञानी के आस्रव का अभाव है। सो अब उसी सम्बन्धमें इस गाथा में यह नियमित किया है कि वह आस्रवपना रागद्वेष मोहभावों का ही है।

तथ्यप्रकाश—1—रागद्वेषमोहके संपर्क से उत्पन्न हुआ भाव अज्ञानमय भाव है। 2—अज्ञानमय भाव ही आत्मा को कर्म करने के लिये प्रेरित करता है। 3—रागद्वेष मोह के विवेकसे (वियोगसे) उत्पन्न हुआ भाव ज्ञानमय भाव है। 4—ज्ञानमय भाव स्वभावसे ही आत्मा

को कर्म करने में अनुत्सुक रखता है। 5—रागादिसे संकीर्ण अज्ञानमय भाव ही कर्तृत्वमें प्रेरक होनेसे बन्धक है। 6—रागादिकसे असंकीर्ण ज्ञानमय भाव स्वभावका उद्भासक होनेसे केवल ज्ञायक है, बन्धक नहीं है।

सिद्धान्त—1—चित्प्रकाशस्वरूप स्वभावभावसे भिन्न अज्ञानमय रागद्वेषमोहभाव कर्मबन्धके मूल निमित्त कारण हैं। 2—अज्ञानमय भाव भावबन्धन बनाये रहने के समुचित उपादान कारण हैं।

दृष्टि—1—निमित्तत्वनिमित्तदृष्टि (53ब)। 2—उपादानदृष्टि (49ब)।

प्रयोग—रागादिसंपृक्त भाव आत्मा को बन्धन संकट में रखने वाला है ऐसा जानकर अपने रागादिरहित सहज ज्ञानस्वभावमें उपयुक्त होने का पौरुष करना ॥167॥

अथ रागाद्यसंकीर्णभावसंभवं दर्शयति—

पक्के फलह्नि पडिए जह ण फलं बज्झए पुणो विंटे ।

जीवस्स कम्मभावे पडिए ण पुणोदयमुवेई ॥168॥

फल पक्क हो पतित फिर, जैसे वह वृत्त में नहीं लगता ।

कर्मभाव हटने पर, फिर न जीवके उदित होता ॥168॥

पक्के फले पतिते यथा न फलं बध्यते पुनर्वृत्ते । जीवस्य कर्मभावे पतिते न पुनरुदयमुपैति ॥168॥

यथा खलु पक्वं फलं वृतात्सकृद्विप्लिष्टं सन्न पुनर्वृत्तसंबंधमुपैति तथा कर्मोदयजो भावो जीवभावात्सकृद्विप्लिष्टः सन्, न पुनर्जीवभावमुपैति । एवं ज्ञानमयो रागाद्यसंकीर्णो भावः

नामसंज्ञ—पक्क, फल, पडिय, जह, ण, फल, पुणो, विंटे, जीव, कम्मभाव, पडिय, ण, पुण, उदय ।
धातुसंज्ञ—पड पतने, बज्झ बंधने, उप—इ गतौ । **प्रातिपदिक**—पक्व, फल, पतित, यथा, न, फल, पुनस्, वृत्त, जीव, कर्मभाव, पतित, न, पुनस्, उदय । **मूलधातु**—डुपचष् पाके भ्वादि, फल निष्पत्तौ भ्वादि, पल्लु गतौ भ्वादि, पत गतौ चुरादि, बन्ध बन्धने, उप—इण् गतौ । **पदविवरण**—पक्के—सप्तमी एक० । फलह्नि फले—सप्तमी एक० । पडिए पतिते—सप्तमी एक० । जह यथा—अव्यय । ण न—अव्यय । फलं—प्रथमा एक० ।

अब रागादिक से न मिले ज्ञानमय भावका संभव दिखलाते हैं:—[यथा] जैसे [पक्के फले पतिते] पके फलके गिर जाने पर [पुनः] फिर [फलं] वह फल [वृत्ते] उस डंठल में [न बध्यते] नहीं बंधता, उसी तरह [जीवस्य] जीवके [कर्मभावे] कर्मभावके [पतिते] झड़ जाने पर [पुनः] फिर वह [उदयं] उदयको [न उपैति] प्राप्त नहीं होता ।

तात्पर्य—कर्मोदयज भाव जीवभावसे पृथक् ज्ञात होनेपर फिर कर्मोदयजभाव जीवभावरूप नहीं अनुभवा जा सकता ।

टीकार्थ—जैसे पका हुआ फल गुच्छे से एक बार पृथक् होता हुआ वह फल फिर गुच्छे से सम्बन्धित नहीं होता, उसी प्रकार कर्म के उदय से उत्पन्न हुआ भाव एक बार भी जीवभाव से पृथक् होता हुआ फिर जीव भावको प्राप्त नहीं होता । इस प्रकार रागादिक से न मिला हुआ भाव ज्ञानमय ही संभव है । **भावार्थ**—जीव अज्ञान से कर्मोदयज भावों को अपना मान कर उसे जीवभाव बना देता है । यदि स्वलक्षणके परिचय से आस्रव और जीवस्वभावका परिचय यथार्थतया प्राप्त कर ले तो फिर कर्मोदयज भाव जीवभाव से नहीं जुड़ सकते सो यह सब रागादि से असंकीर्ण ज्ञानमयभावका चमत्कार है ।

अब इस अर्थका कलषरूप काव्य कहते हैं—**भावो** इत्यादि । **अर्थ**—रागद्वेष मोहसे रहित ज्ञानके द्वारा ही रचा हुआ जो जीवका भाव है, वह सब द्रव्यास्रवों को रोकता हुआ सभी भावास्रवों का अभाव स्वरूप है । **भावार्थ**—ज्ञानमयभाव भावास्रवों का अभावरूप इस कारण है कि संसार का कारण मिथ्यात्व ही है उस सम्बन्धी रागादिक का अभाव हुआ तो सभी भावास्रवों का अभाव हो गया समझना ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया गया था कि रागादिसंकीर्ण भाव बंधक होता है और रागाद्यसंकीर्ण भाव अबंधक होता है। अब यहाँ इस गाथा में उसी रागाद्यसंकीर्ण भावका सद्भाव बताया गया है।

तथ्यप्रकाश—(1) ज्ञानी जीव के सुख-दुःखादि कर्मभावके निर्जीर्ण होने पर वह कर्म रागद्वेषमोहका अभाव होनेसे जीवभावको प्राप्त नहीं होता है। (2) जो कर्मभाव जीवभावको प्राप्त नहीं होता वह फिर बन्धको भी प्राप्त नहीं होता है। (3) जो बन्धरूप नहीं हो सकता वह उदय को भी प्राप्त नहीं होता। (4) ज्ञानी के भाव रागाद्यसंकीर्ण होनेसे 'जुद्ध भाव कहलाते हैं। (5) ज्ञानी जीव के 'जुद्धभाव होनेसे निर्विकार स्वसंवेदनके बलसे संवरपूर्वक निर्जरा होती है। (6) उस प्रकार के कर्मका बन्धक न होकर उदित विभावका व कर्मभाव का निकल जाना मोक्षमार्गसंचालक निर्जरा है।

संभवति। भावो रागद्वेषमोहैर्विना यो जीवस्य स्याद् ज्ञाननिर्वृत्त एव। रुंधन् सर्वान् द्रव्यकर्मास्रवौघान् एषोऽभावः सर्वभावास्रवाणां ॥114॥ ॥168॥

बज्जए बध्यते-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन भावकर्मप्रक्रिया क्रिया। पुणो पुनः-अव्यय। विंटे वृन्ते-सप्तमी एक०। जीवस्स जीवस्य-षष्ठी ए०। कम्मभावे कर्मभावे-सप्तमी ए०। ण न-अव्यय। पुण पुनः-अव्यय। उदयं-द्वितीया एक०। उवेई उपैति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया ॥168॥

सिद्धान्त—(1) अज्ञान अवस्था में कर्मभावको जीवभाव मानने की वृत्ति होनेसे द्रव्यप्रत्यय उसी प्रकार के कर्मके बन्धक होते हैं। (2) तत्त्वज्ञान होने पर उदित कर्मभावको जीवभाव न माना जा सकने से, वह कर्मभाव जीवभाव न माना जा सकने से जीवभाव नहीं बनता, और तब द्रव्यप्रत्यय उस प्रकार के कर्मके बन्धक नहीं होते।

दृष्टि—1—निमित्तत्वनिमित्तदृष्टि एवं निमित्तदृष्टि (201, 53अ)। 2—प्रतिषेधक 'जुद्धनय (49अ)।

प्रयोग—कर्मभाव से हटने के लिये अपने ज्ञानमात्र सहजभावमें आत्मत्व स्वीकार कर ज्ञानमात्र भावमें रत होने का पौरुष करना ॥168॥

अब ज्ञानी के द्रव्यास्रव का अभाव दिखलाते हैं:—[तस्य ज्ञानिनः] उस ज्ञानी के [पूर्वनिबद्धाः] पहले बँधे हुए [सर्वेपि] सभी [प्रत्ययाः] कर्म [पृथिवीपिंडसमानाः] पृथ्वी के पिंड समान हैं [तु] और वे [कर्मशरीरेण] कर्मण 'रीर के साथ [बद्धाः] बँधे हुए हैं।

तात्पर्य—कर्म व कर्मोदयज भावसे भिन्न आत्मस्वरूपको जानने पर कर्म पृथ्वीपिण्ड के समान पुद्गलपिण्ड मात्र ही नजर आते हैं।

टीकार्थ—जो पहले अज्ञानसे बाँधे मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग रूप द्रव्यास्रवभूत प्रत्यय हैं वे ज्ञानी के अन्य द्रव्यरूप अचेतन पुद्गलद्रव्य के परिणाम होनेसे पृथिवी के पिंड समान हैं। और वे सभी अपने पुद्गलस्वभावसे कर्मण 'रीर से ही एक होकर बँधे हैं, परन्तु जीवसे नहीं बँधे हैं। इस कारण ज्ञानी के द्रव्यास्रव का अभाव स्वभावसे ही सिद्ध है।

भावार्थ—जब आत्मा अन्तस्तत्त्व का ज्ञानी हुआ, तब ज्ञानी के भावास्रव का तो अभाव हुआ ही और द्रव्यास्रव जो कि मिथ्यात्वादि पुद्गल द्रव्य के परिणाम हैं वे कर्मण 'रीर से स्वयमेव बँध रहे हैं, अन्तः ऐसा ज्ञान होनेसे व आत्माभिमुख परिणमन होनेसे भावास्रवके बिना वे आगामी कर्मबंध के कारण नहीं हैं, और पुद्गलमय हैं इस कारण अमूर्तिक चैतन्यस्वरूप जीवसे स्वयमेव ही भिन्न हैं, ऐसा ज्ञानी जानता है।

अब इस अर्थ का कलषरूप काव्य कहते हैं—**भावा** इत्यादि। **अर्थ**—भावास्रव के अभाव को प्राप्त हुआ ज्ञानी द्रव्यास्रवस तो स्वयमेव ही भिन्न है, क्योंकि ज्ञानी तो सदा ज्ञानमय ही एक भाव वाला है, इस कारण निरास्रव ही है, मात्र एक ज्ञायक ही है। **भावार्थ**—भावास्रव जो राग द्वेष मोह का लगाव उसका तो ज्ञानी के अभाव हो गया है

और जो द्रव्यास्रव हैं पुद्गलपरिणाम हैं, उनसे तो स्वयं स्वरूपतः भिन्न है, इसलिये ज्ञानी निरास्रव ही है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में रागाद्यसंकीर्णभावका सम्भव बताकर ज्ञानी के भावास्रवाभावका अविनाभावी द्रव्यास्रवभाव बतलाया है।

तथ्यप्रकाश—(1) अज्ञान द्वारा पहिले जो कर्म बँध गये थे उनमें से जो भी ज्ञानी पुरुष के सत्ता में रह रहे वे अचेतन पुद्गलपरिणाम पृथ्वीपिंड के समान पड़े हुए हैं। (2) सत्ता में पड़े हुए पुद्गलकर्म अपना प्रभाव (अनुभागोदय) नहीं कर रहे। (3) जब सत्ता में पड़े हुए कर्म उदयमें आते हैं तब ज्ञानी के ज्ञानस्वभावमें लगाव होनेसे संसारस्थितिबंध नहीं कर पाते हैं। (4) कर्मप्रकृतियाँ कार्माण 'रीर से ही बँधी हुई होती हैं। (5) जीव अमूर्तिक है उसके साथ मूर्त पुद्गलकर्म नहीं बँधे हैं, किन्तु कर्मफलका याने विभाव का लगाव होने से अज्ञानी

अथ ज्ञानिनो द्रव्यास्रवाभावं दर्शयति—

पृथ्वीपिंडसमाणा पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स ।

कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सव्वेपि णाणिस्स ॥169 ॥

पूर्वबद्ध सब प्रत्यय, ज्ञानीके पृथ्वीपिण्ड सम जानो ।

बँधे हुये विधि से वे, बँधे नहीं किन्तु आत्मा से ॥169 ॥

पृथ्वीपिंडसमानाः पूर्वनिबद्धास्तु प्रत्ययास्तस्य । कर्मषरीरेण तु ते बद्धाः सर्वेऽपि ज्ञानिनः ॥169 ॥

ये खलु पूर्वमज्ञानेनैव बद्धा मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा द्रव्यास्रवभूताः प्रत्ययाः ते ज्ञानिनो द्रव्यांतरभूता अचेतनपुद्गलपरिणामत्वात् पृथ्वीपिंडसमानाः । ते तु सर्वेऽपि स्वभावत एव कार्माणषरीरेणैव संबद्धा न तु जीवने, अतः स्वभावसिद्ध एव द्रव्यास्रवाभावो ज्ञानिनः । भावास्रवाभावमयं प्रपन्नो द्रव्यास्रवेभ्यः स्वत एक भिन्नः । ज्ञानी सदा ज्ञानमयैकभावो निरास्रवो ज्ञायक एक एव ॥115 ॥ ॥169 ॥

<p>नामसंज्ञ—पृथ्वीपिंडसमाणा, पुव्वणिबद्ध, दु, पच्चय, त, कम्मसरीर, दु, त, बद्ध, सव्वे, पि, णाणि । धातुसंज्ञ—प्रति—अय गतौ, बंध बंधने। प्रातिपदिक—पृथ्वीपिण्डसमान, पूर्वनिबद्ध, तु, प्रत्यय, तत्, कर्मषरीर, तु, तत्, बद्ध, सर्व, अपि, ज्ञानिन् । मूलधातु—प्रति—अय गतौ, बन्ध बन्धने। पदविवरण—पृथ्वीपिंडसमाणा पृथ्वीपिण्डसमानाः—प्रथमा बहु० । पुव्वणिबद्धाः—प्र० बहु० । दु तु—अव्यय । पच्चया प्रत्ययः—प्र० बहु० । तस्स तस्य—षष्ठी एक० । कम्मसरीरेण कर्मषरीरेण—तृतीया एक० । दु तु—अव्यय । बद्धा बद्धाः—प्र० बहु० । सव्वे सर्वे—प्र० बहु० । पि अपि—अव्यय । णाणिस्स ज्ञानिनः—षष्ठी एक० ॥169 ॥</p>
--

के निमित्तनैमित्तिक विधि में पुद्गलकर्म का एकक्षेत्रावगाह बन्धन बना है। (6) पुद्गलकर्मका एकक्षेत्रावगाह स्थिति अनुभाग वाला बंधन, ज्ञान होने पर भी राग रहने तक होता है। (7) वीतराग ज्ञानी के नवीन कर्मबंधन नहीं होता, मात्र योग रहने तक ईर्यापथ आस्रव होता है। (8) कर्मका बन्धन कार्माणषरीरसे है। (9) जीवका उपयोग ज्ञानस्वभावके अभिमुख है, इस दृष्टि से ज्ञानी के द्रव्यास्रव का अभाव है। (10) सूक्ष्मदृष्टि से द्रव्यास्रव का अभाव गुणस्थानानुसार जानना।

सिद्धान्त—(1) कर्मत्व का अभ्युदय कार्माणवर्गणावों में हुआ है। (2) वस्तुतः कर्म का बन्धन कार्माणषरीर से होता है। (3) कर्म का बन्धन जीव के साथ होता है यह कथन फलित कथन है।

दृष्टि—1, 2—अषुद्धनिष्चयनय (47) । 3—एकजातिद्रव्ये अन्यजातिद्रव्योपचारक असद्भूतव्यवहार (106) ।

प्रयोग—कर्म को कार्माणषरीरसे बँधा हुआ जानकर उनसे भिन्न अपने को ज्ञानमात्र निरखकर अपने में उपयुक्त होकर परमविश्राम पाने का पौरुष करना ॥169॥

अब पूछते हैं कि ज्ञानी निरास्रव किस तरह है? उसके उत्तर में गाथा कहते हैं—[यस्मात्] जिस कारण [चतुर्विधाः] चार प्रकार के आस्रव याने मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय व योग [ज्ञानदर्शनगुणाभ्यां] ज्ञान दर्शन गुणों के द्वारा [समये समये] समय—समयपर [अनेकभेद] अनेक भेद के कर्मों को [बध्नन्ति] बाँधते हैं [तेन] इस कारण [ज्ञानी तु] ज्ञानी तो [अबंधः] अबंधरूप है [इति] ऐसा जानना चाहिये।

तात्पर्य—बुद्धिपूर्वक रागद्वेष मोह न होने से ज्ञानी को अबंधक कहा गया है।

टीकार्थ—ज्ञानी तो आस्रवभावकी भावना के अभिप्राय के अभाव से निरास्रव ही है, किन्तु उस ज्ञानी के भी द्रव्यास्रव प्रति समय अनेक प्रकार के पुद्गलकर्म को बाँधता है, सो उसमें ज्ञानगुण का परिणमन ही कारण है। **भावार्थ**—अज्ञानमय आस्रवभाव न होने से ज्ञानी के मिथ्यात्वादि 41 प्रकृतियों का आस्रव तो होता ही नहीं है, और जो कर्म अब भी बँध रहे

कथं ज्ञानी निरास्रवः? इति चेत्—

चहुविह अणयमेयं बंधंते णाणदंसणगुणेहिं ।

समये समये जह्मा तेण अबंधोत्ति णाणी दु ॥170॥

क्योंकि चारों हि आस्रव, दर्शनज्ञानगुणकी विपरिणतिसे ।

बंधते कर्म नाना, होता ज्ञानी अतः अबन्धक ॥170॥

चतुर्विधा अनेकभेदं बध्नन्ति ज्ञानदर्शनगुणाभ्यां। समये समये यस्मात् तेनाबंध इति ज्ञानी तु ॥170॥

ज्ञानी हि तावदास्रवभावभावनाभिप्रायाभावान्निरास्रव एव। यत्तु तस्यापि द्रव्यप्रत्ययाः प्रतिसमयमनेकप्रकारं पुद्गलकर्म प्रतिबध्नन्ति तत्र ज्ञानगुणपरिणाम एव हेतुः ॥170॥

<p>नामसंज्ञ—चहुविह, अणयमेय, णाणदंसणगुण, समय, समय, ज, त, अबंध, इति, णाणि, दु। धातुसंज्ञ—बंध बंधने, दंस दर्शनायां द्वितीयगणी। प्रातिपदिक—चतुर्विध, अनेकभेद, ज्ञानदर्शनगुण, समय, समय, यत्, तत्, अबंध, इति, ज्ञानिन् तु। पदविवरण—चहुविह चतुर्विधाः—प्रथमा बहु०। अणयमेयं अनेकभेदं—द्वितीया एकवचन। बंधंते बध्नन्ति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन क्रिया। णाणदंसणगुणेहिं—तृतीया बहुवचन। ज्ञानदर्शनगुणाभ्यां—तृतीया द्विवचन। समये समये—सप्तमी एकवचन। जह्मा यस्मात्—पंचमी एक०। तेण तेन—तृ० ए०। अबंधो अबंधः—प्रथमा एक०। इति इति—अव्यय। णाणी ज्ञानी—प्रथमा एक०। दु तु—अव्यय ॥170॥</p>

हैं सो चारित्र की निर्बलता से बँध रहे हैं। उसमें निमित्त चारित्रमोहनीयका उदय है। वहाँ भी विकारभावमें राग नहीं है सो साधारण आस्रव है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया गया था कि ज्ञानी के द्रव्यास्रव का भी अभाव है। इस कथन पर यह जिज्ञासा हुई कि ज्ञानी होने पर भी आगम में दषम गुणस्थान तक बन्ध कहा गया है फिर यहाँ यह कैसे कहा गया कि ज्ञानी के द्रव्यास्रव का अभाव है। इस जिज्ञासा का समाधान इस गाथा से प्रारंभ किया गया है।

तथ्यप्रकाश—1—आस्रवभावों की भावना (लगाव) का अभिप्राय न होनेसे ज्ञानी को निरास्रव कहा गया है। 2—ज्ञानी होने पर भी द्रव्यप्रत्ययों के निमित्त से कुछ प्रकृतियों का आस्रव दषम गुणस्थान तक होता रहता, उसमें आस्रवभाव भावना का अभिप्राय कारण नहीं है, उसमें ज्ञानगुणका जघन्य परिणाम अथवा क्षोभ कारण है। 3—जहाँ रंच भी अव्यक्त भी क्षोभ नहीं है वहाँ साम्प्रदायिक आस्रव नहीं, किन्तु योग रहने तक ईयापथ आस्रव है। 4—यहाँ बुद्धिपूर्वक राग का याने राग में राग का अभाव होने से मिथ्यात्वादि 41 प्रकृतियों का आस्रव न होने से निरास्रव कहा गया है। 5—विवेकपूर्वक पौरुष प्रयत्न करने के प्रसंग में बुद्धिपूर्वक वृत्तियों का निरीक्षण करके वर्णन होता है।

सिद्धान्त-1—ज्ञानी के 'बुद्ध ज्ञायकस्वरूपकी भावना होनेसे आस्रवभावभावनानिमित्तक पुद्गलकर्मों का आस्रव निवृत्त हो जाता है। 2—ज्ञान होने पर भी जब तक क्षोभ विकार उठता रहता है तब तक क्षोभनिमित्तक (साधारण) आस्रव होता रहता है।

दृष्टि-1—बुद्धभावनापेक्ष 'बुद्धद्रव्यार्थिकनय (24ब)। 2—उपाधिसापेक्ष अपुद्बुद्धद्रव्यार्थिकनय (24)।

प्रयोग—बन्धनिवृत्ति के लिये रागादिविकारों को परभाव जान उनसे उपेक्षा करके अविकार ज्ञानस्वरूपमें आत्मत्व का अनुभव करने का अन्तः पौरुष करना।।170।।

अब पूछते हैं कि ज्ञानगुणका परिणाम बंधका कारण कैसे हैं, उसका उत्तर गाथा में कहते हैं—[पुनरपि] फिर भी [यस्मात् तु] जिस कारण [ज्ञानगुणः] ज्ञानगुण [जघन्यात्—ज्ञानगुणात्] जघन्य ज्ञानगुणके कारण [अन्यत्वं] अन्य रूप [परिणमते] परिणमन करता है [तेन तु] इसी कारण [सः] वह ज्ञानगुण [बंधको भणितः] कर्मका बंधक कहा गया है।

तात्पर्य—निर्मोह ज्ञानी के भी अवशिष्ट रागवष हुए ज्ञानगुणके जघन्यपरिणमन से बंध दषम गुणस्थान तक होता है।

कथं ज्ञानगुणपरिणामो बंधहेतुरिति चेत्—

जम्हा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि।

अण्णत्तं णाणगुणो तेण दु सो बंधगो भणितो।।171।।

चूँकि यह ज्ञानगुण फिर, जघन्य अवबोधसे पुनः नाना।

अन्यरूप परिणमता, सो माना ज्ञानको बन्धक।।171।।

यस्मात्तु जघन्यात् ज्ञानगुणात् पुनरपि परिणमते। अन्यत्वं ज्ञानगुणः तीन तु स बंधको भणितः।।171।।

ज्ञानगुणस्य हि यावज्जघन्यो भावः, तावत् तस्यांतर्मुहूर्तविपरिणमित्वात् पुनः पुनरन्यतयास्ति परिणामः। स तु यथाख्यातचारित्रावस्थाया अधस्तादवष्यंभाविारागसद्भावात् बंधहेतुरेव स्यात्।।171।।

<p>नामसंज्ञ—ज, दु, जहण्ण, णाणगुण, पुणो, वि, अण्णत्त, णाणगुण, त, दु, त, बंधग, भणित। धातुसंज्ञ—परि—णम प्रह्वत्वे, भण कथने। प्रातिपदिक—यत्, तु, जघन्य, ज्ञानगुण, पुनर्, अपि, अन्यत्व, ज्ञान, गुण, तत्, तु, तत्, बंधक, भणित। मूलधातु—परि—णम प्रह्वत्वे, भण 'ाब्दार्थः। पदविवरण—जम्हा यस्मात्—पंचमी एक०। जहण्णादो जघन्यात्—पं० एक०। णाणगुणादो ज्ञानगुणात्—पं० एक०। पुणो पुनः—अव्यय। वि अपि—अव्यय। परिणमदि परिणमते—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन। अण्णत्तं अन्यत्वं—प्रथमा एक०। णाणगुणो ज्ञानगुणः—प्रथमा एक०। तेण तेन—तृतीया एक०। दु तु—अव्यय। सो सः—प्रथमा एक०। बंधगो बंधकः—प्रथमा एक०। भणितो भणितः—प्रथमा एकवचन कृदन्त क्रिया।।171।।</p>
--

टीकार्थ—ज्ञानगुणका जब तक जघन्य भाव है याने क्षयोपषमरूप भाव है, तब तक ज्ञान अंतमुहूर्त विपरिणामी होने से बार बार अन्य प्रकार परिणमन करता है। सो वह यथाख्यात चारित्र अवस्था से नीचे अवष्यंभावी राग का सद्भाव होने से बंधका कारण ही है।

भावार्थ—क्षायोपषमिकज्ञान एक ज्ञेय के ऊपर अंतमुहूर्त ही रह पाता है, तदनंतर अन्य ज्ञेयका अवलंबन करता है। इस कारण स्वरूपमें भी अंतमुहूर्त ही ज्ञानका ठहरना हो सकता है। अतः सम्यग्दृष्टि चाहे अप्रमत्त दषामें भी हो, उसके जब तक यथाख्यात चारित्र अवस्था नहीं हुई है तब तक अवष्य राग सद्भाव है, और उस राग के सद्भावसे बंध भी होता है। इस कारण ज्ञान गुण का जघन्य भाव बंधका कारण कहा गया है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में कहा था कि ज्ञानी के जो कुछ भी जहाँ आस्रव होता है उसका कारण कोई ज्ञानगुणपरिणाम है। अब उसी के सम्बन्ध में जिज्ञासा हुई कि

कैसे ज्ञानगुणपरिणाम बंध का कारण है? इसी जिज्ञासा का समाधान इस गाथा में किया गया है। ज्ञानगुण का यह जघन्यभाव चारित्रमोह के विपाक के निमित्त से है।

तथ्यप्रकाश—(1) ज्ञानगुण का जघन्य परिणाम रागादि विकारभावों से परिणमने के कारण होता है। (2) जब तक ज्ञानगुण का जघन्य परिणमन है तब तक वह अन्तर्मुहूर्त अन्तर्मुहूर्त में विपरिणमन करता रहता है। (3) ज्ञानगुण का जघन्य भाव अन्तर्मुहूर्त विपरिणामी होनेसे अन्य-अन्यरूपसे परिणाम होता है। (4) ज्ञानगुणका यह जघन्यभाव यथाख्यात चारित्रावस्था से पहिले तक याने दषम गुणस्थान तक रहता है। (5) ज्ञानगुण का जघन्यभाव अवष्यंभाविराग का सद्भाव होनेसे बन्ध का कारण होता है।

सिद्धान्त—(1) कषाय सहित ज्ञानदषा जघन्य ज्ञान कहलाता है। (2) ज्ञान का जघन्य भाव पौद्गलिककर्मास्रव का निमित्त कारण है।

दृष्टि—1—सभेद अपुद्घनिष्वयनय (47अ)। 2—निमित्तत्वदृष्टि (53अ)।

प्रयोग—ज्ञानगुणकी जघन्यता दूर करने के लिये अविकार परिपूर्ण सहज ज्ञानस्वभाव में आत्मत्व अनुभव करने का सत्पुरुषार्थ करना ॥171॥

अब पूछते हैं कि यदि ज्ञानगुण का जघन्यभाव याने अन्यत्वरूप परिणमन कर्म बंध का कारण है तो फिर वह ज्ञानी निरास्रव कैसे रहा उसके उत्तर में गाथा कहते हैं:—[यत्] एवं सति कथं ज्ञानी निरास्रवः इति चेत्—

दंसणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण ।

णाणी तेण दु वज्झदि पुग्गलकम्मण विविहेण ॥172॥

दर्शन ज्ञान चरित जो, परिणमते हैं जघन्यभावोंसे ।

इससे ज्ञानी बंधता, नाना पौद्गलिक कर्मों से ॥172॥

दर्शनज्ञानचारित्रं यत्परिणमते जघन्यभावेन। ज्ञानी तेन तु बध्यते पुद्गलकर्मणा विविधेन ॥172॥

यो हि ज्ञानी स बुद्धिपूर्वकरागद्वेषमोहरूपास्रवभावाभावात् निरास्रव एव, किंतु सोऽपि यावज्ज्ञानं सर्वोत्कृष्टभावेन द्रष्टुं ज्ञातुमनुचरितुं वाऽशक्तः सन् जघन्यभावेनैव ज्ञानं पथ्यति जानात्यनुचरितं च तावत्तस्यापि जघन्यभावान्यथानुपपत्त्याऽनुमीयमाना बुद्धिपूर्वककलंकविपाक—

<p>नामसंज्ञ—दंसणणाणचरित्तं, ज, जहण्णभाव, णाणि, त, दु, पुग्गलकम्म, विविह। धातुसंज्ञ—दंस दर्शनायां, जाण अवबोधने, चर गतौ, परि-णम प्रह्वत्वे, भव सत्तायां, बंध बंधने। प्रातिपदिक—दर्शनज्ञानचारित्र, यत्, जघन्यभाव, ज्ञानिन्, तत्, तु, पुद्गलकर्मन्, विविह। मूलधातु—दृषिर् प्रेक्षणे, ज्ञा अवबोधने, चर गत्यर्थः भ्वादि, बन्ध बन्धने। पदविवरण—दंसणणाणचरित्तं दर्शनज्ञानचारित्रं—प्रथमा एक०। जं यत्—प्रथमा एक०।</p>

क्योंकि [दर्शनज्ञानचारित्रं] दर्शनज्ञानचारित्र [जघन्यभावेन] जघन्यभावसे [परिणमते] परिणमन करता है [तेन तु] इस कारण से [ज्ञानी] ज्ञानी [विविधेन] अनेक प्रकार के [पुद्गलकर्मणा] पुद्गल कर्म से [बध्यते] बंधता है।

तात्पर्य—सराग अवस्था में दर्शन ज्ञान चारित्र का जघन्य याने निरन्तर न टिक सके ऐसा परिणमन है, इस कारण वहाँ कर्मबन्ध हो जाता है।

टीकार्थ—जो वास्तव में ज्ञानी है वह बुद्धिपूर्वक राग द्वेष मोहरूप आस्रवभाव के अभाव से निरास्रव ही है। किन्तु वह ज्ञानी जब तक ज्ञान को सर्वोत्कृष्ट भावसे देखने को, जानने को, आचरण करने को असमर्थ होता हुआ जघन्यभावसे ही ज्ञान को देखता है, जानता है, आचरण करता है तब तक उस ज्ञानी के भी ज्ञानके जघन्यभाव की अन्यथा अनुपपत्ति होनेसे अनुमीयमान अबुद्धिपूर्वक कर्ममलकलंक का सद्भाव होनेसे पुद्गलकर्म का बन्ध होता है। इस कारण तब तक ज्ञान को देखना, जानना और आचरण करना, जब तक ज्ञानका जितना पूर्ण भाव है उतना देखा, जाना, आचरण किया अच्छी तरह न हो जाय।

उसके बाद साक्षात् ज्ञानी हुआ सर्वथा निरास्रव ही होता है। **भावार्थ**—ज्ञानी के बुद्धिपूर्वक अज्ञानमय रागद्वेष मोहका अभाव है, इसलिये वह निरास्रव है फिर भी जब तक क्षायोपषमिक ज्ञान है, तब तक दर्शन, ज्ञान, चारित्र जघन्यभावसे परिणमते हैं, अतएव सम्पूर्ण ज्ञानका देखना, जानना, आचरण होना नहीं होता। सो इस जघन्यभावसे ही ऐसा जाना जा रहा है कि इसके अबुद्धिपूर्वक कर्मकलंक विद्यमान है, उसी से बन्ध होता है वह चारित्रमोह के उदयसे है, अज्ञानमय भाव नहीं है। इसलिये ऐसा उपदेश है कि जब तक ज्ञान सम्पूर्ण न हो तब तक ज्ञान का ही ध्यान निरन्तर करना याने ज्ञानको ही जानना, ज्ञानको ही आचरण। इसी मार्ग से चारित्रमोह का नाश होता है और केवलज्ञान प्रकट होता है। जब केवलज्ञान प्रकट हो जाता है तब सब तरह से साक्षात् निरास्रव होता है। यहाँ अबुद्धिपूर्वक रागादिक होनेपर भी बुद्धिपूर्वक रागादिक न होनेसे ज्ञानी को निरास्रव कहा है। अबुद्धिपूर्वक रागका अभाव होने के बाद तो केवलज्ञान ही उत्पन्न होता, तब उसे साक्षात् सर्वप्रकार से निरास्रव जानिये।

अब इसी अर्थ का कलषरूप काव्य कहते हैं—**संन्य** इत्यादि। **अर्थ**—यह आत्मा जब ज्ञानी होता है तब अपने बुद्धिपूर्वक सभी रागको निरन्तर दूर करता हुआ और अबुद्धिपूर्वक राग को भी जीतने के लिये बारंबार अपनी ज्ञानानुभवन रूप 'विक्रि का स्पर्ष सद्भाव पुद्गलकर्मबंधः स्यात्। अतस्तावज्ज्ञानं द्रष्टव्यं ज्ञातव्यमनुचरितव्यं च यावज्ज्ञानस्य यावान् पूर्णो भावस्तावान् दृष्टो ज्ञातोऽनुचरितश्च सम्यग्भवति। ततः साक्षात् ज्ञानीभूतः सर्वथा निरास्रव एव स्यात्। संन्यस्यत्रिजबुद्धिपूर्वमनिषं रागं समग्रं स्वयं, वारंवारमबुद्धिपूर्वमपि तं जेतुं स्वषक्तिं स्पृषन्। उच्छिदन् परिवृत्तिमेव सकलां ज्ञानस्य पूर्णोभवन्नात्मा नित्यनिरास्रवो भवति हि ज्ञानी यदा स्यात्तदा॥११६॥ ॥१७२॥

सर्वस्यामेव जीवत्यां द्रव्यप्रत्ययसंततौ। कुतो निरास्रवो ज्ञानी नित्यमेवेति चेन्मतिः॥११७॥

परिणमदे परिणमते—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन। जहण्णभावेण जघन्यभावेन—तृतीया एक०। गाणी ज्ञानी—प्र० ए०। तेण तेन—तृ० एक०। दु तु—अव्यय। बज्जदि बध्यते—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया। पुग्गलकम्मेण पुद्गलकर्मणा—तृ० ए०। विविहेण विविधेन—तृतीया एक०॥१७२॥

करता हुआ तथा ज्ञानके समस्त पलटनों को दूर करता हुआ ज्ञान के पूर्ण होता हुआ आत्मा 'ष्यत निरास्रव होता है।

भावार्थ—जब ज्ञानी के समस्त राग को हेय जाना तब उसके मेटने के लिए उद्यमी होता ही है और जो आस्रव हो रहे हैं सो उनमें इसके आस्रव भावों की भावना का अभिप्राय नहीं है। अतः ज्ञानी को निरास्रव कहा गया है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में कहा गया था कि ज्ञानगुणका जघन्यभाव यथा—ख्यातचारित्रावस्था से पहिले तक कर्मबन्ध का हेतु है। तो इस कथन पर यह जिज्ञासा होती है कि फिर ज्ञानी निरास्रव कैसे रहा? इसी जिज्ञासा का समाधान इस गाथा में करते हुए सिद्ध किया है कि ज्ञानी बुद्धिपूर्वक आस्रवभाव का अभाव होने से निरास्रव है, किन्तु वही जब तक जघन्य ज्ञानरूप रहता है तब तक उसके किन्हीं प्रकृतियों का आस्रव है।

तथ्यप्रकाश—1—ज्ञानी बुद्धिपूर्वक रागद्वेषमोहरूप आस्रवभाव न होनेसे निरास्रव ही है। 2—ज्ञानी होकर भी जब तक ज्ञान जघन्य भावरूपमें परिणम रहा है तब तक अबुद्धिपूर्वक कर्मकलंकविपाक होनेसे उसके कर्मबन्ध है। 3—ज्ञानी के कुछ काल तक जो कर्मबन्ध है वह संसारस्थितिक कर्मबन्ध नहीं है, तो भी ज्ञानी अविकार परिपूर्ण सहज ज्ञानभाव की आराधना करके उस हीनता को दूर कर देता है। 4—वीतराग ज्ञानी होने पर तो वह सर्वथा निरास्रव ही है।

सिद्धान्त—1—अविकार सहजसिद्ध चैतन्यभावरूप आत्मत्व की भावना होनेसे ज्ञानी निरास्रव है। 2—चारित्रमोह के उदयसे ज्ञानी के भी ज्ञान का क्षोभ परिणाममय जघन्य भाव होता है। 3—ज्ञानी अविकार परिपूर्ण सहज ज्ञानस्वभावकी अभेद आराधना के बल से ज्ञान के हीनभाव को समाप्त कर देता है।

दृष्टि—1—षुद्धभावनापेक्ष 'षुद्धद्रव्यार्थिकनय (24ब)। 2—उपाधिसापेक्ष अषुद्धद्रव्यार्थिकनय (24)। 3—उपादानदृष्टि (49ब)।

प्रयोग—ज्ञानमय आत्मस्वरूपका सम्यक् स्वाधीन अनाकुल सहजषुद्ध परिपूर्ण विकास प्राप्त करने के लिये अविकार, परिपूर्ण सहजानन्दमय अन्तस्तत्त्वमें आत्मत्वकी भावना दृढ़ बनाना चाहिये।।172।।

अब सभी द्रव्यास्रव की संतति के जीवित रहने पर ज्ञानी निरास्रव किस प्रकार है? ऐसा प्रश्न 'लोक में करते हैं—**सर्वस्या** इत्यादि। **अर्थ**—सभी द्रव्यास्रव की संतति के जीते रहने पर भी ज्ञानी नित्य ही निरास्रव कैसे रहा यदि ऐसी 'डका हो तो सुनिये—[**सम्यग्दृष्टेः**] सम्यग्दृष्टिके [**सर्वे**] समस्त [**पूर्वनिबद्धाः**] पूर्व अज्ञान अवस्था में बांधे गये [**प्रत्ययाः**] मिथ्यात्वादि आस्रव [**संति**] सत्तारूप हैं वे [**उपयोगप्रायोग्यं**] उपयोग के प्रयोग करने रूप जैसे हों वैसे [**कर्मभावेन**] कर्मभावसे [**बध्नन्ति**] बन्ध करते हैं। [**तु**] और [**संति**]

सव्वे पुव्वणिबद्धा दु पच्चया संति सम्मदिट्ठिस्स ।

उवओगप्पाओगं बंधंते कम्मभावेण ।।173।।

संती दु णिरुवभोज्जा बाला इत्थी जहेव पुरिसस्स ।

बंधदि ते उवभोज्जे तरुणी इत्थी जह णरस्स ।।174।।

होदूण णिरुवभोज्जा तह बंधदि जह हवंति उवभोज्जा ।

सत्तट्ठविहा भूदा णाणावरणादिभावेहि ।।175।।

एदेण कारणेण दु सम्मादिट्ठी अबंधगो होदि ।

आसवभावाभावे ण पच्चया बंधगा भणिदा ।।176।।

पूर्वबद्ध सब प्रत्यय, ज्ञानीके रह रहे हैं सत्ता में।

उपयोगयुक्त यदि हों, तो बांधे कर्मभावोंसे ।।173।।

सत्तास्थ निरुपभोग्या, वाला स्त्री यथा है मानवके।

उपभोग्य हुए बांधे, तरुणी नारी यथा नरको ।।174।।

वे निरुपभोग्य विधि ज्यों, पाकसमय भोगयोग्य हो जायें।

त्यों ही ज्ञानावरणा—दिक पुद्गलकर्मको बांधे ।।175।।

इस कारणसे सम्यग्—दृष्टी आत्मा अबंधक कहा है।

क्योंकि रागादि नहीं हों, तो प्रत्यय हैं नहीं बन्धक ।।176।।

नामसंज्ञ—सव्व, पुव्वणिबद्ध, दु, पच्चय, सम्मदिट्ठि, उवओगप्पाओग, कम्मभाव, दु, णिरुवभोज्ज, बाला, इत्थी, जह, एव, पुरिस, त, उवभोज्ज, तरुणी, इत्थी, जह, णर, णिरुवभोज्ज, तह, जह, उपभोज्ज, सत्तारूप रहते हुए वे पूर्वबद्ध प्रत्यय उदय आये बिना [**निरुपभोग्यानि**] भोगने के अयोग्य होकर स्थित हैं [**तु**] लेकिन [**तथा बध्नन्ति**] वे उस तरह बँधते हैं [**यथा**] जैसे कि [**ज्ञानावरणादिभावैः**] ज्ञानावरणादि भावों के द्वारा [**सप्ताष्टविधानि**] सात आठ प्रकार फिर [**उपभोग्यानि**] भोगने योग्य [**भवन्ति**] हो जायें। [**तु**] और [**यथा**] जैसे [**इह**] इस लोकमें [**पुरुशस्य**] पुरुषके [**बाला स्त्री**] बालिका स्त्री भोगने योग्य नहीं होती उस प्रकार [**निरुपभोग्यानि**] उपभोगके अयोग्य [**भूत्वा**] होकर भी [**तानि**] वे ही जब [**उपभोग्यानि**]

भोगने योग्य होते हैं तब [बध्नाति] जीवको, पुरुष को बांधते हैं अर्थात् जीव पराधीन हो जाता है, [यथा] जैसे कि [तरुणी स्त्री] वही बाला स्त्री जवान होकर [नरस्य] पुरुष को बाँध लेती है अर्थात् पुरुष उसके आधीन हो जाता है यही बँधना है। [एतेन तु कारणेन] इसी कारणसे [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [अबंधकः] अबंधक [भणितः] कहा गया है क्योंकि [आस्रवभावाभावे] आस्रवभाव जो राग-द्वेष-मोह उनका अभाव होने पर [प्रत्ययाः] मिथ्यात्व आदि प्रत्यय सत्ता में होने पर भी [बंधकाः] आगामी कर्म बंधके करने वाले [न] नहीं [भणिताः] कहे गये हैं।

टीकार्थ—जैसे सत्ता अवस्था में तत्काल की विवाहित बाल स्त्री की तरह पहिले अनुपभोग्य होने पर भी विपाक अवस्था में यौवन अवस्था को प्राप्त उसी पूर्व परिणीत स्त्री की तरह भोगने योग्य होनेसे जैसा आत्मा का उपयोग विकार सहित हो उसी योग्यता के अनुसार पुद्गल कर्मरूप द्रव्यप्रत्यय सत्तारूप होने पर भी कर्मके उदयानुसार जीवके भावों के सदभावसे ही बंध को प्राप्त होते हैं। इस कारण ज्ञानी के द्रव्यकर्मरूप प्रत्यय (आस्रव) सत्तामें मौजूद हैं तो भी वह ज्ञानी तो निरास्रव ही है, क्योंकि कर्मके उदयके कार्यरूप राग द्वेष मोह रूप आस्रवभावके अभाव होने पर द्रव्यप्रत्ययों के बन्धकारणपना नहीं है।

भावार्थ—सत्ता में मिथ्यात्वादि द्रव्यप्रत्यय विद्यमान हैं तो भी वे आगामी कर्मबंधके करने वाले नहीं हैं। क्योंकि बन्ध तो उनका उदय होने पर ही होता है। और उनकी इस निमित्तता का भी निमित्त जीवके राग द्वेष मोहरूप भाव होते हैं अतः द्रव्यप्रत्यय के उदय के सर्वे पूर्वनिबद्धास्तु प्रत्ययाः संति सम्यग्दृष्टेः। उपयोगप्रायोग्यं बध्नन्ति कर्मभावेन।।173।।

संति तु निरुपभोग्यानि बाला स्त्री यथेह पुरुषस्य। बध्नाति तानि उपभोग्यानि तरुणी स्त्री यथा नरस्य।

भूत्वा निरुपभोग्यानि तथा बध्नाति यथा भवत्युपभोग्यानि। सप्ताष्टविधानि भूतानि ज्ञानावरणादिभावैः।

एतेन कारणेन तु सम्यग्दृष्टिरबंधको भवति। आस्रवभावाभावे न प्रत्यया बंधका भणिताः।।176।।

यतः सदवस्थायां तदात्वपरिणीतबालस्त्रीवत् पूर्वमनुपभोग्यत्वेऽपि विपाकावस्थायां प्राप्तयौवनपूर्वपरिणीतस्त्रीवत् उपभोग्यत्वाद् उपयोगप्रायोग्यं पुद्गलकर्मद्रव्यप्रत्ययाः संतोऽपि कर्मोदयकार्यजीवभावसद्भावादेव बध्नन्ति ततो ज्ञानिनो यदि द्रव्यप्रत्ययाः पूर्वबद्धाः संति, संतु, तथापि स तु निरास्रव एव कर्मोदयकार्यस्य रागद्वेषमोहरूपस्यास्रवभावस्याभावे द्रव्यप्रत्ययानाम—

सत्तट्टविह, भूद, गाणावरणादिभाव, एत, कारण, दु, सम्मादिटिठ, अबंधग, आस्रवभावाभाव, ण, पच्चय, बंधग, भणिद। **धातुसंज्ञ**—णि-बंध बंधने, अस भुवि, भुंज भोगे, वर स्वीकाराच्छादनयोः, भण कथने, आस्रव स्रवणे, हो सत्तायां। **प्रातिपदिक**—सर्व, पूर्वनिबद्ध, तु, प्रत्यय, सम्यग्दृष्टि, उपभोगप्रायोग्यं, कर्मभाव, निरुपभोग्य, बाला, स्त्री, यथा, इह, पुरुष, तत्, उपभोग्य, तरुणी, स्त्री, यथा, नर, निरुपभोग्य, तथा, यथा, उपभोग्य, सप्ताष्टविध, भूत, ज्ञानावरणादिभाव, एतत्, कारण, तु, सम्यग्दृष्टि, अबन्धक, भणित, आस्रवभावाभाव, न, प्रत्यय, बन्धक, भणित। **मूलधातु**—बन्ध बन्धने, अस भुवि, युजिर् योगे, भुज पाल-नाभ्यवहारयोः रुधादि, नृ नये भ्वादि क्र्यादि, भू सत्तायां। **पदविवरण**—सर्वे सर्वे-प्रथमा बहु०। पुव्व-

और जीवके भावों के कार्यकारणभाव निमित्तनैमित्तिकभाव रूप है। सत्ता में विद्यमान द्रव्यकर्म विकार के निमित्त नहीं होते। जैसे विवाहिता बाला विकार का कारण नहीं बनती, वही जब तरुणी होतौ है तो विकार का कारण बनती है, यदि पुरुष उसके तरुणी होने के पहिले विरक्त हो जाय तो लो वह तरुणी भी विकारकारक नहीं बनी, ऐसे ही उस विवक्षित कर्मविपाक से पहिले यह आत्मा ज्ञानी विरक्त हो जाय तो कर्मविपाक का भी जोर नहीं रहता इस तरह अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि हुए बाद चारित्रमोह का उदयरूप परिणाम होने पर भी ज्ञानी ही कहा गया है। और 'पुद्धस्वरूपमें लीन रहने के अभ्यास से समाधिबल से केवलज्ञान प्रकट होनेसे साक्षात् ज्ञानी होता है तब सर्वथा निरास्रव हो जाता है।

अब इस अर्थ का कलषरूप काव्य कहते हैं—**विजहति** इत्यादि। **अर्थ**—यद्यपि अपने अपने समय में उदय आने वाले पूर्वबद्ध द्रव्यरूप प्रत्यय अपनी अपनी सत्ता को नहीं छोड़ रहे याने वे हैं तो भी ज्ञानी के समस्त रागद्वेष मोहके अभावसे नवीन कर्मका बंध कभी अवतार नहीं धरता। **भावार्थ**—राग द्वेष मोह भावों के बिना सत्ता में रहने वाले द्रव्यास्रव बंधका कारण नहीं है। यहां सर्वत्र बताये गये राग द्वेष मोहके अभाव से बुद्धिपूर्वक होने वाले रागादिका अभाव समझना।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया गया था कि ज्ञानके जघन्य भावसे अनुमीयमान अबुद्धिपूर्वक कर्मकलंकविपाक होनेसे दषम गुणस्थान तक ज्ञानी नाना पुद्गलकर्मसे बँधता है। सो इस कथनपर प्रश्न हुआ कि जब द्रव्य प्रत्ययसंतति पाई जा रही है तो फिर ज्ञानी को निरास्रव कैसे कहा जा सकता है? इस प्रश्न का समाधान इस गाथाचतुष्कमें किया गया है।

तथ्यप्रकाश—1—बद्धकर्म जब सत्तामें रह रहे हैं तब वे कर्म उपभोग्य नहीं हैं। 2—जब वे कर्म उदयमें आते हैं तब ज्ञानी के उसके अनुभागरसमें राग न होनेस अज्ञानमय रागद्वेष मोहरूप आस्रव भाव नहीं है। 3—अज्ञानमय राग द्वेष मोहरूप आस्रवभावके अभाव से ज्ञानी के द्रव्यप्रत्यय प्रायोग्य नवकर्मके आस्रवके हेतु नहीं हो पाते। 4—जैसे बाला स्त्री अनुपभोग्य है वह जब युवती होगी उससे पहिले पुरुष यदि विरक्त हो त बवह कभी भी उपभोग्य न हो सकी, ऐसे ही जब कर्म सदवस्य हैं तब अनुपभोग्य हैं, वे जब विपाकोदयमें आवेंगे उससे पहिले ही यह जीव यदि ज्ञानमय व विराग हो जाय तो वे कभी भी उपभोग्य न हो सके। 5—अबुद्धिपूर्वक (अव्यक्त) उपभोगको यहाँ उपभोग नहीं माना है।

बंधहेतुत्वात्। विजहति नहि सत्तां प्रत्ययाः पूर्वबद्धाः समयमनुसरंतो यद्यपि द्रव्यरूपाः। तदपि सकलरागद्वेषमोहव्युदासादवरति न जातु ज्ञानिनः कर्मबंधः॥1118॥ रागद्वेषविमोहानां ज्ञानिनो यदसंभवः। तत एव न बंधोऽस्य, ते हि बंधस्य कारणं॥1119॥ ॥1173—176॥

णिबद्धा पूर्वनिबद्धाः—प्रथमा बहु०। दु तु—अव्यय। संति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु० क्रिया। सम्मादिटिठ—स्स सम्यग्दृष्टेः—षष्ठी एक०। उवओगप्पाउग्गं उपभोगप्रायोग्यं—क्रियाविषेषण यथा स्यात्तथा, बंधंते बध्नन्ति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन। कम्मभावेण कर्मभावेन—तृतीया एक०। संति—प्रथमा बहु० कृदंत, दु तु—अव्यय। णिरुवभोज्जा निरुपभोग्यानि—प्र० बहु०। वाला—प्रथमा एक०। इत्थी स्त्री—प्रथमा एक०। जह यथा—अव्यय। णरस्स नरस्य—षष्ठी एक०। होदूण भूत्वा—असमाप्ति की क्रिया। निरुवभोज्जा निरुपभोग्यानि—प्र० बहु०। तह तथा—अव्यय। बंधदि बध्नाति—वर्तमान लट् अन्य० बहु०। जह यथा—अव्यय। हवंति भवन्ति—वर्तमान० अन्य० बहु०। उवभोज्जा उपभोग्यानि—प्र० बहु०। सत्तट्ठविहा सप्ताष्टविधानि—प्रथमा बहु०। भूदा भूतानि—प्रथमा बहु०। णाणावरणादिभावेहिं ज्ञानावरणादिभावैः—तृ० बहु०। एदेण एतेन—तृ० एक०। कारणेण कारणेन—तृ० एक०। डु तु—अव्यय। सम्मादिट्ठी सम्यग्दृष्टिः—प्रथमा एक०। अबंधगो अबन्धकः—प्रथमा एक०। होदि भवति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। आसवभावाभावे आस्रवभावाभावे—सप्तमी एक०। ण न—अव्यय। पच्चया प्रत्ययाः—प्रथमा बहु०। बन्धगा बन्धकाः—प्रथमा बहु०। भणिदा भणिताः—प्रथमा बहुवचन॥1173—176॥

सिद्धान्त—1—अविकार सहज 'बुद्ध ज्ञानस्वभावकी उपासना में कर्म अनुपभोग्य हो जाते हैं। 2—द्रव्यप्रत्ययनों को निमित्तत्व का निमित्त अध्यवसान न मिलने से वे द्रव्यप्रत्यय बन्धक हेतु नहीं होते।

दृष्टि—1—स्वभावनय (179)। 2—उपाध्यभावापेक्ष 'बुद्ध द्रव्यार्थिकनय (24अ)।

प्रयोग—कर्मास्रवण से निवृत्त होने के लिये तथा पूर्वबद्धकर्मके विषरससे बचने के लिये अविकार सहजसिद्ध चित्प्रकाषमात्र अन्तस्तत्त्व में उपयोग देना व दिये रहना॥1173—176॥

अब इसी अर्थ को दृढ़ करने के लिए गाथा की उत्थानि का रूप 'लोक कहते हैं;—राग इत्यादि। अर्थ—चूँकि ज्ञानी के राग द्वेष मोह का होना असंभव है अतः ज्ञानी के बन्ध नहीं है क्योंकि रागद्वेषमोह ही बन्धके कारण हैं। भावार्थ—ज्ञानी के मोह तो है ही नहीं, जो कर्मविपाकवष रागद्वेष होते हैं वे अभिप्रायपूर्वक नहीं, अतः 41 प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता, 'ीष बन्ध भी विशेष नहीं होता और जो दषम गुणस्थान से ऊपर के ज्ञानी हैं उनके किञ्चिन्मात्र भी बन्ध नहीं है, सिर्फ योग रहने तक ईर्यापथ आस्रव होता है—[रागः] राग [द्वेषः] द्वेष [च मोहः] और मोह [आस्रवाः] ये आस्रव [सम्यग्दृष्टेः] सम्यग्दृष्टिके [न संति] नहीं हैं [तस्मात्] इसलिये [आस्रवभावेन विना] आस्रवभावके बिना [प्रत्ययाः] द्रव्यप्रत्यय [हेतवः] कर्मबन्ध का कारण [न भवन्ति] नहीं है [चतुर्विकल्पः] मिथ्यात्व आदि चार प्रकार का [हेतुः] हेतु [अष्टविकल्पस्य] आठ प्रकार के कर्मके बँधने का [कारणं भणितं] कारण कहा गया है [च] और [तेशामपि] उन चार प्रकार के हेतुओं के भी [रागादयः] जीवके रागादिकभाव कारण हैं सो सम्यग्दृष्टि के [तेशां अभावे] उन रागादिक भावों का अभाव होने पर [न बध्यन्ते] कर्म नहीं बँधते हैं।

तात्पर्य—सम्यग्दृष्टि के अज्ञानमय रागद्वेष मोहका अभाव होनेसे संसारविषयक बन्ध नहीं होता।

टीकार्थ—सम्यग्दृष्टि के रागद्वेष मोह नहीं हैं; अन्यथा सम्यग्दृष्टिपना नहीं बन सकता। रागद्वेष मोहका अभाव होने पर उस सम्यग्दृष्टि के द्रव्यप्रत्यय पुद्गलकर्मबन्धके कारणपने को नहीं धारण करते। क्योंकि द्रव्यप्रत्ययों के पुद्गलकर्मबन्धका कारणपना रागादिहेतुक ही है, इसलिये कारण के कारणका अभाव होने पर कार्यका अभाव प्रसिद्ध होनेसे ज्ञानी के बन्ध नहीं है।

रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठस्स ।

तह्मा आसवभावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति ॥177॥

हेदू चदुव्वियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं भणितं ।

तेसिं पि य रागादी तेसिमभावे ण वज्झन्ति ॥178॥

रति अरति मोह आस्रव, संज्ञानी के न होंय इस कारण।

आस्रवभावके बिना, प्रत्यय बन्धक नहीं होते ॥177॥

मिथ्यादि चार प्रत्यय, होते हैं अष्ट कर्मके कारण।

प्रत्यय भि रागहेतुक, रागादि बिना न विधि बांधे ॥178॥

रागो द्वेषो मोहश्च आस्रवा न संति सम्यग्दृष्टेः । तस्मादास्रवभावेन विना हेतवो न प्रत्यया भवन्ति ॥177॥

हेतुष्वचतुर्विकल्पः अष्टविकल्पस्य कारणं भणितं । तेषामपि च रागादयस्तेषामभावे न बध्यन्ते ॥178॥

रागद्वेषमोहा न संति सम्यग्दृष्टेः सम्यग्दृष्टित्वान्यथानुपपत्तेः । तदभावे न तस्य द्रव्यप्रत्ययाः पुद्गलकर्महेतुत्वं बिभ्रति द्रव्यप्रत्ययानां पुद्गलकर्महेतुत्वस्य रागादिहेतुत्वात् । ततो

नामसंज्ञ—राग, दोष, मोह, य, आस्रव, ण, अत्थि, सम्मदिट्ठ, त, आस्रवभाव, विणा, हेदू, ण, पच्चय, हेदु, चदुव्वियप्प, अट्ठवियप्प, कारण, भणितं, त, पि, य, रागादि, त, अभाव, ण। धातुसंज्ञ—रज्ज रागे, दुस वैकृत्ये अप्रीतौ च, अस सत्तायां, हो सत्तायां, भण कथने, बन्ध बन्धने। प्रातिपदिक—राग, द्वेष, मोह, च,

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि, रागद्वेषमोह के अभाव बिना नहीं हो सकता ऐसा जो अविनाभाव नियम यहाँ कहा है सो वह मिथ्यात्वसम्बन्धी रागादिकों का अभाव जानना इस प्रायोगिक प्रक्रिया में उन्हीं को रागादि माना गया है। सम्यग्दृष्टि होने के बाद कुछ चारित्रमोह सम्बन्धी राग रहता है सो वहाँ पर नहीं गिना, वह गौण है इसलिये उन भावास्रवों के बिना

द्रव्यास्रव बंधके कारण नहीं हैं, कारण का कारण न हो तो कार्य का भी अभाव हो जाता है यह सुप्रसिद्ध है। इस दृष्टि से सम्यग्दृष्टि ज्ञानी ही है इसके बन्ध नहीं है। यहाँ सम्यग्दृष्टि को ज्ञानी कहने की अपेक्षा यह है कि प्रथम तो जिसके ज्ञान हो वही ज्ञानी कहलाता है सो सामान्यज्ञान की अपेक्षा तो सभी जीव ज्ञानी हैं और सम्यग्ज्ञान मिथ्याज्ञान की अपेक्षा देखा जाय तो सम्यग्दृष्टि के सम्यग्ज्ञान है उसकी अपेक्षा ज्ञानी है, किन्तु मिथ्यादृष्टि के सम्यग्ज्ञान नहीं, अतः वह अज्ञानी है। यदि सम्पूर्ण ज्ञानकी अपेक्षा ज्ञानी कहा जाय तो केवली भगवान् ज्ञानी हैं, क्योंकि जब तक सर्वज्ञ न हो तब तक औदयिक अज्ञानभाव बारहवें गुणस्थान तक सिद्धान्त में कहा है। इस तरह तथ्य विधिनिषेध अपेक्षा से निर्बाध सिद्ध होते हैं सर्वथा एकांतसे कुछ भी नहीं सधेगा। सो जहाँ जैसे ज्ञानी की विवक्षा हो उस प्रकार का अबंधक समझना।

अब 'जुद्धनय का माहात्म्य कहते हैं—**अध्यास्य** इत्यादि। **अर्थ**—जो पुरुष उन्नत ज्ञान चिह्न वाले 'जुद्धनय को अङ्गीकार कर निरन्तर एकाग्रपने का अभ्यास करते हैं वे पुरुष रागादि से मुक्त चित्त वाले होते हुए बन्धसे रहित अपने 'जुद्ध आत्मस्वरूपको देखते हैं।

भावार्थ—यहाँ 'जुद्धनय से एकाग्र होनेका संदेश दिया गया है। सो साक्षात् 'जुद्धनयका होना तो केवलज्ञान होने पर होता है और श्रुतज्ञानके अंशरूप 'जुद्धनयके द्वारा 'जुद्धस्वरूपका श्रद्धान करना तथा ध्यान कर एकाग्र होना यह यहाँ सम्भव है। सो यह परोक्ष अनुभव है। एक देश 'जुद्ध होने की अपेक्षा व्यवहारसे यह प्रत्यक्ष कहा गया है।

अब कहते हैं कि जो इससे चिग जाते हैं वे कर्मों को बाँधते हैं—**प्रच्युत्य** इत्यादि। **अर्थ**—जो पुरुष 'जुद्धनय से छूटकर फिर रागादिक के योग को प्राप्त होते हैं वे ज्ञानको छोड़कर जिस कर्मबंधने पूर्वबद्ध द्रव्यास्रवों के द्वारा अनेक प्रकार के विकल्पों का जाल कर रक्खा है ऐसे कर्मबंध को धारण कहते हैं। **भावार्थ**—ज्ञानी होने के बाद भी 'जुद्धनयसे याने 'जुद्धता की प्रतीति से चिग जाय तो वह रागादि के सम्बन्धसे द्रव्यास्रव के अनुसार अनेक

हेतुमदभावस्य प्रसिद्धत्वात् ज्ञानिनो नास्ति बन्धः। अध्यास्य 'जुद्धनयमुद्धतबोधचिह्नमैकाग्रमेव कलयन्ति सदैव ये ते। रागादिमुक्तमनसः सततं भवन्तः पश्यन्ति बंधविधुरं समयस्य सारं।।120।। प्रच्युत्य 'जुद्धनयतः पुनरेव ये तु, रागादियोगमुपयांति विमुक्तबोधाः। ते कर्मबन्धमिह विभ्रति पूर्वबद्धद्रव्यास्रवैः कृतविचित्रविकल्पजालं।।121।। ।।177-178।।

आस्रव, न, सम्यग्दृष्टि, तत्, आस्रवभाव, बिना, हेतु, न, प्रत्यय, हेतु, चतुर्विकल्प, अष्टविकल्प, कारण, भणित, तत्, अपि, च, रागादि, तत्, अभाव, न। **मूलधातु**—रन्ज रागे, द्विष अप्रीतौ अदादि, मुह वैचित्ये दिवादि, अस भुवि, भू सत्तायां, भण 'बुद्धार्थः, बन्ध बन्धने। **पदविवरण**—रागो रागः—प्रथमा एक०। दोसो द्वेषः—प्र० एक०। मोहो मोहः—प्र० एक०। य च—अव्यय। आस्रवा आस्रवाः—प्रथमा बहु०। ण न—अव्यय। अत्थि संति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन। सम्मदिटिठस्स सम्यग्दृष्टेः—षष्ठी एक०। तम्हा तस्मात्—पंचमी एक०। आस्रवभावेण आस्रवभावेन—तृतीया ए०। विणा विना—अव्यय। हेदू हेतवः—प्रथमा बहु०। ण न—अव्यय। पच्चया प्रत्ययाः—प्र० बहु०। होंति भवन्ति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु०। हेदू हेतवः—प्रथमा बहु०। चदूवियप्पो चतुर्विकल्पः—प्रथमा एकवचन। अट्ठवियप्प्स्स अष्टविकल्पस्य—षष्ठी एक०। कारणं—प्रथमा एक०। भणितं भणितं—प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया। तेसिं तेषां—षष्ठी बहु०। पि अपि—अव्यय। य च—अव्यय। रागादी रागादयः—प्रथमा बहु०। तेसिं तेषां—षष्ठी बहु०। अभावे—सप्तमी एक०। ण न—अव्यय। बज्झन्ति बध्यन्ते—वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन भावकर्मप्रक्रिया क्रिया।।177-178।।

प्रकार के कर्मों को बाँधता है। यहाँ मिथ्यात्व सम्बन्धी रागादिक से बन्ध होने की प्रधानता की है और उपयोग की अपेक्षा को गौण रखा है। ज्ञानी अन्य ज्ञेयों में उपयुक्त होवे तो भी

मिथ्यात्व के बिना जितना रागका अंश है वह ज्ञानी के अभिप्रायपूर्वक नहीं है, इसलिए उस स्थिति में हुआ अल्पबन्ध संसारका कारण नहीं है। चारित्रमोह के रागसे कुछ बन्ध होता है वह अज्ञान के पक्ष में नहीं गिना, परंतु बन्ध अवष्य है सो उसी के मेटने को 'जुद्धनय से न छूटने का और 'जुद्धोपयोग में लीन होने का सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को उपदेश है।

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व गाथाचतुष्कमें बताया गया था कि भावास्रव का अभाव होनेसे द्रव्यप्रत्यय बन्धके हेतु (आस्रवके हेतु) नहीं होते। इसी अर्थ का समर्थन इस गाथायुग्म में किया गया है।

तथ्यप्रकाश—1—अविरत सम्यग्दृष्टि के अनंतानुबंधीकषायसम्बन्धी राग द्वेष मोह नहीं हैं अन्यथा सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता था। 2—देषसंयत सम्यग्दृष्टिके अनन्तानुबंधी अप्रत्याख्यानावरण सम्बन्धी रागद्वेषमोह नहीं हैं। 3—प्रमत्तविरत सम्यग्दृष्टिके अनन्तानुबंधी अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण सम्बन्धी राग द्वेष मोह नहीं है। 4—अप्रमत्तविरत सम्यग्दृष्टिके अनन्तानुबंधी अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण संबंधी तथा संज्वलनतीव्रोदयजनित राग द्वेष मोह नहीं है। 5—श्रेणिगत अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में तत्तद्योग्य स्थूल संज्वलन रागादि नहीं है। 6—सूक्ष्मसाम्पराय में सूक्ष्मसंज्वलन लोभ आदि कोई भी राग नहीं है। 7—द्रव्यप्रत्यय द्रव्यास्रव का निमित्त बने इसका निमित्त भावास्रव होता है। 8—ज्ञानी के गुणस्थानानुसार राग द्वेष मोह नहीं है अतः उसके द्रव्यप्रत्यय द्रव्यास्रव के हेतु नहीं होते, अतः ज्ञानी के बन्ध नहीं कहा गया। 9—ज्ञानी के संसारस्थिति वाला कर्मबन्ध न होनेसे सरागदषामें हुए अल्पबंध को यहाँ बन्ध नहीं कहा गया।

सिद्धान्त—1—ज्ञानी के सहजसिद्ध ज्ञानस्वभावकी भावना होनेसे अज्ञानमय भावास्रव नहीं होते। 2—द्रव्यप्रत्यय नवीनकर्मबन्ध के निमित्तभूत हैं।

दृष्टि—1—ज्ञाननय (194)। 2—निमित्तदृष्टि (53 अ)।

प्रयोग—सर्व विरुद्धताओं को संकटों को दूर करने के लिये सर्वविकारों को परभाव जानकर उनका लगाव छोड़कर अपने अविकार चैतन्यस्वरूपके अभिमुख रहने का प्रवर्तन करना ॥177—178 ॥

जह पुरिसेणाहारो गहिओ परिणमइ सो अणेयविहं ।

मंसवसारुहिरादी भावे उयरग्गिसंजुत्तो ॥179 ॥

तह णाणिस्स दु पुव्वं जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं ।

बज्झंते कम्मं ते णयपरिहीणा उ ते जीवा ॥180 ॥ (युगलम्)

ज्यों नर गृहीत भोजन, होकर जठराग्नियुक्त नानाविध ।

मांस वसा रुधिरादिक, रसभावोंरूप परिणमता ॥179 ॥

त्यों ज्ञानी के पहिले, बद्ध हुए जो अनेक प्रत्यय हैं ।

विविध कर्म यदि बाँधे, जानो वे 'जुद्धनयच्युत हैं ॥180 ॥

यथा पुरुषेणाहारो गृहीतः परिणमति सोऽनेकविधं । मांसवसारुधिरादीन् भावान् उदराग्निसंयुक्तः ॥179 ॥

तथा ज्ञानिनस्तु पूर्व बद्धा ये प्रत्यया बहुविकल्पं । बध्नन्ति कर्म ते नयपरिहीनास्तु ते जीवाः ॥180 ॥

यदा तु 'जुद्धनयात् परिहीणो भवति ज्ञानी तदा तस्य रागादिसद्भावात् पूर्वबद्धाः द्रव्यप्रत्ययाः स्वस्य हेतुत्वहेतुसद्भावे हेतुमद्भावस्यानिवार्यत्वात् ज्ञानावरणादिभावैः पुद्गलकर्मबंधं परिणामयन्ति । न चैतदप्रसिद्धं पुरुषगृहीताहारस्योदराग्निना रसरुधिरमांसादिभावैः परिणामकरणस्य दर्शनात् । इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः 'जुद्धनयो न हि । नास्ति बंधस्तदत्यागात्

तत्यागाद् बंध एव हि ॥122॥ धीरोदारमहिन्म्यनादिनिधने बोधे निबध्नन् धृतिं, त्याज्यः
‘जुद्धनयो न जातु कृतिभिः सर्वकषः कर्मणां। तत्रस्थाः स्वमरीचिचक्रमचिरात्संहृत्य निर्यद्बहिः,

नामसंज्ञ—जह, पुरिस, आहार, गहिअ, त, अणेयविह, मंसवसारुहिरादि, भाव, उयरग्गिसंजुत्, तह, णाणि, दु, पुव्व, ज, बद्ध, पच्चय, बहुवियप्प, कम्म, त, णयपरिहीण, उ, त, जीव। **धातुसंज्ञ**—ग्गह ग्रहणे, परि-णम अर्पणे, जु, मिश्रणे, बन्ध बन्धने। **प्रातिपदिक**—यथा, पुरुष, आहार, गृहीत, तत्, अनेकविध, मांस, वसारुधिरादि, भाव, उदराग्निसंयुक्त, तथा, ज्ञानिन्, तु, पूर्वं, यत्, बद्ध, प्रत्यय, बहुविकल्प, कर्मन्, तत्- नयपरिहीन, तु, तत् जीव। **मूलधातु**—ग्रह उपादाने क्र्यादि, परि-णम प्रहवत्त्वे, बन्ध बन्धने। **पदविवरण**—

अब इसी अर्थ का समर्थन दृष्टांत पूर्वक करते हैं—[यथा] जैसे [पुरुशेण] पुरुषके द्वारा [गृहीतः] ग्रहण किया गया [आहारः] आहार [स उदराग्निसंयुक्तः] वह उदराग्नि से युक्त हुआ [अनेकविधं] अनेक प्रकार [मांसवसारुधिरादीन्] मांस वसा रुधिर आदि [भावान्] भावों रूप [परिणमति] परिणमता है [तथा तु ज्ञानिनः] उसी प्रकार ज्ञानी के [पूर्वं बद्धाः] पूर्व बंधे [ये] जो [प्रत्ययाः] द्रव्यप्रत्यय [ते] वे [बहुविकल्पं] बहुत भेदों वाले [कर्म] कर्म को [बध्नन्ति] बांधते हैं। [ते] वे [जीवाः] जीव [तु नयपरिहीनाः] ‘जुद्धनयसे रहित हैं।

तात्पर्य—पुरुषगृहीत आहार के नाना परिणमन की तरह पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्यय से गृहीत कर्मके प्रकृति प्रदेश आदि नाना बंधरूप परिणमन हो जाते हैं।

टीकार्थ—जिस समय ज्ञानी ‘जुद्धनयसे छूट जाता है उस समय उसके रागादि भावों के सद्भाव से पूर्व बंधे हुए द्रव्यप्रत्यय अपने हेतुत्व के हेतु का सद्भाव होनेसे कार्यभावका होना अनिवार्य होने के कारण ज्ञानावरणादि भावों से पुद्गलकर्मको बंधरूप परिणमाते हैं। और यह बात अप्रसिद्ध नहीं है। पुरुष द्वारा ग्रहण किया गया आहार भी उदराग्नि से रस, रुधिर, मांस आदि भावों से परिणमन करना देखने में आता है। **भावार्थ**—ज्ञानी भी जब ‘जुद्धनयसे छूटता तब रागादिरूप होता हुआ कर्मों को बांधता है। क्योंकि रागादिभाव द्रव्यास्रव के निमित्त के निमित्त होते हैं तब वे द्रव्यप्रत्यय अवष्य कर्मबन्ध के कारणभूत होते हैं।

यहाँ इसी अर्थ का तात्पर्य कहते हैं—इद इत्यादि। **अर्थ**—यहाँ पहले कथन का यही तात्पर्य है कि ‘जुद्धनय त्यागने योग्य नहीं है, क्योंकि उस ‘जुद्धनय का त्याग न होने से तो कर्म का बन्ध नहीं होता और उसके त्याग से कर्मका बन्ध होता ही है। फिर उस ‘जुद्धनयके ही ग्रहण को दृढ़ करते हुए काव्य कहते हैं—**धीरो** इत्यादि। **अर्थ**—चलाचलपने

पूर्ण ज्ञानघनोघमेकमचलं पथ्यंति ‘गांतं महः॥123॥ रागादीनां झगिति विगमात् सर्वतोप्यास्रवाणां, नित्योद्योतं किमपि परमं वस्तु संपथ्यतोऽतः। स्फारस्फारैः स्वरसविसरैः

जह यथा-अव्यय। पुरिसेण पुरुषेण-तृतीया एक०। आहारो आहारः-प्रथमा एक०। गहिओ गृहीतः-प्र० एक०। परिणमदि परिणमति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। सो सः-प्र० एक०। अणेयविहं अनेकविधं-क्रियाविषेण अव्ययरूपे, मंसवसारुहिरादी मांसवसारुधिरादीन्-द्वि० बहु०। भावे भावान्-द्वि० बहु०। उयरग्गिसंजुत्तो उदराग्निसंयुक्तः-प्र० ए०। तह तथा-अव्यय। णाणिस्स ज्ञानिनः-षष्ठी एक०। दु तु-अ०। पुव्वं पूर्वं-क्रियाविषेण अव्ययरूपे, जे ये-प्र० बहु०। बद्धा बद्धाः-प्रथमा बहु०। पच्चया प्रत्ययाः-प्रथमा बहु०। बहुवियप्पं बहुविकल्पं-द्वितीया एकवचन कर्मविषेण। बज्झते बध्नन्ति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष

से रहित, सर्व पदार्थों में विस्तार युक्त, महिमावान, अनादिनिधन, कर्मों को मूल से नाश करने वाला ‘जुद्धनय धर्मात्मा पुरुषों के द्वारा कभी छोड़ने योग्य नहीं है, क्योंकि ‘जुद्धनय में स्थित पुरुष बाहर निकलते हुए अपने ज्ञानकी व्यक्तिविषेणों को तत्काल समेटकर सम्पूर्ण

ज्ञानघन का समूह स्वरूप, निष्कल 'गांतरूप, ज्ञानमय प्रताप के पुञ्ज को अवलोकते अर्थात् अनुभवते हैं।

भावार्थ—षुद्धनय समस्त ज्ञानके विषेषों को गौणकर तथा समस्त परनिमित्त से हुए भावों को गौण कर चिन्मात्र अन्तस्तत्त्व को 'षुद्ध नित्य अभेद एक स्वरूप ग्रहण करता है। सो ऐसे सहज 'षुद्ध चिन्मात्र अपने आत्मा को जो अनुभव कर एकाग्र स्थित हैं वे ही समस्त कर्मों के समूह से विविक्त अविकार ज्ञानमूर्ति स्वरूप अपने आत्मा को देखते हैं। आध्यात्मिक 'षुद्धनय में अन्तर्मुहूर्त ठहरने से 'षुक्लध्यान की प्रवृत्ति होकर केवलज्ञान उत्पन्न होता है। सो इसको अवलंबन कर जब तक केवलज्ञान न उत्पन्न हो तब तक फिर इससे छूटना नहीं, ऐसा आचार्य देवका उपदेश है। अब आस्रव का अधिकार पूर्ण हो रहा है। यहाँ रंगभूमिमें आस्रव का स्वांग बना था उसको ज्ञानने यथार्थ जान स्वांग को हटवा दिया और आप सहज विषुद्ध प्रगट हुआ इस प्रकार ज्ञान की महिमा काव्य द्वारा कहते हैं—**रागादिनां** इत्यादि। **अर्थ**—रागादिक आस्रवों के झट सर्वतः दूर होनेसे नित्य उद्योत रूप किसी परम वस्तुको अंतरंग में अवलोकन करने वाले पुरुष का अचल, अतुल यह ज्ञान अति विस्ताररूप फैलता हुआ अपने निज रसके प्रवाह से सब लोक पर्यंत अन्य भावों को अंतर्मग्न करता हुआ उदय रूप प्रगट हुआ।

भावार्थ—षुद्धनय के अवलंबन से जो पुरुष अंतरंग में चैतन्यमात्र अन्तस्तत्त्व को एकाग्र अनुभवते हैं उनके सब रागादिक आस्रव भाव दूर हो जाते हैं तब सब पदार्थों को जानने वाला केवलज्ञान प्रगट होता है। इस प्रकार आस्रव का स्वांग रंगभूमि में बना था उसका ज्ञानने यथार्थस्वरूप जान लिया तब वह निकल गया।

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व गाथायुगम में कहा था कि भावास्रव के बिना द्रव्यप्रत्यय कर्मबन्धके हेतु नहीं है, हाँ जब 'षुद्धनयसे च्युत हो आत्मा रागादियोग को प्राप्त होता है तब वह कर्मबंध का बोझा करने लगता है। इसी अर्थ का समर्थन इस गाथायुगम में उदाहरणपूर्वक किया है।

तथ्यप्रकाश—1—अखण्ड सहजसिद्ध अन्तस्तत्त्व का नयपक्षपातरहित होकर निरखना 'षुद्धनय कहलाता है। 2—जब आत्मा 'षुद्धनय में उपयुक्त है तब उसे अबन्धक कहा है। प्लावयत्सर्वभावा—नालोकांतादचलमतुलं ज्ञानमुन्मग्नमेतत् ॥124 ॥ इति आस्रवो निष्क्रांतः ॥179—180 ॥

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ

आस्रवप्ररूपकः चतुर्थोऽङ्कः ॥4 ॥

बहु० क्रिया। कम्मं कर्म—द्वितीया एकवचन कर्मकारक। ते—प्रथमा बहु०। णयपरिहीणा नयपरिहीनाः—प्र० बहु०। उ तु—अव्यय। ते—प्रथमा बहु०। जीवा जीवाः—प्रथमा बहुवचन ॥179—180 ॥

3—जब ज्ञानी 'षुद्धनयसे रहित हो जाता है तब वहाँ रागादिक के होनेसे उदित द्रव्यप्रत्ययके निमित्त से कार्माणवर्गणा ज्ञानावरणादि कर्म रूपसे परिणमने लगते हैं। 3—जैसे पुरुषगृहीत

आहार जठराग्नि द्वारा रसादिरूपसे परिणम जाता है वैसे ही 'बुद्धनय-परिहीन जीवके योग द्वारा गृहीत कार्माणवर्गणा स्कन्ध रागादिभावके द्वारा ज्ञानावरणादिरूपसे परिणम जाते हैं।

सिद्धान्त—1—बुद्धनयपरिहीन जीवके रागादिभाव का निमित्त पाकर द्रव्यप्रत्यय नवीन कर्मबन्ध के निमित्त हो जाते हैं। 2—बुद्धनयमें उपयुक्त आत्मा के रागादिरूप भावास्रवके अभावसे बन्ध नहीं होने के कारण सहज आनन्द अभ्युदित होता।

दृष्टि—1—उपाधिसापेक्ष अषुद्ध द्रव्यार्थिकनय, निमित्तदृष्टि (53ए 53अ)।
2—अनीष्वरनय (186)।

प्रयोग—रागादिभाव विकार को सकलसंकटहेतु बन्धहेतु जानकर उस परभावसे उपेक्षा करके अविकार ज्ञानस्वरूपमें उपयुक्त होनेका पौरुष करना।।179-180।।

इस प्रकार श्री अमृतचंद्रजी सूरि द्वारा विरचित समयसारव्याख्या आत्मख्यातिमें आस्रव का प्ररूपण करने वाला चतुर्थ अङ्क पूर्ण हुआ।

अथ संवराधिकारः

अथ प्रविषति संवरः। आसंसारविरोधिसंवरजयैकांतावलिप्तास्रवन्यक्कारात्प्रतिलब्ध-
नित्यविजयं संपादयत्संवरं। व्यावृत्तं पररूपतो नियमितं सम्यक् स्वरूपे स्फुरज्ज्योतिष्विन्मयमु-
ज्ज्वलं निजरसप्राग्भारमुज्जृम्भते।।125।।

नामसंज्ञ—उवओग, कोहादि, ण, को, वि, उवओग, कोह, च, एव, हि, उवओग, ण, खलु, कोह, अट्ठवियप्प, कम्म, णोकम्म, च, अवि, ण, उवओग, य, कम्म, णोकम्म, च, अवि, णो, एयं, तु, अविवरीद,

अब रंगभूमिमें संवर प्रवेश करता है। प्रथम ही टीकाकार मंगलके लिये चिन्मय ज्योतिका अनुमोदन करते हैं—**आसंसार** इत्यादि। **अर्थ**—अनादि संसार से लेकर अपने

विरोधी संवर को जीतकर एकांतपने से मद को प्राप्त हुए आस्रव के तिरस्कारसे जिसने नित्य ही जीत पाई है ऐसे संवर को उत्पन्न कराती हुई, परद्रव्य और परद्रव्य के निमित्त से हुए भावों से भिन्न, अपने यथार्थ स्वरूपमें नियमित, उज्ज्वल, देदीप्यमान, निजरसके ही प्राग्भारसे युक्त चिन्मय ज्योति प्रकट हो फैलती है। **भावार्थ**—अनादिकाल से संवर आस्रव का विरोधी है, उस संवर को आस्रव ने जीत लिया था इसलिये मदसे उन्मत्त होकर सार विष्वपर नृत्य कर रहा था। अब भेदज्ञान के बलसे इस ज्ञानज्योतिने आस्रव का तिरस्कार कर संवर को प्राप्त कर विजय पाई। अब सब पररूपों से भिन्न अपने स्वरूपमें निष्चल होकर यह ज्योति निर्बाध फैल रही है।

वहाँ संवर के प्रवेश के प्रारंभ में ही समस्त कर्मों के संवरण के परम उपायरूप भेदविज्ञान की अभिवन्दना करते हैं:—[उपयोगे] उपयोग में [उपयोगः] उपयोग है [क्रोधादिशु] क्रोध आदिकों में [कोऽपि उपयोगः] कोई भी उपयोग [नास्ति] नहीं है [च] और [हि] निष्चयसे [क्रोध में ही] क्रोध में ही [क्रोधः] क्रोध है [उपयोगे] उपयोग में [खलु] निष्चयतः [क्रोधः नास्ति] क्रोध नहीं है, [अष्टविकल्पे कर्मणि] आठ प्रकार के ज्ञानावरण आदि कर्मों में [च] तथा [नोकर्मणि अपि] 'रीर आदि नोकर्मों में भी [उपयोगः नास्ति] उपयोग नहीं है [च] और [उपयोगे] उपयोग में [कर्म च नोकर्म अपि] कर्म और नोकर्म भी [नो अस्ति] नहीं है [एतत्तु] ऐसा [अविपरीतं] सत्यार्थ [ज्ञानं] ज्ञान [जीवस्य] जीवके [यदा] जिस कालमें [भवति] हो जाता है [तदा] उस कालमें [उपयोगशुद्धात्मा] केवल उपयोग स्वरूप 'शुद्धात्मा [किंचित् भावं] उपयोग के सिवाय अन्य कुछ भी भाव [न करोति] नहीं करता।

तात्पर्य—चैतन्यमात्र आत्मा में चेतना ही पाया जाता, क्रोधनादिक नहीं ऐसा जानने वाला ज्ञानी चेतने के सिवाय वस्तुतः अन्य कुछ नहीं करता।

टीकार्थ—वास्तव में एक द्रव्य का दूसरा द्रव्य कुछ भी नहीं है, क्योंकि दोनों का भिन्न भिन्न प्रदेश होनेसे एक सत्त्व नहीं बनता और सत्त्व के एक न होनेसे उसके साथ आधाराधेय सम्बन्ध भी नहीं है। इस कारण द्रव्य का अपने स्वरूपमें ही प्रतिष्ठारूप आधाराधेय सम्बन्ध ठहरता है, इसलिए ज्ञान जाननक्रियारूप अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित है, क्योंकि जाननपना याने जाननक्रिया ज्ञानसे अभिन्न स्वरूप होनेके कारण ज्ञान में ही है और क्रोधादिक हैं वे क्रोध आदि क्रियारूप अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हैं, क्योंकि क्रोधनादिरूप तत्रादावेव सकलकर्मसंवरणस्य परमोपायं भेदविज्ञानमभिनन्दति—

उवओगे उवओगो कोहादिसु णत्थि कोवि उवओगो ।

कोहे कोहो चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो ॥181॥

अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो ।

उवओगह्मि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि ॥182॥

एयं तु अविवरीदं णाणं जइया उ होदि जीवस्स ।

तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओगसुद्धप्पा ।।183 ।।

(त्रिकलम्)

उपयोगमें उपयोग, क्रोधादिमें उपयोग नहीं कोई ।
 क्रोधादिमें क्रोधादि, उपयोग में क्रोधादि नहीं ।।181 ।।
 कर्म नोकर्म में नहीं, होता उपयोग 'पुद्ध परमात्मा ।
 उपयोग में न होते, कर्म न नोकर्म भी कोई ।।182 ।।
 यह यथार्थ सत्प्रज्ञा, होती जब इस सुभव्य आत्मा के ।
 तब परभाव न करता, केवल उपयोग 'पुद्धात्मा ।।183 ।।

उपयोगे उपयोगः क्रोधादिषु नास्ति कोप्युपयोगः । क्रोधे क्रोधश्चैव हि उपयोगे नास्ति खलु क्रोधः ।।181 ।।
 अष्टविकल्पे कर्मणि नोकर्मणि चापि नास्त्युपयोगः । उपयोगे च कर्म नोकर्म चापि नो अस्ति ।।182 ।।
 एतत्त्वविपरीतं ज्ञानं यदा तु भवति जीवस्य । तदा न किंचित्करोति भावमुपयोगषुद्धात्मा ।।183 ।।

न खल्वेकस्य द्वितीयमस्ति द्वयोर्भिन्नप्रदेशत्वेनैकसत्तानुपपत्तेस्तदसत्त्वे च तेन सहाधारा-
 धेयसंबंधोऽपि नास्त्येव, ततः स्वरूपप्रतिष्ठितत्वलक्षण एवाधाराधेयसंबंधोऽवतिष्ठते । तेन ज्ञानं

णाण, जइया, उ, जीव, तइया, ण, किंचि, भाव, उवओग, सुद्धप्पा । धातुसंज्ञ—अस सत्तायां, हो सत्तायां,
 कुव्व करणे, सुज्झ नैर्मल्ये । प्रातिपदिक—उपयोग, क्रोधादि, न, किम्, अपि, उपयोग, क्रोध, च, एव,
 हि,

क्रिया क्रोधादिक से अभिन्नप्रदेशी होने के कारण क्रोधनादि रूप क्रिया क्रोधादि में ही है तथा क्रोधादिक में अथवा कर्म नोकर्ममें ज्ञान नहीं है और ज्ञानमें क्रोधादिक अथवा कर्म नोकर्म नहीं है, क्योंकि ज्ञानका तथा क्रोधादिक और कर्म नोकर्म का आपसमें स्वरूपका अत्यन्त विपरीतपना है उनका स्वरूप एक नहीं है। इसलिए परमार्थरूप आधाराधेय सम्बन्ध का 'न्यपना है। तथा ज्ञानका जैसे जाननक्रियारूप जानपना स्वरूप है वैसे ही क्रोधनादि रूप क्रियापना स्वरूप बन जाय व क्रोधादिक का क्रोधत्व आदिक क्रियापना जैसे स्वरूप है उस तरह जानन क्रिया स्वरूप बन जाय यह किसी तरह से भी स्थापन नहीं किया जा सकता है। क्योंकि जाननक्रिया और क्रोधनादि क्रिया स्वभावभेद से भिन्न-भिन्न ही प्रकट प्रतिभासमान हैं, और स्वभावके भेदसे ही वस्तुका भेद है यह नियम है। इस कारण ज्ञानका और अज्ञानस्वरूप क्रोधादिकका आधाराधेय भाव नहीं है। और क्या? देखिये जैसे एक ही आकाषद्रव्य को अपनी बुद्धि में स्थापित करके जब आधाराधेयभाव निरखा जाता है तब आकाष के सिवाय अन्य द्रव्यों का अधिकरणरूप आरोप का निरोध होनेसे बुद्धिको भिन्न आधार की अपेक्षा नहीं रहती। और भिन्न आधार की अपेक्षा न रहने पर एक ही आकाष को एक आकाष में ही प्रतिष्ठित निरखने वाले को आकाष का आधार अन्य द्रव्य नहीं जानतायां स्वरूपे प्रतिष्ठितं । जानताया ज्ञानादपृथग्भूतत्वात् ज्ञाने एव स्यात् । क्रोधादीनि क्रुध्यत्तादौ स्वरूपे प्रतिष्ठितानि, क्रुध्यत्तादेः क्रोधादिभ्योऽपृथग्भूतत्वात्क्रोधादिष्वेव स्युः, न पुनः क्रोधादिषु कर्मणि नोकर्मणि वा ज्ञानमस्ति, न च ज्ञाने क्रोधादयः कर्म नोकर्म वा संति परस्प-रमत्संतं स्वरूपवैपरीत्येन परमार्थाधाराधेयसंबंधपून्यत्वात् । न च यथा ज्ञानस्य जानतास्वरूपं तथा क्रुध्यत्तादिरपि, क्रोधादीनां च यथा क्रुध्यत्तादिस्वरूपं तथा जानतापि कथंचनापि

व्यवस्थापयितुं 'व्येत, जानतायाः क्रुध्यतादेष्च स्वभावभेदेनोद्भासमानत्वात् स्वभावभेदाच्च वस्तुभेद एवेति नास्ति ज्ञानाज्ञानयोराधाराधेयत्वं। किं च यदा किलैकमेवाकाषं स्वबुद्धि-मधिरोप्याधाराधेयभावो विभाव्यते तदा 'षद्रव्यांतराधिरोपिनरोधादेव बुद्धेर्न भिन्नाधिकरणापेक्षा

उपयोग, न, खलु, क्रोध, अष्टविकल्प, कर्मन्, नोकर्मन्, च, अपि, न, उपयोग, च, कर्मन्, नोकर्मन्, च, अपि, नो, एवं, तु, अविपरीत, ज्ञान, यदा, तु, जीव, तदा, न, किंचित्, भाव, उपयोग, 'ुद्धात्मन्।
मूलधातु—उप— युजिर् योगे, अस भुवि, भू सत्तायां, क्रुध—क्रोधे दिवादि, डुकृञ् करणे, 'ुध 'ौचे दिवादि। **पदविवरण**— उवओगे उपयोगे—सप्तमी एकवचन। उवओगो उपयोगः—प्रथमा एकवचन। कोहादिसु क्रोधादिषु—सप्तमी एक०। ण न—अव्यय। अत्थि अस्ति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। को कः—प्र० ए०। वि अपि—अव्यय। उवओगोः—प्रथमा एक०। कोहे क्रोधे—सप्तमी एक०। कोहो क्रोधः—प्रथमा एक०। च—अव्यय। एव—अव्यय।

प्रतिभात होता है। इसी तरह जब एक ही ज्ञान को अपनी बुद्धिमें स्थापित कर आधाराधेय भाव निरखा जाता है तब 'ष अन्य द्रव्यों का अधिरोप करने के निरोध से ही बुद्धिको भिन्न आधार की अपेक्षा नहीं रहती। भिन्न आधार की अपेक्षा बुद्धिमें न रहने पर एक ज्ञान ही ज्ञान में प्रतिष्ठित निरखने वाले को अन्यका अन्यमें आधाराधेय भाव प्रतिभासित नहीं होता। इसलिए ज्ञान ही ज्ञान में ही है और क्रोधादिक ही क्रोधादिक में ही है। इस प्रकार ज्ञानका और क्रोधादिक व कर्म नोकर्म का भेदज्ञान अच्छी तरह सिद्ध हुआ।

भावार्थ—उपयोग तो चेतन का परिणमन होनेसे ज्ञानस्वरूप है और क्रोधादिक भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, 'रीरादि नोकर्म ये सब पुद्गलद्रव्यके ही परिणाम होने से जड़ हैं, इनमें और ज्ञानमें प्रदेशभेद होनेसे अत्यन्त भेद है। इसी कारण उपयोग में तो क्रोधादिक, कर्म, नोकर्म नहीं हैं और क्रोधादिक कर्म, नोकर्म में उपयोग नहीं है। सो इनमें परमार्थस्वरूप आधाराधेय भाव नहीं हो सकता है। अपना अपना आधाराधेय भाव अपने अपने में है। इस भेदको जानना ही भेदविज्ञान है यह अच्छी तरह सिद्ध हुआ।

अब इसी अर्थको कलषमें कहते हैं—**चैद्रूप्यं** इत्यादि। **अर्थ**—चैतन्यरूपको धारण करता हुआ ज्ञान और जड़रूपको धारण करता हुआ राग इन दोनों का जो अज्ञानदषामें एकत्व दिखता था उसको अन्तरंग में अनुभव के अभ्यासरूप बलसे अच्छी तरह विदारणके द्वारा सब प्रकार विभाग करके यह निर्मल भेदज्ञान उदयको प्राप्त होता है इस कारण हे सत्पुरुषो! तुम इस भेदज्ञानको प्राप्त करके दूसरे से याने रागादिभावों से रहित होते हुए एक 'ुद्ध ज्ञानघनके समूह का आश्रय कर उसमें लीन होकर मुदित होओ।

भावार्थ—ज्ञान तो चेतनास्वरूप है और रागादिकपुद्गल के विकार होनेसे जड़ हैं सो दोनों अज्ञान से एकरूप विदित होते हैं। सो जब भेदविज्ञान प्रकट हो जाता है तब ज्ञानका और रागादिक का भिन्नपना प्रकट होता है तब यह ज्ञानी ऐसा जानता है कि ज्ञानका स्वभाव तो जाननेमात्र ही है और ज्ञान में जो रागादिक की कलुषता व आकुलतारूप संकल्प विकल्प प्रतिभासित होते हैं ये सब पुद्गल के विकार हैं, जड़ हैं। यह भेदविज्ञान सब विभाव भावों के मेटने का कारण होता है और आत्मा में परमसंवरभावको प्राप्त करता है। इसलिये सत्पुरुषों से कहते हैं। कि भेदविज्ञान पाकर रागादिकों से रहित होकर 'ुद्ध ज्ञानघन आत्मा का आश्रय लेकर 'ाप्यत सहज आनन्द को प्राप्त होओ।

प्रभवति। तदप्रभवे चैकमाकाषमेवैकस्मिन्नाकाष एव प्रतिष्ठितं विभावयतो न पराधाराधेयत्वं प्रतिभाति। एवं यदैकमेव ज्ञानं स्वबुद्धिमधिरोप्याधाराधेयभावो विभाव्यते तदा 'षद्रव्यान्तराधिरोपिनरोधादेव बुद्धेर्न भिन्नाधिकरणापेक्षा प्रभवति। तदप्रभवे चैकं ज्ञानमेवैकस्मिन्

ज्ञान एव प्रतिष्ठितं विभावयतो न पराधाराधेयत्वं प्रतिभाति । ततो ज्ञानमेव ज्ञाने एव, क्रोधादय एव क्रोधादिष्वेवेति साधु सिद्धं भेदविज्ञानं । चैद्रप्यं जडरूपतां च दधतोः कृत्वा विभागं द्वयोरंतर्दारुणदारणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च । भेदज्ञानमुदेति निर्मलमिदं मोदध्वमध्यासिताः 'जुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना संता द्वितीयच्युताः ॥126॥ एवमिदं भेदविज्ञानं यदा ज्ञानस्य वैपरीत्यकणिकामप्यनासादयदविचलितमवतिष्ठते तदा 'जुद्धोपयोगमयात्मत्वेन ज्ञानं ज्ञानमेव केवलं सन्न किंचनापि रागद्वेषमोहरूपं भावमारचयति । ततो भेदविज्ञानाच्छुद्धात्मोपलंभः प्रभवति । 'जुद्धात्मोपलंभात् रागद्वेषमोहाभावलक्षणः संवरः प्रभवति ॥181-183॥

हि-अव्यय । उपओगे उपयोगे-सप्तमी एक० । णत्थि, खलु-अव्यय । कोहो क्रोधः-प्र० ए० । अटठवियप्ये अष्टविकल्पे-स० एक० । कम्मे कर्मणि-सप्तमी एक० । णोकम्मे नोकर्मणि-सप्तमी एक० । च, अपि, ण, अत्थि अस्ति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन । उवओगो उपयोगः-प्र० ए० । उवओगमिह उपयोगे-सप्तमी एक० । च, कम्मं कर्म-प्र० एक० । च अवि अपि णो नो-अव्यय । अत्थि, एयं एतत्-प्र० एक० । तु, अविवरीदं अविपरीतं-प्र० एक० । जइया, यदा-अव्यय । दु तु-अव्यय । होदि भवति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । जीवस्स जीवस्य-षष्ठी एक० । तइया तदा-अव्यय । ण न-अव्यय । किंचि किंचित्-अव्यय अन्तः किं-प्र० ए० । कुव्वदि करोति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । भावं-द्वितीया एक० । उवओगसुद्धप्पा उपयोगषुद्धात्मा-प्रथमा एकवचन कर्ताकारक ॥181-183॥

ऐसा यह भेदविज्ञान, जिस समय ज्ञानकी रागादिविकाररूप विपरीतपने की कणिका को नहीं प्राप्त करता हुआ अविचलित ठहरता है, उस समय वह ज्ञान 'जुद्धोपयोगमयात्मकता से ज्ञान रूप ही केवल हुआ किंचिन्मात्र भी राग द्वेष मोह भावको नहीं रचता । उस भेदविज्ञानसे 'जुद्धात्मा की प्राप्ति होती है और 'जुद्धात्मा की प्राप्ति से राग-द्वेष-मोहस्वरूप आस्रवभावों का अभावस्वरूप संवर होता है ।

प्रसंगविवरण-अनन्तरपूर्व आस्रवाधिकार पूर्ण होकर आस्रव निष्क्रान्त हो गया था । अब क्रमप्राप्त संवरतत्त्वका प्रवेश हुआ है, सो इसमें सर्वप्रथम समस्तकर्मके संवरण (आस्रवनिरोध) का परमोपायरूप भेदविज्ञान दर्शाया है ।

तथ्यप्रकाश-1-एक द्रव्य का दूसरा द्रव्य कुछ भी नहीं लगता, क्योंकि प्रत्येक के प्रदेश समस्त अन्य से अत्यन्त भिन्न हैं । 2-उपयोग में याने उपयोगस्वरूप आत्मद्रव्य में क्रोधादि कर्म नहीं हैं, क्रोधादिकर्मों में उपयोग नहीं है । 3-गुणमुख्यता से कथन करने पर ज्ञानमें क्रोध नहीं है, क्रोध में ज्ञान नहीं है । 4-ज्ञान में ज्ञान ही है अथवा आत्मा में आत्मा ही है । 5-क्रोध में क्रोध ही है अथवा कर्म में कर्म ही है ।

सिद्धान्त-1-जीव अपने स्वरूपमें तन्मय है, पुद्गल अपने स्वरूपमें तन्मय है । 2-आत्मद्रव्य में कर्म, नोकर्म, विभाव कुछ भी नहीं है ।

दृष्टि-1-स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (28) । 2-परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (29) ।

प्रयोग-ज्ञानस्वरूप आत्मा में ज्ञानस्वरूपको ही निरखकर आस्रवनिरोध के वातावरण में अपने को निराकुल अनुभवना ॥181-183॥

अब प्रश्न होता है कि भेदविज्ञानसे ही कैसे 'जुद्धात्मा की प्राप्ति होती है? इसका उत्तर गाथा में कहते हैं--[यथा] जैसे [कनकं] सुवर्ण [अग्नितप्तं अपि] अग्नि से तप्त हुआ भी [तं] अपने [कनकभावं] सुवर्णपने को [न परित्यजति] नहीं छोड़ता [तथा] उसी तरह [ज्ञानी] ज्ञानी [कर्मादयतप्तस्तु] कर्मों के उदय से तप्त हुआ भी [ज्ञानित्वं] ज्ञानीपने के स्वभाव को [न जहाति] नहीं छोड़ता [एवं] इस तरह [ज्ञानी] ज्ञानी [जानाति] जानता है । और

कथं भेदविज्ञानादेव 'जुद्धात्मोपलंभ? इति चेत्--

जह कणयमग्गितवियं पि कणयहावं ण तं परिच्चयइ ।
 तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णाणी उ णाणित्तं ।।184।।
 एवं जाणइ णाणी अण्णाणी मुणदि रायमेवादं ।
 अण्णाणतमोच्छण्णो आदसहावं अयाणंतो ।।185।।

ज्यौं अन्नितप्त काजचन, कांचन परिणाम को नहीं तजता ।
 त्यौं कर्मोदयपीडित, ज्ञानी भी ज्ञान नहीं तजता ।।184।।
 ज्ञानी सुजानता यों, अज्ञानी रागको हि निज माने ।
 अज्ञान अन्ध आवृत, वह आत्मस्वभाव नहीं जाने ।।185।।

यथा कनकमग्निप्तमपि कनकभावं न तं परित्यजति । तथा कर्मोदयतप्तो न जहाति ज्ञानी तु ज्ञानित्वं ।
 एवं जानाति ज्ञानी अज्ञानी जानाति रागमेवात्मानं । अज्ञानतमोऽवच्छन्नः आत्मस्वभावमजानन् ।

यतो यस्यैव यथोदितं भेदविज्ञानमस्ति स एव तत्सद्भावाज् ज्ञानी सन्नेवं जानाति ।
 यथा प्रचंडपावकप्रतप्तमपि सुवर्णं न सुवर्णत्वमपोहति तथा प्रचंडकर्मविपाकोपष्टधमपि ज्ञानं न
 ज्ञानत्वमपोहति, कारणसइस्रेणापि स्वभावस्यापोढुमषक्यत्वात् । तदपोहे तन्मात्रस्य वस्तुन

नामसंज्ञ—जह, कणय, अग्गितवियं, पि, कणयहाव, ण, त, तह, कम्मोदयतविद, ण, णाणि, उ, णाणित्त, एवं, णाणि, अण्णाणि, राय, एव, आद, अण्णाणतमोच्छण्ण, आदसहाव, अयाणंत । धातुसंज्ञ—तव तपने तृतीयगणे, परि—च्चय त्यागे तृतीयगणे, उद्—अय गतौ, जहा त्यागे, जाण अवबोधने, मुण ज्ञाने ।
प्रातिपदिक—यथा, कनक, अग्निप्त, अपि, कनकभाव, न, तत्, तथा, कर्मोदयतप्त, न, ज्ञानिन्, तु,

[अज्ञानी] अज्ञानी **[अज्ञानतमोऽवच्छन्नः]** अज्ञानरूप अंधकारसे व्याप्त होता हुआ **[आत्मस्वभाव]** आत्मा के स्वभावकी **[अजानन्]** नहीं जानता हुआ **[रागमेव]** रागको ही **[आत्मानं]** आत्मा **[मनुते]** मानता है ।

तात्पर्य—परभावसे भिन्न अन्तस्तत्त्व का दर्शी आत्मा कर्मविपाक से संतप्त होने पर भी ज्ञातापन को नहीं छोड़ता ।

टीकार्थ—जिसके यथोदित भेदविज्ञान है, वही उस भेदज्ञानके सद्भाव से ज्ञानी होता हुआ ऐसा जानता है । जैसे प्रचंड अग्नि से तपाया हुआ भी सुवर्ण अपने सुवर्णपने को नहीं छोड़ता उसी तरह तीव्र कर्म के उदय से घिरा हुआ भी ज्ञानी अपने ज्ञानपने को नहीं छोड़ता, क्योंकि जो जिसका स्वभाव है वह हजारों कारण मिलने पर भी अपने स्वभाव को छोड़ने के लिये असमर्थ है । क्योंकि उसके छोड़ने पर उस स्वभावमात्र वस्तुका ही अभाव हो जायगा, परन्तु वस्तुका अभाव होता नहीं, क्योंकि सत्ता का नाश होना असंभव है । ऐसा जानता हुआ ज्ञानी कर्मों से व्याप्त हुआ भी रागरूप, द्वेषरूप और मोहरूप नहीं होता । किन्तु वह तो एक 'जुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है । परन्तु जिसके यथोदित भेदविज्ञान नहीं है, वह उस भेदविज्ञानके अभावसे अज्ञानी हुआ अज्ञानरूप अंधकार से आच्छादित होने के कारण चैतन्यचमत्कार मात्र आत्मा के स्वभावको नहीं जानता हुआ रागस्वरूप ही आत्मा को मानता हुआ रागी होता है, द्वेषी होता है, मोही होता है, परन्तु 'जुद्ध आत्मा को कभी नहीं पाता । इससे सिद्ध हुआ कि भेदविज्ञान से ही 'जुद्ध आत्मा की प्राप्ति है ।

भावार्थ—आत्मस्वभाव व औपाधिक भावमें भेदविज्ञान होनेसे आत्मा जब ज्ञानी होता है तब कर्मके उदयसे संतप्त हुआ भी अपने ज्ञानस्वभाव से नहीं चिगता । यदि कोई पदार्थ स्वभावसे चिग जाय तो वस्तु का ही नाश हो जायगा ऐसा न्याय है । इसलिये कर्मके उदयके समय ज्ञानी रागी, द्वेषी, मोही नहीं होता । और जिसके भेदविज्ञान नहीं है वह अज्ञानी हुआ रागी, द्वेषी, मोही होता है । इसलिये यह पूर्ण निश्चित है कि भेदविज्ञान से ही 'जुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है ।

एवोच्छेदात्। नचास्ति वस्तूच्छेदः सतो नाषासंभवात्। एवं जानंष्व कर्माक्रांतोऽपि न रज्यते न द्वेष्टि न मुह्यति किन्तु 'जुद्धमात्मानमेवोपलभते। यस्य तु यथोदितं भेदविज्ञानं नास्ति स तदभावादज्ञानी सन्नज्ञानतमसाच्छन्नतया चैतन्यचमत्कारमात्रमात्मस्वभावमजानन् रागमेवात्मानं मन्यमानो रज्यते द्वेष्टि मुह्यति च न जातु 'जुद्धमात्मानमुपलभते। ततो भेदविज्ञानादेव 'जुद्धात्मोलंभः'।।184-185।।

ज्ञानित्व, एवं, ज्ञानिन्, अज्ञानिन्, राग, एव, आत्मन्, अज्ञानतमोवच्छन्न, आत्मस्वभाव, अजानत्। मूलधातु—तप संतापे भ्वादि, तप ऐष्वर्ये दिवादि, परि—त्यज हानौ भ्वादि, ओहाक् त्यागे जुहोत्यादि, ज्ञा अवबोधने, मनु अवबोधने। **पदविवरण**—जह यथा—अव्यय। कणयं कनकं—प्रथमा एक०। अगितवियं अग्नितप्तं—प्र० ए०। पि अपि—अव्यय। कणयहावं कनकभावं—द्वि० ए०। ण न—अव्यय। तं—द्वि० ए०। परिच्ययइ परित्यजति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। तह तथा—अव्यय। कम्मोदयतविदो कर्मोदयतप्तः—प्रथमा एक०। ण न, जहदि जहाति—वर्तमान० अन्य० एक०। णाणी ज्ञानी—प्र० ए०। दु तु, णाणितं ज्ञानित्वं—द्वि० ए०। एवं, जाणदि जानाति—वर्तमान० अन्य० एक०। णाणी ज्ञानी—प्र० ए०। अण्णाणी अज्ञानी—प्रथमा एक०। मुणदि मनुते—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। रायं रागं—द्वि० एक०। एव—अव्यय। आदं आत्मानं—द्वि० ए०। अण्णाणतमोच्छण्णो अज्ञानतमोऽवच्छन्नः—प्र० एक०। आदसहावं आत्मस्वभावं—द्वि० ए०। अजाणंतो अजानन्—प्रथमा एकवचन कृदन्त।।184-185।।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथायुग्म में यह निष्कर्ष निकला था कि भेदविज्ञान से ही 'जुद्धात्मा की उपलब्धि होती है। सो उसी सम्बन्धमें इस गाथायुग्म में इस जिज्ञासा का समाधान बताया है कि कैसे भेदविज्ञान से 'जुद्धात्मा की उपलब्धि होती है।

तथ्यप्रकाश—1—ज्ञानी कर्मविपाक से आच्छन्न होकर भी ज्ञानीपन को नहीं छोड़ता। 2—ज्ञानी का ज्ञानीपन न छूटने का कारण अविकार सहजज्ञानस्वभावमें आत्मत्वकी दृढ़ प्रतीति है। 3—ज्ञानी जीव में कर्मविपाक प्रतिफलित होने पर भी कर्मरसमें उपयुक्त नहीं होता, किन्तु अपने ज्ञानभावमें ही उपयुक्त होता है। 4—अज्ञानी ही निज सहस्वरूपको न जानता हुआ प्रतिफलित कर्मानुभाग को आपा मानता हुआ राग द्वेष आदि विकल्परूप परिणमता है। 5—अज्ञानी के भेदविज्ञान न होने से 'जुद्धात्मस्वरूपकी उपलब्धि नहीं है। 6—ज्ञानी के भेदविज्ञान होनेसे 'जुद्धात्मस्वरूपकी उपलब्धि है।

सिद्धान्त—1—ज्ञानी रागादि परिहरणशील होनेसे 'जुद्धात्मस्वरूपका संवदेन करता है। 2—अज्ञानी रागादिपरिग्रहणशील होनेसे रागादिविभावरूप अपने को परिणमाता है।

दृष्टि—1—षुद्धनिष्चयनय (46)। 2—अषुद्धनिष्चयनय (47)।

प्रयोग—औपाधिक प्रतिफलन कुछ भी हुआ करे उससे अपना प्रयोजन न जानकर ज्ञानाकारमात्र स्वको अनुभवने का पौरुष करना।।184-185।।

प्रश्न—षुद्ध आत्मा की प्राप्तिसे ही संवर कैसे होता है? **उत्तर**—['जुद्धं तु] 'जुद्ध आत्मा को [विजानन्] जानता हुआ [जीवः] जीव ['जुद्धं चैव] 'जुद्ध ही [आत्मानं] आत्मा को [लभते] प्राप्त करता [तु] और [अशुद्धं आत्मानं] अषुद्ध आत्मा को [जानन्] जानता हुआ [अशुद्धमेव] अषुद्ध आत्मा को ही [लभते] प्राप्त करता है।

तात्पर्य—उपयोग में सहज अविकार चैतन्यस्वरूप आने से उपयोग में तो तुरंत ही 'जुद्धात्मा का लाभ है, पर्यायतः भी 'गीघ्र 'जुद्धात्मत्वका लाभ होगा।

टीकार्थ—जो पुरुष सदा ही अविच्छेदरूप धारावाही ज्ञानसे 'जुद्ध आत्मा को पाता हुआ स्थित है वह पुरुष "ज्ञानमय भाव से ज्ञानमय ही भाव होते हैं" ऐसे न्याय कर आगामी कर्मके आस्रव के निमित्तभूत राग, द्वेष, मोहकी संतान (परिपाटी) के निरोधसे 'जुद्ध आत्मा को

ही पाता है। और जो जीव नित्य ही अज्ञानसे अषुद्ध आत्मा को पाता हुआ स्थित है वह जीव 'अज्ञानमय भावसे अज्ञानमय ही भाव होता है' इस न्याय से आगामी कर्मके आस्रव के कथं 'जुद्धात्मोपलंभादेव संवर ? इति चेत्—

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेष्यं लहदि जीवो ।

जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवेष्यं लहइ ॥186 ॥

'जुद्धात्मत्व ज्ञाता, 'जुद्ध हि आत्मस्वरूपको पाता ।

जाने अषुद्ध आत्मा, जो वह पावे अषुद्धात्मा ॥186 ॥

'जुद्धं तु विजानन् 'जुद्धं चैवात्मानं लभते जीवः । जानंस्त्वषुद्धमषुद्धमेवात्मानं लभते ॥186 ॥

यो हि नित्यमेवाच्छिन्नधारावाहिना ज्ञानेन 'जुद्धमात्मानमुपलभमानोऽवतिष्ठते स ज्ञान-मयाद् भावात् ज्ञानमय एव भावो भवतीति कृत्वा प्रत्यग्रकर्मास्रवणनिमित्तस्य रागद्वेषमोहसंता-नस्य निरोधाच्छुद्धमेवात्मानं प्राप्नोति । यो हि नित्यमेवाज्ञानेनाषुद्धमात्मानमुपलभमानोऽवतिष्ठते सोऽज्ञानमयाद्भावादज्ञानमय एव भावो भवतीति कृत्वा प्रत्यग्रकर्मास्रवणनिमित्तस्य रागद्वेष-मोहसंतानस्यानिरोधादषुद्धमेवात्मानं प्राप्नोति । अतः 'जुद्धात्मोपलंभादेव संवरः । यदि कथमपि

नामसंज्ञ—सुद्ध, तु, वियाणंत, सुद्ध, च, एव, अप्य, जीव, जाणंत, दु, असुद्ध, असुद्ध, एव, अप्य ।
धातुसंज्ञ—जाण अवबोधने, लभ प्राप्तौ, सुज्ज नैर्मल्ये । **प्रातिपदिक—**षुद्ध, तु, विजानत्, 'जुद्ध, च, एव, अप्य, जीव, जानत्, दु, अषुद्ध, एव, अप्य । **मूलधातु—**ज्ञा अवबोधने, डुलभष प्राप्तौ भ्वादि, 'धु 'गौचे ।

निमित्तभूत राग-द्वेष-मोह की संतान का निरोध न होनेसे अषुद्ध आत्मा को ही पाता है। इस कारण 'जुद्ध आत्मा की प्राप्ति से ही संवर होता है।

भावार्थ—जो पुरुष अखंड धारावाही ज्ञानसे 'जुद्ध आत्मा का अनुभव करता है उसके आस्रव का निरोध हो जाता है सो वह तो 'जुद्ध आत्मत्व को ही पाता है और जो अज्ञान से अषुद्ध आत्मा को अनुभव करता है वह अषुद्ध विकृत आत्मा को ही पाता है, क्योंकि उसके आस्रव नहीं रुकते, उपयोग कलुषित रहता।

अब इस अर्थ का कलषरूप काव्य कहते हैं—**यदि** इत्यादि । **अर्थ—**यदि आत्मा किसी भी प्रकार धारावाही ज्ञानसे निष्कल 'जुद्ध आत्मा को प्राप्त हुआ रहता है तो वह आत्मा उदय होते हुए आत्मा रूप क्रीड़ावन वाले अपने आत्मा को परपरिणति रूप राग, द्वेष, मोहके निरोध से 'जुद्ध को ही पाता है। **भावार्थ—**एक प्रवाहरूप ज्ञानको धारावाही ज्ञान कहते हैं। इसकी दो रीतियाँ हैं—(1) मिथ्याज्ञान बीच में न आये ऐसा सम्यग्ज्ञान धारावाही ज्ञान है और (2) जब तक उपयोग एक ज्ञेयमें उपयुक्त रहे तब तक धारावाही ज्ञान कहा जाता है, यह अंतर्मुहूर्त ही रह पाता है, सो जहाँ जैसी विवक्षा हो वहाँ वैसा धारावाही ज्ञानका अर्थ जानना। प्रथम रीति वाले धारावाही ज्ञानसे प्रतीतिरूप 'जुद्धात्मत्व की प्राप्ति है। द्वितीय रीति वाले धारावाही ही ज्ञानसे क्षपकश्रेणिस्थ योगियों को व्यक्त निर्मल 'जुद्धात्मत्व की प्राप्ति होती है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथायुग्ममें भेदविज्ञानसे 'जुद्धात्मा की उपलब्धि होती है यह बताते हुए यह दर्शाया गया था कि 'जुद्धात्मा की उपलब्धि से ही संवर होता है। सो अब इस गाथा में यही युक्तिसहित बताया गया है कि कैसे 'जुद्धात्मा की उपलब्धि से ही संवर होता है।

तथ्यप्रकाश—1—निरंतर धारावाही ज्ञानसे सहजषुद्ध ज्ञानस्वभावमें उपयोग रखने वाला भव्य 'जुद्धात्मा को प्राप्त करता है। 2—सहजज्ञानस्वभावमें उपयोग रखने वाले ज्ञानी के

ज्ञानमय ही भाव होता है। 3—ज्ञानमयभावसे ज्ञानमयभाव ही होने के कारण नवीनकर्मास्रवण का निमित्तभूत रागद्वेषमोहसंतान दूर हो जाता है। 4—सविकार आत्मा में ही नित्य उपयोग रखने वाला अज्ञानी अषुद्धात्मा को ही प्राप्त होता है। 5—सविकार अपने को आत्मसर्वस्व मानने वाले अज्ञानी के अज्ञानमय ही भाव होता है। 6—अज्ञानमयभावसे अज्ञानमय ही भाव होने के कारण नवीनकर्मास्रवण का निमित्तभूत रागद्वेष मोह संतान पुष्ट होता रहता है। धारावाहिना बोधनेन ध्रुवमुपलभमानः। 'जुद्धमात्मानमास्ते। तदयमुदयदात्माराममात्मानमात्मा परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ॥127॥ ॥186॥

पदविररण—सुद्धं 'जुद्धं—द्वितीया एकवचन। तु—अव्यय। वियाणंतो विजानन्—प्रथमा एक० कृदन्त। सुद्धं 'जुद्धं—द्वितीया एक०। च, एव, अप्पयं आत्मानं—द्वितीया एकवचन। लहदि लभते—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। जीवो जीवः—प्रथमा एक०। जाणंतो जानन्—प्र० ए०। दु तु—अव्यय। असुद्धं अषुद्धं—द्वि० ए०। असुद्धं अषुद्धं—द्वितीया एक०। एव—अव्यय। अप्पयं आत्मानं—द्वितीया एक०। लहइ लभते—वर्तमान लट् अन्य पुरुषएकवचन क्रिया ॥186॥

7—अषुद्धात्मा की उपलब्धि से अषुद्ध बने रहने की संतति चलती रहती है। 8—षुद्धात्मा की उपलब्धि से संवरतत्त्व प्रकट होता है, 'जुद्ध पर्याय की संतति बनती रहती है।

सिद्धांत—1—सहजज्ञानस्वभावके उपयोग से ज्ञानमयपरिणमन होता है। 2—विकृत अपने को अपना स्वरूपसर्वस्व मानने के उपयोग से अज्ञानमय परिणमन होता है।

दृष्टि—1—ज्ञाननय (194)। 2—अषुद्धनिष्चयनय (47)।

प्रयोग—सर्व विकारसंकट नष्ट करने के लिए अपने सहजसिद्ध अविकार चित्प्रकाशरूप अपने को आपा अनुभवने का पौरुष करना ॥186॥

अब वह संवर किस तरह से होता है? यह बताते हैं—[यः] जो [आत्मा] जीव [आत्मानं] आत्मा को [आत्मना] आत्मा के द्वारा [द्विपुण्यपापयोगयोः] दो पुण्यपाप योगों से [रुन्ध्वा] रोककर [दर्शनज्ञानं] दर्शनज्ञानमें [स्थितः] ठहरा हुआ [अन्यस्मिन् इच्छाविरतः] अन्य वस्तु में इच्छारहित [च] और [सर्वसंगमुक्तः] सब परिग्रह से रहित हुआ [आत्मना] आत्मा के द्वारा [आत्मानं] आत्मा को [ध्यायति] ध्याता है तथा [कर्म नोकर्म] कर्म नोकर्मको [न अपि] नहीं ध्याता और आप [चेतयिता] चेतनहार होता हुआ [एकत्वं] एकत्वको [चिंतयति] विचारता है [सः] वह जीव [अनन्यमयः] अनन्यमय होकर [आत्मानं ध्यायन्] आत्मा का ध्यान करता हुआ [अचिरेण] थोड़े समय में [एव] ही [कर्मप्रविमुक्तं] कर्मरहित [आत्मानं] आत्मा को [लभते] प्राप्त करता है।

तात्पर्य—आत्मा का आत्मा में एकाग्र ध्यान करने वाला पुरुष अल्पकालमें कर्मरहित हो जाता है।

टीकार्थ—राग द्वेष मोहरूप मूल वाले 'जुभाषुभ योगों में प्रवर्तमान अपने आत्मा को जो जीव दृढतर भेदविज्ञान के बलसे आपसे ही अत्यन्त रोककर 'जुद्ध ज्ञानदर्शनात्मक आत्मद्रव्यमें अच्छी तरह ठहराकर समस्त परद्रव्यों की इच्छा के परिहारसे समस्तसंगरहित होकर नित्य ही निष्चल हुआ किंचिन्मात्र भी कर्मको नहीं स्पर्श करके अपने आत्मा को आत्मा के द्वारा ही ध्याता हुआ स्वयं चेतने वाला होनेसे अपने चेतनारूप एकत्व को ही अनुभवता है वह जीव निष्चय से एकत्व को चेतने से परद्रव्य से अत्यन्त भिन्न चैतन्य चमत्कारमात्र अपने आत्मा को ध्याता हुआ, 'जुद्ध दर्शनज्ञानमय आत्मद्रव्यको प्राप्त हुआ 'जुद्धात्मा का उपलम्भ होने पर समस्त परद्रव्यमयता से अतिक्रान्त होता हुआ अल्प समय में ही सब कर्मों से रहित आत्मा को प्राप्त करता है। यह संवर का प्रकार है।

भावार्थ—जो भव्य जीव रागद्वेषमोहमिश्रित 'जुभ अषुभ मन, वचन, कायके योगों से अपने आत्मा को भेदज्ञानबल से चलित न होने दे, पश्चात् 'जुद्ध दर्शनज्ञानमय अपने स्वरूपमें अपने को निष्चल करे और फिर समस्त बाह्य आभ्यन्तर परिग्रहों से रहित होकर कर्म नोकर्म से अत्यन्त विविक्त अपने स्वरूपमें एकाग्र होकर ध्यान करता हुआ रहे वह अन्तरात्मा थोड़े समय में ही सर्व कर्मों से पृथक् हो जाता है। सम्बर की विधि यही है।

केन प्रकारेण संवरो भवतीति चेत्—

अप्याणमप्यणा रुंधिरुण दोपुण्णपावजोएसु ।

दंसणणाणाह्मि ठिदो इच्छाविर ओ य अण्णाह्मि ॥187 ॥

जो सव्वसंगमुक्को ज्ञायदि अप्याणमप्यणो अप्पा ।

णवि कम्मं णोकम्मं चेदा चेयेइ एयत्तं ॥188 ॥

अप्याणं ज्ञायंतो दंसणणाणमओ अण्णमओ ।

लहइ अचिरेण अप्याणमेव सो कम्मपविमुक्कं ॥189 ॥

(त्रिकलम्) ।

आत्मा को आत्माके, द्वारा रोकि अध पुण्य योगों को ।

दर्शनज्ञानावस्थित, परमें वाञ्छारहित होकर ॥187 ॥

जो सर्वसंगको तजि, आत्मा आत्मीय आपको ध्याता ।

कर्म नोकर्म को नहिं, ध्यावे चिन्ते स्वकीय केवलता ॥188 ॥

वह दर्शन ज्ञानमयी, अनन्य आत्मीय ध्यानको करता ।

कर्म प्रविमुक्त आत्मा, को पाता 'गीघ्र अपने में ॥189 ॥

आत्मानमात्मना रुन्ध्वा द्विपुण्यपापयोगयोः । दर्शनज्ञाने स्थितः इच्छाविरतश्चान्यस्मिन् ॥187 ॥

यः सर्वसंगमुक्तो ध्यायत्यात्मानमात्मन आत्मा । नापि कर्म नोकर्म चेतयिता चेतयत्येकत्वं ॥188 ॥

आत्मानं ध्यायन् दर्शनज्ञानमयोऽनन्यमयः । नभतेऽचिरेणात्मानमेव स कर्मप्रविमुक्तं ॥189 ॥

यो हि नाम रागद्वेषमोहमूले 'जुभाषुभयोगे प्रवर्तमानं, दृढतरभेदविज्ञानावष्टंभेन आत्मानं आत्मनैवात्यंतं रुंध्वा 'जुद्धदर्शनज्ञानात्मन्यात्मद्रव्ये सुष्ठु प्रतिष्ठितं कृत्वा समस्तपरद्रव्येच्छापरि—

नामसंज्ञ—अप्य, अप्य, दोपुण्णपापजोय, दंसणणाण, ठिद, इच्छाविरअ, य, अण्ण, ज, सव्वसंगमुक्क, अप्प, अप्प, अप्प, ण, वि, कम्म, णोकम्म, एयत्त, अप्प, ज्ञायंत, दंसणणाणमओ, अण्णमओ, अचिर, अप्प, एव, त,

अब इस अर्थ का कलषरूप काव्य कहते हैं—**निज** इत्यादि। **अर्थ**—भेदविज्ञानकी 'वित्त से अपने स्वरूपकी महिमा में लीन पुरुषों को नियम से 'जुद्धतत्त्व की प्राप्ति होती है और उस 'जुद्धतत्त्व की प्राप्ति होने पर समस्त अन्य द्रव्यों से दूर अचलित स्थित पुरुषों का अक्षय कर्ममोक्ष होता है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया गया था कि कैसे 'जुद्धात्मा के उपलम्भ से सम्बर होता है। अब उसी सम्बर का प्रायोगिक प्रकार इस गाथात्रिकल में कहा गया है।

तथ्यप्रकाश—(1) यह जीव रागद्वेषमोहमूलक 'जुभ अषुभ योगमें प्रवर्तता चला आया है। (2) दृढतर भेदविज्ञान से आत्मषक्ति द्वारा 'जुभाषुभयोग का प्रवर्तन निरुद्ध हो जाता है। (3) दृढतरभेदविज्ञान से 'जुभाषुभयोगका निरोध कर यह आत्मा 'जुद्ध चेतनामात्र अन्तस्तत्त्वमें प्रतिष्ठित हो जाता है। (4) सजहस्वरूपमें प्रतिष्ठित आत्मा निःसंग व निष्प्रकम्प हो जाता है।

(5) स्वरूपप्रतिष्ठित, निःसङ्ग, निष्कम्प आत्मा परतत्त्वसे विविक्तता होनेसे चैतन्यचमत्कारमात्र आत्मा का ध्यान करता हुआ 'जुद्धात्मा को प्राप्त हुआ है। (6) 'जुद्धात्मा को प्राप्त आत्मा सर्वपरभावसे पृथक् होकर 'गीघ्र ही अपने को कर्मविमुक्त कर लेता है।

सिद्धान्त—(1) 'जुद्धात्मा की उपलब्धि से योगनिरोध होनेसे कर्मों का संवर होता है। (2) विषुद्धदर्शनज्ञानसामान्यात्मक 'षष्ठत अन्तस्तत्त्व में अभेद उपयुक्त वीतराग आत्मा सर्वकर्मों से विप्रमुक्त हो जाता है।

दृष्टि—1—स्वभावनय (179)। 2—पुरुषकारनय (183)।

हारेण समस्तसंगविमुक्तो भूत्वा नित्यमेवातिनिष्प्रकंपः सन्, मनागपि कर्मनोकमणोरसंस्पर्षेन आत्मीयमात्मानमेवात्मना ध्यायन् स्वयं सहजचेतयितृत्वादेकत्वमेव चेतयते; स खल्वेकत्वचेतने—नात्यंतविविक्तं चैतन्यचमत्कारमात्रमात्मानं ध्यायन् 'जुद्धदर्शनज्ञानमयमात्मद्रव्यमवाप्तः 'जुद्धोत्तमोपलंभे सति समस्तपरद्रव्यमयत्वमतिक्रांतः सन् अचिरेणैव सकलकर्मविमुक्तमात्मानम—वाप्नोति। एष संवरप्रकारः॥ निजमहिमरतानां भेदविज्ञानषक्त्या भवति नियतमेषां 'जुद्धतत्त्वोपलंभः। अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरे स्थितानां भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः॥228॥॥187—189॥

कम्मपविमुक्क। **धातुसंज्ञ**—रुंधे रोधने, ट्ठा गतिनिवृत्तौ, ज्झा ध्याने, चेत स्मृत्यां, लभ प्राप्तौ। **प्रातिपदिक**—आत्मन्, द्विपुण्यपापयोग, दर्शनज्ञान, स्थित, इच्छाविरत, च, अन्य, यत्, सर्वसंगमुक्त, कमन्, नोकर्मन्, चेतयितृ, एकत्व, ध्यायत्, दर्शनज्ञानमय, अनन्यमय, अचिर, कर्मप्रविमुक्त। **मूलधातु**—रुधिर आवरणे, ष्ठा गतिनिवृत्तौ, ध्ये चिन्तायां, चिति संज्ञाने भ्वादि, चित संचेतने चुरादि, डुलभष् प्राप्तौ। **पदविवरण**—अप्पाणं आत्मानं—द्वितीया एक०। अप्पणा आत्मना—तृतीया एकवचन। रुंधिरुण रुन्त्वा—असमाप्तिकी क्रिया। दोपुण्यपापजोएसु—सप्तमी बहु०। द्विपुण्यपापयोगयोः—सप्तमी द्विवचन। दंसण—णाणम्हि दर्शनज्ञाने—सप्तमी एक०। ठिदो स्थितः—प्रथमा एक०। इच्छाविरओ इच्छाविरतः—प्र० एक०। य च—अव्यय। अण्णम्हि अन्यस्मिन्—सप्तमी एक०। जो यः—प्र० ए०। सव्वसंगमुक्को सर्वसंगमुक्तः—प्रथमा एक०। ज्ञायदि ध्यायति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया। अप्पाणं आत्मानं—द्वितीया एकवचन। अप्पणो आत्मनः—षष्ठी एक०। अप्पा आत्मा—प्रथमा एक०। ण न—अव्यय। अपि—अव्यय। कम्मं कर्म—द्वि० ए०। णोकम्मं नोकर्म—द्वि० एक०। चेदा चेतयिता—प्र० ए०। चेयेइ चेतयति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन। एयत्तं एकत्वं—द्वि० एक०। अप्पाणं आत्मानं—द्वितीया एक०। ज्ञायंतो ध्यायन्—प्रथमा एक० कृ दन्त। दंसणणाणमओ दर्शनज्ञानमयः—प्रथमा एक०। अण्णमओ अनन्यमयः—प्रथमा ए०। लहइ लभते—वर्तमान० अन्य० एक० क्रिया। अचिरेण—तृ० एक०। अप्पाणं आत्मानं—द्वि० ए०। एव—अव्यय। सो सः—प्रथमा एक०। कम्मविप्पमुक्कं कर्मविप्रमुक्तं—द्वितीया एकवचन॥187—189॥

प्रयोग—मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को रोककर ज्ञानस्वभावमें प्रतिष्ठित होकर अपने में मग्न होने का पौरुष करना॥187—189॥

आगे संवर का क्रम बतलाते हैं—[तेशां] पूर्वोक्त राग—द्वेष—मोहरूप आस्रवों के [हेतवः] हेतु [मिथ्यात्वं] मिथ्यात्व [अज्ञानं] अज्ञान [अविरतभावः] अविरति भाव [च योगः] और योग ये चार [अध्यवसानानि] अध्यवसान [सर्वदर्शिभिः] सर्वज्ञदेवों ने [भणिताः] कहे हैं सो [ज्ञानिनः] ज्ञानीके [हेत्वभावे] इन हेतुओं का अभाव होनेसे [नियमात्] नियम से [आस्रवनिरोधः] आस्रव का निरोध [जायते] होता है [च] और [आस्रवभावेन विना] आस्रवभाव के बिना [कर्मणः अपि] कर्मका भी [निरोधः] निरोध [जायते] होता है [च] और [कर्मणः अभावेन] कर्म के अभावसे [नोकर्मणां अपि] नोकर्मों का भी [निरोध] निरोध [जायते] होता है [च] तथा [नोकर्मनिरोधेन] नोकर्मके निरोध होनेसे [संसारनिरोधनं] संसारका निरोध [भवति] होता है।

तात्पर्य—ज्ञानी के अध्यवसान नहीं होने से आस्रव कर्म व नोकर्म के निरोधपूर्वक संसार का निरोध हो जाता है।

टीकार्थ—आत्मा और कर्म के एकत्व के अध्यासमूलक मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, योगस्वरूप अध्यवसान मोही जीव के विद्यमान हैं ही, वे अध्यवसान राग—द्वेष—मोहस्वरूप आस्रव भावके कारणभूत हैं, आस्रवभाव कर्मका कारण है, कर्म नोकर्म का कारण है और नोकर्म संसार का कारण है। इस कारण आत्मा नित्य ही आत्मा और कर्मके एकत्व के अध्याससे आत्मा को मिथ्यात्व अज्ञान अविरति योगमय मानता है। उस अध्यास से राग—द्वेष—मोहरूप आस्रव भावों को भाता है उससे कर्मका आस्रव होता है, कर्मसे नोकर्म होता है और नोकर्म से संसार प्रगट होता है। परंतु जिस समय यह आत्मा, आत्मा और कर्मके भेदज्ञान से 'जुद्ध चैतन्य चमत्कार मात्र आत्मा को अपने में पाता है उस समय मिथ्यात्व अज्ञान अविरति योगस्वरूप, आस्रवभावों के कारणभूत अध्यवसानों का इसके अभाव केन क्रमेण संवरो भवतीति चेत्—

तेसिं हेरु भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरसीहिं ।

मिच्छत्तं अण्णाणं अविरयभावो य जोगो य ।।190 ।।

हेउअभावे णियमा जायदि णाणिस्स आवसणिरोहो ।

आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स वि णिरोहो ।।191 ।।

कम्मस्साभावेण य णोकम्माणं पि जायइ णिरोहो ।

णोकम्मणिरोहेण य संसारणिरोहणं होइ ।।192 ।। (त्रिकलम्)

उनके हेतु बताये, ये अध्यवसान सर्वदर्शीने ।

मिथ्यात्व योग अविरति, अज्ञान कशायमय परिणत ।।190 ।।

हेतु विना ज्ञानी के, अवश्य आस्रवनिरोध हो जाता ।

आस्रवभाव विना क—मो का भि निरोध हो जाता ।।191 ।।

कर्मनिरोध हुआ तब, नोकर्मो का निरोध हो जाता ।

नोकर्म के रुके से, संसारनिरोध हो जाता ।।192 ।।

तेषां हेतवः भणिताः अध्यवसानानि सर्वदर्षिभिः । मिथ्यात्वमज्ञानमविरतभावश्च योगश्च ।।190 ।।

हेत्वभावे नियमाज्जायते ज्ञानिनः आस्रवनिरोधः । आस्रवभावेन विना जायते कर्मणोऽपि निरोधः ।।191 ।।

कर्मणोऽभावेन च नोकर्मणामपि जायते निरोधः । नोकर्मनिरोधेन च संसारनिरोधनं भवति ।।192 ।।

संति तावज्जीवस्य, आत्मकर्मैकत्वाध्यासमूलानि मिथ्यात्वाज्ञानाविरतियोगलक्षणानि अध्यवसानानि । तानि रागद्वेषमोहलक्षणस्यास्रवभावस्य हेतवः । आस्रवभावः कर्महेतुः । कर्मनोकर्महेतुः । नोकर्म संसारहेतुः, इति ततो नित्यमेवायमात्मा, आत्मकर्मणोरेकत्वाध्यासेन मिथ्यात्वाज्ञानविरतियोगमयमात्मानमध्यवस्यति । ततो रागद्वेषमोहरूपमास्रवभावं भावयति । ततः

नामसंज्ञ—त, हेउ, भणिद, अज्झवसाण, सव्वदरिसि, मिच्छत्त, अण्णाण, अविरयभाव, य, जोग, य, जोग, य, हेउअभाव, णियम, णाणि, आसवणिरोह, आसवभाव, विणा, कम्म, वि, णिरोह, कम्म, वि, णिरोह, कम्म, अभाव, य, णोकम्म, पि, णिरोह, णोकम्मणिरोह, य, संसारविरोहण । **धातुसंज्ञ**—भण कथने, जा प्रादुर्भावे, हो सत्तायां । **प्रातिपदिक**—तत्, हेतु, भणित, अध्यवसान, सर्वदर्षिन्, मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरतभाव, च, योग,

होता है, मिथ्यात्व आदि का अभाव होने से राग—द्वेष मोहरूप आस्रव भाव का अभाव होता है, राग—द्वेष—मोह का अभाव होने से कर्म का अभाव होता है, कर्म का अभाव होने पर नोकर्मका अभाव होता है और नोकर्म का अभाव होने से संसार का अभाव होता है । ऐसा यह संवर का अनुक्रम है ।

भावार्थ—जब तक आत्मा और कर्ममें एकत्व की मान्यता है, उनमें भेदविज्ञान नहीं तब तक मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योगरूप अध्यवसान इसके विद्यमान हैं, उनसे राग द्वेष—मोहरूप आस्रवभाव होता है, आस्रवभावसे कर्म बंधते हैं, कर्मसे नोकर्म याने 'रीरादिक प्रगट होते हैं और नोकर्मसे संसार है। लेकिन जिस समय आत्मा को आत्मा और कर्मका भेदविज्ञान हो जाता है तब उसे 'जुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है, उसके होनेसे मिथ्यात्वादि अध्यवसान का अभाव होता है, अध्यवसान का अभाव होनेसे राग—द्वेष—मोहरूप आस्रव का अभाव होता है, आस्रव के अभावसे कर्म नहीं बंधता, कर्म के अभावसे नोकर्म नहीं प्रगट होता और नोकर्म के अभावसे संसार का अभाव होता है। यही संवर का तरीका है।

अब संवर के कारणभूत भेदविज्ञान की भावना का उपदेश करते हैं—**संपद्यते** इत्यादि। **अर्थ**—षुद्धात्मतत्त्वकी प्राप्ति से साक्षात् संवर होता ही है। 'षुद्धात्मतत्त्व की प्राप्ति आत्मा और कर्म के भेदविज्ञान से होती है इस कारण भेदविज्ञान को विशेष रूपसे भाना चाहिये।

कर्म आस्रवति, ततो नोकर्म भवति, ततः संसारः प्रभवति। यदा तु आत्मकर्मणोर्भेदविज्ञानेन 'षुद्धं चैतन्यचमत्कारमात्रमात्मानं उपलभते तदा मिथ्यात्वाज्ञानाविरतियोगलक्षणानां अध्यवसानानां आस्रवभावहेतूनां भवत्यभावः। तदभावे रागद्वेषमोहरूपास्रवभावस्य भवत्यभावः, तदभावे भवति कर्माभावः, तदभावे नोकर्माभावः, तदभावे च भवति संसाराभावः। इत्येष संवरक्रमः।। संपद्यते संवर एष साक्षात् 'षुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलंभात्। स भेदविज्ञानत एव तस्मात्तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यं।।129।। भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया। तावद्यावत्पराच्च-

च, हेत्वभाव, नियम, ज्ञानिन्, आस्रवनिरोध, आस्रवभाव, विना, कर्मन्, अपि, निरोध, कर्मन्, अभाव, च, नोकर्मन्, अपि, निरोध, नोकर्मनिरोध, च, संसारनिरोधन। **मूलधातु**—भण 'ब्दार्थः, भ्वादि, जनी प्रादुर्भावे दिवादि, भू सत्तायां। **पदविवरण**—तेसिं तेषां—षष्ठी बहु०। हेऊ हेतवः—प्रथमा बहु०। भणिया भणितः—प्रथमा बहु०। अज्झवसाणाणि अध्यवसानानि—प्रथमा बहु०। सव्वदरिसीहिं सर्वर्षिभिः—तृतीया बहु०। मिच्छत्तं मिथ्यात्वं—प्रथमा एक०। अण्णाणं अज्ञानं—प्र० एक०। अविरयभावो अविरतिभावः—प्र० एक०। य च—अव्यय।

अब कहते हैं कि भेदविज्ञान कब तक भाना चाहिये? **भावये** इत्यादि। **अर्थ**—इस भेदविज्ञान को अखण्ड प्रवाहरूपसे तब तक भावे जब तक कि ज्ञान परभावों से छूटकर अपने ज्ञानस्वरूपमें ही प्रतिष्ठित नहीं हो जाता है। **भावार्थ**—ज्ञानका ज्ञानमें ठहरना दो प्रकार से जानना। (1) मिथ्यात्व का अभाव होकर सम्यग्ज्ञान हो और उसके बाद मिथ्यात्व नहीं हो। (2) 'षुद्धोपयोगरूप होकर ज्ञान ज्ञानरूप ही ठहरे, अन्य विकाररूप नहीं परिणमे। सो दोनों ही प्रकार से जब तक ज्ञान ज्ञानमें न ठहर जाय तब तक भेदविज्ञानकी निरंतर भावना रखनी चाहिये।

अब भेदविज्ञान की महिमा कहते हैं—**भेद** इत्यादि। **अर्थ**—निष्चयतः जो कोई सिद्ध हुए हैं वे इस भेदविज्ञान से ही हुए हैं और जो कोई कर्म से बँधे हैं वे इसी भेदविज्ञान के अभाव से बँधे हैं।

भावार्थ—आत्मा और कर्मकी एकता के मानने से ही संसारनिमित्तक कर्मबन्धन है। इस कारण कर्मबन्धका मूल भेदविज्ञान का अभाव ही है। जो बँधे हैं वे भेदविज्ञान के अभावसे बँधे हैं और जो सिद्ध हुए हैं वे इस भेदविज्ञान के होने पर ही हुए हैं। इस कारण भेदविज्ञान ही मोक्ष का मूल कारण है।

अब संवर का अधिकार पूर्ण करते समय संवर के होनेसे होने वाली ज्ञानकी महिमा बताते हैं—**भेदज्ञानो** इत्यादि। **अर्थ**—भेदविज्ञान का प्रवर्तन करने से 'षुद्ध तत्त्व की प्राप्ति हुई, उस 'षुद्ध तत्त्व की प्राप्ति से रागके समूहका प्रलय हुआ, रागके समूह का प्रलय

करनेसे कर्मों का सम्बर हुआ तथा कर्मों का सम्बर होनेसे परम संतोष को धारण करता हुआ निर्मल प्रकाशरूप रागादि की कलुषता से रहित एक नित्य उद्योतरूप यह ज्ञान निष्चल उदयको प्राप्त हुआ है। इस प्रकार रंगभूमि में सम्बर का स्वांग हुआ था उसको ज्ञान ने जान लिया सो नृत्य क रवह रंगभूमि से निकल गया।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथात्रिकल में किस प्रकार से सम्बर होता है यह बताया गया था। अब इस गाथात्रिकलमें उस सम्बर के होने का क्रम बताया गया है।

तथ्यप्रकाश—(1) आत्मा और कर्म में एकत्व का अभ्यास होनेसे जीव अपने को मिथ्यात्व अज्ञान अविरति व योगरूप मानता है जिससे ये अध्यवभाव होते हैं। (2) अध्यवसान होने से रागद्वेष मोहरूप आस्रवभाव होते हैं। (3) आस्रवभाव होनेसे कर्मबन्ध होता है। (4) बद्धकर्मविपाक 'रीररचना का कारण है। (5) 'रीर से संसार प्रकट होता है। (6) आत्मा और कर्मका भेदविज्ञान होनेसे 'जुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा की उपलब्धि होती है। (7) 'जुद्ध चैतन्यचमत्कारमात्र आत्मा की उपलब्धि होते ही अध्यवसानों का अभाव होता है। (8) अध्यवसानों का अभाव होनेसे आस्रवभाव का अभाव होता है। (9) आस्रवभावका अभाव होने पर कर्मका अभाव होता है। (10) कर्मका अभाव होनेपर 'रीरका अभाव होता है। (11) 'रीर युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ॥130॥ भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन । अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचल ॥131॥ भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलंभात् रागग्रामप्रलयकरणात्कर्मणां संवरेण । विभ्रत्तोषं परमममलालोकमम्लानमेकं ज्ञानं ज्ञाने नियतमुदितं 'ाष्वतोद्योतमेतत् ॥132॥ इति संवरो निष्क्रांतः ॥190—192॥

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ

संवरप्ररूपकः पञ्चमोऽङ्कः ॥5॥

जोगो योगः—प्रथमा एक०। य च—अव्यय। हेउअभावे हेत्वभावे—सप्तमी एक०। गियमा नियमात्—पंचमी एक०। जायइ जायते—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया। णाणिस्स ज्ञानिनः—षष्ठी एक०। आसवणिरोहो आस्रवनिरोधः—प्र० ए०। आसवभावेण आस्रवभावेन—तृतीया एक०। विणा विना—अव्यय। जायइ जायते—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया। कम्मस्स कर्मणः—षष्ठी एक०। वि अपि—अव्यय। गिरोहो निरोधः—प्रथमा एकवचन। कम्मस्स कर्मणः—षष्ठी एक०। अभावेण अभावेन—तृतीया एक०। य च—अव्यय। णोकम्मणं नोकर्मणां—षष्ठी बहु०। पि अपि—अव्यय। जायइ जायते—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। गिरोहो निरोधः—प्र० ए०। णोकम्मणिरोहेण नोकर्मनिरोधेन—तृतीया एक०। य च—अव्यय। संसारणिरोहणं संसारनिरोधनं—प्रथमा एकवचन। होइ भवति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया ॥190—192॥

का अभाव होने पर संसार का अभाव होता है। (12) भावास्रव का निरोध सम्बर है। (13) संवर तत्त्व पाने पर सकलसंकट दूर हो जाते हैं।

सिद्धान्त—(1) आत्मा के 'जुद्ध भावसे 'जुद्धपरिणतिका सन्तान बनना स्वयं का कार्य है। (2) आत्मा के 'जुद्धभावके निमित्त से पौद्गलिक कर्मों का सम्बर होता है।

दृष्टि—1—कारककारकिभेदक सद्भूतव्यवहार (73)। 2—षुद्धभावनापेक्ष 'जुद्ध द्रव्यार्थिकनय (24ब)।

प्रयोग—आत्मा व कर्म में याने आत्मा के साथ विभाव द्रव्यकर्म 'रीर व क्रियामें अभेदरूप अपने को अनुभवना सर्व विडम्बनाओं का मूल जानकर स्वपरैकत्वाध्यास दूर करनेके लिये भेदविज्ञान करना और परभावसे उपेक्षा करके अपने ज्ञानस्वभावमें उपयुक्त होने का पौरुष करना ॥190—192॥

इस प्रकार सहजानन्दसप्तदशाङ्गी टीका में श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचित समयसार तथा श्रीमद् अमृतचंद्रसूरिविरचित समयसारव्याख्या आत्मख्यातिका संवरतत्त्वप्ररूपक पञ्चम अङ्क समाप्त हुआ।

अथ निर्जराधिकारः

अथ प्रविशति निर्जरा—

रागाद्यास्रवरोधतो निजधुरां धृत्वा परः संवरः कर्मागामि समस्तमेव भरतो दूरान्निरुंधन् स्थितः। प्राग्बद्धं तु तदेव दग्धुमधुना व्याजृम्भते निर्जरा ज्ञानज्योतिरपावृतं न हि यतो रागादिभिर्मूर्च्छति।

उवभोगमिदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं।

जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं।।193।।

उपभोग इन्द्रियोंके, द्वारा चेतन अचेतनों के जो।

करता सम्यग्दृष्टी, वह सब है निर्जरा हेतू।।193।।

उपभोगमिदियैः द्रव्याणामचेतनानामितरेषां। यत्करोति सम्यग्दृष्टिः तत्सर्वं निर्जरानिमित्तं।।193।।

विरागस्योपभोगो निर्जरायै एव। य एव रागादिभावानां सद्भावेन मिथ्यादृष्टेरचेतना—

<p>नामसंज्ञ—उवभोग, इंदिय, दव्व, अचेदण, इदर, ज, सम्मदिट्ठ, त, सव्व, णिज्जरणिमित्त। धातुसंज्ञ—द्व प्राप्तौ, कुण करणे, जर वयोहानौ झरणे च। प्रातिपदिक—उपभोग, इन्द्रिय, द्रव्य, अचेतन, इतर, यत्,</p>

अब निर्जरा प्रवेश करती है—**रागाद्या** इत्यादि। **अर्थ**—रागादिक आस्रवों के रोकने से अपनी सामर्थ्य द्वारा आगामी सब ही कर्मों को मूल में दूर ही से रोकता हुआ परमसंवर ठहर रहा था, अब इस संवर के होने के पहले बँधे हुए कर्मों को जलाने के लिये निर्जरारूप अग्नि फैलती है जिससे कि ज्ञानज्योति निरावरण होती हुई फिर रागादिभावों से मूर्च्छित नहीं होती।

भावार्थ—संवर होने पर नवीन कर्म तो बँधते नहीं और जो पहले बँधे हुए थे वे झड़ रहे, तब ज्ञान का आवरण दूर होने से ज्ञान ऐसा विषुद्ध हो जाता है कि फिर वह ज्ञान रागादिरूप नहीं परिणमता, सदैव विषुद्ध प्रकाशरूप ही रहता है।

अब निर्जरा का स्वरूप कहते हैं—[सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि जीव [यत्] जो [इन्द्रियैः] इन्द्रियों से [अचेतनानां] अचेतन और [इतरेषां] अन्य चेतन [द्रव्याणां] द्रव्यों का [उपभोगं] उपभोग [करोति] करता है [तत् सर्वं] वह सब [निर्जरानिमित्तं] निर्जरा का निमित्त है।

तात्पर्य—कर्मोदयरूप निर्जरण के समय प्राप्त उपभोग के आश्रय हुए राग में राग न होने के कारण ज्ञानी के संसारनिमित्तक कर्मबन्ध न होने से वह उपभोग निर्जरा का ही निमित्त रहा।

टीकार्थ—विरागी का उपभोग निर्जरा के लिए ही होता है। मिथ्यादृष्टि का जो ही चेतन अचेतनद्रव्य का उपभोग रागादिभावों का सद्भाव होने से बंध का निमित्त ही होता है, वही उपभोग रागादिभावों के अभाव से सम्यग्दृष्टि के निर्जरा का निमित्त ही होता है। इस कथन से द्रव्यनिर्जरा का स्वरूप बताया गया है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि ज्ञानी है और ज्ञानी के अज्ञानमय राग द्वेष मोहका अभाव है; इस कारण विरागी के जो इंद्रियों से भोग होता है उस भोग की सामग्री को यह ऐसा जानता है कि ये परद्रव्य हैं, मेरा इनका कुछ सम्बन्ध नहीं है। परन्तु कर्मके उदयके निमित्त से हुई यह चारित्रमोह के उदय की पीड़ा बलहीन होने से जब तक सही नहीं जाती तब तक जैसे रोगी रोग को अच्छा नहीं जानता, परन्तु पीड़ा नहीं सही जाने से औषधि आदि से इलाज करता है उसी तरह विषयरूप भोग उपभोग सामग्री से यह कभी इलाज करता है। तब भी कर्मके उदय से तथा भोगोपभोग की सामग्री से ज्ञानी को राग द्वेष मोह नहीं है। कर्मका उदय होता है वह अपना रस देकर झड़ जाता है उदय आने के बाद उस द्रव्यकर्म की सत्ता नहीं रहती निर्जरा ही है। सम्यग्दृष्टि उदय में आये हुए कर्मरस को जानता है और फलको भी भोगता है, किन्तु राग द्वेष मोह के बिना भोगता है इस कारण कर्म का आस्रव

न्यद्रव्योपभोगो बंधनिमित्तमेव स्यात्, स एव रागादिभावानामभावेन सम्यग्दृष्टेर्निर्जरानिमित्तमेव स्यात्। एतेन द्रव्यनिर्जरास्वरूपमावेदितं।।193।।

सम्यग्दृष्टि, तत्, सर्व, निर्जरानिमित्त। **मूलधातु**—इदि परमैष्वर्ये, चिति संज्ञाने, डुकृञ् करणे, दृषिर् प्रेक्षणे। **पदविवरण**—उपभोगं उपभोगं—द्वितीया एकवचन कर्मकारक। इदियेहिं इन्द्रियैः—तृतीया बहु०। द्रव्याणाम्—षष्ठी बहु०। अचेदणाणं अचेतनानां—षष्ठी बहु०। इदराणां इतरेषां—षष्ठी बहु०। जं यत्—द्वितीया एकवचन। कुणदि करोति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया। सम्मदिट्ठी सम्यग्दृष्टिः—प्रथमा एकवचन कर्ताकारक। तं तत्—प्रथमा एकवचन। सत्त्वं सर्वं—प्रथमा एक०। णिज्जरणिमित्तं निर्जरानिमित्तं—प्रथमा एकवचन।।193।।

नहीं होता, आस्रव के बिना विरागी सम्यग्दृष्टि के आगामी बंध नहीं होता। और जब आगामी बंध नहीं हुआ तक केवल निर्जरा ही हुई। इस कारण सम्यग्दृष्टि विरागी का भोगोपभोग निर्जरा का ही निमित्त कहा गया है। तथा लक्षण भी यही है कि पूर्व द्रव्यकर्म उदयमें आकर झड़ जावें यही द्रव्यनिर्जरा है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व अधिकार, क्रमानुसार संवराधिकार पूर्ण हो गया। अब क्रमप्राप्त निर्जराधिकार आया है। संवरपूर्वक निर्जरा मोक्षमार्ग की प्रयोजनभूत है सो संवर के बाद निर्जरा का वर्णन किया है। सो द्रव्यनिर्जरा व भावनिर्जरा इन दो प्रकार की निर्जराओं हुआ। इस गाथा में द्रव्यनिर्जरा का स्वरूप निर्दिष्ट किया गया है।

तथ्यप्रकाश—1—विराग का उपभोग निर्जरा के लिये ही होता है, क्योंकि उस उपभोग भाग नहीं है, अतः उदयागत द्रव्यप्रत्यय नवीन कर्मबन्ध के निमित्तभूत नहीं होते। 2—नवीन कर्मबन्ध का कारण न बनकर उदयागत द्रव्यप्रत्यय का निकल जाना द्रव्यनिर्जरा है। 3—उपभोग में राग होने से मिथ्यादृष्टि का उपभोग कर्मबंध का निमित्त होता है। 5—निर्जरा होना व बन्ध का न होना गुणस्थान के अनुसार समझना। 4—मिथ्यादृष्टि के निर्जरा गजस्नान वत् बंध कराती हुई होती है।

सिद्धान्त—1—उदयागत द्रव्यप्रत्यय के निमित्त से चेतन अचेतन द्रव्यों का उपभोग होता है। 2—समस्त परभावसे विरक्त होने से ज्ञानी के कर्मनिर्जरण होता है। 3—अज्ञानी के रागादिभाव होने के कारण कर्मबन्ध होता है।

दृष्टि—1—उपाधिसापेक्ष अपुद्बद्रव्यार्थिकनय (24)। 2—षुद्धभावनापेक्ष 'षुद्धद्रव्यार्थिकनय (24ब)। उपाधिसापेक्ष अपुद्बद्रव्यार्थिकनय (24)।

प्रयोग—बन्धहेतुभूत रागादि से दूर होने के लिये निज सहज ज्ञानज्योति में उपयोग को स्थिर करने का पौरुष करना।।193।।

अब भावनिर्जरा का स्वरूप कहते हैं—[द्रव्ये उपभुज्यमाने] द्रव्यकर्म के व वस्तुके भोग जाने पर [सुखं वा दुःखं] सुख अथवा दुःख [नियमात्] नियम से [जायते] उत्पन्न होता है। [वा] और [उदीर्ण] उदय में आये हुए [तत् सुखदुःखं] उस सुख दुःख को [वेदयते] अनुभव करता है [अथ] फिर वह सुख दुःखरूप भाव [निर्जरां याति] निर्जरा को प्राप्त होता है।

तात्पर्य—ज्ञानी के सुख दुःख आता है, किन्तु उसमें लगाव न होने से वह भाव आगे को बंधन का कारण न बनकर निर्जीर्ण हो जाता है।

टीकार्थ—परद्रव्य के भोगने में आने पर तन्निमित्तक सुखरूप अथवा दुःखरूप भाव नियम से उदय होते हैं, क्योंकि वह वेदना साता तथा असाता इन दोनों भावों का अतिक्रमण नहीं करती। सो यह सुख दुःखरूप भाव जिस समय अनुभवा जाता है उस समय मिथ्यादृष्टि के तो रागादिभावों के होने से आगामी कर्मबन्ध का निमित्त होकर झड़ता हुआ भी निर्जरारूप नहीं होता हुआ बन्ध ही कहना चाहिये। और सम्यग्दृष्टि के उस सुख दुःख के अनुभव से रागादि भावों का अभाव होने से आगामी बंधका निमित्त न होने से केवल अथ भावनिर्जरास्वरूपमावेदयति—

द्रव्ये उवभुंजंते णियमा जायदि सुहं वा दुक्खं वा।

तं सुहदुक्खमुदिण्णां वेददि अह णिज्जरं जादि।।194।।

द्रव्य उपभोग करते, सुख अरु दुःख उत्पन्न होता है।

उस उदीर्ण सुख दुःखको, वेदत ही कर्म झड़ जाता।।194।।

द्रव्ये उपभुज्यमाने नियमाज्जायते सुखं वा दुःखं वा। तत्सुखदुःखमुदीर्णं वेदयते अथ निर्जरां याति।।194।।

उपभुज्यमाने सति हि परद्रव्ये तन्निमित्तः सातासाताविकल्पानतिक्रमणेन वेदनायाः सुखरूपो दुःखरूपो वा नियमादेव जीवस्य भाव उदेति। स तु यदा वेद्यते तदा मिथ्यादृष्टे रागादिभावानां सदभावेन बंधनिमित्तं भूत्वा निर्जीर्यमाणोप्यनिर्जीर्णः सन् बंध एव स्यात्। सम्यग्दृष्टेस्तु रागादिभावानामभावेन बंधनिमित्तमभूत्वा केवलमेव निर्जीर्यमाणो निर्जीर्णः सन्निर्जरेव स्यात्। तद् ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल।। यत्कोऽपि कर्मभिः कर्म भुंजानोऽपि न बध्यते।।134।। ।।194।।

नामसंज्ञ—द्रव्य, उवभुंजंत, णियम, सुह, वा, दुःख, वा, त, सुहदुक्ख, उदिण्ण, अह, णिज्जर।
धातुसंज्ञ— ह्व प्राप्तौ, उव-भुंज भक्षणो भोगे च, जा प्रादुर्भावे, वेद वेदने, जा गतौ।
प्रातिपदिक—द्रव्य, उपभुज्यमान, नियम, सुख, वा, दुःख, वा, तत्, सुखदुःख, उदीर्ण, अथ, निर्जरा।
मूलधातु—उप-भुज पालनाभ्यवहारयोः, जनी प्रादुर्भावे दिवादि, विद चेतनाख्याननिवासेषु चुरादि, या प्रापणे अदादि। **पदविवरण**—द्रव्ये द्रव्ये-सप्तमी एक०। उवभुज्जंते उपभुज्यमाने-सप्तमी एक०। णियमा नियमात्-पंचमी एक०। जायदि जायते-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। सुखं-प्रथमा एक०। वा-अव्यय। दुक्खं दुःखं-प्रथमा एक०। वा-अव्यय। तं तत् सुहदुक्खं सुखदुःखं उदिण्णं उदीर्णं-प्रथमा एकवचन या द्वितीया एकवचन। वेददि वेद्यते या वेदयते-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया। अह अथ-अव्यय। णिज्जरं निर्जरां-द्वितीया एक०। जादि याति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन।।194।।

निर्जरा रूप ही होता है सो निर्जरारूप हुआ निर्जरा ही कहना चाहिये, बन्ध नहीं कहा जा सकता। **भावार्थ**—द्रव्यकर्मकी स्थिति पूर्ण होने पर या पहिले उदय आने पर सुख दुःख भाव नियम से उत्पन्न होते हैं उनको अनुभव करते हुए मिथ्यादृष्टि के तो रागादिक निमित्त का सद्भाव होने से आगामी कर्मका बंध करके निर्जरा होती है सो वह निर्जरा किस काम की, गिनती में भी नहीं, वहाँ तो बन्ध ही किया गया। और सम्यग्दृष्टिके सुख दुःख भोगने पर भी उसमें रागादिकभाव नहीं होते, इसलिये आगामी बन्ध भी नहीं होता। केवल निर्जरा ही हुई।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में द्रव्यनिर्जरा का स्वरूप बताया गया था। अब इस गाथा में द्रव्यनिर्जरा का निमित्तभूत व कार्यभूत भावनिर्जरा का स्वरूप कहा है।

तथ्यप्रकाश—(1) परद्रव्य का उपभोग होने पर साता या असातारूप वेदन होता है। (2) साता असाता के वेदन के समय उसमें रागभाव (व्यामोह) होने से उपभोग बन्ध का निमित्त होता है। (3) उदय भी निर्जरा है उस निर्जरा के होते हुए भी रागादिभाव होने से अज्ञानी के कर्मबन्ध होता है, अतः वह निर्जरा नहीं है। (4) सातोदय व असातोदय से सुख दुःख होने पर स्वसंवेदनबलसे उत्पन्न परमार्थ आनन्द की प्रतीति रखने वाला ज्ञानी उस कर्मफल को मात्र जानता ही है, यह भावनिर्जरा है।

सिद्धान्त—(1) कर्मरससे विविक्त 'जुद्ध ज्ञानमात्र के अनुभव से विभावनिर्जरण होता है। (2) विभावनिर्जरण होने पर द्रव्यनिर्जरण होता ही है।

दृष्टि—1—षुद्धभावनापेक्ष 'जुद्ध द्रव्यार्थिकनय (24ब)। 2—उपाध्यभावापेक्ष 'जुद्ध द्रव्यार्थिकनय (24अ)।

प्रयोग—कर्मोदयज सातासाताविकल्पसंकट से दूर होने के लिये प्रतिफलित कर्मरसको परभाव जानकर उससे विमुख होकर अपने सहज ज्ञानरस का स्वाद लेने का पौरुष करना ॥194॥

अथ ज्ञानसामर्थ्य दर्शयति—

जह विसमुवभुज्जंतो वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि ।

पुग्गलकम्मस्सुदयं तह भुंजदि णेव वज्झए णाणी ॥195॥

जैसे विश उपभोगी, वैद्य पुरुष मरणको नहीं पाता ।

पुद्गल कर्म उदयको, भोगे नहीं विज्ञ जन बँधता ॥195॥

यथा विषमुपभुंजानो वैद्यः पुरुषो न मरणमुपयाति । पुद्गलकर्मण उदयं तथा भुंक्ते नैव बध्यते ज्ञानी ।

यथा कष्चिद्विषवैद्यः परेषां मरणकारणं विषमुपभुंजानोऽपि अमोघविद्यामर्थ्येन निरुद्ध-तच्छक्तित्वान्न म्रियते, तथा अज्ञानिनां रागादिभावसद्भावेन बंधकारणं पुद्गलकर्मोदयमुपभुं-

नामसंज्ञ—जह, विस, उपभुज्जंत, वेज्ज, पुरिस, ण, मरण, पुग्गलकम्म, उदय, तह, ण, एव, णाणि । **धातुसंज्ञ**—उव—भुंज भक्षणे भोगे च, उव—जा प्रापणे, भुंज भोगे, बज्झ बंधने । **प्रातिपदिक**—यथा, विष, उपभुज्जमान, वैद्य, पुरुष, न, मरण, पुद्गलकर्मन्, उदय, तथा, न, एव, ज्ञानिन् । **मूलधातु**—उप—या प्रापणे, उत्—अय गतौ, भुज भोगे, बंध बंधने । **पदविवरण**—जह यथा—अव्यय । विसं विषं—द्वितीया एकवचन । उवभुज्जंतो उपभुंजानः—प्रथमा एक० कर्तृविषेषण । वेज्जो वैद्यः—प्रथमा ए० । पुरिसो पुरुषः—प्रथमा एक० कर्ताकारक । ण न—अव्यय । मरणं—द्वि० ए० कर्मकारक । उवयादि उपयाति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । पुग्गलकम्मस्स पुद्गलकर्मणः—षष्ठी एक० । उदयं—द्वि० एक० । तह तथा—अव्यय । भुंजदि भुंक्ते—

अब आगे के कथन की सूचना का कलष कहते हैं—**तज्ज्ञान** इत्यादि ।

अर्थ—वास्तवमें वह सामर्थ्य ज्ञान अथवा वैराग्य की है कि कोई कर्मको भोगता हुआ भी कर्मसे नहीं बँधता । सो अब उस ज्ञानकी सामर्थ्य दिखलाते हैं—**[यथा]** जैसे **[वैद्यः]** वैद्य **[पुरुशः]** पुरुष **[विशं उपभुंजानः]** विषको भोगता हुआ भी **[मरणं]** मरणको **[न उपयाति]**

नहीं प्राप्त होता [तथा] उसी तरह [ज्ञानी] ज्ञानी [पुद्गलकर्मणः] पुद्गल कर्मके [उदय] उदयको [भुंक्ते] भोगता है तो भी [नैव बध्यते] बंधता नहीं है।

तात्पर्य—अविकार अन्तस्तत्त्व के ज्ञान होने के सामर्थ्य से कर्मफलभोग में उपेक्षा होने के कारण ज्ञानी के संसारबन्धक बन्ध नहीं होता।

टीकार्थ—जैसे कोई वैद्य, दूसरे के मरण का कारणभूत विषको भोगता हुआ भी अव्यर्थ विद्या की सामर्थ्य से विष की मारणशक्ति के निरुद्ध हो जाने से विषसे मरण को प्राप्त नहीं होता, उसी तरह अज्ञानियों को रागादि भावों के सद्भाव से बंधके कारणभूत पुद्गलकर्मके उदय को भोगता हुआ भी ज्ञानी ज्ञानकी अमोघ सामर्थ्य से रागादिभावों के अभाव होने पर कर्म के उदय की आगामी बंध करने वाली 'शक्ति निरुद्ध हो जाने से आगामी कर्मों से नहीं बंधता।

भावार्थ—जैसे कोई वैद्य पुरुष अपनी विद्या की सामर्थ्य से विषकी मारणशक्ति का अभाव करता है सो वह उस विष को खाने पर भी उससे नहीं मरता, उसी तरह ज्ञानी के ज्ञान की सामर्थ्य से कर्म के उदय की बंध करने रूप 'शक्ति को हटा देता है। इस कारण उसके कर्मका उदय भोगने में आता है तो भी आगामी बंध नहीं करता। यह सम्यग्ज्ञान की सामर्थ्य है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में भावनिर्जरा का स्वरूप बताते हुए ज्ञान व वैराग्य के बल की महिमा दिखाई थी। अब इस गाथा में उसी ज्ञान का सामर्थ्य दिखाया गया है।

तथ्यप्रकाश—1—तत्त्वज्ञानी 'जुभ अषुभ कर्मफलको भोगता हुआ भी ज्ञानमय प्रतीति के कारण कर्मसे नहीं बंधता है। 2—अज्ञानी जीव 'जुभ अषुभ कर्मफलमें आसक्त होने के कारण कर्मसे बंधता है। 3—ज्ञानस्वभाव की दृष्टि के कारण द्रव्यप्रत्यय की कर्मबंधनिमित्तत्वशक्ति निरुद्ध हो जाती है, अतः ज्ञानी कर्मसे नहीं बंधता।

जानोऽपि अमोघज्ञानसामर्थ्यात् रागादिभावानामभावे सति निरुद्धतच्छक्तित्वात् न बध्यते ज्ञानी ॥195॥

वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन। न, एव, बज्जए बध्यते—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। गाणी ज्ञानी—प्रथमा एकवचन ॥195॥

सिद्धान्त—1—सहजषुद्ध अविकार ज्ञानस्वभावमें आत्मत्व की भावना से पौद्गलिक कर्मों का निर्जरण हो जाता है। 2—उपभोग में रागादिभाव के अभाव से कर्मबन्ध नहीं होता।

दृष्टि—1—षुद्धभावनापेक्ष 'जुद्धद्रव्यार्थिकनय (24ब)। 2—उपाध्यभावापेक्ष 'जुद्ध द्रव्यार्थिकनय (24अ)।

प्रयोग—कर्मबंध से छुटकारा पाने के लिये वर्तमान कर्मफल का ज्ञातामात्र रहकर निर्विकल्प अविकारस्वभाव अन्तस्तत्त्व की आराधना करना ॥195॥

अब वैराग्य की सामर्थ्य दिखलाते हैं—[यथा] जैसे [पुरुशं] कोई पुरुष [मद्यं] मदिरा को [अरतिभावेन] अप्रीति से [पविन्] पीता हुआ [न माद्यति] मतवाला नहीं होता [तथैव] उसी तरह [ज्ञानी अपि] ज्ञानी भी [द्रव्योपभोगे] द्रव्य के उपभोग में [अरतः] विरक्त होता हुआ [न बध्यते] कर्मों से नहीं बंधता।

तात्पर्य—कर्मोदयवष उपभोग होने पर भी मूल विरक्ति के कारण ज्ञानी बंधता नहीं है।

टीकार्थ—जैसे कोई पुरुष मदिरा के तीव्र अप्रीतिभाव वाला होता हुआ मदिरा (षराब) को पीता हुआ भी तीव्र अरतिभावके सामर्थ्य से मतवाला नहीं होता, उसी तरह ज्ञानी भी

रागादिभावों के अभाव से सब द्रव्यों के उपभोग के प्रति तीव्र विरागभावमें वर्तता हुआ विषयों को भोगता हुआ भी तीव्र विरागभाव की सामर्थ्य के कर्मों से नहीं बँधता।

अब कलषरूप काव्यमें उत्थानि का कहते हैं—**नाश्नुते** इत्यादि। **अर्थ**—यह पुरुष, विषयों को सेवता हुआ भी विषय सेवने के निजफलको नहीं पाता, क्योंकि वह ज्ञान वैभव तथा विरागता के बल से विषयों का सेवने वाला होने पर भी सेवने वाला नहीं है।

भावार्थ—ज्ञान और विरागता का ऐसा अद्भूत बल है कि इंद्रियों से विषयों का सेवन करने पर भी उनका सेवने वाला नहीं कहा जाता। क्योंकि विषयसेवन का निजफल संसार व संसारभ्रमण है। लेकिन ज्ञानी वैरागी के मिथ्यात्व का अभाव होने से संसार का भ्रमणरूप फल नहीं होता।

प्रसंगविवरण—उपान्त्यपूर्व गाथा में ज्ञान और वैराग्य के सामर्थ्य का संकेत था। जिसमें ज्ञानसामर्थ्य वर्णन अनन्तरपूर्व गाथा में किया गया है। अब इस गाथा में वैराग्य का सामर्थ्य बताया गया है।

तथ्यप्रकाश—1—उपभोग के प्रति तीव्र विरागता होने के कारण ज्ञानी विषयों को भोगता हुआ भी बँधता नहीं है। 2—राग में राग न होने से ज्ञानी के उपभोग में भी राग नहीं होता, मात्र भोगना पड़ने की बात होती है। 3—भोगमद्य का प्रतिपक्षभूत हर्षविषादादिविकल्प—‘नून्य योग औषधि का समायोग होने से विरागता के कारण भोगमद्य का उपभोग ज्ञानी को बेसुध नहीं कर सकता है।

सिद्धान्त—1—सहजषुद्ध अविकार स्वभाव की भावना होने पर द्रव्योपभोग में अरति होने से कर्मबन्ध नहीं होता। 2—जितने अंश में ज्ञानी राग नहीं करता उतने अंश में वह कर्मसे नहीं बंधता। 3—पूर्ण वीतराग होने पर कर्मसे रंच भी नहीं बँधता।

दृष्टि—1—षुद्धभावनापेक्ष ‘जुद्धद्रव्यार्थिकनय (24ब)। 2—अपूर्ण ‘जुद्ध निष्चयनय (46ब)। 3—उपाध्यभावापेक्ष ‘जुद्धद्रव्यार्थिकनय (24अ)।

अथ वैराग्यसामर्थ्य दर्शयति—

जह मज्जं पिवमाणो अरादिभावेण मज्जदि ण पुरिसो ।

दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण वज्झदि तहेव ।।196 ।।

अरति भावसे जैसे, मदिरा पीता पुरुष नहीं मदता ।

द्रव्यभोगमें तैसे, विरक्त ज्ञानी नहीं बँधता ।।196 ।।

यथा मद्यं पिबन् अरतिभावेन माद्यति न पुरुषः । द्रव्योपभोगे अरतो ज्ञान्यपि न बध्यते तथैव ।।196 ।।

यथा कश्चित्पुरुषो मैरेयं प्रति प्रवृत्ततीव्रारतिभावः सन् मैरेयं पिबन्नपि तीव्ररतिभाव—सामर्थ्यान्न माद्यति तथा रागादिभावानामभावेन सर्वद्रव्योपभोगं प्रति प्रवृत्ततीव्रविरागभावः सन् विषयानुपभुञ्जानोऽपि तीव्रविरागभावसामर्थ्यान्न बध्यते ज्ञानी ।। नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत् स्वं फलं विषयसेवनस्य वा । ज्ञानवैभवविरागतावलात् सेवकोऽपि तदसावसेवकः ।।135 ।। ।।196 ।।

नामसंज्ञ—जह, मज्ज, पिवमाण, अरादिभाव, ण, पुरिस, दव्वुवभोग, अरद, णाणि, वि, ण, तह, एव।
धातुसंज्ञ—पी पाने, मज्ज गर्वे, बज्ज बंधने। **प्रातिपदिक**—यथा, मद्य, पिबमान, अरतिभाव, न, पुरुष, द्रव्योपभोग, अरत, ज्ञानिन्, अपि, न, तथा एव। **मूलधातु**—पा पाने भ्वादि, मदी हर्षे दिवादि, बन्ध बन्धने।
पदविवरण—जह यथा—अव्यय। मज्जं मद्यं—द्वितीया एक०। पिवमाणो पिबन्—प्रथमा एक० कृदंत। अरदिभावेण अरतिभावेन—तृतीया एक०। मज्जदि माद्यति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया। ण न—अव्यय। पुरिसो पुरुषः—प्रथमा एक० कर्ताकारक। दव्वुवभोगे द्रव्योपभोगे—सप्तमी एक०। अरदो अरतः—प्र० ए०। णाणी ज्ञानी—प्र० एक०। वि अपि—अव्यय। ण न—अव्यय। वज्झदि बध्यते—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया। तह तथा—अव्यय। एव—अव्यय ।।196 ।।

प्रयोग—सर्वदुःखमुक्ति के लिये कर्मानुभाग के प्रतिफलन में राग न करके अविकार ज्ञानस्वभावमें उपयुक्त होने का पौरुष करना ॥196॥

अब उक्त अर्थ को दृष्टांत द्वारा दिखलाते हैं—[कश्चित्] कोई तो [सेवमानोपि] विषयों को सेवता हुआ भी [न सेवते] नहीं सेवन करता है और [असेवमानोपि] कोई नहीं सेवन हुआ भी [सेवकः] सेवने वाला कहा जाता है [कस्यापि] जैसे किसी पुरुष के [प्रकरणचेष्टा अपि] किसी कार्य के करने की चेष्टा तो है [च सः] किन्तु वह [प्राकरणः] कार्य करने वाला स्वामी हो [इति न भवति] ऐसा नहीं है।

टीकार्थ—जैसे कोई पुरुष किसी कार्य की प्रकरणक्रिया में व्याप्रियमाण होकर भी याने उस सम्बंधी सब क्रियाओं को करता हुआ भी उस कार्य का स्वामी नहीं है। किन्तु दूसरा कोई पुरुष उस प्रकरण में व्याप्रियमाण न होकर भी याने उस कार्य सम्बंधी क्रियाको नहीं करता हुआ भी उस कार्य का स्वामीपन होने से उस प्रकरण का करने वाला कहा जाता है। उसी तरह सम्यग्दृष्टि भी पूर्वसंचित कर्मों के उदयसे प्राप्त हुए इन्द्रियों के विषयों को सेवता हुआ भी रागादिक भावों का अभाव होने के कारण से विषय सेवन के फलके स्वामीपन का अभाव होनेसे असेवक ही है। किन्तु, मिथ्यादृष्टि विषयों को नहीं सेवता हुआ भी रागादिभावों का सद्भाव होने के कारण विषय सेवने के फलका स्वामीपना होनेसे विषयों का सेवक ही है।

भावार्थ—जैसे कोई व्यापारी स्वयं कार्य न करके नौकर के द्वारा कारखाने का कार्य कराता है, तो वह स्वयं कार्य न करता हुआ भी स्वामित्व के कारण दूकान सम्बंधी हानि—लाभ का फल हर्ष विषाद पाता है। किन्तु नौकर स्वामित्वबुद्धि अभावमें व्यापार करता हुआ भी उसके हानि—लाभ का जिम्मेदार नहीं है। ऐसे ही सम्यग्दृष्टि को कर्मविपाकवष सुख दुःख भोगना पड़ता, पर उसका स्वामी न बनने से भोगका फल संसारबन्धन उसके नहीं होता।

अब इसी अर्थ के समर्थन में कलषरूप काव्य कहते हैं—**सम्य** इत्यादि।
अर्थ—सम्यग्दृष्टिके नियम से ज्ञान और वैराग्य की 'क्ति होती है। क्योंकि यह सम्यग्दृष्टि अथैतदेव दर्शयति—

सेवंतोवि ण सेवइ असेवमाणोवि सेवगो कोई ।

पगरणचेट्ठा कस्सवि ण य पायरणोत्ति सो होई ॥197॥

सेता हुआ न सेवे, कोई नहीं सेते भी सेवक है ।

परजन कार्य निरत भी, प्राकरणिक भी नहीं होता ॥197॥

सेवमानोऽपि न सेवते असेवमानोऽपि सेवकः कश्चित् । प्रकरणचेष्टा कस्यापि न च प्राकरण इति स भवति ।

यथा कश्चित् प्रकरणे व्याप्रियमाणोऽपि प्रकरणस्वामित्वाभावात् न प्राकरणिकः, अपरस्तु तत्राव्याप्रियमाणोऽपि तत्स्वामित्वात्प्राकरणिकः । तथा सम्यग्दृष्टिः पूर्वसञ्चितकर्मोदयसंपन्नान् विषयान् सेवमानोऽपि रागादिभावानामभोवन विषयसेवनफलस्वामित्वाभावादसेवक एवं । मिथ्यादृष्टिस्तु विषयानसेवमानोऽपि रागादिभावानां सद्भावेन विषयसेवनफलस्वामित्वात्सेवक एव । सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या । यस्माद् ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात् ॥136॥ ॥197॥

नामसंज्ञ—सेवंत, वि, ण, असेवमाण, वि, सेवग, कोई, पगरणचेट्ठा, क, वि, ण, य, पायरण, इत्ति, त ।
धातुसंज्ञ—सेव सेवायां, प—कर करणे, हो सत्तायां । **प्रातिपदिक**—सेवमान, अपि, असेवमान, अपि, सेवक, कश्चित्, प्रकरणचेष्टा, किम्, अपि, न, च, प्राकरण, इति, त । **मूलधातु**—सेव सेवायां, भू सत्ताया ।
पदविवरण—सेवंतो सेवमानः—प्रथमा एक० । वि अपि—अव्यय । ण न—अव्यय । सेवइ सेवते—वर्तमान

लट् अन्य पुरुष एक०। अवेसमाणो असेवमानः—प्रथमा एक०। वि अपि—अव्यय। सेवगो सेवकः—प्रथमा एक०। कोई कश्चित्—अव्यय अन्तः—प्रथमा एकवचन। पगरणचेट्टा प्रकरणचेष्टा—प्र० एक०। कस्स कस्य—षष्ठी एक०। वि अपि—अव्यय। ण न—अव्यय। वि अपि—अव्यय। पायरणो प्राकरणः—प्रथमा ए०। इति इति—अव्यय। सो सः—प्रथमा एक०। होई भवति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया।।197।।

अपने स्वरूपका ग्रहण और परके त्याग की विधिसे अपना वस्तुत्व उपयोग में रखने के लिये भिन्न—भिन्न स्व व परको परमार्थ से जानकर अपने स्वरूपमें ठहरता है और पररूप समस्त रागयोग से विराग लेता है। अहा यह अद्भूत रीति ज्ञान वैराग्य की 'विक्रि के बिना नहीं होती।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया गया था कि वैराग्य का ऐसा सामर्थ्य है कि ज्ञानी विषयों को उपभोगता हुआ भी अरतिभावके कारण कर्मसे नहीं बँधता है। अब इसी तथ्यका विधिनिषेधरूपसे समर्थन इस गाथा में किया गया है।

तथ्यप्रकाश—(1) तत्त्वज्ञानी चारित्रमोहोदय विपाकवष विषयों को सेवता हुआ भी उसका स्वामी न बनने से सेवक नहीं है। (2) अज्ञानी जीव विषयसाधन न मिलने पर विषयों को न सेवता हुआ भी रागादिसद्भाव के कारण सेवक है। (3) ज्ञानी विषयसेवन का व विषयसेवनफलका अपने को स्वामी न मानने से वह प्राकरणिक नहीं है। (4) अज्ञानी जीव विषयसेवन का व विषयसेवनफलनका अपने को स्वामी मानने से प्राकरणिक है। (5) प्राकरणिक जीव कर्म से बँधता है। (6) अप्राकरणिक जीव कर्मसे नहीं बँधता।

सिद्धान्त—(1) अविकार सहज ज्ञानमय स्वका संवेदन करने वाला ज्ञानी ज्ञानरस का स्वाद लेने से अबन्धक है। (2) अपने को विकारस्वरूप समझने वाला अज्ञानी कर्मरसका स्वाद मानने से बन्धक है।

दृष्टि—1—ज्ञाननय (194)। 2—कर्तृनय (189)।

प्रयोग—अपने को सहज आनन्दमय अनुभवने के लिये उपयोग में प्रतिफलित कर्मरससे उपयोग हटाकर निज सहज ज्ञानस्वरूपमें उपयोग करने का पौरुष करना।।197।।

सम्यग्दृष्टिः सामान्येन स्वपरावेवं तावज्जानाति—

उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिओ जिणवरैहिं।

ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को।।198।।

उदयविपाक विविध है, कर्मों के श्री मुनीश दर्शाये।

वे नहीं स्वभाव मेरे, मैं तो हूँ एक ज्ञायक सत्।।198।।

उदयविपाको विविधः कर्मणां वर्णितो जिनवरैः। न तु ते मम स्वभावः ज्ञायकभावस्त्वहमेकः।।198।।

ये कर्मोदयविपाकप्रभवा विविधा भावा न ते मम स्वभावाः। एष टंकीत्कीर्णकज्ञायकभावस्वभावोऽहं।।198।।

नामसंज्ञ—उदयविवाग, विविह, कम्म, वण्णिअ, जिणवर, ण, दु, त, अम्ह सहाव, जाणगभाव, दु, अम्ह, इक्क। **धातुसंज्ञ**—वण्ण वर्णने। **प्रातिपदिक**—उदयविपाक, विविध, कर्मन्, वर्णित, जिनवर, न, तु, अस्मद्, स्वभाव, ज्ञायकभाव, तु, अस्मद्, एक। **मूलधातु**—वि—डुपचष पाके, वर्ण वर्णने। **पदविवरण**—उदयविवागो उदयविपाकः—प्रथमा एकवचन। कम्माणं कर्मणाम्—षष्ठी बहु०। वण्णिओ वर्णितः—प्र० एक०। जिणवरैहिं जिनवरैः—तृतीया बहु०। न, तु, मज्झ मम—षष्ठी एक०। सहावा स्वभावाः—प्रथमा बहु०। जाणगभावो ज्ञायकभावः—प्र० ए०। तु—अव्यय। अहं—प्र० ए०। इक्को एकः—प्रथमा एकवचन।।198।।

अब कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि वास्तव में सामान्य से अपने को और परको ऐसा जानता हैः—[कर्मणां] कर्मों का [उदयविपाकः] उदयविपाक [जिनवरैः] जिनेष्वर देवोंने

[विविधः] अनेक तरहका [वर्णितः] कहा है [ते] वे [मम स्वभावाः] मेरे स्वभाव [न तु] नहीं हैं [तु अहं] किन्तु मैं [एकं] एक [ज्ञायकभावः] मात्र ज्ञायकस्वभावस्वरूप हूं।

तात्पर्य—कर्मोदयविपाकज भाव मेरे स्वभाव नहीं, मैं तो सहज ज्ञानस्वभावमात्र हूं ज्ञानी ऐसा जानता है।

टीकार्थ—जो कर्मके उदयके विपाक से उत्पन्न हुए अनेक प्रकार के भाव हैं वे मेरे स्वभाव नहीं है। मैं तो यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावस्वभाव हूं।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया गया था कि ज्ञानी परभावका अपने को स्वामी न मानने से प्राकरणिक नहीं है। अब इस गाथा में उसी के सम्बन्ध में यह बतलाया है कि वह कौन सा ज्ञान है जिससे कि ज्ञानी परभाव का स्वामी नहीं बनता है।

तथ्यप्रकाश—1—जीवमें नाना प्रकार के विभाव कर्मोदयविपाक से उत्पन्न होते हैं। 2—कर्मोदयविपाकप्रभव भाव आत्मा के स्वभाव नहीं है। 3—आत्मा तो वस्तुतः एक ज्ञायक भाव स्वभाव मात्र है। 4—ज्ञानी स्वभाव व परभावमें स्पष्ट भेद समझता है।

सिद्धान्त—1—रागद्वेषादिविभाव कर्मविपाकोदयका निमित्त पाकर ही होते हैं। 2—परभाव मेरे स्वभाव नहीं है। 3—मैं तो एक अखंड चिद्रूप हूं।

दृष्टि—1—उपाधिसापेक्ष अषुद्ध द्रव्यार्थिकनय (24)। 2—परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (29)। 3—अखण्ड परमषुद्धनिष्चयनय (44)।

प्रयोग—कर्मोदयविपाकप्रभव रागद्वेषादि विभावों को परभाव जानकर उनसे उपेक्षा करके निरपेक्ष सहज ज्ञायकस्वभाव स्वमें स्वतत्त्वकी दृष्टि बनाये रखने का पौरुष करना ॥198॥

अब कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि अपने को और परको विषेष्णरूपसे इस प्रकार जानता है—[रागः] राग [पुद्गलकर्म] पुद्गलकर्म है [तस्य] उसका [विपाकोदयः] विपाकोदय [एश] यह [भवति] है सो [एशः] यह [मम भावः] मेरा भाव [न] नहीं है, क्योंकि [खलु] निष्चयसे [अहं तु] मैं तो [एकः] एक [ज्ञायकभावः] ज्ञायकभावस्वरूप हूं।

तात्पर्य—राग प्रकृति के उदयका प्रतिफलन यह विभाग राग है वह मेरा स्वभाव नहीं है।

सम्यग्दृष्टिर्विशेषण तु स्वपरावेवं तावज्जानाति—

पुग्गलकम्मं रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो ।

ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो हु अहमिक्को ॥199॥

रागप्रकृति पुद्गल है, राग विभाव है उदयफल उसका ।

वह भाव नहीं मेरा, मैं तो हूं एक ज्ञायक सत् ॥199॥

पुद्गलकर्म रागस्तस्य विपाकोदयो भवति एषः । नत्वेष मम भावः ज्ञायकभावः खल्वहमेकः ॥199॥

अस्ति किल रागो नाम पुद्गलकर्म, तदुदयविपाकप्रभवोयं रागरूपो भावः, न पुनर्मम स्वभावः । एष टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावस्वभावोहं । एवमेव च रागपदपरिवर्तनेन द्वेषमोहक्रोध—मानमायालोभकर्मनोकर्मनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि, अनया दिषा अन्यान्यप्यूह्यानि । एवं च सम्यग्दृष्टिः स्वं जानन् रागं मुंचुष्व नियमाज्ज्ञान—वैराग्यसंपन्नो भवति ॥199॥

नामसंज्ञ—पुग्गलकम्म, राग, त, विवागोदय, एत, ण, दु, एत, अह, भाव, जाणगभाव, दु, अह, इक्क ।

धातुसंज्ञ—हव सत्तायां, रज्ज रागे । प्रातिपदिक—पुद्गलकर्मन्, राग, तत्, विपाकोदय, एतत्, न, तु, एतत्, अस्मद्, भाव, ज्ञायकभाव, तु, अस्मद्, एक । मूलधातु—वि—डुपचष पाके, भू सत्तायां ।

पदविवरण— पुग्गलकम्मं पुद्गलकर्म—प्रथमा एकवचन । रागो रागः—प्रथमा एक० । तस्स तस्य—षष्ठी

एक०। हवदि भवति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया। एसो एषः-प्र० ए०। ण न-अव्यय। दु तु-अव्यय। एस एषः-प्र० ए०। मज्झ मम-षष्ठी एक०। भावो भावः-प्र० ए०। जाणगभावो ज्ञायकभावः-प्र० ए०। हु खलु-अव्यय। अहं-प्रथमा एक०। इक्को एकः-प्रथमा एकवचन।।199।।

टीकार्थ—वास्तव में रागनामक पुद्गलकर्म है, उस पुद्गलकर्म के उदय के विपाक से उत्पन्न यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर रागरूप भाव है वह मेरा स्वभाव नहीं है, मैं तो टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावस्वरूप हूँ। इसी प्रकार राग इस पदके परिवर्तन द्वारा द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्शन ये सोलह सूत्र व्याख्यान किये जाना चाहिये और इसी रीति से अन्य भी विचार किये जाने चाहिये। इस तरह सम्यग्दृष्टि अपने को जानता हुआ और राग को छोड़ता हुआ नियम से ज्ञान व वैराग्य से सम्पन्न होता है। **भावार्थ**—जैसे सामने स्थित बालक का प्रतिबिम्ब दर्पण में पड़े तो वह दर्पण में आया फोटो दर्पण का स्वभाव नहीं, इसी प्रकार रागादिप्रकृति के विपाकोदयका प्रतिफलन उपयोग में आया है सो वह जीव का स्वभाव नहीं है।

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व गाथा में सामान्यतया यह बताया गया था कि सम्यग्दृष्टि स्व व परको किस तरह जानता है। अब इस गाथा में बताया है कि उसी स्व-परको विशेषतया ज्ञानी कैसा जानता है।

तथ्यप्रकाश—1—राग आदि नाम की पुद्गलकर्मप्रकृतियाँ हैं, उनके उदयसे जीवमें राग आदि भाव प्रतिफलित होते हैं। 2—रागादिप्रकृति के उदयसे जीवमें रागादिभाव होते हैं। 3—रागादिभाव आत्मा के स्वभाव नहीं हैं, क्योंकि वे औपाधिक भाव हैं। 4—आत्मा का तो एक सहज ज्ञायकभाव स्वभाव है, क्योंकि यह आत्मा का निरपेक्ष निरुपाधि 'ष्वत सहज भाव है। 5—ज्ञानी अपने को ज्ञायकस्वभावमात्र जानता हुआ रागादि परभावको छोड़ता हुआ ज्ञानवृत्तिरूप परिणमता रहता है। 6—ज्ञानी आत्मा ज्ञानमात्र स्वको जानने से ज्ञानसम्पन्न है व रागादि परभावको छोड़ने से वैराग्यसंपन्न है।

सिद्धान्त—1—रागप्रकृति के उदय का निमित्त पाकर जीवमें रागभाव होता है। 2—जीव का स्वभाव 'ष्वत ज्ञायकभाव है।

दृष्टि—1—उपाधिसापेक्ष अषुद्धद्रव्यार्थिकनय (24)। 2—अखण्ड परमषुद्ध निष्चयनय (44)।

प्रयोग—अध्रुव, अषरण, दुःखरूप, दुःखफल वाले, भिन्न, असार परभावों से अत्यन्त उपेक्षा करके निज सहज एक ज्ञायकस्वभावमय अन्तस्तत्त्व की उपासना करना।।199।।

एवं सम्मादिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणयसहावं ।

उदयं कम्मविवागं य मुअदि तच्चं वियाणंतो ।।200 ।।

यों सुदृष्टि आत्मा को, जाने ज्ञायकस्वभावमय पूरा ।

कर्मविपाक उदयको तजता, वह तत्त्वका ज्ञाता ।।200 ।।

एवं सम्यग्दृष्टिः आत्मानं जानाति ज्ञायकस्वभावं । उदयं कर्मविपाकं च मुञ्चति तत्त्वं विजानन् ।।200 ।।

एवं सम्यग्दृष्टिः सामान्येन विषेषेण च परस्वभावेभ्यो भावेभ्यः सर्वेभ्योऽपि विविच्य टंकोत्कीर्णकज्ञायकभावस्वभावमात्मनस्तत्त्वं विजानाति । तथा तत्त्वं विजानंश्च स्वपरभावो—

नामसंज्ञ—एवं, सम्मादिट्ठि, अप्प, जाणयसहाव, उदय, कम्मविवाग, य, तच्च, वियाणंत ।
धातुसंज्ञ—मुण ज्ञाने, मुञ्च त्यागे, वि जाण अवबोधने। **प्रातिपदिक**—एवं, सम्यग्दृष्टि, आत्मन्, ज्ञायकस्वभाव, उदय,

अब औपाधिक भावों की परभावता जानने का फल बताते हैं—[एवं] इस तरह [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [आत्मानं] अपने को [ज्ञायकस्वभावं] ज्ञायकस्वभाव [जानाति] जानता है [च] और [तत्त्वं] वस्तुके यथार्थ स्वरूपको [विजानन्] जानता हुआ [कर्मविपाकं] कर्मविपाकरूप [उदयं] उदयको [मुञ्चति] छोड़ता है।

तात्पर्य—ज्ञानी अपने को ज्ञायकस्वभाव जानता और विकार को परभाव जानकर छोड़ देता है।

टीकार्थ—इस प्रकार सम्यग्दृष्टि, सामान्य तथा विशेष से सभी परस्वभावरूप भावों से भिन्न होकर टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव स्वभावरूप आत्मा के तत्त्व को अच्छी तरह जानता है और उस प्रकार तत्त्व को अच्छी तरह जानता हुआ स्वभाव का ग्रहण और परभाव का त्याग द्वारा निष्पाद्य अपने वस्तुपने को फैलाता हुआ कर्मके उदयके दिषाक से उत्पन्न हुए सब भावों को छोड़ता है। इस कारण यह सम्यग्दृष्टि नियम से ज्ञान व वैराग्य से सम्पन्न होता है।

भावार्थ—जब अपने को तो ज्ञायक भावस्वरूप सहजानन्दमय जाने और कर्मके उदय से हुए भावों को परभावस्वरूप आकुलतामय जाने तब ज्ञानरूप रहना तथा परभावों से विरक्त होना ये दोनों होते ही हैं। यह तथ्य अनुभवगोचर है और यही सम्यग्दृष्टि का परिचय है।

अब कहते हैं कि यदि कोई अपने को ज्ञानी माने और परद्रव्यों में आसक्त हो तो वह वृथा ही सम्यग्दृष्टिपने का अभिमान करता है—**सम्यग्दृष्टि** इत्यादि। **अर्थ**—यह मैं स्वयं सम्यग्दृष्टि हूँ मेरे कभी भी कर्म का बंध नहीं होता; ऐसा मानकर जिनका मुख गर्वसहित ऊंचा हुआ है तथा हर्ष सहित रोमांचरूप हुआ है वे जीव महाव्रतादि आचरण करे तथा वचन विहार आहार की क्रिया में सावधानी से प्रवर्तने की उत्कृष्टता का भी अवलंबन करें तो भी पापी मिथ्यादृष्टि ही हैं, क्योंकि आत्मा और अनात्मा के ज्ञानसे रहित होने के कारण सम्यक्त्व से 'ून्य हैं। **भावार्थ**—परद्रव्य से तो राग हो और अपने को माने कोई सम्यग्दृष्टि तो उसके सम्यक्त्व कैसे कहा जा सकता, वह तो व्रत समिति पाले तो भी स्वपर का यथार्थ ज्ञान न होनेसे मिथ्यात्वपाप से युक्त ही है। जब तक यथाख्यात चारित्र न हो तब तक चारित्रमोह होनेसे बंध हो होता ही है। ज्ञान होने मात्र से तो बंधसे छूटना नहीं होता, ज्ञान होने के बाद उसी में लीन होने रूप 'ुद्धोपयोगरूप चारित्र हो तो बंधन कटता है। इसलिये राग होने पर बंधका न होना मानकर स्वच्छंद होना तो मिथ्यादृष्टि का चिन्ह ही है। प्रभु ने सिद्धांत में मिथ्यात्व को पाप कहा है। यहां मिथ्यात्व सहित अनंतानुबंधी के राग को प्रधान करके अज्ञानी कहा है, क्योंकि अपने और परके ज्ञान श्रद्धान के बिना परद्रव्य में तथा उसके निमित्त से हुए भावों में आत्मबुद्धि हो तथा राग द्वेष हो तब समझना कि इसके भेदज्ञान नहीं हुआ। मुनिभेष लेकर कोई व्रत समिति भी पाले वहां पर जीवों की पादानापोहननिष्पाद्य स्वस्य वस्तुत्वं प्रथयन् कर्मोदयविपाकप्रभवान् भावान् स्वानपि मुंचति। ततोऽयं नियमात् ज्ञानवैराग्याभ्यां संपन्नो भवति। सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बंधो न मे

<p>कर्मविपाक, च, तत्त्व, विजानत्। मूलधातु—ज्ञा अवबोधने, मुच मोक्षणे, वि-ज्ञा अवबोधने। पदविवरण—एवं-अव्यय। सम्मादिट्ठी सम्यग्दृष्टिः-प्रथमा एकवचन कर्ताकारक। अप्पाणं आत्मानं-द्वितीया एक० कर्मकारक। मुणादि जानाति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। जाणयसहावं ज्ञायकस्वभावं- द्वितीया एक० कर्मविषेण। उदयं-द्वितीया एकवचन। कम्मविवागं कर्मविपाकं-द्वितीया एक०। मुअदि</p>
--

रक्षा से तथा 'रीर संबंधी यत्न से प्रवर्तने से, अपने 'ुभभाव होने से याने परद्रव्य संबंधी भावों से अपना मोक्ष होना माने और पर जीवों का घात होना, अयत्नाचाररूप प्रवर्तना योग की अषुभ क्रिया होना इत्यादि परद्रव्यों की क्रिया से ही अपने में बंध माने तब तक भी समझना कि इसके स्व और परका ज्ञान नहीं हुआ, क्योंकि बंध मोक्ष तो अपने भावों से था,

परद्रव्य तो आश्रयमात्र था उसमें विपर्यय माना, यों कोई परद्रव्य से ही भला बुरा मानकर रागद्वेष करे तब तक सम्यग्दृष्टि नहीं है। किन्तु जिसको निज सहजस्वरूप का अनुभव हुआ और कुछ काल तक चारित्रमोह के रागादिक भी रहे तथा उनसे प्रेरित परद्रव्य सम्बन्धी 'जुभाषुभ क्रियामें प्रवृत्ति भी रहे तो भी वह ज्ञानी ऐसा मानता है कि यह कर्म का जोर है इससे निवृत्त होने से ही मेरा भला है, उनको रोग के सामन जानता है व पीड़ा सही नहीं जाती सो उनका इलाज करने में प्रवर्तता है तो भी इसके उनसे राग नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जो रागको रोग माने उसके राग कैसा? उसके मेटने का ही उपाय करता है सो मेटना भी अपने ही ज्ञानपरिणामरूप परिणमन से मानता है। अध्यात्मपौरुष के प्रकरण में मिथ्यात्वसहित राग को ही राग कहा गया है वह सम्यग्दृष्टि के नहीं हैं और जिसके मिथ्यात्व सहित राग है वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। अज्ञानी मनुष्य या तो व्यवहार को सर्वथा छोड़कर भ्रष्ट हो जाता है अथवा निष्चय को अच्छी तरह नहीं जानकर व्यवहार से ही मोक्ष मानता है। वह परमार्थतत्त्व में मूढ है। यथार्थ स्याद्वादनय द्वारा सत्यार्थ समझने से ही सम्यक्त्व का लाभ होगा।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया गया था कि सम्यग्दृष्टि स्व व परको विषेषतया कैसा जानता है? अब इस गाथा में उसी तथ्य का प्रायोजनिक विधि से वर्णन किया गया है।

तथ्यप्रकाश—(1) सम्यग्दृष्टि अपने आपको कर्मविपाकज भावों से निराला निरखता है। (2) सम्यग्दृष्टि भिन्न-भिन्न रूपसे क्रोध, मान आदि कर्मविपाकज भावों से अपने को निराला निरखता है। (3) सम्यग्दृष्टि अपना सर्वस्व 'गण्यत एक ज्ञायकस्वभाव को अनुभवता है। (4) सम्यग्दृष्टि अपने स्वभावका उपादान करके तथा परभावों का परिहार करके अपनी वास्तविकता को प्रकट करता है। (5) सम्यग्दृष्टि निज सहज ज्ञानस्वभाव के ग्रहण से ज्ञानसम्पन्न है व कर्मोदयविपाकप्रभव भावों को त्याग देने से वैराग्यसम्पन्न है।

सिद्धान्त—(1) सम्यग्दृष्टि अपने ज्ञायकस्वभावरूप अपने को जानने की परिणति से परिणमता है। (2) कर्मविपाकोदय कर्मका परिणमन है। (3) कर्मविपाकोदयविषयक परिज्ञान आत्मा का परिणमन है।

दृष्टि—1—कारककारकिभेदक सद्भूतव्यवहार (73)। 2—अषुद्धनिष्चयनय (47)। 3—उपादानदृष्टि (49ब)।

स्यादित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोप्याचरंतु। आलंबंतां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापा आत्मानात्मावगमविरहात्संति सम्यक्त्वरिक्ताः ॥137॥ ॥200॥

मुंचति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया। तच्चं तत्त्वं—द्वितीया एक०। वियाणंतो विजानन्तः—प्रथमा बहुवचन ॥200॥

प्रयोग—कर्मोदयविपाकप्रभव भावकी अपवित्रता दूर करने के लिए मन, वचन, काय की वृत्ति का निरोध करके नित्यानन्दैकस्वभाव सहज परमात्मतत्त्वमें उपयोग रमाने का पौरुष करना ॥200॥

सम्यग्दृष्टि रागी कैसे नहीं होता? यदि ऐसा पूछें तो सुनिये—[खलु] निष्चयसे [यस्य] जिस जीवके [रागादीनां] रागादिकों का [परमाणुमात्रमपि] लेषमात्र भी [तु विद्यते] मौजूद है तो [सः] वह जीव [सर्वागमधरोपि] सर्व आगम को पढ़ा हुआ होने पर भी [आत्मानं तु] आत्मा को [नापि] नहीं [जानाति] जानता [च] और [आत्मानं] आत्माको

[अजानन्] नहीं जानता हुआ [अनात्मानं अपि] परको भी [अजानन्] नहीं जानता हुआ [जीवाजीवौ] इस तरह जीव और अजीव दोनों पदार्थों को भी [अजानन्] नहीं जानता हुआ [सः] वह [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [कथं भवति] कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता।

टीकार्थ—जिस जीव के अज्ञानमय रागादिक भावों का लेशमात्र है वह जीव प्रायः श्रुतकेवली के समान होने पर भी ज्ञानमय भावके अभावके कारण आत्मा को नहीं जानता। और जो अपने आत्मा को नहीं जानता है वह अनात्मा (पर) को भी नहीं जानता। क्योंकि स्वरूपके सत्त्व और परस्वरूपके असत्त्व से एक वस्तु निष्चय में आता है। इस कारण जो आत्मा और अनात्मा दोनों को नहीं जानता है वह जीव अजीव वस्तुको ही नहीं जानता तथा जो जीव अजीवको नहीं जानता वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। इस कारण रागी ज्ञानके अभावसे सम्यग्दृष्टि नहीं है।

तात्पर्य—जो परद्रव्य व परभावों से विविक्त चित्प्रकाशमात्र स्वको नहीं जानता वह सम्यग्दृष्टि नहीं है।

भावार्थ—यहाँ रागी का अर्थ लेना है अज्ञानमय रागद्वेष मोहभाव वाला। अज्ञानमय मायने मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धीसे हुए रागादिक। मिथ्यात्वके अभावमें चारित्रमोहके उदयका जो राग है वह अज्ञानमय राग नहीं है। क्योंकि ज्ञानीके उस राग के साथ राग नहीं है, ज्ञानी तो कर्मोदय से जो राग हुआ है उसको मेटना चाहता है। ज्ञानी के चाहे वह अग्रती भी है उसके जो राग का लेशमात्र भी नहीं कहा सो राग में राग लेशमात्र भी नहीं यह जानना। ज्ञानी के अषुभ राग तो अत्यन्त गौण है, परन्तु 'गुभ राग होता है उस 'गुभ राग को अच्छा समझ लेशमात्र भी उस राग से राग करे तो सर्वषास्त्र भी पढ़ लिये हों, मुनि भी हो, व्यवहारचारित्र भी पाले तो भी ऐसा समझना चाहिये कि इसने अपने आत्मा का परमार्थस्वरूप नहीं जाना, कर्मोदयजनितभावको ही अच्छा समझा है उसी से अपना मोक्ष होना मान रख्या है। ऐसे मानने वाला जीव अज्ञानी ही है। इसने स्व व परके परमार्थरूपको नहीं जाना सो जीव अजीव पदार्थ का भी परमार्थरूप नहीं जाना और जिसने जीव अजीव को ही नहीं जाना वह कैसा सम्यग्दृष्टि?

अब इसी अर्थ को कलष में कहते हैं—**आ संसारा** इत्यादि। **अर्थ**—हे अन्य प्राणियो! अनादि संसार से ये रागी जीव प्रतिपदमें नित्य मत्त होकर जिस पदमें सोये हुए हैं उस पदको तुम अपद समझो, अपद समझो (यहाँ दो बार अपद कहने से अति करुणाभाव सूचित होता है) जहाँ चैतन्यधातु 'गुद्ध है 'गुद्ध है अपने स्वाभाविक रसके समूहसे स्थायीभावपने को प्राप्त होता है यह तुम्हारा पद है। सो इस तरफ आओ इस तरफ आओ यहाँ निवास करो। **भावार्थ**—ये प्राणी अनादि कालसे विकारभाव को ही अपना हितकारी

कथं रागी न भवति सम्यग्दृष्टिरिति चेत्—

परमाणुमित्तयं पि हु रायादीणं तु विज्जदे जस्स ।

णवि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरोवि ।।201।।

अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो ।

कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो ।।202।। (युग्मम्) ।

परमाणुमात्र भी हो, जिसके रागादिभावकी मात्रा ।

वह सर्वागमधर भी, आत्मा को जान नहीं सकता ।।201।।

आत्मा को नहीं जाने, तथा अनत्मा भि जो नहीं जाने ।

जीवाजीव न जाने, वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो ।।202।।

परमाणुमात्रकमपि खलु रागादीनां तु विद्यते यस्य । नापि स जानात्यात्मानं तु सर्वागमधरोऽपि ।।201।।

आत्मानमजानन् अनात्मानं चापि सोऽजानन् । कथं भवति सम्यग्दृष्टिर्जीवाजीवावजानन् ।।202।।

यस्य रागादीनामज्ञानमयानां भावानां लेषतोऽपि विद्यते सद्भावः, भवतु स श्रुतकेवलि-
कल्पोऽपि तथापि ज्ञानमयभावानामभावेन न जानात्यात्मानं । यस्त्वात्मानं न जानाति सोऽना-
त्मानमपि न जानाति स्वरूपपररूपसत्ताऽसत्ताभ्यामेकस्य वस्तुनो निष्चीयमानत्वात् । ततो य

नामसंज्ञ—परमाणुमित्तय, पि, हु, रायादि, तु, ज, ण, वि, त, अप्प, तु, सव्वागमधर, वि, अप्प, अयाणंत, अणप्प, च, अवि, त, अयाणंत, कह, सम्मदिट्ठि, जीवाजीव, अयाणंत । **धातुसंज्ञ**—विज्ज सत्तायां, जाण

मानकर उनको ही अपना स्वभाव मानकर उन्हीं में रम रहे हैं । उनको श्री गुरु करुणा करके संबोधन कर रहे हैं कि हे अंधे प्राणियो! तुम जिस पद में सोये हो, रम रहे हो वह तुम्हारा पद नहीं है तुम्हारा पद तो चैतन्यस्वरूपमय है उसको प्राप्त होओ याने पर व परभावसे विविक्त 'बुद्ध चैतन्यरूप अपने भावका आश्रय करो ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथावों में यह प्रसिद्ध किया गया था कि रागी पुरुष याने औपाधिक भावों में लगाव रखने वाला पुरुष सम्यग्दृष्टि नहीं होता है । सो अब इस गाथायुगल में यह दर्शाया गया है कि रागी पुरुष सम्यग्दृष्टि कैसे नहीं होता है ।

तथ्यप्रकाश—1—जिसके रागादि अज्ञानमय भावों का यदि रंच भी सद्भाव हो तो वह ज्ञानमय भावके नहीं होनेसे आत्मा को नहीं जानता है । 2—जो आत्मा को आत्मरूपसे नहीं जानता वह अनात्मा को अनात्मरूपसे नहीं जान पाता । 3—किसी भी एक वस्तुका निष्चय स्वरूपसे सत्त्व और पररूपसे असत्त्व के निर्णय से होता है । 4—जो आत्मा अनात्मा को नहीं नहीं जानता है वह आस्रवादिक तत्त्वों को भी नहीं जानता । 5—जो मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत तत्त्वों को नहीं जानता है वह सम्यग्दृष्टि नहीं । 6—परभावमें अनुरक्त जीव ज्ञानमयस्वरूपका ज्ञान श्रद्धान न होने सम्यग्दृष्टि नहीं है ।

सिद्धान्त—1—अज्ञानमय रागादि भावको आत्मस्वरूप मानने वाला अज्ञानी है । 2—आत्मा को स्वद्रव्य क्षेत्र काल भावसे आत्मरूप समझने वाला ज्ञानी ही परद्रव्य को परद्रव्य रूपसे समझ सकता है ।

दृष्टि—1—अषुद्धनिष्चयनय (47) । 2—स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय व परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (28, 29) ।

आत्मानात्मनौ न जानाति स जीवाजीवौ न जानाति । यस्तु जीवाजीवौ न जानाति स सम्यग्दृष्टिरेव न भवति । ततो रागी ज्ञानाभावान्न भवति सम्यग्दृष्टिः । आसंसारत्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमंधाः । एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः 'बुद्धः 'बुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति ।।138।। ।।201—202।।

अवबोधने, हो सत्तायां । **प्रातिपदिक**—परमाणुमात्रक, अपि, खलु, रागादि, तु, यत्, न, अपि, तत्, आत्मन्, तु, सर्वागमधर, अपि, आत्मन्, अजानत्, अनात्मन्, च, अपि, तत्, अजानत् । **मूलधातु**—विद सत्तायां, ज्ञा अवबोधने, भू सत्तायां । **पदविवरण**—परमाणुमित्तयं परमाणुमात्रकं—प्रथमा एकवचन । पि अपि—अव्यय । हु

खलु-अव्यय। रायादीणं रागादीनां-षष्ठी बहु०। तु-अव्यय। विज्जदे विद्यते-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया। जस्स यस्य-षष्ठी एक०। ण न-अव्यय। सो सः-प्रथमा एक०। जाणदि जानाति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन। अप्पाणयं आत्मानं-द्वितीया ए०। तु-अव्यय। सव्वागमधरो सर्वागमधरः-प्र० ए०। वि अपि-अव्यय। अप्पाणं आत्मानं-द्वितीया एक०। अयाणंतो अजानन्-प्रथमा एक०। अणप्पयं अनात्मानं-द्वि० एक०। च-अव्यय। अवि अपि-अव्यय। सो सः-प्र० एक०। अयाणंतो अजानन्-प्रथमा एक०। कह कथं-अव्यय। होदि भवति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया। सम्मदिट्ठी सम्यग्दृष्टिः-प्रथमा एक०। जीवाजीवे-प्रथमा बहु०। जीवाजीवौ-प्रथमा द्विवचन। अयाणंतो अजानन्तः-प्रथमा बहुवचन।।201-202।।

प्रयोग—संसारसंकट से छूटने के मार्गमें चलने के लिये अपने को औपाधिक भावों से विविक्त ज्ञानमात्र अनुभवने का पौरुष करना।।201-202।।

यदि जानना चाहो कि आत्मा का स्वपद कहाँ है? सो सुनिये—[आत्मनि] आत्मा में [अपदानि] अपदरूप [द्रव्यभावान्] द्रव्य भावरूप सभी भावों को [मुक्त्वा] छोड़कर [नियतं] निश्चित [स्थिरं] स्थिर [एकं] एक [तथा] व [स्वभावेन] स्वभावसे ही [उपलभ्यमानं] ग्रहण किये जाने वाले [इमं] इस प्रत्यक्ष अनुभवगोचर [भावं] चैतन्यमात्र भावको हे भव्य! तू [गृहाण] ग्रहण कर। वही तेरा पद है।

तात्पर्य—औपाधिक आकार विकारों से विमुख होकर अपने स्थिर नियत एक चैतन्यस्वभाव को ग्रहण करो।

टीकार्थ—वास्तव में इस भगवान् आत्मा में जो द्रव्यभावरूप बहुत भावों में से आत्मा के स्वभावसे रहित रूपसे उपलभ्यमान, अनिश्चित अवस्थारूप, अनेक, क्षणिक व्यभिचारी भाव हैं, वे सभी स्वयं अस्थायी होनेसे ठहरने वाले आत्मा के ठहरने का स्थान होने के लिये अषक्य होने के कारण अपदस्वरूप हैं और जो भाव आत्मस्वभावसे ग्रहण में आने वाला, निश्चित अवस्थारूप एक, नित्य अव्यभिचारी है ऐसा एक चैतन्यमात्र ज्ञान भाव स्वयं स्थायी भावस्वरूप होने के कारण स्थित होने वाले आत्मा के ठहरने का स्थान होनेसे पदभूत है। इस कारण सभी अस्थायी भावों को छोड़कर स्थायीभूत परमार्थरसरूपसे स्वादमें आता हुआ यह ज्ञान ही एक आस्वादन करने योग्य है।

भावार्थ—पूर्व प्रकरण में जो वर्णादिक गुणस्थानांत भाव कहे थे वे सभी आत्मा में अनियत, अनेक, क्षणिक, व्यभिचारी भाव हैं वे आत्मा के पद नहीं हैं। किन्तु यह जो स्वसंवेदनस्वरूप ज्ञान है वह नियत है, एक है, नित्य है, अव्यभिचारी है, स्थाय भाव है। अतः वह ज्ञानमात्र भाव आत्मा का पद है सो ज्ञानियों के यही एक स्वाद लेने योग्य है।

अब इस अर्थ को कलष में कहते हैं—**एकमेव** इत्यादि। **अर्थ**—वही एक पद आस्वादाने योग्य है जो आपदाओं का पद नहीं है अर्थात् जिस पदमें कोई भी आपदा नहीं रह सकती तथा जिसके आगे अन्य सभी पद अपद प्रतिभासित होते हैं। **भावार्थ**—एक ज्ञान ही आत्मा का परमार्थ पद है इसमें कुछ भी आपदा नहीं है इसके आगे अन्य सभी पद आपदा स्वरूप (आकुलतामय) होनेसे अपद हैं।

किन्नाम तत्पदं? इत्याह—

आदह्नि दव्वभावे अपदे मोत्तूण गिण्ह तह णियदं ।

थिरमेगमिमं भावं उवलब्भंतं सहावेण ।।203।।

निजमें अपद द्रव्यभा-बोंको तजि भाव ग्रहण कर अपना ।

नियत एक यह 'गश्वत, स्वभावसे लभ्यमान तथा ।।203।।

आत्मनि द्रव्यभावानपदानि मुक्त्वा गृहाण तथा नियतं। स्थिरमेकमिमं भावमुपलभ्यमानं स्वभावेन।

इह खलु भगवत्यात्मनि बहूनां द्रव्यभावानां मध्ये ये किल अतत्स्वभावेनोपलभ्यमानाः, अनियतत्वावस्थाः, अनेके, क्षणिकाः, व्यभिचारिणो भावाः ते सर्वेऽपि स्वयमस्थायित्वेन स्थातुः

स्थानं भवितुमषक्यत्वादपदभूताः। यस्तु तत्स्वभावेनोलभ्यमानो नियतत्वावस्यः, एकः नित्यः, अव्यभिचारी भावः, स एक एव स्वयं स्थायित्वेन स्थातुः स्थानं भवितुं 'व्यत्वात् पदभूतः। ततः सर्वानेवास्थायिभावान् मुक्त्वा स्थायिभावभूतं, परमार्थरसतया स्वदमानं ज्ञान मेकमेवेदं स्वाद्यं। एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामपदं पदं। अपदान्येव भासंते पदान्यन्यानि यत्पुरः।।139।। एकज्ञायकभावनिर्भरमहास्वादं समासादयन् स्वाद्यं द्वंद्वमयं विधातुमसहः स्वां वस्तुवृत्तिं विदन्।

नामसंज्ञ—अत्त, दब्बभाव, अपद, तह, गियद, थिर, एग, इम, भाव, उवलभंत, सहाव। **धातुसंज्ञ**—मुंच त्यागे, गिण्ह ग्रहणे, उव—लभ प्राप्तौ। **प्रातिपदिक**—आत्मन्, द्रव्यभाव, अपद, तथा, नियत, स्थिर, एक, इदम्, भाव, उपलभ्यमान, स्वभाव। **मूलधातु**—मुक्त्व् मोक्षणे ग्रह उपादाने, डुलभष प्राप्तौ। **पदविवरण**—आदम्हि आत्मनि—सप्तमी एकवचन। दब्बभावे द्रव्यभावान्—द्वितीया बहुवचन। अपदे अपदानि—द्वि० बहु०। मोत्तूण मुक्त्वा—असमाप्ति की क्रिया। गिण्ह गृहाण—आज्ञार्थ लोट् मध्यम पुरुष

अब बताते हैं कि ज्ञानी आत्मा ज्ञान का अनुभव किस तरह करता है—**एकज्ञायक** इत्यादि। **अर्थ**—एक ज्ञायकमात्र भावसे भरे हुए ज्ञान के महास्वाद को लेता हुआ यह आत्मा के अनुभव (आस्वाद) के प्रभाव से विषय आत्मा विषय के उदयको गौण करता हुआ सामान्य को ग्रहण करता हुआ समस्त ज्ञानको एकत्व को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—एकस्वरूप सहज ज्ञानके रसीले स्वादके सामने अन्य रस फीके हैं। ज्ञानके विषय ज्ञेयके विकल्प से होते हैं। सो जब ज्ञानसामान्य का स्वाद लिया जाता है। याने अनुभव किया जाता है तब सब ज्ञानके भेद गौण हो जाते हैं एक ज्ञान ही स्वयं ज्ञेयरूप हो जाता है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया गया था कि अज्ञानमय राग वाला जीव ज्ञानमय निज आत्मपदको न जानने से सम्यग्दृष्टि नहीं है। अब इस गाथा में उस ज्ञानमात्र निज पदको बताया गया है व उसको ग्रहण करने का उपदेश किया गया है।

तथ्यप्रकाश—1—आत्मा में गुण व द्रव्यव्यञ्जन पर्यायें हैं व अनेकों गुणव्यञ्जन पर्यायें हैं। 2—जो भाव आत्मा के स्वभावरूप नहीं, किन्तु औपाधिक हैं वे अस्थायी भाव हैं। 3—जो भाव आत्मा में नियत नहीं, किन्तु अनियत दषावों रूप हैं वे अस्थायी भाव हैं। 4—जो अनेक रूप होते रहते हैं, एकरूप नहीं वे भाव अस्थायी भाव हैं। 5—जो भाव क्षणविनष्ट हैं 'ष्वत नहीं वे भाव अस्थायी भाव हैं। 6—जो कभी हुए, कभी न हुए याने व्यभिचारी हैं अव्यभिचारी नहीं याने 'ष्वत सहज नहीं वे सब अस्थायी भाव हैं। 7—अस्थायी भाव आत्मा में 'ष्वत स्थान न पाने के कारण अपद हैं। 8—स्वभावरूप, नियत, एक, 'ष्वत, अव्यभिचारी ज्ञानमात्रभाव आत्मा में अनवरत आत्ममय होनेसे आत्मा का पदभूत है। 9—अनुभवमें एक ज्ञानमात्र भाव होने पर रंच भी कोई विपत्ति नहीं है। 10—एक ज्ञानमात्रभावके समक्ष अन्य परिणमन सब अपद व विपन्न प्रतिभासित होते हैं।

सिद्धान्त—1—आत्मा अखण्ड 'ष्वत ज्ञानमात्र है। 2—आत्मा में उठे विभाव आत्मा के पद नहीं हैं।

आत्मात्मानुभवानुभावविवषो भ्रष्यद्विषेषोदयं सामान्यं कलयत्किलैष सकलं ज्ञानं नयत्येकतां।।140।। ।।203।।

एक०। तह तथा—अव्यय। गियदं नियतं—द्वि० एक०। थिरं स्थिरं—द्वि० एक०। एकं—द्वि० ए०। इमं—द्वि० ए०। भावं—द्वि० ए०। उवलभंतं उपलभ्यमानं—द्वि० एक०। सहावेण स्वभावेन—तृतीया एकवचन।।203।।

दृष्टि—1—अखण्ड परमषुद्धनिष्चयनय (44)। 2—प्रतिषेधक 'ुद्धनय (49अ)।

प्रयोग—सर्व विपदाओं को सदाके लिये नष्ट कर 'षष्ठत आनन्दमय होने के लिये अपने आपके 'षष्ठत अविकार ज्ञानमात्र स्वभावको ही उपयोग में ग्रहण करने व ग्रहण किये रहने का पौरुष करना।।203।।

एक स्थायी सहजज्ञानभाव क्या है?—[**आभिनिबोधिकश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलं च**] मतिज्ञान श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान [तत् एकमेव पदं भवति] वह सब एक ज्ञान ही पद है [एशः सः परमार्थः] यह वह परमार्थ है [यं लब्ध्वा] जिसको पाकर आत्मा [निर्वृति] मोक्षपद को [याति] प्राप्त होता है।

तात्पर्य—सहज ज्ञानस्वभावके आश्रय से ही मुक्ति का लाभ होता है।

टीकार्थ—वास्तव में आत्मा परम पदार्थ है और वह ज्ञान ही है, वह आत्मा एक ही पदार्थ है इस कारण ज्ञान भी एक पद को ही प्राप्त है, और जो यह ज्ञाननामक एक पद है वह परमार्थस्वरूप साक्षात् मोक्षका उपाय है। मतिज्ञानादिक जो ज्ञानके भेद हैं वे इस ज्ञाननामक एक पदको भेदरूप नहीं करते, किन्तु वे मतिज्ञानादिक भेद भी एक ज्ञाननामक पदका ही अभिनन्दन करते हैं। यही कहते हैं—जैसे इस लोकमें घनपटलों से, बादलों से आच्छादित तथा उन बादलों के दूर होने के अनुसार प्रगटपना धारण करने वाले सूर्य के जो प्रकाश के हीनाधिक भेद हैं वे उसके प्रकाशरूप सामान्य स्वभावको नहीं भेदते, उसी प्रकार कर्मसमूहों के उदयसे आच्छादित तथा उस कर्म के विघटन के अनुसार प्रगटपने को प्राप्त हुए ज्ञानके हीनाधिक भेद आत्माके सामान्य ज्ञानस्वभावको नहीं भेदते, बल्कि वे भेद आत्मा के ज्ञानसामान्य का अभिनन्दन ही करते हैं। इसलिये जिसमें समस्त भेद दूर हो गये हैं ऐसे आत्मा के स्वभावभूत एक ज्ञान को ही आलम्बन करना चाहिये। उस ज्ञानके आलम्बनसे ही निज पदकी प्राप्ति होती है, उसी से भ्रम का नाश होता है, उसी से आत्मा का लाभ होता है और अनात्मा के परिहार की सिद्धि होती है। ऐसा होने पर कर्मके उदयकी मूर्छा नहीं होती, राग द्वेष मोह नहीं उत्पन्न होते, रागद्वेष मोह के बिना फिर कर्मका आस्रव नहीं होता, आस्रव व होनेसे फिर कर्मबंध नहीं होता, और जो पहले कर्म बाँधे थे वे उपभुक्त होते हुए निर्जरा को प्रापत होते हैं और तब सब कर्मों का अभाव होनेसे साक्षात् मोक्ष होता है।

भावार्थ—ज्ञानमें भेद कर्मों के विघटन (क्षयोपषमादि) के अनुसार होते हैं सो वे ज्ञानविकासभेद कुछ ज्ञानसामान्य को अज्ञानरूप नहीं करते, बल्कि ज्ञानस्वरूपको ही प्रगट करते हैं। इसलिए भेदों को गौण कर एक ज्ञानसामान्यका आलम्बन करके आत्मा का ध्यान करना। इसी से सब सिद्धि होती है।

अब इसी अर्थ को कलष में कहते हैं—**अच्छाच्छाः** इत्यादि। **अर्थ**—समस्त पदार्थों के समूहरूप रसके पीने के बहुत बोझ से मानो मतवाले हुए अनुभवमें आये हुए ज्ञानके भेद निर्मल से निर्मल अपने आप उछलते हैं—वह यह भगवान अद्भुतनिधि वाला चैतन्यरूप समुद्र उठती हुई लहरों से अभिन्नरस हुआ एक होने पर भी अनेकरूप हुआ दोलायमान प्रवर्तता है। **भावार्थ**—जैसे बहुत रत्नों से भरा समुद्र सामान्यदृष्टि से देखो तो एक जलसे भरा है तो भी उसमें निर्मल छोटी बड़ी अनेक लहरें उठती हैं वे सब तरंगों एक जलरूप ही हैं उसी तरह यह आत्मा ज्ञानसमुद्र है सो एक ही है इसमें अनेक गुण हैं और कर्म के तथाहि—

आभिणिसुदोहिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं ।

सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि ।।104।।

मति श्रुत अवधि मनः पर्यय केवल सर्वज्ञान एक हि पद।

वह यह परमार्थ जिसे, पाकर निर्वाण मिलता है ।।204।।

आभिनिबोधिकश्रुतावधिमनः पर्ययकेवलं च तदभवत्येकमेव पदं । स एष परमार्थो यं लब्ध्वा निर्वृतिं याति ।

आत्मा किल परमार्थः तत्तु ज्ञानं, आत्मा च एक एव पदार्थः, ततो ज्ञानमप्येकमेव पदं, यदेतत्तु ज्ञानं नामैकं पदं स एष परमार्थः साक्षान्मोक्षोपायः । न चाभिनिबोधिकादयो भेदा इदमेकपदमिह भिंदन्ति । किं तु तेऽपोदमेवैकं पदमभिनन्दन्ति । तथाहि—यथात्र सवितुर्घनपटलावगुण्डितस्य तद्विघटनानुसारेण प्राकट्यमासादयतः प्रकाषनातिषयभेदा न तस्य प्रकाषस्वभावं भिंदन्ति । तथाऽऽत्मनः कर्मपटलोदयावगुण्डितस्य तद्विघटनानुसारेण प्राकट्यमासादयतो ज्ञानातिषयभेदा न तस्य ज्ञानस्वभावं भिन्दुः, किं तु प्रत्युतमभिनन्देयुः । ततो

नामसंज्ञ—आभिणिसुदोहिमणकेवलं, च, त, एक्क, एव, पद, त, एत, परमट्ठ, ज, णिब्बुदि । **धातुसंज्ञ**—हो सत्तायां, लभ प्रापणे, जा गतौ । **प्रातिपदिक**—आभिनिबोधिकश्रुतावधिमनः पर्ययकेवलं, च, तत्, एक, एव, पद, तत्, एत, परमार्थ, यत्, निर्वृति । **मूलधातु**—भू सत्तायां, या प्रापणे । **पदविवरण**—आभिणिसुदोहिमणकेवलं आभिनिबोधिकश्रुतावधिमनः पर्ययकेवलं—प्रथमा एकवचन । च—अव्यय । तं, तत्—निमित्त से ज्ञानके अनेकभेद अपने आप व्यक्तिरूप होकर प्रगट होते हैं सो उन सब ज्ञान व्यक्तियों को एक ज्ञानरूप ही जानना, खंड खंड रूप नहीं ।

अब और क्या?—**विलश्यंतां** इत्यादि । **अर्थ**—कोई जीव दुष्करतर क्रियाओं से तथा मोक्षसे परान्मुख कर्मों से स्वयमेव मनचाहा भले ही क्लेष करें और कोई मोक्ष के सन्मुख याने कथंचित् जिनाज्ञामें कहे गये ऐसे महाव्रत तथा तपके भारसे बहुत काल तक भग्न (पीड़ित) हुए भी क्रियाओं से भले ही क्लेष करें, किन्तु साक्षात् मोक्षस्वरूप तो यह निरामयपदभूत तथा अपने से ही आप वेदने योग्य ज्ञानपद है इसे ज्ञान गुणके बिना किसी तरह के कष्ट से भी वे प्राप्त करने के लिये समर्थ नहीं हैं । **भावार्थ**—ज्ञानस्वभावकी प्राप्ति ज्ञानवृत्तिसे ही हो सकती है, बाह्य आचरण तो अशुभ से हटाकर ज्ञानवृत्ति से रहने का मौका देते हैं ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया गया था कि ‘गाष्वत एकस्वरूप होनेसे ज्ञानमात्र स्वभाव ही मात्र एक आत्मा का पद है । अब इस गाथा में उसी ज्ञानैकत्व का समर्थन किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—1—अपना आत्मा अपना परम पदार्थ है । 2—ज्ञानस्वरूप होनेसे सब द्रव्यों में याने पदार्थों में भी परम पदार्थ है । 3—अपने आप आत्मा एक ही पदार्थ है और ज्ञानस्वभाव ही आत्मपदार्थ का एकमात्र पद है । 4—आत्मा का जो एक ‘गाष्वत ज्ञानमात्र पद है उसका आश्रय ही वास्तव में मोक्षमार्ग है । 5—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान ये ज्ञानगुण की पर्यायें आत्मा के ‘गाष्वत ज्ञानमात्र पदका भेदन नहीं करते, किन्तु एक ज्ञानमात्र पदको ही प्रसिद्ध करते हैं । 6—अभेद आत्मस्वभावभूत एक ज्ञानमात्र सहजभावका आलम्बन करने से आत्मपद की प्राप्ति होती है । 7—आत्मपदकी प्राप्ति होते ही आत्मभ्रान्ति नष्ट होती है । 8—आत्मभ्रान्ति नष्ट होते ही आत्मलाभ होता है । 9—आत्मलाभ होते ही अनात्मतत्त्व का परिहार होता है । 10—अनात्मतत्त्व का परिहार होते ही कर्मोदय मूर्च्छा नहीं कर पाते हैं । 11—कर्मोदयमूर्च्छा नष्ट होते ही राग द्वेष मोह नहीं होते । 12—रागादि का अभाव होने पर फिर कर्मका आस्रव नहीं होता । 13—कर्मास्रव न होनेपर कर्मबन्ध नहीं होता । 14—कर्मास्रव का व कर्मबन्ध का अभाव होने पर प्राग्बद्ध कर्म भुगकर निरस्तसमस्तभेदमात्मस्वभावभूतं ज्ञानमेवैकमालम्ब्यं । तदालंबनादेव भवति पदप्राप्तिः, नश्यति भ्रान्तिः, भवत्यात्मलाभः, सिद्धत्यनात्मपरिहारः, न कर्म मूर्च्छति, न रागद्वेषमोहा उत्प्लवंते, न पुनः कर्म आस्रवति, न पुनः कर्म बध्यते, प्राग्बद्धं कर्मोपभुक्तं निर्जीर्यते, कृत्स्नकर्माभावात् साक्षान्मोक्षो भवति ।। अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलन्ति यदिमाः संवेदनव्यक्तयो निष्पीताखिलभाव—

मंडलरसप्राग्भारमत्ता इव। यस्याभिन्नरसः स एष भगवानेकोप्यप्नेकीभवन् वल्गात्युत्कलि-
काभिरद्भुतनिधिष्वैन्य रत्नाकरः॥141॥ किंच—किलिष्यंतां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः
कर्मभिः किलिष्यंतां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाच्चिरं। साक्षान्मोक्ष इदं निपरामयपदं संवेद्यमानं
स्वयं ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमंते न हि॥142॥ ॥204॥

प्रथमा एक०। होदि भवति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। एक्कं एकं—प्रथमा एक०। एव—अव्यय। पदं—
प्रथमा एक०। सो सः—प्र० ए०। एसो एषः—प्र० ए०। परमट्ठो परमार्थः—प्र० ए०। जं यं—द्वितीया एक०।
लहिदुं लब्ध्वा—असमाप्ति की क्रिया। णिब्बुदिं निर्वृतिं—द्वि० एक०। जाति यादि—वर्तमान लट् अन्य पुरुष
एकवचन क्रिया॥204॥

निर्जीर्ण हो जाते हैं। 15—आस्रवाभाव, बन्धाभाव व निर्जरा हो होकर समस्त कर्मका अभाव
होते ही साक्षात् मोक्ष हो जाता है। 16—इस स्वसंवेद्य 'षाष्वत ज्ञानमात्र आत्मपदके पाये बिना
कोई कितने ही कठोर व्रत तप आदि करे तो भी उसका मोक्ष असम्भव है। वह सब चेष्टा
क्लेशमात्र है।

सिद्धान्त—1—मति श्रुत अवधि मनः पर्ययज्ञान आत्मा के एकदेष 'बुद्ध विभाव
गुणव्यञ्जन पर्यायें हैं। 2—केवलज्ञान आत्मा का स्वभावगुणव्यञ्जनपर्याय है। 3—षाष्वत
ज्ञानमात्र सहज भाव आत्मा का 'षाष्वत आत्मभूत स्वभाव है।

दृष्टि—1—उपादानदृष्टि (49ब)। 2—सभेद 'बुद्धनिष्चयनय (46अ)। 3—अखंड
परमषुद्धनिष्चयनय (44)।

प्रयोग—निर्विकल्प निराकुल आत्मानुभव पाने के लिये व्यक्तरूप मतिज्ञान श्रुतज्ञान
अवधिज्ञान आदि ज्ञानपर्यायों के स्रोतभूत एक ज्ञानमात्रस्वभावका उपयोग करने व बनाये
रहने का पौरुष करना॥204॥

अब ज्ञानलाभ का उपदेश करते हैं—हे भव्य [यदि] यदि तुम [कर्मपरिमोक्षं] कर्म का
सब तरफ से मोक्ष करना [इच्छसि] चाहते हो [तु] तो [तत् एतत् नियतं] उस इस निश्चित
ज्ञानको [गृहाण] ग्रहण कर। क्योंकि [ज्ञानगुणेन विहीनाः] ज्ञान गुणसे रहित [बहवः अपि]
अनेकों पुरुष भी [एतत् पदं] इस ज्ञानस्वरूप पदको [न लभंते] नहीं प्राप्त करते।

तात्पर्य—ज्ञानसे ज्ञानमें सहजज्ञानस्वरूपका अनुभव किये बिना इस केवल ज्ञानस्वरूप
पदको प्राप्त नहीं किया जा सकता।

टीकार्थ—जिस कारण समस्त भी कर्मों द्वारा कर्मों में ज्ञान का प्रकाषण न होने के
कारण ज्ञानका पाना नहीं होता, केवल एक ज्ञान द्वारा ही ज्ञानमें ज्ञानका प्रकाषण होने के
कारण ज्ञानसे ही ज्ञानका पाना होता है। इस कारण ज्ञानभूय्य बहुतसे प्राणी अनेक प्रकार
के कर्मों के करने पर भी इस ज्ञान के पद को प्राप्त नहीं करते और इस पद को न पाते
हुए वे कर्मों से नहीं छूटते। इस कारण कर्ममोक्ष के अभिलाषी भव्यको तो केवल एक ज्ञानके
अवलम्बन द्वारा नियत इसी एक पद को प्राप्त करना चाहिये। **भावार्थ**—ज्ञान से ही मोक्ष
होता है कर्म करने से नहीं। इस कारण मोक्षार्थी को ज्ञान का ही ध्यान करना चाहिये।

अब इसी अर्थ को कलष में कहते हैं—**पदमिदं** इत्यादि। **अर्थ**—यह ज्ञानमय पद
कर्म करने से तो दुष्प्राप्य है और स्वाभाविक ज्ञान की कलासे सुलभ है। इस कारण अपने
निज ज्ञान की कला के बलसे इस ज्ञानको ग्रहण करने के लिये सब जगत् अभ्यास का
यत्न करो। **भावार्थ**—यहाँ समस्त कर्मकाण्ड के पक्ष से छुड़ाकर ज्ञानके अभ्यास करने
का

णाणगुणेण विहीणा एयं तु पयं बहूवि ण लहंति।

तं गिण्ह णियदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं॥205॥

ज्ञानगुणहीन आत्मा, इस पदको प्राप्त कर नहीं सकते।

से यह नियत गहो पद, यदि चाहो कर्मसे मुक्ति ।।205 ।।

ज्ञानगुणेन विहीना एतत्तु पदं बहवोऽपि न लभन्ते । तद्गृहाण नियतमेतद् यदीच्छसि कर्मपरिमोक्षं ।।205 ।।

यतो हि सकलेनापि कर्मणा कर्मणि ज्ञानस्याप्रकाशनात् ज्ञानस्यानुपलंभः । केवलेन ज्ञानेनैव ज्ञान एव ज्ञानस्य प्रकाशनाद् ज्ञानस्योपलंभः । ततो बहवोऽपि बहुनापि कर्मणा ज्ञानभूत्या नेदमुपलभन्ते । इदमनुपलभमानाश्च न कर्मभिर्विप्रमुच्यन्ते ततः कर्ममोक्षार्थिना केवलज्ञानावष्टंभेन नियतमेवेदमेकं पदमुपलंभनीयं ।। पदमिदं ननु कर्मदुरासदं सहजबोधकला-सुलभं किल । तत इदं निजबोधकलाबलात्कलयितुं यततां सततं जगत् ।।143 ।। ।।205 ।।

नामसंज्ञ—गाणगुण, विहीण, एत, तु, प्य, बहु, वि, ण, त, णियद, एत, जदि, कम्मपरिमोक्ख ।
धातुसंज्ञ—लभ प्राप्तौ, गिण्ह ग्रहणे, इच्छ इच्छायां । **प्रातिपदिक**—ज्ञानगुण, विहीन, एतत्, तु, पद बहु, अपि, न, तत्, नियत, एतत्, यदि, कर्मपरिमोक्ष । **मूलधातु**—डुलभष प्राप्तौ, ग्रह उपादाने, इषु इच्छायां ।
पदविवरण—गाणगुणेण ज्ञानगुणेन-तृतीया एकवचन । विहीणा विहीनाः-प्रथमा बहुवचन । एयं एतत्-द्वितीया एकवचन । पयं पदं-द्वितीया एक० । बहू बहवः-प्रथमा बहु० । वि अपि-अव्यय । ण न-अव्यय । लहंति लभन्ते-वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु० । तं तद्-द्वितीया एक० । गिण्ह गृहाण-आज्ञार्थ लोट् मध्यम पुरुष एक० । णियदं नियतं-द्वि० ए० । एदं एतत्-द्वितीया एक० । जदि यदि-अव्यय । इच्छसि-वर्तमान लट् मध्यम पुरुष एकवचन । कम्मपरिमोक्खं कर्मपरिमोक्षं-द्वितीया एकवचन ।।205 ।।

उपदेश किया है। यहाँ ज्ञान की कला कहने से ऐसा सूचित होता है कि जब तक पूर्णकला प्रकट न हो तब तक जो ज्ञान है वह हीन कलास्वरूप है मतिज्ञानादिरूप है। उस ज्ञानकी कला के अभ्यास से पूर्णकला याने केवलज्ञानस्वरूप कला प्रकट होती है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया गया था कि जिसका लाभ पाकर ही मोक्ष प्राप्त होता है उस सहज ज्ञानमात्र आत्मपद का आलंबन लेना चाहिये। अब इस गाथा में उसी तथ्य का व्यतिरेक सम्बन्ध पूर्वक समर्थन करके इस ज्ञानपद के ग्रहण का अनुरोध किया है।

तथ्यप्रकाश—(1) ज्ञान की उपलब्धि केवल ज्ञानके ज्ञानमें ही ज्ञानके प्रकाशसे होती है। (2) समस्त कर्मों (क्रियाओं) द्वारा भी कर्म में ज्ञानका प्रकाश असम्भव है, अतः कर्मसे ज्ञानकी उपलब्धि नहीं होती। (3) ज्ञानभूत्य क्रियाकाण्ड के पक्षपाती अनेक कर्मों को करके भी इस ज्ञानपद को प्राप्त नहीं कर पाते। (4) 'गाष्वत ज्ञानमात्र आत्मपद को न पाने वाले कर्मों से नहीं छूट सकते। (5) कर्मसे मोक्ष चाहने वाले पुरुषों को केवल ज्ञानके आलम्बन द्वारा इस एक नियत ज्ञानमात्र आत्मपद का आलम्बन लेना चाहिये। (6) यह सहज ज्ञानमात्र आत्मपद सहजज्ञानकला द्वारा सुलभ है। (7) कल्याण चाहने वाले जीवों को निज ज्ञानकला के बलसे एक नियत अपने सहज ज्ञानस्वभावका उपयोग करने का प्रयत्न करना चाहिए।

सिद्धान्त—(1) ज्ञानगुणरहित याने अज्ञानी जीव ज्ञानमात्र इस आत्मपद को न प्राप्त कर अपद विकारों में ही रमते हैं। (2) एक सहज ज्ञानमात्र आत्मपद का आलम्बन होने पर कर्ममोक्ष होता है।

दृष्टि—1—अषुद्धनिष्चयनय (47) । 'जुद्धभावनापेक्ष 'जुद्ध द्रव्यार्थिकनय (24ब) ।

प्रयोग—समस्त कर्मविपदाओं से मुक्ति का लाभ लेने के लिए नियत 'गाष्वत एक सहज ज्ञानमात्र स्वभावकी दृष्टि प्रतीति अनुभूति बनाये रहने का पौरुष करना ।।205 ।।

और क्या? [एतस्मिन्] हे भव्य जीव इस ज्ञान में [नित्यं] सदा [रतः भव] रुचिसे लीन होओ और [एतस्मिन्] इसीमें [नित्यं] हमेषा [संतुष्टः] भव संतुष्ट होओ और [एतेन] इसी से

किञ्च—

एदस्मि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदस्मि ।

एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं ।।206 ।।

इस ज्ञानमें सदा रत, होओ संतुष्ट नित्य इस ही में ।

इससे हि तृप्त होओ, सुख तेरे उत्तम हि होगा ।।206 ।।

एतस्मिन् रतो नित्यं संतुष्टो भव नित्यमेतस्मिन् । एतेन भव तृप्तो भविष्यति तवोत्तमं सौख्यं ।।206 ।।

एतावानेव सत्य आत्मा यावदेतज्ज्ञानमिति निष्चित्य ज्ञानमात्र एव नित्यमेव रतिमुपैहि ।
एतावत्येव सत्याषीः, यावदेतज्ज्ञानमिति निष्चित्य ज्ञानमात्रेणैव नित्यमेव संतोषमुपैहि । एतावदेव
सत्यमनुभवनीयं यावदेव ज्ञानमिति निष्चित्य ज्ञानमात्रेणैव नित्यमेव तृप्तिमुपैहि । अथैवं तव
तन्नित्यमेवात्मरतस्य, आत्मसंतुष्टस्य, आत्मतृप्तस्य च वाचामगोचरं सौख्यं भविष्यति । तत्तु
तत्क्षण एव त्वमेव स्वयमेव द्रक्ष्यसि मा अन्यान् प्राक्षीः ।। अचिंत्यषाक्तिः

नामसंज्ञ—एत, रद, णिच्चं, संमुट्ठ, णिच्चं, एत, एत, तित्त, तुम्ह, उत्तम, सोक्ख । **धातुसंज्ञ**—हो
सत्तायां, तुस संतोषे, तिप्प तृप्तौ । **प्रातिपदिक**—एतत्, रत, नित्यं, संतुष्ट, नित्यं, एतत्, तृप्त, युष्मद्,
उत्तम, सौख्य । **मूलधातु**—रमु क्रीडायां भ्वादि, सम्-तुष प्रीतौ दिवादि, भू सत्तायां, तृप् प्रीणने दिवादि ।
पदविवरण—एतस्मिन्-एतस्मिन्-सप्तमी एक० । रदो रतः-प्रथमा एक० कृदन्तं । णिच्चं नित्यं-अव्यय ।
संतुट्ठो संतुष्टः-प्रथमा एक० । होहि भव-आज्ञार्थ लोट् मध्यम पुरुष एक० । णिच्चं नित्यं-अव्यय । एदम्हि
एतस्मिन्-सप्तमी एक० । एदेण एतेन-तृतीया एक० । होहि भव-आज्ञार्थ लोट् मध्यम पुरुष एक० । तित्तो

[तृप्तः भव] तृप्त होओ, अन्य कुछ इच्छा न रहे; ऐसे अनुभवसे [तव] तेरे [उत्तमं सुखं]
उत्तम सुख [भविष्यति] होगा ।

तात्पर्य—रुचिपूर्वक याने हितश्रद्धासहित सहज ज्ञानस्वरूपमें मग्न होकर तृप्त रहने में
ही उत्तम 'गन्ति है ।

टीकार्थ—हे भव्य, इतना ही सत्य आत्मा है जितना यह ज्ञान है, ऐसा निष्चय करके
ज्ञानमात्र आत्मा में ही निरंतर प्रीति को प्राप्त होओ । इतना ही सत्य आषीष है, जितना यह
ज्ञान है ऐसा निष्चय करके ज्ञानमात्र से ही नित्य संतोष को प्राप्त होओ । इतना ही सत्यार्थ
अनुभव करने योग्य है, जितना यह ज्ञान है ऐसा निष्चय करके ज्ञानमात्र से ही नित्य तृप्ति
को प्राप्त होओ । इस प्रकार नित्य ही आत्मा में रत, आत्मा में संतुष्ट, आत्मा में तृप्त हुए तेरे
वचनातीत नित्य उत्तम सुख होगा, और उस सुख को उसी समय तुम स्वयमेव ही देखोगे,
दूसरों को मत पूछो । **भावार्थ**—ज्ञानमात्र आत्मा में लीन होना, इसी में संतुष्ट रहना और
इसी से तृप्त होना यह परम ज्ञानवृत्ति है । इसीसे वर्तमानमें आनन्दरूप होता है और उसके
बाद ही सम्पूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूप केवलज्ञान की प्राप्ति होती है ।

अब ज्ञानी की महिमा बताते हैं—**अचिंत्य** इत्यादि । **अर्थ**—जिस कारण यह
चैतन्यमात्र चिंतामणि वाला अचिन्त्यषक्तिमान ज्ञानी, स्वयमेव आप देव है । इस कारण
ज्ञानीके सब प्रयोजन सिद्ध हैं, ज्ञानी अन्यके परिग्रहण से क्या करेगा? **भावार्थ**—यह
ज्ञानमूर्ति आत्मा अनन्त 'विक्रिधारक सर्वार्थसिद्धस्वरूप स्वयं देव है । फिर ज्ञानी के अन्य
परिग्रह के सेवन करने से क्या साध्य है? कुछ भी नहीं ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया गया था कि ज्ञानगुण से रहित जीव
सहज ज्ञानमय आत्मपद नहीं पाते, अतः मोक्ष के इच्छुक आत्मा इस सहज ज्ञानमात्र भावको
ग्रहण करें । अब इस गाथा में बताया है कि सहज ज्ञानमात्र आत्मपद को ग्रहण कर इसी में
रत होओ, संतुष्ट होवो व तृप्त होओ ।

स्वयमेव देवष्विन्मात्रचिंतामणिरेष यस्मात् । सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते ज्ञानी किमन्यस्य
परिग्रहेण ।।144 ।। ।।206 ।।

तृप्तः-प्रथमा एक० । होहदि भविष्यति-भविष्यत् लृट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । तुह तव-षष्ठी एक० ।

उत्तमं—प्रथमा एक०। सोक्खं सौख्यं—प्रथमा एकवचन।।206।।

तथ्यप्रकाश—(1) जितना यह ज्ञानमात्र भाव है इतना ही यह सत्य आत्मा है अतः इस सहज ज्ञानमात्र भाव में ही नित्य रुचि करो। (2) जितना यह ज्ञानमात्र है इतना ही सत्य आशीष है, अतः ज्ञानमात्रभावके द्वारा इस ज्ञानमात्र में ही सदा संतुष्ट रहो। (3) जितना यह ज्ञानमात्र भाव है इतना ही सत्य अनुभवने के योग्य है, अतः ज्ञानमात्र भावके ही द्वारा नित्य तृप्त रहो। (4) आत्मरत आत्मसंतुष्ट आत्मतृप्त आत्मा में अलौकिक आनन्द स्वयं प्राप्त होता है। (5) जो सहज ज्ञानमात्र आत्मपद में रमते हैं उनके सर्वार्थ सिद्ध हैं, उन्हें अन्य पदार्थ के परिग्रहण का कुछ प्रयोजन नहीं रहता।

सिद्धान्त—(1) सहजज्ञानस्वभावमें रमने वाले ज्ञानी स्वतंत्र सहज आनन्द का अनुभव करते हैं। (2) आत्मपदसे अनभिज्ञ अज्ञानी जीव ही कर्मरसविषयक विकल्प में रमण कर आकुलता का अनुभव करते हैं।

दृष्टि—1—अनीष्वरनय (186)। 2—अषुद्धनिष्वयनय (47)।

प्रयोग—परमार्थ आनन्द पाने के लिये सहज ज्ञानस्वभावमात्र अन्तस्तत्त्व में रमने व तृप्त रहने का पौरुष करना।।206।।

अब पूछते हैं कि ज्ञानी परद्रव्य को क्यों नहीं ग्रहण करता? उत्तर—[आत्मानं तु] अपने आत्मा को ही [नियतं] निश्चित रूपसे [आत्मनः परिग्रहं] अपना परिग्रह [विजानन्] जानता हुआ [कः नाम बुधः] ऐसा कौन ज्ञानी पंडित है? जो [इदं परद्रव्यं] यह परद्रव्य [ममद्रव्यं] मेरा द्रव्य [भवति] है [भणेत] ऐसा कहे।

तात्पर्य—ज्ञानी पुरुष परद्रव्यमें स्वत्व की कल्पना नहीं करता।

टीकार्थ—चूंकि ज्ञानी “जो जिसका निजभाव है वही उसका स्व है, और उसी स्वभाव रूप द्रव्य का वह स्वामी है” ऐसे सूक्ष्म तीक्ष्ण तत्त्वदृष्टिके अवलंबन से आत्मा का परिग्रह अपने आत्मस्वभावको ही जानता है, इस कारण “यह मेरा स्व नहीं, मैं इसका स्वामी नहीं” यह जानकर परद्रव्य को ग्रहण नहीं करता। **भावार्थ**—विवेकी मनुष्य परवस्तुको अपनी नहीं जानता हुआ उसको ग्रहण नहीं करता उसी तरह परमार्थज्ञानी अपने स्वभावको ही अपना धन जानता है परके भावको अपना नहीं जानता, इस कारण ज्ञानी परको ग्रहण नहीं करता।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया गया था कि सहजज्ञानमात्र आत्मपद में रमने, संतुष्ट होने व तृप्त होने पर उत्तम आनंद प्राप्त होता है, फिर उसे अन्य पदार्थ का परिग्रह करने की आवश्यकता नहीं होती। अब इस गाथा में बताया है कि ज्ञानी परपदार्थ को ग्रहण क्यों नहीं करता?

तथ्यप्रकाश—(1) ज्ञानी के यह दृढ़ निर्णय है कि जिसका जो निजभाव है वही उसका स्व है और वही उस स्वका स्वामी है। (2) स्व व स्वामित्व का अभेदपरिचय होनेसे ज्ञानी अपना परिग्रह अपने आपको ही जानता है। (3) ज्ञानी का परद्रव्य के बारे में भी अपने प्रयोग के लिये दृढ़ निर्णय है कि यह (परद्रव्य) मेरा स्व नहीं है और न मैं इसका (परद्रव्यका) स्वामी हूं। (4) अपने स्वरूपको ही अपना सर्वस्व मानने के कारण ज्ञानी जीव परद्रव्यको ग्रहण नहीं करता।

सिद्धान्त—1—परद्रव्य का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मुझमें होना असम्भव होनेसे परद्रव्य मेरा कुछ नहीं है। 2—आत्मा का सर्वस्व यह स्वयं आत्मा है।

कुतो ज्ञानी न परं गृह्णातीति चेत्—

को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मम इमं हवदि दव्वं।

अप्पाणमप्पणो परिग्गहं तु णियदं वियाणंतो।।207।।

कौन सुधी है ऐसा, जो परद्रव्य को कह उठे मेरा।

आत्मपरिग्रह आत्मा, निश्चयसे जानता भी यह।।207।।

को नाम भणेद् बुधः परद्रव्यं ममेदं भवति द्रव्यं। आत्मानमात्मनः परिग्रहं तु नियतं विजानन्।।207।।

यतो हि ज्ञानी, यो हि यस्य स्वो भावः स तस्य स्वः। स तस्य स्वामीति खरतर तत्त्वदृष्ट्यवष्टंभाद् आत्मानमात्मनः परिग्रहं तु नियमेन विजानाति। ततो न ममेदं स्वं नाहमस्य स्वामी इति परद्रव्यं न परिगृह्णाति।।207।।

नामसंज्ञ—क, णाम, बुह, परदव्य, अम्ह, इम, दव्य, अप्प, अप्प, परिग्गह, तु, णियदं, वियाणंत।
धातुसंज्ञ—भण कथने, हव सत्तायां, वि-जाण अवबोधने। **प्रातिपदिक**—किम्, नामन्, बुध, परद्रव्य, अस्मद्, इदम्, द्रव्य, आत्मन्, आत्मन्, परिग्रह, तु, नियत, विजानत्। **मूलधातु**—भण 'बुद्धार्थ', बुध अवगमने, भू सत्तायां, परि-गृह ग्रहणे, वि-ज्ञा अवबोधने क्र्यादि। **पदविवरण**—को कः-प्रथमा एकवचन। णाम नाम-प्रथमा एक०। भणिज्ज भणेत्-लिङ् अन्य पुरुष एक० क्रिया। परदव्यं परद्रव्यं-प्रथमा एक०। मम-षष्ठी एक०। इमं इदं-प्र० ए०। हवदि भवति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया। दव्यं द्रव्यं-प्रथमा एक०। अप्पाणं आत्मानं-द्वितीया एक०। अप्पणो आत्मनः-षष्ठी एक०। परिग्गहं परिग्रहं-द्वितीया एकवचन। तु-अव्यय। णियदं नियतं-अव्यय यथा स्यात्तथा। वियाणंतो विजानन्-प्रथमा एकवचन।।207।।

दृष्टि—1-प्रतिषेधक 'बुद्धनय (49अ)। 2-उपादानदृष्टि (49ब)।

प्रयोग—दुःख के हेतुभूत भ्रमभाव को दूर करने के लिये परद्रव्य को अपने से भिन्न निरखना व अपने आपके सर्वस्वभूत ज्ञानमात्र भावको ही उपयोग में लेना।।207।।

इस कारण मैं भी परद्रव्य का ग्रहण नहीं करता हूँ—[यदि] यदि [परिग्रहः] परिग्रह [मम] मेरा हो [ततः] तो [अहं] मैं [अजीवतां] अजीवपने को [गच्छेयं] प्राप्त हो जाऊँगा [तु यस्मात्] तो चूँकि [अहं] मैं [ज्ञाता एव] ज्ञाता ही हूँ [तस्माद्] इस कारण [परिग्रहः] कुछ भी परिग्रह [मम] मेरा [न] नहीं है।

तात्पर्य—मैं वह हूँ तो मेरे से तन्मय है। बाह्य परिग्रह मेरे से अत्यन्त भिन्न है, अतः स्वस्वरूपातिरिक्त कुछ भी मेरा नहीं है।

टीकार्थ—यदि मैं अजीव परद्रव्य को ग्रहण करूँ तो यह अजीव मेरा स्व अवष्य हो जाय और मैं भी उस अजीव का अवष्य स्वामी ठहरूँ। परन्तु अजीव का जो स्वामी है वह निष्चय से अजीव ही होता है इस तरह मेरे विवषपने से अजीवना आ पड़ेगा। किन्तु मेरा तो एक ज्ञायकभाव ही स्व है, उसी का मैं स्वामी हूँ, इस कारण मेरे अजीवपना मत होओ, मैं तो ज्ञाता ही होऊँगा परद्रव्य को नहीं ग्रहण करूँगा यह मेरा निष्चय है। **भावार्थ**—वस्तुतः जीवमें तन्मय तो जीवस्वरूप ही है उसी से जीवका स्वस्वामीसम्बन्ध है और अजीव के स्वरूपके साथ अजीव का स्वस्वामीसम्बन्ध है। इस कारण यदि अजीव परिग्रह जीव का माना जाए तो जीव अजीवपने को प्राप्त हो जाय यह आपत्ति आवेगी। अतः परमार्थ से जीवके अजीव का परिग्रह मानना मिथ्याबुद्धि है। ज्ञानी के मिथ्याबुद्धि नहीं होगी। ज्ञानी की दृढ़ आस्था है कि परद्रव्य मेरा परिग्रह नहीं है, मैं तो मात्र ज्ञाता हूँ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया गया था कि ज्ञानी परद्रव्य को क्यों नहीं ग्रहण करता। इसका कारण जानकर अब इस गाथामें कहा है कि इस कारण मैं भी परद्रव्य को ग्रहण नहीं करता।

तथ्यप्रकाश—(1) पदार्थ मात्र अपने स्वरूपको ही ग्रहण करता है। (2) यदि मैं अचेतन परद्रव्य को ग्रहण कर लूँ तो वह परद्रव्य मेरा स्व बन जायगा और मैं भी उस अचेतन परद्रव्य का स्वामी बन बैठूँगा यह दोष आता है। (3) चूँकि अचेतन का स्वामी अचेतन ही

अतःओहमपि न तत् परिगृह्णामि—

मज्झं परिग्गहो जइ तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज।

णादेव अहं जह्या तह्या ण परिग्गहो मज्झ ।।208 ।।

अन्य परिग्रह मेरा, यदि हो मुझमें अजीवपन होगा ।

ज्ञाता ही मैं इससे, कोइ परिग्रह नहीं मेरा ।।208 ।।

मम परिग्रहों यदि ततोऽहमजीवतां तु गच्छेयं । ज्ञातैवाहं यस्मात्तस्मान्न परिग्रहो मम ।। 208 ।।

यदि परद्रव्यमजीवमहं परिगृहलीयां तदावष्यमेवाजीवो ममासौ स्वः स्यात् । अहमप्यव-
‘यमेवाजीवस्यामुष्य स्वामी स्यां । अजीवस्य तु यः स्वामी, स किलाजीव एव । एवमवषेनापि
ममाजीवत्वमापद्येत । मम तु एको ज्ञायक एव भावः यः स्वः, अस्यैवाहं स्वामी, ततो
माभूल्ममाजीवत्वं ज्ञातैवाहं भविष्यामि न परद्रव्यं परिगृह्णामि, अयं च मे निष्चयः ।।208 ।।

नामसंज्ञ—अहं, परिग्गह, जइ, तदो, अहं, अजीवद, तु, णादा, एव, अहं, ज, त, ण, परिग्गह, अहं ।
धातुसंज्ञ—गच्छ गतौ, परि ग्गह ग्रहणे । **प्रातिपदिक**—अस्मद्, परिग्रह, यदि, ततः, अस्मद्, अजीवता,
तु, ज्ञातु, एव, अस्मद्, यत्, तत्, न, परिग्रह, अस्मद् । **मूलधातु**—गम्लृ गतौ, परि-गृह ग्रहणे ।
पदविवरण—मम मज्झं-षष्ठी एक० । परिग्गहो परिग्रहः-प्रथमा एकवचन । जइ यदि-अव्यय । तदो ततः-
अहं-प्र० ए० । अजीवदं अजीवतां-द्वितीया ए० । तु-अव्यय । गच्छेज्ज गच्छेयं-लिङ् उत्तम पुरुष एक० ।
णादा ज्ञाता-प्र० ए० । एव-अव्यय । अहं-प्रथमा एक० । जह्या यस्मात्-पंचमी एक० । तह्या तस्मात्-पंचमी
एक० । ण न-अव्यय । परिग्गहो परिग्रहः-प्र० ए० । मज्झ मम-षष्ठी एकवचन ।।208 ।।

होता है और मैं बन बैठा अचेतन परद्रव्य का स्वामी तो मैं भी अचेतन हो जाऊँगा यह दोष
आता है । (4) अन्य जीव भी मेरा स्व नहीं है, क्योंकि अन्य जीव मेरा स्व हो जाय तो मैं
अन्यरूप हो जाऊँगा मेरी सत्ता न रहेगी यह दोष आता है । (5) मैं अचेतन परद्रव्य हो ही
नहीं सकता, क्योंकि एक ज्ञायकभाव ही मेरा है, इस ज्ञायकभावका मैं स्वामी हूँ । (6) मैं
अन्य जीवरूप हो ही नहीं सकता, क्योंकि मैं निज चैतन्यस्वरूपास्तित्व से तन्मय हूँ, अन्य
जीव अपने-अपने चैतन्यस्वरूपास्तित्व से तन्मय हैं । (7) चूँकि मैं ज्ञाता ही रहता हूँ अन्य
द्रव्यरूप नहीं होता, इस कारण मैं किसी भी परद्रव्य को नहीं ग्रहण करता ।

सिद्धान्त—(1) मैं अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे हूँ । (2) मैं परद्रव्य के क्षेत्र, काल,
भावसे नहीं हूँ ।

दृष्टि—1—स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (28) । 2—परद्रव्यादिग्राहक, द्रव्यार्थिकनय
(29) ।

प्रयोग—मैं अचेतन नहीं हूँ, अन्य द्रव्यरूप नहीं हूँ, मैं ज्ञानमात्र हूँ, अतः मैं । मात्र
ज्ञाता ही रहूँगा, मैं किसी भी परद्रव्य को ग्रहण न करूँगा ऐसा अपना दृढ़ निर्णय रखकर
परद्रव्य के विकल्प से भी हटकर अपने में ज्ञानमात्र रहकर परमविश्राम पाने का पौरुष
करना ।।208 ।।

अब ज्ञानी का आत्मषौर्य बतलाते हैं—[छिद्यतां वा] छिद जावे [भिद्यतां वा] अथवा
भिद जावे [नीयतां वा] अथवा कोई ले जावे [अथवा] अथवा [विप्रलयं यातु] नष्ट हो जावे
[यस्मात् तस्मात्] चाहे जिस तरह से [गच्छतु] चला जावे, [तथापि] तो भी [खलु] वास्तव
में [परिग्रह] परद्रव्य परिग्रह [मम] मेरा [न] नहीं है ।

तात्पर्य—समस्त परपदार्थ भिन्न सत्तावाले हैं, इस कारण परद्रव्य की कुछ भी
परिणति हो वह मेरा कुछ नहीं है ।

टीकार्थ—परद्रव्य चाहे छिद जावे या भिद जावे या कोई ले जावे, या नाष को प्राप्त
हो जावे, या जिस तिस प्रकार याने कैसे ही चला जावे तो भी मैं परद्रव्य को ग्रहण नहीं
करता, क्योंकि परद्रव्य मेरा स्व नहीं है और न मैं परद्रव्य का स्वामी हूँ, परद्रव्य ही परद्रव्य
का स्व है, परद्रव्य ही परद्रव्य का स्वामी है, मैं ही मेरा स्व है, मैं ही मेरा स्वामी हूँ ऐसा मैं

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं ।

जह्मा तह्मा गच्छदु तहवि हु ण परिग्गहो मज्झ ।।209 ।।

छिदो भिदो ले जावो, विनशो अथवा जहां तहां जावो ।

तो भी निश्चयसे कुछ, कोई परिग्रह नहीं मेरा ।।209 ।।

छिद्यतां वा भिद्यतां वा नीयतां वाथवा यातु विप्रलयं । यस्मात्स्माद् गच्छतु तथपि खलु न परिग्रहो मम ।

छिद्यतां वा भिद्यतां वा नीयतां वा विप्रलयं यातु वा यतस्ततो गच्छतु वा तथापि न परद्रव्यं परिगृह्णामि । यतो न परद्रव्यं मम स्वं नाहं परद्रव्यस्य स्वामी, परद्रव्यमेव परद्रव्यस्य स्वं, परद्रव्यमेव परद्रव्यस्य स्वामी, अहमेव मम स्वं अहमेव मम स्वामीति जानामि ।। इत्थं

नामसंज्ञ—वा, वा, वा, अहव, विष्पलय, ज, त, तह, वि, हु, ण, परिग्गह, अह्म । **धातुसंज्ञ**—छिद छेदने, भिंद विदारणे, ने प्रापणे, जा गतौ, गच्छ गतौ । **प्रातिपदिक**—वा, वा, वा, अथवा, विप्रलय, यत्, तत्, तथा, अपि, खलु, न, परिग्रह, अस्मद् । मूलधातु—छिदिर् द्वेधीकरणे रुधादि, भिदिर् विदारणे रुधादि, णीञ् प्रापणे भ्वादि, या प्रापणे अदादि, गम्लृ गतौ । **पदविवरण**—छिज्जतु छिद्यतां—कर्मवाच्य लोट् अन्य पुरुष एकवचन । वा—अव्यय । भिज्जदु भिद्यतां—कर्मवाच्य लोट् अन्य पुरुष एकवचन । णिज्जदु नीयतां—कर्मवाच्य लट् अन्य पुरुष एक० । अहव अथवा—अव्यय । जादु यातु—लोट् अन्य पुरुष एकवचन । विष्पलयं

जानता हूं । **भावार्थ**—प्रत्येक द्रव्य अपनी अपनी सत्ता में है, मैं भी मात्र अपने सत्त्व से हूं तब मेरा मेरे सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है ऐसा ज्ञानी जानता है, अतः ज्ञानी के समस्त परद्रव्य से उपेक्षा है, इसी कारण ज्ञानी के परद्रव्य परिग्रह नहीं होता ।

अब इसी अर्थ को **इत्थं** इत्यादि कलष में कहते हैं—इस प्रकार सामान्य से समस्त परिग्रह को छोड़ कर स्व व परके अविवेक के कारणभूत अज्ञान को छोड़ने के लिये मन वाला होता हुआ यह ज्ञानी फिर उसी परिग्रह को विशेषरूपसे छोड़ने के लिये प्रवृत्त हुआ है । **भावार्थ**—परद्रव्य को निज स्वरूपसे जानने का कारण अज्ञान है सो अज्ञान को मूल से मिटाने की ठानने वाले इस ज्ञानी ने सामान्य से सर्व परद्रव्यको हटा दिया अब नाम ले लेकर विशेषरूपसे परिग्रह को छोड़ने के लिये प्रवृत्त हुआ है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में यह बताया गया था कि यदि मैं परद्रव्य का परिग्रहण करूं तो मैं परद्रव्य अजीवरूप ही हो जाऊंगा, किन्तु ऐसा होता ही नहीं, मैं तो ज्ञाता हूं सो परिग्रह मेरा नहीं है । इस तथ्य के जाने बिना जीव दुःखी ही रहता है सो इस तथ्यका और दृढ़ निष्चय करना और दृढ़ प्रतिज्ञ होना आवश्यक है, इसी कारण इस गाथा द्वारा सामान्यतया अपरिग्रहता दिखाकर विरक्ति को दृढ़ किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—1—ज्ञानी अपने को ज्ञायक स्वभावमात्र समझता है । इस कारण सहज ही समस्त इसके परद्रव्य से उपेक्षा रहती है । 2—इन बाह्य परद्रव्यों की प्रायः पाँच हालतें देखी जाती हैं उन्हीं का यहाँ संकेत है । 3—किसी परपदार्थ के दो या अनेक टुक हो जाते हैं जो कि मोही को अनिष्ट है । 4—किसी परद्रव्य में अनेक छिद्र हो जाते हैं जिससे वह सारहीन हो जाता है जो कि मोही को अनिष्ट है । 5—किसी परपदार्थ को कोई उठाकर ले जाता है जिसका वियोग मोही को अनिष्ट है । 6—कोई परद्रव्य नष्ट हो जाता है याने भस्म आदि के रूपमें पूरा बदल जाता है जो कि मोही को अनिष्ट है । 7—कोई परपदार्थ जिस किसी भी प्रकार अन्यत्र चला जाता है जो कि मोही को अनिष्ट है । 8—ज्ञानी परद्रव्यका कुछ भी हो, परद्रव्य से लगाव ही नहीं रखता, अतः ज्ञानी अपरिग्रही है । 9—ज्ञानी का दृढ़ निष्चय है कि मेरा मात्र मैं ही सर्वस्व हूं और मैं अपने इस स्वरूपसर्वस्वका ही स्वामी हूं ।

सिद्धान्त—1—ज्ञानी स्वमें तन्मय अखण्ड ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्त्व को ही आपा मानता है । 2—परद्रव्यमें या किसी भी द्रव्य में जो भी परिणति होती है वह उस ही के परिणमने से होती है, कहीं उस रूप अन्य द्रव्य नहीं परिणम जाता है ।

परिग्रहमपास्य समस्तमेव सामान्यतः स्वपरयोरविवेकहेतुं । अज्ञानमुज्झितुमना अधुना विषेष्वाद् भूयस्तमेव परिहर्तुमयं प्रवृत्तः ।।145 ।। ।।209 ।।

विप्रलयं—द्वितीया एकवचन। जम्हा यस्मात्—पंचमी एक०। तम्हा तस्मात्—पं० एक०। गच्छदु गच्छतु—आज्ञार्थ लोट् अन्य पुरुष एक०। तह तथा—अव्यय। वि अपि—अव्यय। हु खलु—अव्यय। ण न—अव्यय। परिग्गहो परिग्रहः—प्रथमा एक०। मज्झ मम—षष्ठी एकवचन।।209।।

दृशिट—1—षुद्धनिष्चयनय (46)। 2—स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय, परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (28, 29)।

प्रयोग—समस्त परद्रव्यों को अपने से अत्यन्त भिन्न मानकर उनकी कुछ भी परिणति हो उससे हर्ष विषाद न मानकर अपने सहज ज्ञानस्वभावमें ही रमकर तृप्त होना चाहिये।।209।।

अब बतलाते हैं कि ज्ञानी के धर्म का अर्थात् पुण्य का भी परिग्रह नहीं है—**[अनिच्छः]** इच्छारहित आत्मा **[अपरिग्रहः]** परिग्रहरहित **[भणितः]** कहा गया है **[च]** और **[णाणी]** ज्ञानी **[धम्मं]** धर्म अर्थात् पुण्य को **[न]** नहीं **[इच्छति]** चाहता है **[तेन]** इस कारण **[सः]** वह **[धर्मस्य]** धर्म का याने पुण्यका **[अपरिग्रहः]** परिग्रही नहीं है **[तु]** वह तो **[ज्ञायकः]** मात्र ज्ञायक **[भवति]** होता है।

तात्पर्य—ज्ञानी द्रव्यपुण्यको तो उपादानतया भी अत्यन्त भिन्न जानता है और भावपुण्यको औपाधिक होने के कारण अपने से भिन्न जानता है सो वह ज्ञातामात्र है, पुण्य का भी परिग्रही नहीं है।

टीकार्थ—इच्छा परिग्रह है। जिसके इच्छा नहीं है, उसके परिग्रह नहीं है। इच्छा तो अज्ञानमय भाव है और अज्ञानमय भाव ज्ञानी के होता नहीं है, ज्ञानी के ज्ञानमय ही भाव होता है, अतः ज्ञानी अज्ञानमय भावरूप इच्छाके अभावसे धर्म (पुण्य) को नहीं चाहता है। इस कारण ज्ञानी के धर्मपरिग्रह नहीं है। ज्ञानमय एक ज्ञायकभावके होने से यह धर्म का केवल ज्ञायक ही होता है। **भावार्थ—**ज्ञानी ने सहज ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्त्व का अनुभव करके अलौकिक आनन्द पाया है, अतः अज्ञानमय भाव न होने से इच्छा का भी परिग्रह नहीं है, तो भी जब तक पूर्ण निरास्रव नहीं हुआ तब तक पुण्य का भी आस्रव होता है, किन्तु पुण्य का स्वामित्व न होने से परिग्रह नहीं है वह तो ज्ञानस्वरूपको ही अपना सर्वस्व स्वीकार करता है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में सामान्य रूपसे बताया था कि परपदार्थ किसी भी अवस्था को प्राप्त होओ वह मेरा कुछ भी परिग्रह नहीं है। अब इस ही अपरिग्रहता के आषयको विषेष रूपसे कहना है सो वह विषेषरूप चार प्रकार में प्रसिद्ध है—(1) पुण्य, (2) पाप, (3) भोजन, (4) पान (पीना)। उसमें से प्रथम पुण्य परिग्रह के विषयमें अपरिग्रहता को स्पष्ट इस गाथामें किया है।

तथ्यप्रकाश—(1) इच्छा की इच्छा अज्ञानमय भाव है वह अविकार ज्ञानस्वभावके अनुभवका अलौकिक आनन्द पाने वाले के याने ज्ञानी के नहीं होता। (2) अज्ञानमय इच्छा जिसके नहीं है अगत्या पुण्यभाव होने पर भी वह पुण्यभाव या पुण्यकर्म को भी नहीं चाहता, 'उभोपयोगरूप धर्मको नहीं चाहता। (3) ज्ञानी पुण्यभाव होने पर भी पुण्यभावको नहीं चाहता, अतः उसके पुण्य का भी परिग्रह नहीं है।

सिद्धान्त—(1) सम्यक्त्व घातक प्रकृतियों का उपषमादि होने से ज्ञानी के अज्ञानमय भाव न होनेसे ज्ञानमय भाव ही होता है। (2) ज्ञानी अंतः ज्ञानवृत्तिरूप परिणमता है।

दृशिट—1—उपाध्यभावापेक्ष 'षुद्ध द्रव्यार्थिकनय (24ब)। 2—षुद्धनिष्चयनय (46)।

अपरिग्गहो अणिच्छो भणितो णाणी य णिच्छदे धम्मं।

अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होई।।210।।

निर्वाञ्छक अपरिग्रह, कहा है ज्ञानी न चाहता पुण्य ।

इससे पुण्यपरिग्रह—विरहित ज्ञायक पुरुष होता ।।210 ।।

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छति धर्म । अपरिग्रहस्तु धर्मस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ।।210 ।।

इच्छा परिग्रहः तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति । इच्छा त्वज्ञानमयो भावः, अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति । ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोऽसि, ततो ज्ञानी अज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावाद् धर्मं नेच्छति । तेन ज्ञानिनो धर्मपरिग्रहो नास्ति । ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावाद् धर्मस्य केवलं ज्ञायक एवायं स्यात् ।।210 ।।

नामसंज्ञ—अपरिग्रह, अणिच्छ, भणित, णाणि, य, ण, धम्म, अपरिग्रह, दु, धम्म, जाणग, त, त ।
धातुसंज्ञ—परि—गिण्ह ग्रहणे, भण कथने, इच्छ इच्छायां, हो सत्तायां । **प्रातिपदिक**—अपरिग्रह, अनिच्छ, भणित, ज्ञानिन्, च, न, धर्म, अपरिग्रह, तु, धर्म, ज्ञायक, तत् तत् । **मूलधातु**—परि—ग्रह ग्रहणे, भण 'ब्दार्थः, इषु इच्छायां, भू सत्तायां । **पदविवरण**—अपरिग्रहो अपरिग्रहः—प्रथमा एक० । अणिच्छो अनिच्छः—प्रथमा एकवचन । भणितो भणितः—प्रथमा एक० । णाणी ज्ञानी—प्रथमा एक० । य च—अव्यय । ण न—अव्यय । इच्छदे इच्छति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । धम्मं धर्म—द्वितीया एकवचन । अपरिग्रहो अपरिग्रहः—प्रथमा एक० । दु तु, धम्मस्स धर्मस्य—षष्ठी एक० । जाणगो ज्ञायकः—प्रथमा एकवचन । तेण तेन—तृतीया एक० । सो सः—प्रथमा एक० । होई भवति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया ।।210 ।।

प्रयोग—पुण्यभाव होने पर भी उसे अपना स्वरूप न जानकर उससे परे अविकार ज्ञानस्वरूपमें उपयुक्त होने का पौरुष करना चाहिये ।।210 ।।

अब ज्ञानी के पाप का परिग्रह नहीं है यह बताते हैं—[अनिच्छः] इच्छारहित पुरुष [अपरिग्रहः] अपरिग्रह [भणितः] कहा गया है । [च] और [ज्ञानी] ज्ञानी [अधर्म] अधर्म याने पापको [न] नहीं [इच्छति] चाहता है । [तेन] इस कारण [सः] वह [अधर्मस्य] अधर्मका [अपरिग्रहः] परिग्रही नहीं है, किन्तु [ज्ञायकः] अधर्म का ज्ञायक ही [भवति] होता है ।

तात्पर्य—पापभाव को कर्मरस जानने वाले ज्ञानीको पापभावसे रंच भी लगाव नहीं है, प्रत्युत विरक्ति ही है, इस कारण असातादि पापकर्म रस भी प्रतिफलित हो तब भी ज्ञानी के अधर्म का परिग्रह नहीं है ।

टीकार्थ—इच्छा परिग्रह है । उसके परिग्रह नहीं जिसके इच्छा नहीं है । इच्छा तो अज्ञानमय भाव है । किन्तु अज्ञानमय भाव ज्ञानी के नहीं है, ज्ञानी के ज्ञानमय ही भाव है । इस कारण ज्ञानी अज्ञानमय भावरूप इच्छा का अभाव होनेसे अधर्मको पाप को नहीं चाहता है, इस कारण ज्ञानी के अधर्म का परिग्रह नहीं है । ज्ञानमय एक ज्ञायक भावका सद्भाव होनेसे यह अधर्म का केवल ज्ञायक ही है । और इसी प्रकार अधर्मपदके परिवर्तन से राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्शनके सोलह सूत्र लगा लेना चाहिये । **भावार्थ**—ज्ञानी को अपने सहज स्वरूपकी अनुभूति हुई है तब उसकी कभी बाह्य प्रवृत्ति भी हो तो भी ज्ञानमय भावको न छोड़कर होती है, अतः जब चारित्रमोह की बलवत्तासे, असंयम भाव होता है तब उसे औपाधिक विकार जानकर उससे उपेक्षाभाव रखता है इस कारण ज्ञानी के अधर्म का परिग्रह नहीं है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा में बताया गया था कि ज्ञानी के पुण्य का परिग्रह नहीं है तब यह भी जिज्ञासा हुई कि किसी ज्ञानी के कभी विषय में प्रवृत्ति हो तो पापबन्ध तो होता ही है तब क्या उसके पाप का परिग्रह है उसके समाधान में इस गाथा का अवतार हुआ है ।

तथ्यप्रकाश—1—औपाधिक भावों में रुचि होना अज्ञानमय भाव है । 2—यद्यपि औपाधिक भाव भी अज्ञानभाव है, तो भी ज्ञानी की उससे उपेक्षा और ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व में प्रतीति

अपरिग्रहो अणिच्छो भणितो णाणी य णिच्छदि अधम्मं ।

अपरिग्रहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ।।211 ।।

निर्वाञ्छक अपरिग्रह, कहा है ज्ञानी न चाहता पाप ।

इससे पापपरिग्रह—विरहित ज्ञायक पुरुष होता ।।211 ।।

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छत्यधर्म । अपरिग्रहोऽधर्मस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ।।211 ।।

इच्छा परिग्रहः, तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति, इच्छा त्वज्ञानमयो भावः । अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति, ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोऽस्ति । ततो ज्ञानी अज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावादधर्मं नेच्छति । तेन ज्ञानिनोऽधर्मपरिग्रहो नास्ति । ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावादधर्मस्य केवलं ज्ञायक एवायं स्यात् । एवमेव चाधर्मपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्मनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि । अनया दिषाऽन्यान्यप्यूह्यानि ।।211 ।।

नामसंज्ञ—अपरिग्रह, अणिच्छ, भणित, णाणि, य, ण, अधम्म, अपरिग्रह, अधम्म, जाणग, त, त ।
धातुसंज्ञ—भण कथने, इच्छ इच्छायां, हो सत्तायां । **प्रातिपदिक**—अपरिग्रह, अनिच्छ, भणित, ज्ञानिन्, च, न, इच्छति, अधर्म, अपरिग्रह, अधम्म, ज्ञायक, तत् तत् । **मूलधातु**—भण 'ब्दार्थः, इषु इच्छायां, भू सत्तायां । **पदविवरण**—अपरिग्रहो अपरिग्रहः—प्रथमा एकवचन । अणिच्छो अनिच्छः—प्रथमा एकवचन । भणितो भणितः—प्रथमा एक० कृदन्त । णाणी ज्ञानी—प्र० एक० । य च—अव्यय । ण न—अव्यय । इच्छति इच्छति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । अधम्म अधर्म—द्वितीया एक० । अपरिग्रहो अपरिग्रहः—प्र० ए० । अधम्मस्स अधर्मस्य—षष्ठी एक० । जाणगो ज्ञायकः—प्र० ए० । तेण तेन—तृतीया एकवचन । सो सः—प्रथमा एक० । होई भवति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया ।।211 ।।

होनेसे उसे अज्ञानमय भाव नहीं कहा गया है । 3—पाप कर्म व पाप भावमें किञ्चिन्मात्र भी हित विष्वास न होने से और हितमय 'गाष्वत चैतन्यस्वरूपकी प्रतीति होनेसे ज्ञानीके अधर्म का परिग्रह नहीं है । 4—भोगादि की हितास्थासहित इच्छा ही संसारवर्द्धक इच्छा है ।

सिद्धान्त—1—पापभाव औपाधिक भाव होनेसे उसका स्वामी ज्ञाता द्रव्य नहीं है । 2—ज्ञानमय एक ज्ञायकभाव दृष्टि में होनेसे ज्ञानी ज्ञायक ही रहता है ।

दृष्टि—1—प्रतिषेधकषुद्धनय (49अ) । 2—षुद्धनय (198) ।

प्रयोग—पापविपाकरस भी उपयोग में झलके तब भी उसे परप्रतिफलन जानकर उससे उपेक्षा कर अपने निष्पाप ज्ञानस्वरूपमें ही उपयुक्त होनेका पौरुष करना ।।211 ।।

अब ज्ञानी के भोजन का परिग्रह नहीं है यह बताते हैं—[अनिच्छः] इच्छारहित पुरुष [अपरिग्रहः] अपरिग्रही [भणितः] कहा गया है [च] और [ज्ञानी] ज्ञानी [अशनं] भोजनको [न] नहीं [इच्छति] चाहता है । [तेन] इस कारण [सः] वह [अशनस्य] भोजन का [अपरिग्रहः] परिग्रही नहीं है [तु] किन्तु वह [ज्ञायकः] भोजन का ज्ञायक ही [भवति] होता है ।

तात्पर्य—असाता के उदयवष क्षुधा होने पर भी क्षुधा रोग की इच्छा न होने से क्षुधा रोगकी औषधिभूत भोजन की कामना न होनेसे ज्ञानी के भोजन का परिग्रह नहीं है ।

टीकार्थ—इच्छा परिग्रह है । उसके परिग्रह नहीं है, जिसके इच्छा नहीं है । इच्छा तो अज्ञानमय भाव है । अज्ञानमय भाव ज्ञानी के नहीं होता । ज्ञानी के ज्ञानमय ही भाव होता है । इस कारण ज्ञानी अज्ञानमय भावरूप इच्छा का अभाव होनेसे भोजनको नहीं चाहता है, अतः ज्ञानी के अषन (भोजन) का परिग्रह नहीं है, किन्तु मात्र ज्ञानमय एक ज्ञायक भावके होनेसे अषन (भोजन) का केवल ज्ञायक ही होता है । **भावार्थ**—ज्ञानी के न क्षुधा रोगकी इच्छा है और न आस्था में क्षुधा की चिकित्सा की इच्छा है अतः ज्ञानी अषन का अपरिग्रही है ।

प्रसंगविवरण—ज्ञानी के अपरिग्रहत्व बताने का यह स्थल चल रहा है । यहा धर्म अधर्म का परिग्रह बताकर ज्ञानी के अषन परिग्रह का प्रतिषेध करने के लिये यह गाथा आई है ।

अपरिग्रहो अणिच्छो भणितो णाणी य णिच्छदे असणं ।
अपरिग्रहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि ।।212।।
निर्वाञ्छक अपरिग्रह, कहा है ज्ञानी न चाहता भुक्ति ।
इससे भुक्तिपरिग्रह—विरहित ज्ञायक पुरुष होता ।।212।।

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छति अषणं । अपरिग्रहस्त्वषणस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ।।212।।

इच्छा परिग्रहः । तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति । इच्छा त्वज्ञानमयो भावः । अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति । ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोऽस्ति । ततो ज्ञानी अज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावादषणं नेच्छति तेन ज्ञानिनोऽषणपरिग्रहो नास्ति ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावादषणस्य केवलं ज्ञायक एवायं स्यात् ।।212।।

नामसंज्ञ—अपरिग्रह, अणिच्छ, भणित, णाणि, य, ण, असण, अपरिग्रह, दु, असण, जाणग, त, त ।
धातुसंज्ञ—भण कथने, इच्छ इच्छायां, अस भक्षणक्षेपणयोः, जाण अवबोधने, हो सत्तायां ।
प्रातिपदिक—अपरिग्रह, अनिच्छ, भणित, ज्ञानिन्, च, न, अषण, अपरिग्रह, तु, अषण, ज्ञायक, तत्, तत् ।
मूलधातु—नञ्-परि-ग्रह उपादाने क्र्यादि, इषु इच्छायां, तुदादि, भण 'ब्दार्थः, अष भोजने क्र्यादि, ज्ञा अवबोधने क्र्यादि, भू सत्तायां । **पदविवरण**—अपरिग्रहो अपरिग्रहः—प्रथमा एक० । अणिच्छो अनिच्छः—प्रथमा एक० । भणितो भणितः—प्रथमा एक० कृदन्त । णाणी ज्ञानी—प्रथमा एक० । य च—अव्यय । ण न—अव्यय । इच्छदे इच्छति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । असण अषणं—द्वितीया एकवचन । अपरिग्रहो अपरिग्रहः—प्र० ए० । दु तु—अव्यय । असणस्स अषणस्य—षष्ठी एक० । जाणगो ज्ञायकः—प्रथमा एक० । तेण तेन—तृ० एक० । सो सः—प्र० ए० । होई भवति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन ।।212।।

तथ्यप्रकाश—1—क्षुधा को औपाधिक विकार जानने के कारण ज्ञानी को क्षुधा की इच्छा नहीं है । 2—क्षुधा की चिकित्सारूप भोजन को आत्मा का अकृत्य जानने से उसकी भी अन्तः इच्छा नहीं है । 3—ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्त्वमय अपनी प्रतीति होनेसे ज्ञानी भोजन का अपरिग्रही है ।

सिद्धान्त—1—असातावेदनीय के तीव्र व मंद विपाकोदयके निमित्तसे क्षुधावेदना होती है । 2—चारित्रमोहके उदयसे भोजन ग्रहण करने की इच्छा होती है । 3—ज्ञानी क्षुधा व भोजनेच्छा को औपाधिक (पौद्गलिक) जानकर उससे विविक्त विषुद्ध चैतन्यस्वभावमात्र अपने को जानता है ।

दृष्टि—1—उपाधिसापेक्ष अषुद्धद्रव्यार्थिकनय (53) । 2—उपाधिसापेक्ष अषुद्धद्रव्यार्थिकनय (53) । 3—विवक्षितैकदेशषुद्धनिष्चयनय (48) ।

प्रयोग—क्षुधा, इच्छा आदि औपाधिक भावों को आत्मा का अकृत्य जानकर उन परभावों से विविक्त अविकार ज्ञानस्वभाव की दृष्टि से तृप्त होने का पौरुष करना ।।212।।

अब ज्ञानी के पानपरिग्रहत्व का प्रतिषेध करते हैं—[अनिच्छः] इच्छारहित पुरुष [अपरिग्रहः] परिग्रहरहित [भणितः] कहा गया है । [च] और [ज्ञानी] ज्ञानी पुरुष [पानं] कुछ पीने को [न] नहीं [इच्छति] चाहता है । [तेन] इस कारण [सः] वह [पानस्य] पानका [अपरिग्रहः] परिग्रही नहीं है [तु] किन्तु वह [ज्ञायकः] पानका ज्ञायक ही [भवति] होता है ।

तात्पर्य—ज्ञानी के पुण्य, पाप व भोजन की इच्छा न होने की तरह पानकी भी इच्छा नहीं है । अतः ज्ञानी पानका भी परिग्रही नहीं है ।

टीकार्थ—इच्छा परिग्रह है, उसके परिग्रह नहीं जिसके इच्छा नहीं है । इच्छा तो अज्ञानमयभाव है, अज्ञानमयभाव ज्ञानी के नहीं होता, ज्ञानी के ज्ञानमय ही भाव होता है । इस कारण ज्ञानी अज्ञानमय भावरूप इच्छा का अभाव होनेसे पानको नहीं चाहता, अतः ज्ञानीके पानपरिग्रह नहीं है । यह ज्ञानी तो मात्र ज्ञानमय एक ज्ञायक भावके सद्भाव से केवल ज्ञायक ही है । **भावार्थ**—ज्ञानी के पान आदि किसी भी विकार की कामना न होनेसे वह पान आदि सर्व परिग्रह से रहित है ।

अपरिग्रहो अणिच्छो भणितो णाणी य णिच्छदे पाणं ।
अपरिग्रहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि ।।213।।

निर्वाञ्छक अपरिग्रह, कहा है ज्ञानी न चाहता पान ।

इससे पानपरिग्रह—विरहित ज्ञायक पुरुष होता ।।213।।

अपरिग्रहों अनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छति पानं । अपरिग्रहस्तु पानस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ।।213।।

इच्छा परिग्रहः । तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति । इच्छा त्वज्ञानमयो भावः । अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति । ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोऽस्ति । ततो ज्ञान्यज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावात् पानं नेच्छति । तेन ज्ञानिनः पानपरिग्रहो नास्ति । ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावात् केवलं पानकस्य ज्ञायक एवायं स्यात् ।।213।।

नामसंज्ञ—पाण, पाण, ष पूर्वगाथावत् । धातुसंज्ञ—पा पाने, ष पूर्वगाथावत् । प्रातिपदिक—पान, पान, ष पूर्वगाथावत् । मूलधातु—पा पाने ष पूर्वगाथावत् । पदविवरण—पाणं पानं—द्वितीया एक० । पाणस्स पानस्य—षष्ठी एकवचन । ष पूर्वगाथावत् ।।213।।

प्रसंगविवरण—ज्ञानी के अपरिग्रहत्व के स्थल में पुण्य, पाप, अषनका अपरिग्रहत्व बतलाकर अब पानका अपरिग्रहत्व इस गाथा में बताया है ।

तथ्यप्रकाश—(1) असातावेदनीय के तीव्रतर तीव्र मंद मंदतर विपाकोदयके निमित्तसे तुषावेदना होती है । (2) वीर्यान्तराय कर्मके उदयसे अषक्ति के कारण वेदना असह्य हो जाती है । (3) चारित्रमोह के उदय से जल आदि ग्रहण करने की इच्छा होती है । (4) क्षुधा, असाता व पानेच्छा आदि विकारों को औपाधिक अस्वभावभाव जानने से ज्ञानी को इनकी इच्छा नहीं है । (5) अज्ञानमय इच्छा के अभावसे ज्ञानी के इन किन्हीं भी विकारों का परिग्रह नहीं है वह तो मात्र ज्ञायक है ।

सिद्धान्त—(1) ज्ञानी के बहिस्तत्त्व के प्रति इच्छा, मूर्च्छा नहीं है । (2) ज्ञानी दर्पण में बिम्ब की तरह उपयोग में प्रतिफलित कर्मरसका ग्रहण करने वाला नहीं है, वह तो ज्ञानमात्र है ।

दृष्टि—1—षुद्धभावनापेक्ष 'जुद्ध द्रव्यार्थिकनय (24ब) । 2—परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (29), स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (28) ।

प्रयोग—पुण्य, पाप, अषनेच्छा, पानेच्छा आदि सर्व विभावों का रंच भी राग न कर अविकार ज्ञानस्वभावमें रमकर संतुष्ट होने का पौरुष करना ।।213।।

अब कहते हैं कि ज्ञानी अन्य भी सर्वपरभावों को नहीं चाहता है—[एवमादिकान् तु] इस प्रकार याने पूर्वोक्त प्रकार इत्यादिक [विविधान्] नाना प्रकार के [सर्वान् भावान्] समस्त भावों को [ज्ञानी] ज्ञानी [न इच्छति] नहीं चाहता है । [तु] क्योंकि ज्ञानी [नियतः] नियत [ज्ञायकभावः] ज्ञायकभावस्वरूप है, अतः [सर्वत्र] सब में [निरालम्बः] निरालम्ब है ।

तात्पर्य—ज्ञानी वस्तुस्वातंत्र्यके परिचय के बलसे किसी भी परद्रव्यको नहीं चाहता वह तो सर्व परपदार्थों के विकल्प से भी हटकर ज्ञातामात्र रहता है ।

टीकार्थ—ऐसे पूर्वोक्त भावों को आदि लेकर अन्य भी बहुत प्रकार के जो परद्रव्य के स्वभाव हैं उनको सबको ही ज्ञानी नहीं चाहता है इस कारण ज्ञानी के समस्त ही परद्रव्यभावों का परिग्रह नहीं है । इस प्रकार ज्ञानियों का अत्यन्त निष्परिग्रहपना सिद्ध हुआ । अब इस प्रकार यह समस्त परभावके परिग्रह से 'नून्यपना होनेसे उगल दिया है समस्त अज्ञान जिसने ऐसा यह समस्त वस्तुओं में अत्यन्त निरालम्ब होकर प्रतिनियत टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भाव होता हुआ अपने आत्मा को साक्षात् विज्ञानघन अनुभवता है । भावार्थ—ज्ञानी समस्त परभावों को औपाधिक व हेय जान लेने के कारण किसी को भी

प्राप्त करने की चाह नहीं करता, मात्र प्राक् पदवी में उदयागत कर्ममल को अनासक्त होता हुआ भोगता है।